

परम पूज्य १०८ आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज

।। वीतरागाय नम ।।

परमपूज्य आचार्य श्री सूर्य सागर जी महाराज द्वारा विरचित

संयम प्रकाश

पूवार्द्ध-द्वितीय भाग

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज के परम शिष्य परम पूज्य १०८ मुनिराज श्री धर्मभूषणजी महाराज के मुनि अवस्था के प्रथम चातुर्मास के शुभ अवसर पर दिगम्बर जैन समाज कैलाश नगर द्वारा प्रकाशित एव स्वाध्यायार्थ सप्रेम भेट

(वीर निर्वाण सम्वत २५२० विकम सम्वत २०५१ मिति दि० १४ सितम्बर १९९४)

प्राप्ति स्थान

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर

गली न० २ कैलाश नगर दिल्ली-११० ०३१

मुद्रक राधा प्रेस २४६५ मेन रोड कैलाश नगर दिल्ली ११ ०३१

श्री महावीराय नम

प्रकाशकीय

१ अप्रैल १९९४ पूज्य (१ ५ क्षुल्लक श्री कुलभूषण जी अब मुनिराज श्री १ ८ धर्मभूषण जी महाराज के मुनिदीक्षा समाराह मे ानौर मडी (हरियाणा) जाने का सुअवसर मिला साथ मे जैन समाज कैलाश ना के प्रधान ला सुखवीर सिह जैन गली न ? ला जयपाल जैन (अरहत धागे वाले) श्री धर्मपाल जैन प्रधान गली न १२ श्री चमनलाल जैन श्री सुभाष चन्द जैन जोहडी वाले श्री सुरेन्द कुमार जैन पानीपत वाले श्री सुखपाल सिह जैन श्री आदिश्वर जैन आदि अनेक महानुभाव और शालीमार बाग स श्री श्रीपाल जैन गोहाने वाल) भी थे। दीक्षा महोत्सव के पश्चात हम लोग महाराज श्री के दर्शनार्थ याणी भवन गये वहा महाराज श्री प्रसन्न और शात मुद्रा म विराजमान थे। साथ ही एक ग्रथ चौकी पर विराजमान था।

धर्म चर्चा के बीच महाराज श्री ने सयम प्रकाश ग्रथ पर प्रकाश डाला और इसके पुन मुद्रण की प्रेरणा समाज को दी। महाराज श्री को यह ग्रथ पालम कालोनी दिल्ली से प्राप्त हुआ था। महाराज श्री की प्रेरणा के फलस्वरूप समाज ने ग्रथ प्रकाशन करना स्वीकार किया और महाराज श्री से मुनिअवस्था का प्रथम चातुर्मास कैलाश नगर मे करने की प्रार्थना महाराज श्री स की। पश्चात महाराज श्री का विहार गुरूवर आचार्य श्री १ ८ शाति सागर महाराज के सानिध्य मे अनेको स्थानो पर हुआ और जैन समाज कैलाश नगर न अनेक स्थानो पर कैलाश नगर चातुर्मास की प्रार्थना दोहराई। समाज की भक्ति व पुण्योदय से समाज की प्रार्थना स्वीकार हुई।

महाराज श्री की प्रेरणा ग्रथ का प्रथम चतुर्मास जो १ ९ ९४ से कैलाश नगर में होना था प्रकाशित कर वितरित कराने की थी। इस अल्प अवधि मे ग्रथ को प्रकाशित कराने के लिए हमे फिल्म द्वारा रूपवान का निर्णय लना पडा और मुद्रण मे भी शीघ्रता की गई इसलिए मूलग्रथ की छपाई मे जो त्रुटिया रह गई थी वह पूर्णतया ठीक नहीं हा सकी फिर भी सतोष है कि ग्रथ को पाठको तक समय पर देना सभव हो सका।

ग्रथ के रचियता परम पूज्य १ ८ आचार्य श्री सूर्य सागर जी महाराज परम तपस्वी थे।

इस ग्रथ मे सयम का वर्णन है यह इसके नाम से ही स्पष्ट है। इसके सयम मे भेद प्रभेदो को बहुत विस्तार से समझाया गया है इसका प्रारम्भिक मगलाचरण मे यह भी स्पष्ट है कि यह कोई नवीन रचना नहीं है सयम प्ररूपक विभिन्न ग्रथो के विषय का सग्रह मात्र है। सयम विषयक प्राय सभी जैन ग्रथो के प्रमाण इसमे मौजूद हैं। इतना ही नहीं जैनेतर साहित्य के प्रमाणो को भी ग्रथ के विषय को समझाने के लिए उदधृत किया गया है। इससे यह ग्रथ सर्व साधारण के लिए विशेष उपयोगी बन गया है। विभिन्न विषयो को देखने के लिए पाठक तो यह चाहता है कि वह थोडे समय मे बहुत अधिक जान जावे। एसे पाठको के लिये इस प्रकार के सग्रह बहुत उपयोगी होते हैं।

सयम की उपयोगिता अत्याधिक रूप म सभी धर्माचार्यो न स्वीकार की है । घोर नास्तिक भी इसकी उपयोगिता को स्वीकार किए बिना नहीं रह सकते। क्योकि परलोक को छोड भी द तो भी इस लोक म साधुओ का शात एव सफल जीवन व्यतीत करने के लिए इसकी नितात आवश्यकता है। सयम हीन जीवन पर्वत से गिर पाषाण खण्ड की तरह कहा जाकर गिरेगा इसका कोई अन्दाज नहीं लगा सकता।

जैन धर्म निवत्ति प्रधान होन के कारण सयम को सर्वाधिक महत्व देता है। गहस्थ धम प्रवत्ति प्रधान है और मुनिधर्म निवत्ति प्रधान है पर यदि इन दोनो मे ही सयम का अभाव हो तो न वह सच्चा गृहस्थ है न ही सच्चा मुनि। इस लिये यह कहना सर्वथा उचित है कि सयम ही मनुष्य के पवित्र जीवन की कसौटी है जैन शास्त्रो म जैसा गभीर मनोवैज्ञानिक एव सम्पूर्ण विवचन मिलता है ऐसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इस लिए इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करके भव्यो को अपना जीवन सफल बनाना चाहिए।

इस ग्रथ के दस अधिकार है। आदि क पाच अधिकार (पूर्वार्ध म)सकल सयम मुनि धर्म और अत के पाच अधिकार (उत्तरार्द्ध) मे दश सयम (ग्रहस्थ धर्म) का वर्णन ह। पूर्वार्द्ध की पाच अधिकार प्रथम व द्वितीय भाग मे है। और उत्तरार्द्ध के पाच अधिकार तृतीय व चतुर्थ भाग म है।

ग्रन्थ के प्रकाशन मे सकल जैन समाज एव अन्य सहयोगियो का सहयोग हमे मिला जिसक फलस्वरूप बहुत कम समय में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो सका समस्त जैन समाज कैलाश नगर उनका आभारी हैं और आशा करते है कि भविष्य मे इसी प्रकार आप सबका सहयोग हमको मिलता रहेगा।

ग्रथ का स्वाध्याय कर जन साधारण सयम की ओर अग्रसर होकर अपना जीवन सफल बनाये।

इसी भावना के साथ स्वाध्यायार्थ सप्रेम भेट

श्री दिगम्बर जैन समाज कैलाश नगर दिल्ली ११० ३१

अध्यक्ष	विशेष सहयोगी	सयोजक	सरक्षक
ला सुखवीर सिह जैन	श्री श्रीपाल जैन	श्री सुरेन्द्र कुमार जैन	श्री धनपाल सिह जैन
	(गोहाने वाले)	(पानीपत वाले)	(दरियागज)

श्री १०८ आचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज का जीवन परिचय

श्री आचार्य सूर्यसागर जी महाराज का जन्म कार्तिक शुक्ला नवमी शुक्रवार विक्रम सम्वत् १९४ को ग्वालियर रियासत के शिवपुर जिलान्तर्गत पेमसर नामक ग्राम मे हुआ था। आपके पिता का नाम श्री हीरालाल व माता का नाम गैंदबाई था। आप पोरवाल दिगम्बर जैन जाति के यसलहा गोत्र में उत्पन्न हुए हैं।

गृहस्थाश्रम में आपका नाम हजारीमल जी था। हीरालालजी के सहोदर भाई श्री बलदेव जी के कोई सतान नहीं थी अत हजारीमलजी उनके दत्तक हो गये। बलदेव जी की धर्मपत्नी का नाम भूलाबाई था। बलदेवजी झालरापाटन में अफीम की दलाली करते थे। हजारीमलजी बाल्यावस्था में ही झालरापाटन आ गये और वहा ही उन्हें सामान्य शिक्षा प्राप्त हुई। दुर्भाग्यवश स १९५२ में जबकि हजारीमलजी बारह वर्ष के ही थे श्री बलदेव जी की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के बाद हजारीमलजी का पालन पोषण झालरापाटन के प्रसिद्ध सज्जन नाथूरामजी जोरजी रावके द्वारा हुआ। ये बलदेवजी के परम मित्र थे। परिस्थितिवश हजारीमलजी को विशेष शिक्षा प्राप्त न हो सकी और छोटी अवस्था मे ही शिवपुर जिले के मेवाड़ ग्राम में ओंकारमलजी पोरवाल की सुपुत्री मोताबाई के साथ विवाह भी हो गया। इसके कुछ दिनों बाद हजारीमलजी इन्दौर चले गये और वहा आपने रावराजा सर सेठ आदि अनेक पद विभूषित श्री हुकुमचन्दजी साहब के यहा तथा बाद मे स्वर्गीय सेठ कल्याणमलजी के यहा नौकरी की। किन्तु आपको नौकरी करना पसन्द नहीं आया। स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना ही आपने अच्छा समझा और एक कपडे की दुकान इन्दौर में ही कर ली। साथ में कपडे की दलाली भी करते रहे। इससे आपकी आर्थिक स्थिति सतोषजनक रही

आपके कई सताने हुई। उनमें श्री शिवनारायणजी एव समीरमलजी दो पुत्र अब भी मौजूद हैं जो इन्दौर में ही कपडे का व्यवसाय करते हैं।

हजारीमलजी की बाल्यावस्था से ही धर्म की ओर बहुत रूचि थी। शास्त्र स्वाध्याय पूजन प्रक्षाल सामायिक आदि में आप बचपन से ही काफी समय लगाया करते थे। ज्यो २ अवस्था बढती गई धर्म की ओर आप अधिकाधिक झुकते गये। भाग्यवश आपको धर्मपत्नी भी ऐसी ही मिली जो धार्मिक चर्चाओं को अच्छी तरह समझती और गोम्मटसार आदि सिद्धान्त ग्रथों का स्वाध्याय करती थी। इससे आपको ज्ञान वद्धि मे काफी सहायता मिली। पर दुर्भाग्यवश यह सहयोग बहुतकाल तक न रहा। वि० सवत् १९७२ में आपकी स्त्री का देहान्त हो गया। पत्नी वियोग के पश्चात ससार, शरीर और भोगों से आप उदासीन रहने लगे और हृदय में वैराग्य मय जीवन व्यतीत करने की आकाक्षा बढने लगी।

स १९८१ का वर्ष था। एक दिन रात्रि के समय श्री हजारीमलजी को यह स्वपन्न हुआ कि जलाशय में एक तख्ते पर बैठा हुआ कोई आदमी उनसे कह रहा है कि 'चलो आओ देर न करो। पर उसके आग्रह करने पर भी उन्होंने जलाशय में प्रवेश नहीं किया। तब उस आदमी ने तख्ते को किनारे पर लगाया और उनको किसी तरह तख्ते पर चढाकर थोडी दूर जल में ले जाकर एक स्थान पर रखे हुए पीछी

कमण्डल की ओर सकेत करके कहा-इन्हें उठा लो। पर उन्होने इनकार कर दिया। उस व्यक्ति के दो तीन बार कहने पर भी जब उन्होंने पीछी कमण्डल नहीं उठाये और 'नहीं उठाऊगा यह कहते हुए ही बिस्तरो पर कुछ हटे तो पलग पर से गिर पडे।

यह सब स्वप्न था। कोई सच्ची घटना नहीं। फिर भी इसने हजारीमलजी के जीवन मे पर्याप्त परिवर्तन कर दिया और उनका ससार छोडने का विचार और दृढ हो गया। सयोगवश उस वर्ष सवत् १९८१ मे श्री शान्तिसागरजी महाराज (छाणी) का चातुर्मास्य योग इन्दौर में ही था। हजारीमलजी को ससार से विरक्ति हो गई थी। फलस्वरूप आसोज शुल्का षष्ठी वि स १९८१ को श्री आचार्य शान्तिसागरजी महाराज (छाणी) के पास आपने ऐलक दीक्षा ले ली। ऐलक हो जाने के बाद इन्हीं हजारीमलजी का नाम सूर्यसागरजी रखा गया। इसके ५१ दिन पश्चात मगसर कृष्णा एकादशी को हाटपीप¯या (मालवा) मे उन्ही आचार्य शान्तिसागरजी के पास सर्व परिग्रह को त्यागकर आपने निर्ग्रन्थ दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली।

मुनि जीवन की दीक्षा के बाद स्वात्मोत्थान का विचार तो आपके सामने रहा ही पर स्वेत्तर प्राणियों को किस तरह धर्म पर लगाना चाहिए यह विचार भी आपके हृदय मे सतत बना रहा और इसके अनुसार अपकी शुभ प्रवत्तिया भी होती रहीं। आपके सद्उपदेशों से अनेक स्थानों पर पाठशालाए, औषधालय आदि अनेक परोपकारी सस्थाए खुलीं। सैकडों स्थानों मे विनाशकारी सघर्ष मिटकर शान्ति स्थापित हुई। जो झगडे ¯यायालयो से न मिट सके थे जो पचासो वर्षों से समाज की शक्ति को क्षीण कर रहे थे जिनमें हजारों रुपये नष्ट हो चुके थे जिनको लेकर बीसों बार मारपीट और सिर फुटबाल तक हो चुकी थी परस्पर पिता-पुत्र भाई बहन स्त्री पुरुष आदि में जिनके कारण खूब लडाइया चल रही थीं परस्पर कुटुम्बियों में जिनके वजह से आना जाना और मुख से बोलना तक बद था-ऐसे एक नहीं सैकडों व्यक्तिगत सामाजिक पचायत परोपकारी सम्बधित चौमू, भिड जयपुर टोक मुगावली दक्षुरई चँदेरी हाटपीपल्या टीकमगढ नेणवा उदयपुर सेपवारी भीलवाडा नरसिंहपुरा डबोक साकरोदा भादवा आदि सैकडो स्थानों के झगडे आपके उपदेशामृत से शात हुए। इससे जैन समाज का बच्चा-बच्चा परिचित है। जिन जिन नगरों व ग्रामों में आपका पदार्पण हुआ है शान्ति की लहर दौड गई है। यही वर्तमान मुनि समाज में आपका आदरणीय स्थान है और सभी नवीन तथा प्राचीन विचार वालों की आप में श्रद्धा है। जैन समाज में ही नहीं जैनेतरों पर भी आपके उपदेशों का प्रभाव पडता है और फलस्वरूप वे प्रतिज्ञाए लेते हैं।

मुनि दीक्षा लेने के बाद अब तक निम्नलिखित स्थानों पर आपका चातुर्मास्य योग हुआ है

विक्रम सवत् १९८२ में-ललितपुर। स ८३-८४ में इन्दौर। स -८५ मे-कोडरमा। स ८६ में-जबलपुर। स० ८७ में -दमोह। स०८८ में-खुरई। स ८९ में-टीकमगढ। स० ९० में-भिड। स ९१ मे-आगरा। स ९२ मे-लाडनू। स ९३ में जयपुर। स ९४ में-अजमेर। स ९५ में-उदयपुर (मेंवाड)। स ९७ में-मिडर (मेंवाड)। स० ९८ में-भीलवाडा (मेवाड)। स० ९९ में-लाडनू। स० २००१ में जयपुर। इन सभी स्थानों पर आपकी पावन-कृपा से जनता को बहुत लाभ पहुचा हैं

धार्मिक शिक्षा एव सामाजिक सगठन के प्रेरणा स्रोत

पूज्य मुनिराज श्री १०८ धर्म भूषण जी महराज

पूज्य मुनिराज करूणा की मूर्ति निस्पह वत्ति समाज सुधारक महान तपस्वी दिगम्बर सन्त हैं। आपकी आदर्श मुनिचर्या एव कठिन तपस्या का जनमानस पर अपूर्व प्रभाव है। आपकी प्रवचन शैली जनसाधारण की भाषा मे हृदय ग्राही ओजस्वी एव तर्क सगत है।

आप का जन्म श्रावण शुक्ल सप्तमी विक्रम सम्वत् १९९६ को उत्तर प्रदेश के मेरठ जिला अन्तरगत करनवाल ग्राम मे सम्पन्न एव धार्मिक परिवार मे हुआ। आपके पिता श्री डाल चन्द जैन और माता श्रीमती हुक्मा देवी जैन सरल परिणामी सद्ग्रस्थ थे। आपका नाम प्रेम चन्द रखा गया। बालक प्रेम चन्द बचपन से ही धर्म के प्रति रूचिवान और जिज्ञासु थे। १७ वर्ष की अल्पायु मे आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज के सानिध्य मे क्षुद्र जल का त्याग एव सयम का प्रतीक जनेऊ धारण किया। ग्रहस्थ मे रहते हुए आपने व्यापार मे प्रमाणिकता स्थापित की परन्तु व्यापार आपका विषय नहीं था। आपका मन तो वैराग्य की ओर झुका हुआ था।। सयम के प्रति रूचि प्रणामो मे निर्विता बढती गई और २४ वर्ष की आयु में आचार्य शिवसागर जी महाराज से खामिया की जयपुर मे दसरी प्रतिमा के व्रत ग्रहण किए। निरन्तर धर्मध्यान आहारदान साधु सतो मे रहना व्रत सयम आपकी दैनिक चर्या बन चुक थे। फलत ८ वर्ष की आयु मे आचार्य विमल सागर जी महाराज से पहाडी धीरज दिल्ली मे सप्तम प्रतिमा व्रत ग्रहण किए। साधना बढती गई और ४१ वर्ष की आयु में पूज्य आचार्य १ ८ श्री शांति सागर जी महाराज (हस्तिनापुर वालों से) रामपुर मनिहारन मे क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। महाराज श्री ने आप का नाम कुलभूषण रखा। आपका विहार सर्वत्र ग्राम नगर उ प्र हरियाणा दिल्ली अनेक स्थानो मे हुआ और अनेक चतुर्मास हुए। आपके उपदेशो से प्रभावित होकर जगह जगह धार्मिक पाठशालाए स्कल कालिज त्यागी भवन धर्मशाला बनवाए व जिनवाणी का जिर्णोधार कराया। आप उपदेशो मे समाज उद्धार दहेज प्रथा पर प्रतिबध एव बच्चों के लिए धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था आदि पर विशेष ध्यान देते हैं।

छपरौली मेरठ में जैन कॉलिज एव गन्नौर मण्डी (हरियाणा) मे जैन कालिज धमशाला जिनमदिर जिर्णोद्धार आदि बहुत बडे कार्य आपकी प्रेरणा से हुए परन्तु निस्पृह वत्ति के परिणाम स्वरूप आपने किसी भी स्थान पर अपना नाम लिखवाने से मना कर दिया।

साधना दिन प्रतिदिन बढती गई एव परिणामो मे निर्मलता आति गइ। और दि १७ ४ ९४ को गन्नौर मण्डी हरियाणा मे परम पूज्य आचार्य १०८ श्री शाति सागर जी महाराज से दिगम्बर मुनि व्रत ग्रहण किए। महाराज श्री ने आपका नाम मुनिवर श्री १ ८ धर्मभूषण जी रखा

मुनि दीक्षा का समारोह बहुत आकर्षक था। गन्नौर मन्डी को दुल्हन की तरह सजाया गया था। दूर दूर से सामाजिक नेता राजनेता विद्वान गण पधारे थ। अपार जन समूह दिगम्बरत्व की जय बोल रहा था।

महाराज श्री का मुनिअवस्था का प्रथम आहार सेठ चन्द्रभान आनन्द कुमार जैन (राइस मिल वाले) गन्नौर मण्डी हरियाणा मे हुआ था।

जैन समाज कैलाश नगर की प्रार्थना स्वीकार कर महाराज श्री ने मुनिअवस्था का प्रथम चतुर्मास का सौभाग्य कैलाश नगर वासियो को दिया। चतुर्मास मे बहुत धर्म प्रभावना हो रही है प्रवचनो मे बहुत भीड रहती है। महाराज श्री की हम पर अपार कृपा है।

चतुर्मास क इस पुनित अवसर पर महाराज श्री क चरणो मे शत शत नमोस्तु

दिगम्बर जैन समाज

कैलाश नगर दिल्ली ११ ३१

सक्षिप्त जीवन परिचय

पिता	स्वर्गीय श्री डाल चन्द जैन
माता	स्वर्गीय श्रीमती हुक्मा देवी जैन
भाई	स्वर्गीय सलेक चन्द जैन व रूप चन्द जैन
बहिन	श्रीमती कमला तथा जयमाला देवी जैन
धर्मपत्नी	श्रीमती शीलवती जैन
सुपुत्र एव सुपुत्री	श्री आदिश कुमार जैन एव अजना जैन

———o———

पूज्य १०८ मुनिराज श्री धर्म भूषण जी महाराज का सदेश

1 **स्वाध्याय परम तप है**

स्वाध्याय से ज्ञान और ज्ञान से चरित्र में निर्मलता आती है अत नित्यप्रति धार्मिक ग्रथों का घर व मदिर जी में स्वाध्याय करना चाहिए।

2 नित्य प्रति देव दर्शन रात्रि भोजन का त्याग और पानी छान कर पीना चाहिए।

3 मास मदिरा अडे आदि के सेवन का त्याग तो प्रत्येक जैन के जन्म से ही होता है चॉदि का वर्क साबूदाने रेशमी वस्त्र आदि का जिनके उत्पादन मे हिंसा होती है ऐसी सभी पदार्थो का त्याग करे।

4 विवाह आदि के अवसर पर रात्रि में सामूहिक भोजन एव दहेज प्रथा पर प्रतिबध लगावे।

5 जनसाधारण के हितार्थ प्रत्येक स्थान पर धमार्थ औषधालय खोले जायें जिनमें शुद्ध औषधि का प्रबध हो जिनके माध्यम से व्रतियों साधु सतों की सेवा भी की जा सके।

6 बच्चों का भविष्य उज्जवल बनाने और सासारिक करने के लिए धार्मिक पाठशालाए खोली जाए जिनके माध्यम से बच्चे ज्ञानवान चरित्रवान बनें व अपने कर्तव्यो का बोध कर देश व समाज की उन्नति मे सहयोगी बनें।

आशा है उपरोक्त तथ्यों की और समाज जागरूक होकर कर्तव्य का पालन करेगा।



परम पूज्य १०८ मुनिराज श्री धर्मभूषण जी महाराज

शिष्य परम्परा

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज (छाणी)

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ सूर्यसागरजी महाराज

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विजयसागरजी महाराज

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विमलसागरजी महाराज

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ निर्मलसागरजी महाराज

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज (हस्तिनापुर)

परम पूज्य मुनिराज श्री १०८ धर्म भूषणजी महाराज

भजन

हम स्यादवाद का डका फिर
दुनिया मे आज बजायेगे।
प्रभु वीर जिनेश्वर क गुण गा
जग से मिथ्यात हटायेगे।।
हठ का हम भूत भगायेगे
उपेक्षा से समझायेगे।
अनके गुण है वस्तु मे
स्यात वाद से बतलायेग।।
है एक उमग भरी दिल मे
लहराये अहिसा का झडा।
है भव्य जीवो से भरी हुई
पृथ्वी को कर दिखलायेगे।।
परिग्रह वृत्ति को दूर भगा
आकिचन धर्म अपनाएगे।
सिद्धान्त तीन महावीर के है
जन जन मे हम पहुचायेगे।।
समत भद्र जैसा डका
अक लक बन आज बजायेगे।
आचार्य कुन्द कुन्द कह गये
अध्यात्म सुमन सजायेगे।।
जिन धर्म का बिगुल बजायेगे
हम दूर भगा कायरता को।
हा छोड वृथा झगडे को हम
झण्डे की लाज बचायेगे।।

* विषय-सूची *



❋ विषय-सूची ❋

विषय — पृष्ठ सख्या

विषय — पृष्ठ सख्या

॥ श्री सर्वज्ञजिनवाणी नमस्तस्यै ॥

शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारंभिक मंगलाचरण

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ जय जय जय नमोस्तु ! नमोस्तु !! नमोस्तु !!!

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ।

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः । कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमोनमः ॥१॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलंका । मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान्

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया । चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

॥ श्री परमगुरवे नमः परम्पराचार्यगुरवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं श्री संयम प्रकाश नामधेयं अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचानुसारमासाद्य श्री सूर्यसागर महाराज आचार्येण विरचितं श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ।

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी, मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥ १ ॥

— प्रत्येक मनुष्य को नित्य प्रति स्वाध्याय करना चाहिए । —

।।जिनवाणी स्तुती।।

वाणी सरस्वती तु निनदेव की दुलारी।

स्याद्वाद नाम तरा ऋषिया की प्राण प्यारी।।

सर नर मुनिन्द्र सबही तरी सुकीर्ति गाव।

तुम भक्ति म मग्न हो ता भी न पार पाव।।

इस गात म ह मन म हमका नही सुहाता।

अपना स्वरूप भी ता नहीं मातु याद आता।।

य कर्म शत्रु जननी हमको सदा सताप्त।

गति चार माही हमको नित दुख द रूलात।।

तेरी कृपा स मा कछ हम शांति लाभ कर न।

तम ज्ञान बन स निज पर पिछान कर ले।।

ह मात तुम चरण मे हम शीश को झुकाव।

ता ज्ञा ताग हमका जब ला न माक्ष पावे।।

श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य—

श्री सूर्यसागरजी महाराज विरचित

संयम-प्रकाश

पूर्वार्द्ध-चतुर्थ किरण

(मुनिधर्म)

सयम—प्रकाश

पूर्वाद्ध—चतुथ किरण

भावनाधिकार

❀ मङ्गलाचरण ❀

श्रीपतिं बोधिद नत्वा, नाभेयादिजिनश्वरम् ।

यतेभाव प्रवक्ष्यामि प्रशमामृतवर्षिणम् ॥१॥

भावना का महत्व

प्रत्यक प्राणी का उत्थान और पतन उसकी भावनाओं पर निभर है। सद्भावनाओं से वह ऊचा उठता है और असद्भावनाओं से वह नीच गिरता है । भावना का उत्थान ही मनुष्य का उत्थान है और सद्भावना से गिरना ही मनुष्यत्व का पतन है । वास्तव में देखा जाय तो भाव क अतिरिक्त मनुष्य और है भी क्या? मनुष्य भावनामय ही तो है। जीवन-निमाण में भावना का कम महत्व नहीं है।तीर्थंकर-प्रकृति एस महान पुण्य का बध भावना स ही होता है इसी स हम उसकी उपयोगिता और महत्व अच्छी तरह समझ सकते हैं ।

भावना स पदाथ की वास्तविक स्थिति मनुष्य क सामन आ जाती है । जब विवेकी मनुष्य अनित्य अशरण आदि की भावना-अभ्यास—करता है तब उसे ससार शरीर भोग आदि का अस्थिरता एव हेयता स्पष्ट प्रतीत होने लगती है। इसीलिए कहा गया है कि अपने आत्मा का हित चाहन वाले भव्यों को अनित्य आदि द्वादश भावनाओं को अपने जीवन में उतारना चाहिए।

सच्चे मनुष्यत्व का निमाण करना है तो भावनाओं को जीवन में उतारो । अक्षय सुख की प्राप्ति चाहते हो तो भावनाओं का अवलम्बन लो ।

'भावना भव-नाशिनी ।'

भावना भव का नाश करने वाली है । यदि भव (ससार) को नष्ट करना चाहते हो तो भावनामय बनो । भावनामय बनने-भावनाओं में घुल-मिल जाने—में ही मनुष्य का कल्याण है । ज्यों ज्यों भावनाएँ दृढ़ होती जाती हैं त्यों-त्यों वह आगे बढ़ता जाता है और आत्मिक अक्षय सुख के निकट पहुँच जाता है ।

कोई योगी-जीवन यदि भावना-हीन व्यतीत हो तो उसे योगी-जीवन कहना सङ्गत नहीं । योगी-पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए जो भी कुछ विशेषता या महत्ता आना चाहिए वह भावना के बिना आ ही नहीं सकती । योगी ने ससार शरीर आदि को अनित्य और अशरण समझ कर ही तो छोड़ा है। यदि वह उन भावनाओं को जीवन में दृढ़ न कर तो उसकी फिर ससार और शरीर में आसक्ति हो सकती है । और यदि ऐसा हुआ तब तो उनका घोर पतन हो जायगा । इसलिए उसे बहुत ही सभल कर रहना होगा। योग और क्षेम दोनों को साथ लेकर चलना होगा । जो अनिश्चलता अप्राप्त है उसे पाना और पाई हुई अनिश्चलता की रक्षा करना यही मुनि का योग क्षेम है । भावनाओं से ही वह इन दोनों चीजों को पाता है । भावनाए न हों तो न पाया हुआ कुछ भ शुभ कभी भी प्राप्त न हो सकेगा और तब प्राप्त की रक्षा भी असभव ही रहेगी ।

मुनि यदि वस्तुत वह मुनि है तो उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है । वह धर्म्य से आर्त्त-रौद्र में नहीं आता । उसका प्रयत्न धर्म्य से शुक्ल में जाने का होता है । वह पूरे आदर्श को पाना चाहता है । अपूर्ण मनुष्यत्व को नष्ट कर पूर्ण मनुष्यत्व को पा लेना ही उसका ध्येय होता है और वह भावनाओं के द्वारा अपने इस ध्येय की पूर्ति में सफल होता है । यह भावनाएँ धर्म्य-ध्यान रूप तो हैं ही किन्तु आगे जाकर यही शुक्ल-ध्यान का आकार भी ग्रहण करती हैं । शुक्ल-ध्यान में जो कर्मों के क्षय करने की शक्ति मानी गई है वह भावनाओं के बिना कैसे प्राप्त हो सकती है ? अत यह सिद्ध है कि योगी की सफलता का मुख्य कारण उसकी भावनाएँ ही होती हैं। अतएव योगियों के आचार-शास्त्र में भावनाओं का वर्णन बहुत ही आवश्यक समझ कर वैराग्य की जननी बारह भावनाओं का वर्णन यहाँ किया जाता है ।

भावना शब्द का अर्थ और उसके भेद ।

भावना का अर्थ है एक प्रकार का अभ्यास । वैराग्य की स्थिरता और प्रशम-सुख की वृद्धि के लिए बारह प्रकार के अभ्यास उपयोगी बताये गये हैं । मूलाचार में लिखा है —

बारह भावनाओं के नाम

अद्ध वमसरणमेगत्तमण्णमसारलोगमसुचित्त ।
आसव संवर णिज्जर धम्म बोधिं च चिंतिज्जो ॥ २ ॥

अर्थात्—(१) अनित्य (२) अशरण (३) एकत्व (४) अन्यत्व, (५) संसार, (६) लोक, (७) अशुचि (८) आस्रव (९) संवर (१०) निर्जरा (११) धर्म और (१२) बोधि-दुर्लभ—यह बारह भावनाएँ हैं। इनका निरन्तर चिन्तन अभ्यास—करना चाहिए।

अनित्य—भावना।

नित्य का अर्थ है हमेशा रहने वाली वस्तु। और अनित्य का अर्थ है विनाशमान। प्रत्येक वस्तु द्रव्य-दृष्टि से नित्य होते हुए भी पर्यायापेक्षया अनित्य है। साधारण रूप से दुनिया की दृष्टि वस्तु के जिस रूप पर पड़ती है वह उसकी पर्याय है और वह अनित्य है। दिखने वाली कोई पर्याय—वस्तु की कोई स्थिति कोई रूप—नित्य नहीं। प्रतिक्षण वस्तु की कोई दूसरी ही स्थिति कोई दूसरा ही रूप होता है। फिर भी यह मूर्ख प्राणी उसे नित्य समझ कर प्रेम करता है और स्वभाववश उसका विनाश होते देख दुःखी होता है। उसके वियोग में छटपटाता है। जब नाश होना वस्तु का स्वभाव है धर्म है तो उसके लिए खिन्न क्यों होना? किन्तु देखा यही जाता है कि प्रत्येक संसारी प्राणी, जिसे सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ है अपनी इष्ट वस्तु का वियोग देखकर दुःखी होता है सुनहरी जवानी पूरी होकर बुढ़ापा आ जाता है तो रोता है, अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ समीप आ जाती हैं तो विलाप करता है पुत्र आदि किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु हो जाती है तो करुण-क्रन्दन मचाता है। इस दुःख से बचने का और कोई उपाय नहीं। एक अनित्यता की भावना ही ऐसी है जो वियोग के दुःख को सहने की क्षमता प्रदान करती है और अनन्त दुःखमय संसार में भी अन्याकुल होकर सुख और शान्ति के साथ जीवन बिताने की कला सिखलाती है।

अज्ञानी मनुष्य दुनियाँ के मोह में पड़कर अपने आपको भूलता है। क्षणिक वस्तुओं से नाता जोड़कर उनकी प्राप्ति का अभिमान करता है और उनके वियोग में क्लेश उठाता है। किन्तु ज्ञानी मनुष्य वस्तु-स्थिति का अनुभव कर दुनियाँ से मोह तोड़ता है और आत्मा से प्रेम जोड़ता है। अनित्य-भावना इस अभ्यास को दृढ़ बनाती है और बढ़ाती है। यही इसकी उपयोगिता है और इसी से यह योगी-जीवन का मूल मानी जाती है।

धन की अनित्यता का विचार

अज्ञानी प्राणी थोड़ा-सा धन पा लेता है तो अभिमान से फूला नहीं समाता। वह अपने आपकी स्थिति को भूल जाता है।

मा~रा को पीन पर नशा चढ़ा करता है किन्तु धन को पा लेने मात्र से ही उसमे उससे भी हजार गुणा पागलपन आ जाता है। उसे एक ऐसा रोग उत्पन्न हो जाता है जिससे आंख होते हुए भी वह देखता नहीं कान होते हुए भी सुनता नहीं और मुँह होते हुए भी बोलता नहीं। वह धर्म-कर्म छोड़ देता है व्यसनी बन जाता है। पर यह कभी नहीं सोचता कि यह लक्ष्मी कितने समय टिकने वाली है? यह तो चञ्चला है आज तक किसी के पास नहीं टिकी। पुण्योदय से यदि इसका समागम हुआ है तो मैं इस शुभ कार्यों में खर्च करके इससे पुण्य की नवीन ज्योति प्रकाशित करूं। वह उसे पाप के कार्यों में खर्च कर अपने आगे के मार्ग में कांटे बोता है या यह मुझे बाद में काम आवेगा इस विश्वास से ठगाया जाकर गुलाम की तरह उसकी रक्षा में लगा रहता है। अन्त में उसे अपना या लक्ष्मी का वियोग होते देख दुःखी होना पड़ता है और रोना पड़ता है। आर्त्त-ध्यान से प्राण गंवाने पड़ते हैं। किन्तु ज्ञानी को लक्ष्मी की अनित्यता का अनुभव करने वाले को इस प्रकार का दुःख नहीं होता। न उसे लोभ सताता है न तृष्णा। न वह मद से उद्धत होता है और न उसके लिए दूसरों को सताता ही है। वह अस्थायी सम्पत्ति से स्थायी स्वार्थ सिद्ध करता है। सत्कार्यों में उसका उपयोग कर स्व-पर हित साधन करता है।

जीवन की अनित्यता

इस जगत् में किसी का जीवन स्थिर नहीं। कोई राजा हो चाहे रङ्क धनी हो चाहे निर्धन मूर्ख हो चाहे विद्वान् सबल हो चाहे निर्बल जिसने भी यहाँ जन्म लिया है उसे एक न एक दिन मरना होगा। भरत आदि अतुल बल और वैभवशाली चक्रवर्ती हुए पर आज वे [illegible] नहीं। अभिमानी रावण मारा गया उसे मारने वाले राम व कृष्ण भी न रहे। कौरव-पाण्डवों की कितनी प्रसिद्धि थी पर आज उनके अस्तित्व का कहीं पता नहीं। जब बड़ों-बड़ों की ही यह दशा तब बेचारे साधारण मनुष्यों का तो यहाँ टिकाव हो ही कैसे सकता है? [illegible] मृत्यु जैसा कोई निश्चित [illegible] नहीं। यह हर एक के लिए अनिवार्य है। वह कब आवेगी यह कोई नहीं जानता पर यह सबको मानना ही होगा कि वह अवश्य आएगी। आज आवे कल आवे [illegible] में आवे या अभी आ जाय उसे कोई रोक नहीं सकता। अनन्त भूतकाल से अब तक मनुष्य ने उसको रोकने के लिए बहुत बड़ा प्रयत्न किये हैं लेकिन उसने सभी को पछाड़ा है। ऐसा ज्ञात होता है कि वह [illegible] न हारेगा। क्योंकि वह वस्तु का स्वभाव है। जन्म के साथ मृत्यु लगी हुई है। जन्म लेने के दूसरे क्षण से ही मृत्यु प्रारम्भ हो जाती है। आयु के क्षण पूरे होते जाते हैं मृत्यु नजदीक आती जाती है। जिसे हम मृत्यु कहते हैं वह तो उसका स्थूल रूप है। [illegible] सदा हो रहा है। जैसे छेद वाले घड़े में से थोड़ा-थोड़ा पानी हमेशा निकलता रहता है और इसी से थोड़े समय में वह बिल्कुल खाली दिखाई देने लगता है वैसा ही हाल हमारे जीवन का है। प्रतिक्षण खिरने वाले आयु के निषेक जब पूरे हो जाते हैं तब हम समझते हैं कि हमारी मृत्यु आ गई। पर यह भ्रम है। हमारा जीवन तो [illegible] जल की तरह प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है वह स्थिर है ही नहीं? उसका यथा व्यय यदि विचारणीय है तो उस पर प्रारम्भ से ही विचार करना चाहिए। अन्त में उसका उपयोग करने के लिए कोई

चाहे जितना ही प्रयत्न करे कोई लौटा नहीं सकता। बीता हुआ जीवन वापस नहीं आ सकता। अतः अनित्य जीवन से नित्य (हमेशा रहने वाले) धर्म का सञ्चय करना है तो प्रारम्भ में ही करना चाहिए। यही बुद्धिमानी है। ऊपर हम समझा आए हैं कि जीवन हमेशा किसी का भी स्थिर नहीं रहता और थोड़े समय भी रहने का भी कुछ भरोसा नहीं। क्या पता अभी आगे का श्वास भी आवे या न आवे। पर्वत की चोटी पर जहा चारों ओर से जोर का हवा के झोंके आया करते हैं तेल के बल से जलने वाले तुच्छ दीपक का थोड़ी भी देर तक जलते रहना आश्चर्य है। बुझ जाना आश्चर्य नहीं। उसी प्रकार रोगों की अनन्त बाधा-ग्रस्त इस जीवन का थोड़े भी समय टिका रहना आश्चर्य है। विनाश आश्चर्य की चीज नहीं है। हमारा यह जीवन-मनुष्यादि पर्याय-पौद्गलिक शरीर के सहारे टिका हुआ है और वह प्रतिक्षण नश्वर है। तब यह जीवन नित्य कैसे हो सकता है?

यौवन की अनित्यता

जब जीवन का ही यह हाल है तब उसी के बीच में प्राप्त होने वाले यौवन को स्थिर मानना नितान्त भ्रम और मूर्खता ही है। जब प्रातःकाल होता है और अपनी प्रभा से दिशाओं को चमका कर मध्याह्न में तेजी दिखाता है तब थोड़ी ही देर में सायकाल आ पहुँचता है। न उसकी वह तेजी रहती है और न स्वयं सूर्य का ही वहाँ अस्तित्व रहता है। जीवन में यही हाल यौवन का है। वह तो चार दिन की चान्दनी है। बाद में अंधेरी की अंधेरी। पर्वत से गिरने वाले नाले के पानी की तरह यौवन में स्थिरता है ही कहाँ? आया और गया। यौवन के भोग चिरकाल तक नहीं टिक सकते। उनके साथ अनेक आपत्तियाँ लगी हुई हैं। भोगे रोग-भयम्। भोगों की ओर झुको रोग आ सतावेंगे। अतः यौवन के मद में अपने आपको भूलने वाला मनुष्य यह देखे कि मेरा यह अभिमान कितने दिन चल सकेगा? सामने व्याघ्री की तरह ताक लगाये मौत की छोटी बहन जरा खड़ी है इससे मेरा छुटकारा कैसे होगा? आज जिन बुड्ढों का मैं उपहास करता हूँ क्या शीघ्र ही दशा मेरी होने वाली नहीं है? ओह! वह झुकी हुई कमर झुर्रियाँ पड़ा हुआ शिथिल शरीर पोपला मुँह बहरे कान गीड भरी हुई पानी भरने वाली आँखें लड़खड़ाते हुए पैर वेग-शून्य गति आदर रहित व्यक्तित्व मेरे से कितने कम दूर हैं? यदि दीवानी जवानी के वशीभूत हो मैंने अपने कर्तव्य को छोड़ दिया दूर पर उस खड़े रहने का उचित प्रबन्ध न किया तो वह और भी शीघ्रता से मेरे नजदीक आ जावेगी और तब सारा दीवानापन अपने आप दूर हो जायगा। वास्तव में यौवन के नशे में अपने आपको—अपने आत्मा को और अपने कर्तव्य को—भूलने वाला मनुष्य ज्ञानी नहीं। ज्ञानी वही है जो इसे अनित्य अनुभव कर परमार्थ साधन करता है और आगे के लिए जन्म-मरण को जीत लेता है।

सब की अनित्यता

ऊपर धन जीवन और यौवन की अनित्यता मुख्य रूप से बताई गई है; क्योंकि बहुधा इन्हीं के मोह में फँस कर प्राणी अपने

आपका बहुत कुछ अहित करता है। किन्तु वस्तु–स्थिति पर विचार करने से तो यहाँ कोई भी वस्तु नित्य नहीं जैसा कि पहले कहा जा चुका है। यह सारा ससार–ससार की सभी वस्तुए अनित्य हैं। ससार का अथ ही यही है जो अनित्य हो सदा एक–सा न रहे। यदि कहीं परिवतन नहीं तब तो वह ससार ही नहीं। सब वस्तुओं की अनित्यता का विचार कर श्री शिवकोटि आचाय भगवती आराधना में कहते हैं —

लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व स-देव-माणुस तिरिक्खो।

रिद्धीओ सव्वाओ सिविणय-सदसण-समाओ ॥ १७१६ ॥ (भग आ)

जसे पानी के झाग या बुदबुदे की स्थिति टिकाउ न० हीं क्षणिक है–वह देखते–देखते नष्ट हो जाती है वसे ही देव मनुष्य और ति र्यंचों से भरे हुए इस लोक की स्थिति भी विनाशमान है। यहा मनुष्य और तियंचों का ही नहीं देवों का शरीर भी अनित्य है। हाथी घोड रथ पयादे राज–भवन छत्र सिंहासनादि सब विभूतियाँ भी स्वप्न–दशनोपम हैं। स्वप्न की तरह जीवन के कुछ क्षणों में तो दिखती हैं और फिर सदा के लिए लुप्त हो जाती हैं।

विज्जुव चञ्चलाइ दिट्ठपणट्ठाइ सव्व-सोक्खाइ।

जल-बुब्बुदो व्व अधुवाणि हवति सव्वाणि ठाणाणि ॥ १७१७ ॥ (भग आ)

ससार के समस्त सुख–बिजली के समान चञ्चल हैं–एक बार दिखे और नष्ट हुए। कोमल स्पशवाली शय्या सुस्वादु भोजन–पान सुगन्धित इत्र सुन्दर दृश्य मनोहर गायन आदि भोग क्या स्थायी हैं? क्या जीव को ससार में सवदा मिल सकते हैं? पूव पुण्य से कोई सुख–सामग्री मिलती है तो वह सदा नहीं रहती है? इस जीवन की सामग्री आगे के जीवन में तो कभी साथ जाती ही नहीं। उसमें यहां भी आसक्ति उत्पन्न हुई तो वियोग का दुःख और आगे सुख के स्थान में महा दुःख। इसलिए सासारिक सभी सुख सामग्रियों की अनित्यता पर ध्यान दो। यह ग्राम नगर महल मकान कोई भी सदा तुम्हारे रहने वाले नहीं। यह घर मेरा है मैं यहाँ रहता हूँ हमेशा रहूँगा ऐसा कभी मत सोचो। इनमें स्थायित्व का अभिमान तुम्हें इनके वियोग में ममवेधी पीडा देगा। इसलिए जल बुद्बुदोपम यह अनित्य हैं तो इनको अनित्य ही समझो।

णावागदाव बहुगदि-पधाविदा हवति सव्व-सबधी।

सव्वेमिमामयाणि अणिच्चा जह अब्भपधाया ॥ १७१८ ॥ (भग आ)

दुनियाँ का कोई सम्बन्ध सदा रहने वाला नहीं। नदी को पार करते समय जिस प्रकार नाव में अनेक देशों के अनेक यात्री आ बैठते हैं थोड़ी देर एक साथ रहते हैं और किनारा आते ही उतर कर अपने अपने मार्ग की सुध लेते हैं वैसे ही कुटुम्ब की दशा है। एक कुल रूपी नाव मे अनेक यात्रियों की तरह कुटुम्ब के अनेक लोग जन्म लेकर आ बैठते हैं और किनारों की तरह आयु का अन्त होते ही बिछुड़ जाते हैं। इसी प्रकार स्वामी सेवक भ्राता पुत्र मित्र स्त्री आदि इसी आश्रय को नित्य नहीं समझना क्योंकि इन सब की स्थिति बादलो के समूह की तरह देखते-देखते बिछुड़ने वाली है। इसलिए यह समझना इनके सहारे मे मैं जीता रहूँगा ठीक नहीं।

मवामो वि आणचा पाहयाण पिण्डण व छाहाए।

पीदी वि अच्छिरागोव्व अणिचा सव्वजीवाण ॥ १७१९ ॥ (भग आ)

जैसे—अनियत नाना देशो से आय हुए पथिक (मुसाफिर) एक सराय या धर्मशाला में निवास करते हैं, अथवा किसी घनी छाया वाले बट आदि वृक्ष के नीचे अनेक स्थानो के मनुष्य आकर मिलते हैं और दूसरे दिन अथवा कुछ काल के अन्तर अपना अपना मार्ग लेते हैं वैसे ही पूर्व कर्म के फल स्वरूप पुत्र मित्र स्त्री आदि अन्य जनों का सयोग होता है। कर्म फल भोगने के पश्चात् वे भी कर्म से प्रेरित हुए वियुक्त हो जाते हैं। फिर कभी आकर नहीं मिलते। उनकी प्रीति भी स्थिर नहीं। निमित्त विशेष से जन्य नेत्रों की लालिमा के समान वह भी क्षणभगुर है। अर्थात् ससार के लोगों का प्रेम स्वार्थ का है। क्षणमात्र मे बदल जाता है। किसी का स्वार्थ न सधे तब देखो वह प्रेम रखता है या नहीं ? इससे अनित्यता स्पष्ट होगी।

रत्तिं एगम्मि दुमे सउणाण पिण्डण व सजोगो।

परिवमाव अणिच्चो इस्सरियाणाधणारोग्ग ॥ १७२० ॥ (भग आ)

अर्थ—सायकाल होने पर रात्रि के समय नाना देश व दिशाओं से आकर पक्षी एक वृक्ष पर निवास करते हैं उनका पहले से सकेत नहीं होता। पहले के सकेत के बिना ही वे आ मिलते हैं और प्रात काल पुन नाना दिग्देशों में चले जाते हैं। उसी प्रकार सकेत बिना ही अनेक गतियों मे आये हुए कुटुम्बियो का सयोग होता है और वे मर कर पुन त्रस स्थावर आदि अनेक योनियों में चले जाते हैं। तथा चन्द्रमा का परिवेष (उसके बिम्ब के आस पास कभी कभी होने वाला मण्डल) जिस प्रकार क्षणभगुर है उसी प्रकार ससार का ऐश्वर्य प्रभुत्व, आज्ञा धन-सम्पत्ति आरोग्य आदि सब अनित्य हैं।

इंदियसामग्गी वि अखिला सव्भाव होइ जीवाण ।
मज्भण्ह व णराण जोव्वणमणवट्ठिद लोए ॥ १७२१ ॥
चदो हीणो व पुणो विड्ढदि एदि य उदू अदीदो वि ।
णदु जोव्वण णियत्तइ णदीजलमदिच्छिद चेव ॥ १७२२ ॥ [भग आ]

अर्थ— इंद्रिय-सामग्री भी अनित्य है। प्रथम तो इन्द्रियों की पूर्णता का होना ही कठिन है और कदाचित् क्षयोपशम विशेष से इन्द्रियों की अविकल प्राप्ति होती है और उनमें विषय ग्रहण करने की शक्ति भी विद्यमान होती है तो भयानक व्याधि के उपस्थित होने पर अथवा वीर्यान्तराय का तीव्रोदय होने पर अथवा अवस्था के ढलने पर उनकी वह विषय-ग्रहण की सामर्थ्य विलीन हो जाती है अत उसे सन्ध्या की लालिमा के समान कुछ काल के लिए ही टिकाऊ समझना। मनुष्यों की यौवनावस्था भी मध्याह्न काल के सदृश अस्थिर है। अर्थात् जैसे दिवस का मध्याह्न काल सायंकाल के आगमन पर अदृश्य हो जाता है उसी प्रकार जरा अवस्था के आने की सूचना मिलते ही यौवन भी अपना रास्ता लेलेता है।

चन्द्रमा कृष्णपक्ष में क्षीण होता है और शुक्ल पक्ष में वर्द्धिगत होता है। वसंतादि ऋतुएँ बीत जाने पर पुनरपि आती हैं। किन्तु मनुष्य की यौवनावस्था बीत जाने पर फिर लौट कर नहीं आती जैसे नदी का बहकर आगे गया हुआ जल फिर वापिस लौटकर नहीं आता है।

धावदि गिरिणदिसोद व आउग सव्वजीवलोगम्मि ।
सुकुमालदा वि हीयदि लोगे पुव्वण्हछाही व ॥ १७२३ ॥ [भग आ]

अर्थ—सम्पूर्ण जगत के जीवों की आयु पर्वत से गिरने वाली नदी के प्रवाह के समान तीव्रगति से निरन्तर दौड़ रही है। और समस्त प्राणियों की सुकुमारता (कोमलपन) प्रातःकाल की छाया के समान क्षण क्षण में क्षीण होती रहती है। सार यह है कि इस संसार में जितने पदार्थ दिखाई देते हैं वे सब नष्ट होने वाले हैं यह स्पष्ट है। शरीर रोगों का घर है उसके एक-एक रोम-कूप में पौने दो दो रोगों की सत्ता है। यौवन के साथ बुढ़ापा लगा हुआ है। बुढ़ापे में बल और ज्ञान भी साथ छोड़ देते हैं। ऐश्वर्य विनाश से व्याप्त है-चक्रवर्ति, बलभद्र, नारायण सरीखों का भी वैभव नहीं रहा। स्त्री पुत्र मित्र आदि के जितने भी संयोग होते हैं उनका भी वियोग होता ही है। जीवन मरण का अविनाभावी है। अति बलवान भी मृत्यु से नहीं बचे। अनेक प्रकार के भोजन आदि से पुष्ट करते करते भी आयु के पूर्ण होते ही शरीर साथ छोड़ देता है। उस तीर्थंकर जैसे भी विनाश से नहीं बचा सके। इसलिए संसार शरीर भोग आदि सब को अनित्य समझ कर किसी से मोह मत

करो। दुनियाँ की किसी विभूति को देख कर मत लुभाओ। यह विनाशी है, तुम्हें धोखा देगी। अस्थिर को स्थिर समझ लेने से पद पद पर दुःख उठाना पड़ता है। तुम अपने अविनाशी आत्मा से प्रेम करो। शरीर के क्षीण होने से पहले ही धर्म की सिद्धि करो। धोखे में मत रहो। धन यौवन आदि के उन्माद में या कुटुम्बियों के मोह में पड़ कर अपने हित-साधन को न भूलो। अन्यथा 'देह खेह हो जायगी फिर का करि है जम ?' ज्ञान का उपार्जन करना है तो शीघ्र करो तप की वृद्धि करना है तो शीघ्र करो दान देना है तो शीघ्र देओ। दूसरों की सेवा शुश्रूषा उपकार आदि जो भी कुछ करना है उसमें विलम्ब मत करो। आगे के भरोसे मत रहो। यह अनित्यता का अभ्यास तुम्हें अपूर्व सुख शान्ति देगा।

अशरण-भावना

अपने को अशरण अनुभव करने का अभ्यास करना अशरण भावना है। कर्मोदय से प्राप्त होने वाले जन्म जरा, मरण, रोग, शोक आदि दुःखों से जीव को शरण देने वाला इनसे बचाने वाला कोई नहीं अतः यह जीव अशरण है। कहा भी है —

हयगयरहणरबलवाहणाणि मंतोसधाणि विज्जाओ।
मच्चुभयस्स ण सरणं णिगडी णीदी य णीया य ॥ ५ ॥
जम्मजरामरणसमाहिदम्हि सरणं ण विज्जदे लोए।
जरमरणमहारिउवारणं तु जिणसासणं मुत्ता ॥ ६ ॥ (मूला द्वा अ)

अर्थ—हाथी घोड़े रथ मनुष्य सेना वाहन मन्त्र औषधियाँ प्रज्ञप्ति आदि विद्याएं जीव को मृत्यु से बचाने में असमर्थ हैं। मनुष्य दूसरों से अपनी रक्षा करने के लिए अनेक प्रकार रचना करते हैं और उसमें कभी२ सफल भी हो जाते हैं—साम दान दण्ड और भेद यह चार प्रकार की नीति अन्यत्र तो कृतकार्य हो भी जाती है किन्तु मृत्यु के सामने ये सब हतवीर्य हैं जैसे गरुड़ के सम्मुख काले नाग। मृत्यु का भय उपस्थित होने पर भाई बन्धु आदि कोई शरण नहीं होता है।

मरणभयम्हि उवगदे देवा वि सइंदया ण तारंति।
धम्मो ताणं सरणं गदित्ति चिंतेहि सरणत्तं ॥ ७ ॥ (मूला द्वा अ)

अर्थ—मरण का भय प्राप्त होने पर इन्द्र सहित सब देव मिल कर भी जीव की रक्षा नहीं कर सकते। एक जिनेन्द्र निरूपित धर्म

ही रक्षक है इसलिए उसे ही शरण रूप चिन्तन करो।

णासदि मदी उदिण्णे कम्मे ण य तस्स दीसदि उवाओ।
अमदं पि विसं सज्जं तणं पि णीय वि हुंति अरी ॥ १७२६ ॥ (भग आ)

अर्थ—कर्म का उदय होने पर जीवों की बुद्धि नष्ट हो जाती है। कुछ उपाय नहीं सूझता। अमृत विष हो जाता है। तृण शस्त्र रूप बनकर मृत्यु का कारण हो जाते हैं। बन्धुजन शत्रु हो जाते हैं।

भावार्थ—अनादि काल से अज्ञान के वशीभूत हुआ यह आत्मा अपनी भूल से निरन्तर ज्ञानावरणादि कर्मों का ग्रहण करता है और बंधता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के संयोग से जब उसका अप्रिय एवं कटु फल मिलता है तब उससे बचाने के लिए कोई समर्थ नहीं होता है। इसलिए प्रत्येक आत्मा अपने आपको अशरण अनुभव करे। संसार में दूसरा कोई कर्म-फल-भोग से बचाने वाला नहीं है।

प्रतीकार रहित कर्म का जब उदय आता है तब उसके फल स्वरूप दुःख को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता। अर्थात् जन्म, जरा, मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना आदि के उपस्थित होने पर तज्जन्य कष्टों का भोग अवश्य करना पड़ता है। इस जगत् में जीवों का रक्षक व आश्रयदाता कोई नहीं होता है। यदि कोई जीव अपने कर्म के उदय से बचने के लिए किसी देव की सहायता से पाताल लोक में भी चला जावे तो भी उसका छूटना असंभव है।

गिरि की कन्दरा, अटवी, पर्वत व समुद्र में तो क्या लोकान्त में भी जीव निवास करने चला जावे तो भी यह अशरण जीव उदयागत कर्म से छुटकारा पाने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है। अर्थात् लोक के अन्त में जाना असम्भव है यह असम्भव कार्य भी कदाचित् सम्भव हो जावे तो हो जाओ किन्तु निष्प्रतीकार (प्रतीकार रहित) कर्म का फल भोगे बिना छूटना सर्वथा अशक्य है।

द्विपद चतुष्पद तथा पेट के बल चलने वाले जीवों का गमन भूमि पर ही होता है मकर आदि जलचर जन्तुओं की गति जल में ही होती है पक्षियों की गति आकाश में ही होती है किन्तु काल का गमन सर्वत्र अप्रतिहत है। इसकी गति को रोकने वाला संसार में कोई भी नहीं है।

सूर्य चन्द्र पवन और देव इनमें अगम्य प्रदेश हैं-अर्थात् सूर्य और चन्द्र का प्रताप व प्रकाश संसार के कोने कोने में पहुँचता है वायु प्रायः सर्वत्र बहती है और देवों का प्रायः सर्वत्र गमन है तथापि लोक में ऐसे भी कई स्थान हैं जहाँ उक्त चारों का गमन नहीं होता

किन्तु काल की सर्वत्र गति है। ऐसा कोई स्थान संसार में नहीं जहाँ काल का गमन न होता हो।

विद्या बल मन्त्र बल औषधि बल शरीर का बल आत्मा का बल और हाथी घोड़े रथ योद्धा आदि सेना बल, साम दान दण्ड भेद यह नीति बल कर्म जन्य फल को मिटाने के लिए समर्थ नहीं है। जैसे उदयाचल के शिखर पर प्रयाण करने वाले सूर्य को रोकने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है वैसे ही दुःख देने में प्रवृत्त हुए कर्म के उदय का प्रतिरोध करने की किसी में भी शक्ति नहीं है।

भयानक तथा संघातक रोगों व महामारियों से बचने के उपाय हैं किन्तु कमलिनी के वन का विध्वंस करने वाले मदोन्मत्त हस्ती के समान संसार के जीवों का मर्दन करने वाले इस कर्म के उदय से बचने का कोई उपाय नहीं है। रोगों का भी प्रतीकार तभी हो सकता है जब कि कर्मों का मन्द उदय हो या उपशम हो। जिस समय कर्मों की उदीरणा या तीव्र उदय होता है उस समय उनका प्रतीकार करना सर्वथा अशक्य ही नहीं असम्भव है।

निकाचित कर्मों को विद्याधर सुरेन्द्र बलेन्द्र और चक्रवर्ती तो क्या साक्षात त्रिजगदीश्वर तीर्थंकर भी मिटा नहीं सकते तब साधारण अल्पशक्ति वाले मनुष्य की तो सामर्थ्य ही कहाँ ?

दिव्य शक्ति का धारक कोई महाबली पैदल चलकर पृथ्वी के दूसरे छोर तक भी पहुँच जावे या भुजाओं से महासमुद्र को तैरकर उसको पार भी कर जावे तो भी उदीर्ण कर्म के फल को उल्लंघन करने के लिए कोई समर्थ नहीं है। उसे तो भोगना ही पड़ता है।

सिंह की डाढ में पहुचे हुए मृग को तथा महामत्स्य के उदर में पहुँचे हुए छोटे मत्स्य को बचाने वाला कोई नहीं, उसका मरण अवश्यभावी है, इसी प्रकार आयु कर्म के अन्त में काल के मुख में पहुचे हुए इस जीव का कोई शरण नहीं है।

संसार में शरण (आश्रय) दो प्रकार का है। एक तो लौकिक शरण और दूसरा लोकोत्तर शरण। इन दोनों के तीन २ भेद हैं। अर्थात् लौकिक शरण तीन प्रकार का है १ लौकिक जीव शरण २ लौकिक अजीव शरण और ३ लौकिक जीवाजीव शरण। इसी प्रकार लोकोत्तर शरण भी तीन प्रकार का है-१ लोकोत्तर जीव शरण २ लोकोत्तर अजीव शरण और ३ लोकोत्तर जीवाजीव शरण।

१ राजा देवता आदि लौकिक जीव-शरण हैं।

२ कोट खाई आदि लौकिक अजीव-शरण हैं।

३ कोट खाई आदि सहित ग्राम नगर पर्वत आदि लौकिक मिश्र-शरण हैं।

१ लोकोत्तर जीव शरण—पञ्च परमेष्ठी अरिहतादि लोकोत्तर (अलौकिक) जीव शरण हैं।

२ लोकोत्तर अजीव शरण—पञ्च परमेष्ठी क प्रतिबिम्बादि अलौकिक अजीव शरण हैं।

३ लोकोत्तर मिश्रशरण –धर्मोपकरणसहित साधुवग अलौकिक जीवाजीव शरण हैं।

इस लोक सम्बन्धी भय से बचाने वालो को लौकिक शरण कहते हैं और परलोक सम्बन्धी भय से बचाने वालों को लोकोत्तर शरण कहते हैं। जैसे–बलवान् क्षुधातुर और मास के लम्पटी व्याघ्र के द्वारा एकान्त में दबाए हुए मृग–बालक को उस व्याघ्र से छुडाने के लिए इस लोक में कोई समथ नहीं है उसी प्रकार जन्म मरण व्याधि प्रिय वियोग अप्रिय सयोग इष्ट पदाथ की अप्राप्ति दारिद्र्य आदि शारीरिक एव मानसिक दु खों से घिर हुए स जीव को कोई शरण देने वाला नहीं है। अनक सुखो मे उपलालित यह पुष्ट शरीर भी भोजन करनेमें ही आत्मा का सहायक होता है कष्टो क आने पर आत्मा की सहायता करने म समथ नहीं होता है। घोर परिश्रम से उपाजन किया हुआ विपुल धन भी मृत्यु से रक्षा नहीं करता और न आत्मा के साथ परभव मे साथ हो जाता है। सुख दु ख के सहयोगी मित्र भी मरण का समय आने पर इस जीव का सरक्षण नहीं कर सकते। चारों तरफ सदा घिरे रहन वाले बन्धुजन भी इसको अन्त में छोड कर अलग हो जाते हैं। परभव मे भी इसकी रक्षा करन वाला और प्रतिक्षण सहायता करने वाला यदि इस लोक मे कोई है तो वह एक धम ही है दूसरा कोई रक्षक नहीं है। अतएव हे आत्मन् ! जिस समय तुम्हें मृत्यु आकर घेर लेगी उस समय इन्द्र भी उससे बचाने में समथ नहीं होगा न बन्धु होंगे न मित्र–पुत्र–धन–बलादि। यदि सहायक होगा तो उत्तमता स आचरण किया हुआ एक धम ही होगा। इसलिए अपने को अशरण अनुभव करन का अभ्यास करो और धमाराधन में चित्त लगाओ।

एकत्व–भावना

इस जीव का कोई साथी नहीं। यह सदा अकेला ही है। अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है। जन्म जरा, मरण, रोगादि की प्राप्ति मे कोई इसका हाथ नहीं बटाता। कर्मों के फल स्वरूप अनन्त दुख अपार वेदनाएँ अकेले को ही सहनी पडती हैं। इस प्रकार अभ्यास करना एकत्व भावना है।

द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा से एकत्व चार प्रकार क होता है।

जीवादि छह द्रव्यों मे से किसी एक द्रव्य क द्रव्य एकत्व है। परमाणु जितने क्षेत्र में ठहरता है उतने क्षेत्र (प्रदेश) को क्षेत्र एकत्व कहते हैं। कालका जो एक समय है उस काल एकत्व कहते हैं। मोक्ष माग को भाव एकत्व कहते हैं।

संसार मे जो अनेकपन दिखाई देता है वह एकपने को लिए हु है।

जिसने बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह त्याग करके सम्यग्ज्ञान से अपने एकपने का निश्चय कर लिया है जिसकी एक यथाख्यात चारित्र रूप प्रवृत्ति हो रही है उस आत्मा के मोक्ष मार्ग रूप से एकपना होता है। उस एकपने की प्राप्ति के लिए ऐसी भावना करना चाहिए कि मैं इस ससार में अकेला ही हूँ। मेरा दूसरा कोई स्व अथवा पर नहीं है। मैं अकेला ही जन्म लेता हूँ और अकेला ही मरता हूं। कोई दूसरा स्वजन या परजन मेरे व्याधि जन्म-मरणादि के दु खो को दूर नहीं कर सकता। मेरे बन्धुजन व मित्रादि श्मशान तक ही रहते हैं आगे साथ नहीं रहते। एक धर्म ही मेरा साथी है। जैसा कि कहा भी है —

विक्त गेहाद् हश्चिताया व्यावर्त्त न्त बान्धवा श्मशानात्।
एक नानाजन्मवल्लीनिदान याति शुभाशुभ कर्म जीवेन सार्धम्।

अर्थ—जब आत्मा इस शरीर को छोडकर परलोक म जाता ह तब उसका साथ कोइ नहीं देते। बडे कष्ट से उपार्जन किया हुआ धन घर से ही साथ छोड देता है-वह तो घर में ही रह जाता है। खूब लालन-पालन किया हुआ शरीर चिता में ही छूट जाता है। आगे साथ नहीं जाता। पुत्र मित्र भ्रातादि भी श्मशान स ही लौट जाते हैं। यदि कोइ परभव मे साथ जाने वाला है तो वह शुभाशुभ (पुण्य-पाप) कर्म ही है। उसके अतिरिक्त जीव का कोई साथी नहीं है।

इस प्रकार एकत्व का अभ्यास करने वाले के अपने आत्मीय (कुटम्बी) जनों मे प्रेम-बन्ध और परकीय (शत्रु आदि) जनों में द्वेष-सम्बन्ध नहीं होता। एकत्व भावना से उसके नि सगपना उत्पन्न होता है और परिग्रह का बोझा उतर जाने पर वह-ऊर्ध्वगमन करता है। अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

सयणस्स परियणस्स य मज्झे एक्को रुयत्तओ दुहिदो।
वज्जदि मच्चुवसगदो ण जणो कोइ सम एदि ॥ ८ ॥
एक्को करेइ कम्म एक्को हिंडदि य दीह समारे।
एक्को जायदि मरदि य एव चिंतेहि एयत्त ॥ ९ ॥ [मूला द्वा अ]

अर्थ—यह प्राणी भाई भतीजा पुत्रादि स्वजन और दास मित्र आदि परिजन के मध्य अकेला ही व्याधि से पीड़ित होकर दु ख भोगता हुआ काल का ग्रास बनता है। साथ में न स्वजन जाते हैं और न परिजन जाते हैं।

अकेला ही शुभाशुभ कर्म करता है और अकला ही अपार ससार में भ्रमण करता है। अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। इस प्रकार एकत्व भावना का चिन्तन करना चाहिए।

पाव करेदि जीवो बधवहेदु सरीरहेदु च।
णिरयादिसु तस्स फल एक्को सो चेव वेदेदि ॥ १७४७ ॥ [भग आ]

अथ—यह आत्मा बन्धुओं के लिए-उनकी शरीर रक्षा तथा उनके मनोरजनादि के लिए, और स्वय अपने शरीर आदि के पोषण के लिए अनेक पाप करता है किन्तु उन पापों का नरक निगोदादि में फल अकेले को ही भोगना पड़ता है। उसमें हिस्सा बँटाने वाला कोई नहीं होता।

रोगादिवेदणाओ वेदयमाणस्स णियकम्मफल।
पेच्छता वि समक्ख किंचि वि ण करति से णियया ॥ १७४८ ॥ [भग आ]

अथ—पूर्वोपार्जित असातावेदनीय कम के उदय से उत्पन्न हुई रोग की वेदना का अनुभव करते हुए प्रत्यक्ष देखकर भी ये स्वजन बन्धु लोग उसका प्रतीकार नहीं करते हैं।

भावार्थ—जब आत्मा पूर्वकाल मे सञ्चित कर्मों के फल स्वरूप शारीरिक विकार-वेदना-जन्य दुःख प्राप्त करता है उस समय उसे प्राण-समान प्रिय मानने वाले बन्धु क्या उन दुःखों का निवारण कर सकते हैं? उनको तो उसे अकेले ही भोगना पड़ता है। तब हे आत्मन्! तुझे क्या करना चाहिए और तू क्या कर रहा है! जरा सोच। इस जन्म मे और परजन्म में तेरा हित करने वाला तुझे दुःख से छुटकारा दिलाने वाला धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। जो हर हालत मे सुख देता रहे वह धर्म ही है। इसे मत भूल। दूसरों के लिए अनर्थ करके व्यर्थ दुःखी मत बन।

तह मरइ एक्कओ चेव तस्स ण विदिज्जगा हवइ कोई।
भोगे भोत्तु णियया विदिज्जया ण पुण कम्मफल ॥ १७४९ ॥ [भग आ]

अथ—स्वकीय आयु का क्षय होने पर यह अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। इसका सहायक दूसरा कोई भी नहीं होता है। ये स्वजन बन्धु लोग सुख भोग भोगने के लिए हैं, परन्तु कर्म फल भोगने के लिए ये बन्धु सहायक नहीं होते।

हे आत्मन ! इन बन्धुओं के प्रेम जाल में फँसकर जो तू अपने स्वरूप को ही भूल रहा है उनका स्वरूप तो समझ ले। अनेक सुख भोग की सामग्री का जो तू सञ्चय करता है उसका सुखानुभव करने के निमित्त तो ये बन्धु आदि तेरे घनिष्ठ सम्बन्धी बन जाते हैं, परन्तु जब तेरा मरण होने वाला होता है तब उस मरण को अपने में बाँटकर क्या तेरी सहायता करते हैं? कभी नहीं करते। यदि मरण में विभाग करते तो तू अकेला ही कैसे मृत्यु का ग्रास होता? अनेकों का मरण एक मात्र क्यों नहीं होता? इससे यह स्पष्ट है कि ये स्वार्थ के सगे और विपत्ति में दगा देने वाले वञ्चक (ठग) हैं।

प्रकारान्तर से एकत्व-भावना का स्वरूप

णीया अत्था देहादिया य मगा ण कम्म इह होंति।
परलोग अण्णेत्ता जदिवि दइज्जंति ते सुट्ठु ॥ १७५० ॥ [भग आ]

अर्थ—परलोक में गमन करते हुए जीव के साथ उसके प्रिय बन्धु धन शरीरादि जिनको कि परलोक में साथ ले जाने की उसकी बहुत उत्कण्ठा होती है कोई भी नहीं जाते। इस जन्म में भी विपत्ति आने पर जब एक बन्धु आदि साथ छोड़कर अलग हो जाते हैं तो उनसे परलोक में साथ रहने की तो आशा ही क्या की जा सकती है? अतः यह जीव सदा अकेला ही है-यह स्पष्ट है।

इह लोग बधवा ते णियया ण परस्स होंति लागस्स।
तह चेव धणं देहो सगा मयणासणादीय ॥ १७५१ ॥ [भग आ]

अर्थ— स लोक मे जो बन्धु लोग हैं उनका सम्बन्ध इस जन्म के साथ ही है अर्थात् परजन्म के साथ नहीं है। धन, शरीर, शयन, आसन आदि परिग्रह का सम्बन्ध भी पूर्वोक्त प्रकार का ही है। बल्कि बन्धु, धन शयनासन आदि परिग्रह कभी कभी इस जन्म में भी जीव की सहायता नहीं करते प्रत्युत उसका अपकार करने मे तत्पर हो जाते हैं या इससे सर्वथा सम्बन्ध तोड़ देते हैं, तो वे इस जीव का उपकार परभव में भी करेंगे-यह बात विश्वास करने योग्य कैसे हो सकती है?

बन्धु आदि जीव के उपकारक नहीं बल्कि बन्धन के कारण हैं।

शरणमशरणं बन्धवो बन्धमूलं,
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्।

विपरिमृशत पुत्रा शत्रवः सर्वमेतत् ।
त्यजत भजत धम निर्मल शर्मकामा ॥ ६० ॥ [आत्मानु]

अथ—शरण (घर) तेरा वास्तविक शरण (रक्षक) नहीं है । क्योंकि काल घर म भी आकर जीव को दबोच लेता है । बन्धु लोग पाप कम का बन्ध कराने में कारण होते हैं । क्योंकि यह जीव उनक मोह जाल मे फँसकर उनके भरण-पोषण आदि के लिए अनेक पाप कम करता है । चिरकाल की परिचित (अनुभूत) पत्नी को सुख देने वाली समझना भी भ्रम है । वह भी पुरुष के अनेक आपत्ति रूप घर में प्रवेश करन का द्वार ही है । क्योकि स्त्री के मोह स ही परमाथ छोड़कर गृह-जाल मे फसकर अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं । पुत्र भी शत्रु के समान होते हैं क्योंकि जन्मते ही माता का यौवन और सौन्दय नष्ट करते हैं । बाल्यावस्था में माता पिता के सुख में विघ्न करते हैं । उनके पालन-पोषण आदि सुख साधना क लिए माता-पिता को अनेक दुष्कर्म करक धन का अजन करना पड़ता है । इस पर भी यदि वह कुपथगामी निकल जावे तो माता पिता को जन्म भर का संताप उत्पन्न हो जाता है । अतः उसके सब कम शत्रु के समान दुःख दायक हैं । इसलिए हे आत्मन् ! यदि तू दुःख और सताप म बचना चाहता है और सुख की लालसा रखता है तो इन सब से अपना सम्बन्ध तोड़ दे और धम से प्रेम सम्बन्ध जोड़ ले । यही तेरा सच्चा साथी या मित्र है । कहा भी है—

जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणसुदमइओ ।
सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥ १७५२ ॥ [भग आ]

अथ-इस भव में जीव जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक चारित्र रूप धम का पालन करता है वही परलोक में इस जीव का गुणकारक (सुखदायक) व सहायक होता है । अर्थात् धम स्वर्गादि की प्राप्ति रूप अभ्युदय और निश्रेयस (मोक्ष) को देनेवाला व परलोक म उपकारी होता है ।

धम की प्रशसा में और भी कहा है—

दत्वा द्यावापृथिव्योर्वरविषयरतिं वीतभीशुग्विषादां
कृत्वा लोकत्रयाश सुरनरपतिभि प्राप्य पूजां विशिष्टाम् ।
मृत्युव्याधिप्रधृतिप्रियविगमजरारोगशोकप्रहीणे,
मोक्षे नित्योरुसौख्ये क्षिपति निरुपमे य स नोऽव्यात् सुधर्म ॥ [भग आ संस्कृत टीका १७५२]

अर्थ—यह धर्म भय शोक और विषाद (दुःख) का विनाश कर स्वर्गसम्बन्धी एवं भूतलसम्बन्धी समस्त विषय-सुख को देता है। इसका पालन करने वाला जीव त्रिलोक का अधिपति होकर नरेन्द्रों और सुरेन्द्रों से विशेष पूजित होता है। इस धर्म के प्रसाद से जीव ही जन्म जरा मरण रोग शोक प्रिय वियोग से रहित नित्य और सदा अक्षय सुख से परिपूर्ण निरुपम मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार अपूर्व हितकारक रत्नत्रयरूप धर्म नित्य हमारी रक्षा करे।

शंका—एकत्व भावना अर्थात् असहायत्व भावना के प्रकरण में धर्म का निरूपण करना क्या उचित है ?

समाधान—यहां पर धर्म को सहायक बताकर अन्य वस्तु आदि को असहायक सिद्ध किया है। अतः इनमें उपकारकपने की बुद्धि का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। क्योंकि संसार में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप धर्म ही आत्मा का असली उपकारक है। क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव है। जो जिसका स्वभाव होता है वही उसका उपकार कर्त्ता हो सकता है। कर्म के निमित्त से संयोग को प्राप्त हुए बन्धु धनादि बाह्य पदार्थ आत्मा के स्वभाव नहीं हैं किन्तु आत्मा का विकार अवस्था (कर्म विशिष्ट अवस्था) के निमित्त से ये (बन्धु आदि) पदार्थ उपलब्ध हुए हैं। जैसे जल का स्वभाव शीतल है वह शान्ति का कर्त्ता है किन्तु अग्नि के संयोग से उत्पन्न हुआ उष्णपना जल का विकृत भाव है। वह शान्ति का कर्त्ता नहीं होता प्रत्युत शान्ति का नाशक होता है। वैसे ही धर्म आत्मा का स्वभाव होने से आत्मा को शान्ति देने वाला है और बन्धु धन आदि आत्मा के कर्म जन्य विभाव भाव रागद्वेषादि भाव कर्म से प्राप्त हुए हैं इसलिए ये आत्मा की शान्ति के नाशक होते हैं। अतः ये आत्मा के उपकारक नहीं हैं।

सम्यक्त्वादि आत्मा के शुभपरिणाम प्रशस्तगति प्रशस्तजाति उच्चगोत्र प्रशस्त-संस्थान, संहनन आयु सातावेदनीय आदि शुभ कर्मों को आत्मा में उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं। और इनके कारण यह आत्मा देव या मनुष्य पर्याय प्राप्त करता है पंचेन्द्रिय पर्याप्त, कुलीन शुभ-नीरोग शरीर का धारक दीर्घकाल तक जीने वाला होता है और सुख का अनुभव करने वाला होता है। यह सब धर्मानुबन्धी पुण्य के उदय से उपलब्ध होते हैं। इस पुण्यानुबन्धी पुण्य के उदय से भविष्य में दीक्षा-ग्रहण करने के परिणाम और निरतिचार रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। अतएव धर्म उपकार करने वाला मुख्य साधन है। इसलिए ज्ञानी धर्म में अनुराग करता है।

ज्ञानवान को शरीर और धनादि में अनुराग क्यों नहीं होता इसको कहते हैं—

बद्धस्स बंधणे व ण रागो देहम्मि होइ णाणिस्स।
विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥ १७५३ ॥ [भग आ]

अर्थ—जैसे रस्सी साकल आदि बन्धन से बंधा हुआ मनुष्य बन्धन क्रिया के कारणभूत रस्सी आदि दु:ख के देने वाले पदार्थों से प्रीति नहीं करता है वैसे ही सुख दु:ख के साधनों का जिस पृथक् ज्ञान है वह ज्ञानी मनुष्य दु:ख के कारण सारहीन अस्थिर (नश्वर) और महा अपवित्र शरीर में राग नहीं करता है। क्योंकि बुद्धिमान पुरुष गुण के पक्षपाती हुआ करते हैं।

जैसे विष दु:ख का देने वाला है और प्राणों का विनाशक होता है वैसे ही धन भी उसके उपार्जन रक्षण आदि में लगे हुए मनुष्य को दु:ख उत्पन्न करता है तथा प्राणों के विनाश में भी वह निमित्त होता है। क्योंकि संसार में प्राय: जितने नरसंहारक संग्राम होते हैं वे धन के लिए ही होते हैं। इसलिए धन-सम्पत्ति महान भय के उत्पन्न करने वाले होने से महाभयानक हैं।

जो पदार्थ जिसका अनुपकार करने वाला होता है उस पदार्थ में विवेकी पुरुष की सहाय बुद्धि नहीं होती है, जैसे कि विष कंटक आदि में नहीं होती है। शरीर धनादि भी आत्मा के अनुपकारी हैं, इसलिए विवेक-शील पुरुष को इसमें बारम्बार असहायता की भावना करनी चाहिए। अर्थात् ये कभी किसी के उपकारक नहीं हुए हैं। अत: मेरे ये उपकारक कैसे हो सकते हैं इस प्रकार पुन: पुन: अभ्यास करना चाहिए।

अन्यत्व—भावना

अन्यत्व नाम भेद का है। संसार के समस्त पदार्थों से मेरा आत्मा सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार अभ्यास करने को अन्यत्व भावना कहते हैं।

अन्यत्व नाम स्थापना द्रव्य और भाव के आश्रय से चार प्रकार का है। आत्मा जीव प्राणी, यह भेद नाम की अपेक्षा से है। काष्ठ की प्रतिमा प्रस्तर प्रतिमा इत्यादि स्थापना से भेद हैं। जीव द्रव्य व अजीव द्रव्य यह द्रव्य से भेद है। एक ही जीव द्रव्य में बालक, युवा, मनुष्य देव इत्यादि भेद भाव की अपेक्षा से होता है।

जीव और कर्म का परस्पर बंध होकर दोनों का एकीभाव हो रहा है तथापि लक्षण भेद से इनकी भिन्नता प्रतीत होती है। क्योंकि जीव का लक्षण ज्ञान दर्शन है और पुद्गल का लक्षण रूप रस गंध और स्पर्श है। इस प्रकार यह लक्षण कृत भेद होता है।

प्रत्येक समय में अनन्तानन्त कर्म परमाणु योग के निमित्त से आकर कषाय के कारण से जीव के प्रदेशों में एकमेक होकर ठहरते हैं और प्रति समय अनन्तानन्त कर्मपुद्गल जीव से पृथक् होते हैं, इस प्रकार बन्ध की अपेक्षा से भेद (अन्यत्व) होता है। औदारिकादि शरीर के कारण नोकर्मवर्गणा के नवीन पुद्गल आकर क्षीर नीर के समान जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं और पुराने

प्र तक्षण नि त्ररा को प्राप्त होत ह।

जीव स्वय अा ारिकान शरीरनामकम क उन्य स औन्ारिकान शरीर का निर्माण करके शरीर में स्थिति करता हुआ भी नस नस रोम न्त अस्थि आदि में नहीं रहता है रस हा रस र्क्त र चर्वा शुक्र वीय कफ पित्त मल मूत्र, मस्तिष्क आदि प्रदेशों में भी नहीं रहता । स प्रकार स्म तथा शरीर क अवयवों से नीव का भेद होता है। अतएव परम ध्यानी पुरुष तपस्या व ध्यान द्वारा शरीर से पृथक् होकर अनन्त ज्ञानादि गुणो से विशिष्ट हुआ मोक्ष मे अाप्त होता है। उस मोक्षावस्था की प्राप्ति के लिए यह शरीर है। यह शरीर न्द्रियगम्य है मैं अतीन्द्रिय अ ात न्द्रियो के अगोचर हैं। यह शरीर अज्ञ (ज्ञान हीन) है और मैं ज्ञाता हूँ ज्ञानस्वभाव वाला हूँ। यह शरीर अनित्य है। मैं नित्य हैं। स शरार रा आदि और अन्त है। मैं आदि और अन्त स रहित हूँ। अनन्त काल ससार में भ्रमण करते हुए मैंने अनन्त ारीर ग्रहण कर छोड ाय ह मैं उनस भिन्न रहन वाला हू। स प्रकार शरार से जब मेरा सर्वथा भेद है तब बाह्य परिग्रहों से भेद के विषय में कहना ही क्या है? स प्रकार का भावना र ा चाहिए। मूलाचार में कहा है—

मादुपिदुसयणसवधिणा य सव्व वि अत्तणो अण्णे।
इह लोग बधवा ते ण य परलाग सम णेंति ॥ १० ॥
अण्णो अण्ण सोयदि मदोत्ति मम णाहोत्ति मण्णतो।
अत्ताण ण दु सोयदि ससारमहण्णवे बुड्ड ॥ ११ ॥

अ थ—माता पिता कुटुम्ब और परिवार क लोग व सगे सम्बधी सबही मुझ से अन्य हैं। इस भव के जो बधु लोग हैं, वे परभव म साथ नहीं जाते हैं न नका किया हुआ कृत्य मेरे साथ जाने वाला है।

यह मूढ आत्मा हाय मेरा नाथ मर गया मेरा बधु मरगया इत्यादि अन्य जन का तो सोच चिन्ता करता है और ससार रूप महासागर में गोते लगाते हुए महा दु ख ज्वालाओ का आलिंगन करते हुए अपने आपका सोच नहीं करता है?

भावाथ—मोहनीय कम ने आत्मा के असली स्वरूप को भुलाकर पर पदाथ में उसे इतना रत कर दिया है कि यह अज्ञानवश पर पदार्थों को ही आत्मा मान बैठा है तथा उनको ही सुख दु ख का मुख्य साधन समझ रहा है। तबही तो अपना प्रिय बधु या मित्र जब काल के गाल में चला जाता है तब अत्यन्त शोक सताप करने लगता है किन्तु अपना आत्मा अनन्त काल से इस संसार समुद्र में डुबकियाँ लगा रहा है कभी कभी गोता लगाकर नीचे जाता है तब नरक निगोद में जाकर जन्म धारण करता और वहाँ पर वचनागोचर एक श्वास

स १८ वार ज म मरण ३ ८ स ो त ३ छेदन भेदन मरण आद के ३ सन नीत दु खो का अनुभव करता है और डुबकी लगाकर ऊपर आता है तब तिर्यच और मनुष्य भव र असह्य दु खो को भोगता ह। इन अपनी ही दु ख पूण अवस्थाओ का सोच नहीं करता है। इसलिए हे आत्मन! अब इस भ्रम को छोड ़ और माता पिता पुत्र मित्र कलत्रादि को आत्मा से सर्वथा भिन्न समझ। उनका दु खित व मरणोन्मुख देखकर दु ख और शोक करना अज्ञानियो का कम है। कहा भी ह —

प्रातिपूव कृत कम मनोवाक्कायकमभि ।
न निवारयितु शक्य महतैस्त्रिदशैरपि ॥ [भग आ टीका १७५४]

अर्थ—जिस जीव ने मन वचन काय के द्वारा प्रीतिपूर्वक जो कम किया है सब देव मिलकर भी उसका निवारण नहीं कर सकते तब अन्य का क्या सामर्थ्य है जो उस कम का निराकरण कर सके।

शङ्का—पर दु ख का निवारण करने के लिए जब कोई समर्थ नहीं हो सकता तब किसी दु खित जीव के दु ख के प्रतीकार का प्रयत्न करना व्यर्थ हुआ। किसी व्याधि पीडित मनुष्य को औषधादि देना एव उसकी वैयावृत्य आदि दु ख दूर करने के जो उपाय किये जाते हैं, उनका भी निराकरण हुआ। किसी के दु ख के नाश के उपाय करने का भी निषेध हुआ। इस प्रकार आचरण करने से परस्पर में सहानुभूति व अनुकम्पा भाव का भी नाश हो जावे॥ और कठोरता तथा निर्दयता का प्रचार होने लगेगा जो कि धम भावना से विरुद्ध है।

समाधान—परदु ख के निवारण करने के लिए जो उचित प्रयत्न व उपाय किये जाते हैं उनका निषेध नहीं किया गया है। निषेध तो ऐसा किया गया है कि यह मोही जीव परके दु ख व मरण आदि के निमित्त से आत्मा में शोक दु ख और सताप करता है यह उसकी मूर्खता है। उचित उपाय करते हुए जब दु ख दूर नहीं होते हैं तो समझना चाहिए कि यह उनके पूर्वोपार्जित निकाचित बध का परिणाम है। इसके निमित्त से अपनी आत्मा में दु ख और शोक करके शोक व दु ख के दाता मोहनीय कम का बध करना मूर्खता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? दु खादि के निवारण का प्रयत्न करना दूसरी बात है और उनमे ममत्व परिणाम करके दु ख शोक का अनुभव करना दूसरी बात है।

ससार म कौन किसका हुआ है? कोई किसी का सम्बन्धी नहीं है। कहा है—

ससारम्मि अणता सगेण कम्मेण हरिमाणाण।
को कस्स हो गयणो सज्जइ मोहा जणम्मि जणो॥ १७५५॥ [भग आ]

अर्थ—यह ससार पाँच प्रकार के परिवर्त्तन से युक्त है और अनन्त है। इसमे अनादि काल से मिथ्यादर्शन, अविरति प्रमाद आदि आत्मा के परिणामो से उपार्जित कर्म पुद्गलो से बधे हुए जीव अनेक प्रकार की गतियों में भ्रमण करते रहते हैं-ऐसी हालत में कौन किसका नियत कुटुम्बी हो सकता है ? यदि कोई निश्चित सम्बन्ध होता तो, यह स्वजन है और यह परजन है' ऐसा विभाग हो सकता था किन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि कर्म से परतन्त्र हुए जीव के जो आज स्वजन है वे परभव में परजन हो जाते हैं। इसलिए इस संसार में न तो कोई स्वजन है और न कोई परजन है यह सब जीव राशि भिन्न भिन्न मिथ्यात्वादि परिणामों के द्वारा अनेक अवस्थाओं का अनुभव करती हुई एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। ऐसा चिन्तन करने वाले ज्ञानी जीव के किसी पर दया व प्रेम नहीं होता है और न किसी पर निर्दयता व द्वेष उत्पन्न होता है। अर्थात् इस विषम भाव के न होने पर साम्यभाव प्रकट होता है। राग द्वेष के अभाव से आत्मा में निर्विकल्पक ध्यान प्रादुर्भूत होता है। क्योंकि मोह से यह जीव मेरा यह भाई है यह पिता है पुत्र है भानजा है यह मेरा दास है यह मेरा स्वामी है, इस प्रकार अन्यजनो पर आसक्ति करता है। भेद ज्ञान न होने से मैं इनसे भिन्न हूं और ये मुझ से पृथक् हैं ऐसा विचार उत्पन्न नहीं होता है।

इस प्रकार तत्त्व का चिन्तन करने वाले भेदज्ञानी आत्मा स्वपर का विवेक ज्ञान होने से किसी पर रागद्वेष नहीं होता है और सहज ही में निर्विकल्प समाधि उत्पन्न होती है।

प्रकारान्तर से स्वजन और परजन के भेदभाव को दिखाते हैं—

सव्वोवि जणो सयणो सव्वस्स वि आसि तीदकालम्मि।
एत्ते य तहाकाले होहिदि सजणो जणस्स जणो ॥ १७५६ ॥ [भग आ]

अर्थ—भूतकाल में सब जीव सब जीवो के स्वजन (कुटुम्बी) बन चुके होंगे और भविष्य काल में सब जीव सबके स्वजन बनगे। ऐसी अवस्था में किसी एक दो को स्वजन मान लेना मिथ्या सकल्प है। वे सब जीव मुझ से अन्य (भिन्न) हैं और मैं भी उनसे अन्य (भिन्न) हूँ ऐसा समझना ही वास्तविकता है।

इस जगत् के सब प्राणी बालुका के कणों के समान परस्पर भिन्न २ हैं। जैसे बालुका के कणों का संयोग जलादि द्रव पदार्थ के मिलने से होता है जब उस द्रव पदार्थ का रस सूख जाता है तब वे भी अलग २ होकर बिखर जाते हैं, उसी प्रकार बन्धु लोग कार्य सिद्धि के उद्देश्य से ही सम्बन्ध को प्राप्त हुए हैं कार्य सिद्धि के पश्चात सब पृथक पृथक् हो जाते हैं।

आशय यह है कि जगत में कार्य के उद्देश्य से स्वजन व परिजन का विभाग होता है। उपकार से मित्रता और अपकार से

शत्रुता है।

यहाँ कोई किसी का स्वाभाविक मित्र व शत्रु नहीं होता। प्रतिकूल व्यवहार से शत्रु बन गया है उसके साथ उपकार का बर्ताव करने से वह पुन मित्र बन जाता है। जो प्राणों का घातक बन बैठा था उपकार रूपी मंत्र से उसका स्वभाव बदल जाता है और वही प्राणों की रक्षा करता हुआ देखा जाता है। तथा जो स्वभावत प्रिय होता है ऐसे पुत्र पर भी अपकार रूपी विष का प्रयोग होने पर वही प्राण संहारक शत्रु बन बैठता है। उपकार और अपकार क्रियाएं हमेशा एकसी नहीं रहती हैं। अत उनके निमित्त से होने वाला बन्धु भाव और शत्रु भाव भी एकसा नहीं रहता है। इसलिए किसी पर राग-द्वेष कभी नहीं करना चाहिए। बल्कि शत्रु मित्र स्वजन परिजन आदि का वास्तव मे अपने से कोई सम्बन्ध न समझ कर उनसे मोह हटा लेना चाहिए और संसार के सब सम्बन्धों को स्वार्थ मूलक समझ कर अन्यत्व भावना दृढ करनी चाहिए। अन्यथा शत्रु मित्र आदि का कल्पना कर प्राणी अपने आपको भूलेगा तो कभी अपना हित साधन न कर सकेगा। क्योंकि अज्ञानी प्राणी को अपने सच्चे शत्रु और मित्रों की भी तो परख नहीं। कहा है —

शत्रु व मित्र कौन है ?

जो जस्स वट्टदि हिद पुरिसो सो तस्स बन्धवो होदि।
जो जस्स कुणदि अहिद सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो ॥ १७६३ ॥ [भग आ]

अर्थ—जो मनुष्य जिसके हित में प्रवृत्त करता है वह उसका बन्धु व मित्र माना जाता है और जो मनुष्य जिसके अहितकार्य मे प्रवृत्ति करता है वह उसका शत्रु कहा जाता है। अर्थात् हित करने वाले को बन्धु और अहित करने वाले को शत्रु कहते हैं। इसलिए हे आत्मन ! जिनको तूने अपना बन्धु समझ रखा है वे वास्तव में तेरे शत्रु हैं क्योंकि वे अभ्युदय (स्वर्गादि की प्राप्ति) और नि श्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति के कारण धर्म में विघ्न करने वाले हैं। और तीव्र दु ख के कारण हिंसा असत्यादि असंयम को भी तुझ से वे ही करवाते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिसकी आराधना करने से अष्ट कर्मों का नाश होकर सुख शान्ति के देने वाले मोक्ष की प्राप्ति होती है और सांसारिक उत्कृष्ट सुख के कारण अहमिन्द्रादि पद की उपलब्धि होती है उस सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र (रत्नत्रय) रूप धर्म के धारण करने में बन्धुगण विघ्न बाधाएं उपस्थित करते हैं। अर्थात् अनुपम सुख के कारणभूत धर्म का पालन करने मे बाधक ही नहीं होते अपितु आत्मा को नरक और निगोद के असीम दु खों के कारण हिंसा झूठ चोरी आदि पापों को भी वे ही करवाते हैं और नरकादि के घोर दु खों से रक्षा करने वाले धर्म में ये बन्धु विघ्न करते हैं। इसलिए ये बन्धु नहीं मित्र नहीं भयानक शत्रु हैं। क्योंकि हित में बाधा करने वाले और अहित में सहायता करने वाले शत्रु ही होते हैं।

तम्हा णीया पुरिसस्स होंति साहू अणयसुहहेद ।
ममारमग्गीणता णीया य णारस्स होंत अरा ॥ १७६७ ॥ [भग आ]

अर्थ—स पुरुष प्राणियो को हित मार्ग मे लगाते हैं तथा स्वर्गादि में राज्य सुख व मोक्ष सम्बन्धी अतीन्द्रिय-सुख की प्राप्ति कराने मे कारण होते हैं इसलिए वे ही असली बन्धु है। परन्तु जो पुत्र मित्र भ्राता बन्धु हैं वे अनेक दु खो से व्याप्त अपार संसार समुद्र में डुबोते हैं इसलिए व बन्धु बन्धु नहीं किन्तु शत्रु ही हैं।

इस गाथा से अपने से भिन्न जो सत्पुरुष हैं उन्हें सच्चे बन्धु और अपने से भिन्न जो पुत्र भ्राता आदि बान्धव हैं उन्हें असली शत्रु बतलाया है। इसस सत्पुरुषो के धर्मोपदेश में अनुराग और आदर भाव उत्पन्न होता है और बन्धुओ म अप्रीति व अनादरभाव पैदा होता है। क्योंकि सत्पुरुष इस लोक व पर लोक में उत्तम से उत्तम इन्द्रियजन्य सुख को देने वाले और अतीन्द्रिय अनुपम निराबाध मोक्ष के नित्य सुख को देने वाले हैं एव धर्म क मार्ग पर लगाते हैं और ये बन्धु लोग मनोवाछित सुख को देन वाले रत्नत्रय रूप धर्म का पालन करने में बाधा उपस्थित करते हैं। ससार व नरक हिंसा उनके आरम्भादि क्रियाओं मे जीवों को प्रवृत्त करते हैं। अत सत्पुरुषों को उपकारी समझ कर उनमें आदर बुद्धि करना और स्वजन आदि के सम्बन्ध को अहित रूप समझ कर उनमे अनादर बुद्धि करना यही अन्यत्वानुप्रेक्षा का फल है।

ससारानुप्रेक्षा

अब ससारानुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए ससार का स्वरूप वर्णन करते हैं।

ससार का स्वरूप

मिच्छत्त णा छण्णो मग्ग जिणदेसिद अपक्खतो ।
भमिहदि भमिकुडिल्ले जावा ममारकतारे ॥ १३ ॥ [मूला० अ]

अर्थ—मिथ्या व रूप अन्धकार से आच्छन्न (ढका हुआ) यह आत्मा जिनेन्द्र भगवान् द्वारा दिखलाये गये मोक्ष मार्ग को नहीं देखता हुआ अज्ञानवश भयानक नाना मोहलतादि से अत्यन्त गहन ससार रूप बीहड वन में निरन्तर भ्रमण करता है।

भावार्थ—जीवों की अवस्था चार प्रकार की हैं-१ ससार २ असमार ३ नो ससार ४ तत्त्रितय व्यपाय (उक्त तीनों अवस्थाओं की निवृत्ति रूप अवस्था विशेष)

[१] संसार—चौरासी लाख योनियों के भेदवाली नरकादि चारों गतियों में परिभ्रमण करने को संसार कहते हैं।

[२] असंसार—मोक्षपद में परम अमृत रूप निज-सुख में प्रतिष्ठित होजाने को असंसार (संसार का अभाव) कहते हैं।

[३] नो संसार (ईषत् संसार)—तेरहवें गुणस्थान मे विराजमान सयोगकेवली (अरिहंत) भगवान् के चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण का अभाव है अतः उनके संसार नहीं है। तथा संसार के अन्त (मुक्ति) की प्राप्ति नहीं हुई है अतः असंसार भी नहीं इसलिए उनके ईषत् संसार को नो संसार कहते हैं।

[४] तत्त्रितयव्यपाय उक्त तीनो अवस्थाओं की निवृत्ति रूप अवस्था विशेष—अयोगकेवली की अवस्था को तत्त्रितयव्यपायरूप अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में उक्त तीनो अवस्थाओं का अभाव पाया जाता है क्योंकि अयोगकेवली के भव भ्रमण का अभाव होने से संसार अवस्था नहीं है। सयोगकेवली के समान इनके आत्म प्रदेशों का परिस्पन्द (चञ्चलपना) नहीं होने से ईषत्संसार रूप नोसंसार भी नहीं है। तथा संसार का अन्त (मोक्ष) प्राप्त नहीं होने से उनके असंसार भी नहीं है। इन तीनों अवस्थाओं से अतिरिक्त यह एक चौथी ही अवस्था है।

शरीर का परिस्पन्द (हिलन चलन) न होने पर भी समस्त प्राणियों के निरन्तर आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द (कम्पन) होता है इसलिए उनके सदा संसार माना गया है किन्तु सिद्धों के व अयोग केवलियों के आत्म प्रदेशों का परिस्पन्द नहीं होता है। क्योंकि उनके आत्म प्रदेशों के परिस्पन्द का कारणभूत कर्म सामग्री का अभाव है। इन दोनो के अतिरिक्त जीवों के तीन अवस्थाएं होती हैं जिनका निरूपण ऊपर कर आये हैं।

यह संसार अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि और अनन्त है। भव्य सामान्य की अपेक्षा अनादि और सान्त है। भव्य विशेष (सम्यग्दृष्टि) की अपेक्षा से संसार सादि सान्त है। क्योंकि अनादिकाल से जो मिथ्यात्वसहित संसार था उसका सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर नाश हो जाने से सम्यक्त्व सहित संसार की आदि हुई है और इसका अन्त होने वाला है। इसलिए इसे सादि सान्त कहा है।

असंसार सादि और सान्त है। अर्थात् मोक्ष अवस्था आदि सहित और अन्त रहित है।

तत्त्रितय व्यपाय (अयोगकेवली की अवस्था) का काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। अर्थात् अ इ उ ऋ लृ इन पांच ह्रस्व-स्वरों के उच्चारण करने में जितना काल लगता है उतने काल पर्यन्त अयोगकेवली अवस्था रहती है। उसके अनन्तर मोक्ष हो जाता है।

नो संसार (ईषत् संसार) का काल अन्तर्मुहूर्त्त सहित आठ वर्ष कम पूर्वकोटि मात्र है। अर्थात् पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला

चतुर्थ काल का तीन आठ वर्ष के अनन्तर तपस्या ग्रहण करके केवलज्ञान उत्पन्न कर सकता है। इसलिए अन्तमुहूर्त सहित आठ वर्ष हीन पूर्व कोटिवर्ष पर्यन्त सयोगकेवली अवस्था रह सकता है। अत नोसंसार सादि सान्त है।

सादि सान्त संसार का काल जघन्य अन्तमुहूर्त है और उत्कृष्टकाल अर्धपुद्गलपरावर्त्तन मात्र है। जो जीव अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि था उसने काललब्धि आदि के योग से सम्यक्त्व का प्रारम्भ किया तब उसके सम्यक्त्व सहित संसार का आदि हुआ। वह संयम धारण कर अन्तमुहूर्त्त में मोक्ष प्राप्त करले तो उसके संसार का काल अन्तमुहूर्त्तमात्र हुआ और वह सम्यक्त्व से च्युत होजावे और संसार मे अधिक से अधिक रहे तो अर्धपुद्गलपरावर्त्तनकाल तक रह सकता है उसके अनन्तर उसका मोक्ष अवश्यभावी है।

वह संसार द्रव्य क्षेत्र काल और भव की अपेक्षा से पाच प्रकार का होता है।

मूलाचार की मूलगाथा मे चार प्रकार के (द्रव्य क्षेत्र काल भाव) परिवर्त्तन का निरूपण है परन्तु संस्कृत टीकाकार ने पाचों परिवर्त्तनों का ग्रहण किया है। इसी प्रकार भगवतीआराधना मे भी मूलाचार के समान चार परिवर्त्तनों का ही विधान है। परन्तु संस्कृत टीकाकारों ने अन्य शास्त्रो के उद्धरण देकर भव परिवर्त्तन को भी ग्रहण किया है। क्रमश उक्त ग्रन्थो की गाथाओं को नीचे दिखाते हैं।

दव्व खेत्ते काले भावे य चदुव्विहो य संसारो।
चदुगदिगमणणिबद्धो बहुप्पयोरहिं णादव्वो ॥ १४ ॥ [मूला]

अर्थ—नरकादि चारगतियो मे गमन कराने का कारणभूत संसार (परिवर्त्तन) द्रव्य क्षेत्र काल और भाव इस तरह चार प्रकार का तथा आगे कहे गये छह सात आदि प्रकार का जानना चाहिए।

द्रव्य–परिवर्त्तन

अण्णं गिण्हदि देहं तं पुण मुत्तूण गिण्हदे अण्णं।
घटिजंत व य जीवो भमदि इमो दव्वसंसारे ॥ १७७३ ॥ (भग आ)

अर्थ—जिस प्रकार कूप मे लगा हुआ घटीयंत्र (अरघट) भ्रमण करता हुआ पहले ग्रहण किये हुए जल का त्याग करता है और अन्य जल का ग्रहण करता है उसी प्रकार संसार कूप मे पडा हुआ यह प्राणी पूर्व ग्रहण किये हुए शरीर को छोडता और दूसरे शरीर

को धारण करता है इस प्रकार भिन्न २ शरीरों का ग्रहण और त्याग करता हुआ यह जीव अनादिकाल से इस संसार में भ्रमण कर रहा है। अनेक प्रकार के शरीरों के ग्रहण करने को ही द्रव्य-परिवर्त्तन कहते हैं।

भावार्थ—एक शरीर का ग्रहण कर आयु पूर्ण करके उसे छोड़ दूसरे शरीर का ग्रहण करना और उसे भी छोड़ तीसरे शरीर का ग्रहण करना इसी प्रकार निरंतर शरीर के ग्रहण और त्याग करने को द्रव्य परिवर्त्तन कहते हैं।

द्रव्य परिवर्त्तन दो प्रकार का है-१ नोकर्मद्रव्य परिवर्त्तन और कर्म द्रव्य परिवर्त्तन।

१ नोकर्मद्रव्य परिवर्त्तन—तीन शरीर (औदारिक वैक्रियिक आहारक) तथा छह पर्याप्ति (आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा मन) के योग्य जो पुद्गल हैं वे तीव्र-मन्द मध्यम भावों से युक्त स्पर्श (स्निग्ध रूक्ष) वर्ण गंध आदि रूप जैसे थे वैसे ग्रहण किये और दूसरे तीसरे आदि समय में वे निर्जरा को प्राप्त हुए। जिनका ग्रहण पहले नहीं किया था ऐसे पूर्वोक्त पुद्गलों का अनन्त बार ग्रहण किया और त्याग किया तथा मिश्र (गृहीत और अगृहीत मिले हुए) पुद्गलों का अनन्तवार ग्रहण और त्याग किया। बीच बीच में गृहीत पुद्गलों का भी ग्रहण व त्याग किया। काल पाकर पूर्व समय में जिन पुद्गलों को ग्रहण किया था उन्हीं को उसी प्रकार (तीव्र-मन्द-मध्यम भावों द्वारा स्निग्ध रूक्ष वर्णादि रूप) वही जीव जितने काल में नोकर्म रूप से ग्रहण करता है उतने काल को नोकर्मद्रव्यपरिवर्त्तन कहते हैं।

कर्म द्रव्य परिवर्त्तन -किसी जीव ने एक समय में ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप पुद्गल तीव्रादि भाव से युक्त स्निग्धरूक्षादि स्वरूप ग्रहण किये। एक समय अधिक एक आवली के अनन्तर द्वितीय आदि समय में उनकी निर्जरा हुई। अनन्तवार अगृहीत कर्म पुद्गलों का ग्रहण कर निर्जरा की। मिश्र (गृहीत व अगृहीत मिले हुए) कर्म पुद्गलों का ग्रहण कर निर्जरा की। मध्य में गृहीत कर्म पुद्गलों का ग्रहण कर निर्जरा की। इस प्रकार काल पाकर उन्हीं कर्म पुद्गलपरमाणुओं का जिनका पहले समय में जिस प्रकार ग्रहण किया था-ग्रहण जितने काल में हो जावे उतने काल को कर्मद्रव्य-परिवर्त्तन कहते हैं। वही कहा है—

सव्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुज्झिया य जीवेण।
असइं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टससारे। (टीका भग आ १७७१)

इसका आशय ऊपर आगया है।

जैसे—रङ्ग भूमि (नाटकघर) में आकर नट नाना प्रकार की आकृति रंग व स्वभाव को धारण करता और छोड़ देता है वैसे ही द्रव्य संसार में भ्रमण करनेवाला यह जीव नाना प्रकार की आकृति वर्ण और स्वभाव को बार बार धारण करता और छोड़ता रहता है।

क्षेत्र संसार

जत्थ ण जादो ण मदो हवेज जीवो अणंतसो चेव ।
काले तीदम्मि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि ॥ १७७५ ॥ (भग आ)

अर्थ— स लोक-क्षेत्र म ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा है जहा पर यह जीव भूत काल में अनन्त बार नहीं जन्मा हो और न मरा हो।

सव्वम्मि लोयखित्त कमसो त णत्थि जम्म उप्पण्ण ।
आगाहणा य बहुसो परिभमिदो खित्तससारे ॥ १७७६ ॥ (भग आ)

भावार्थ—सबस जघन्य शरीरवाला लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्मनिगोदिया जीव लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के प्रदेशों के मध्य मे करके उत्पन्न हुआ और क्षुद्र भव प्रमाण स जीकर मर गया उसी क्षेत्र में वह जीव अगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण आकाश के जितने प्रदेश हैं उतनी बार जन्म लेकर मरण करता रहा है। उसके पश्चात् एक एक अधिक बढ़ाते हुए इस जीवने सम्पूर्ण लोक-क्षेत्र को अपना जन्मक्षेत्र बना लिया। इसमे जितना काल लगता है उतने काल को क्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

ऐसे क्षेत्र--परिवर्तन इस जीव न अनन्त किये हैं। सम्पूर्ण लोक क्षेत्र मे ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहां यह जीव अनेक अवगाहना धारण करके नहीं उत्पन्न हुआ हो। अर्थात् अनन्त बार प्रत्येक क्षेत्र में जन्म मरण कर चुका है।

काल परिवर्तन

तक्कालतक्कालसमएसु जीवो अणतसो चेव ।
जादो मदो य सव्वेसु इमो तीदम्मि कालम्मि ॥ १७७७ ॥ (भग आ)

अर्थ— उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के जितने समय हैं उन प्रत्येक में यह जीव अनन्त बार भूतकाल में जन्म मरण कर चुका है।

उवसप्पिणि अवसप्पिणि-समयावलियासु णिरवसेसासु ।
जादो मदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे ॥ १७७८ ॥ (भग आ)

अर्थ— यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सम्पूर्ण समय की पंक्तियों में अनेक भव धारण करके बहुत बार जन्म मरण कर चुका है। उसे काल संसार कहते हैं।

भावार्थ—किसी जीव ने उत्सर्पिणी के प्रथम समय में जन्म लिया था अपनी आयु के क्षय होने पर मरण किया। फिर उसी जीव ने उत्सर्पिणी के दूसरे समय में जन्म लिया और स्वकीय आयु के समाप्त होने पर मरण किया। फिर वही जीव पुनः उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के क्षय होने पर मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसी क्रम से उस जीव ने सम्पूर्ण उत्सर्पिणी के समस्त समयों में यथाक्रम जन्म धारण किये और आयु के समाप्त होने पर मरता रहा। इसी प्रकार अवसर्पिणी के प्रथम समय से लेकर अवसर्पिणी के अन्तिम समय पर्यन्त जन्म धारण करके स्व आयु के समाप्त होने पर मरण करता रहा। इस प्रकार निरन्तर जन्म लेते गये हैं। मध्य में क्रम भंग करके जन्म धारण किये उनकी गिनती नहीं होती है। जिस प्रकार जन्म का क्रम दिखलाया गया मरण का क्रम भी उसी प्रकार निरन्तर (अन्तर रहित) समझना चाहिये। इन जन्म और मरणों में जितना काल लगता है उसे काल परिवर्तन कहते हैं।

क्षेत्र-परिवर्तन

आत्मा के प्रदेशरूप क्षेत्र में आत्मा के प्रदेशों का संसरण क्षेत्रपरिवर्तन है।

अट्ठपदेसे मुत्तूण इमा ससेसु सगपदेसेसु ।
तत्ते पाणीव अस्सरणा उव्वत्तपरत्तणा कुणदि ॥ १७७९ ॥ (भग आ)

प्रदेशाष्टकमत्यस्य शेषेषु कुरुते भवी ।
उद्वर्तनपरावर्त सन्तप्ताम्बुवत् तन्दुला ॥ १८४८ ॥ (टीका भग आ)

अथ—रुचकाकार जो आत्मा के मध्य के आठ प्रदेश हैं उनको छोड़कर शेष सब प्रदेशों में यह जीव उद्वर्तन और परावर्तन करता रहता है। अग्नि में (उबलते हुए पानी में) जिस प्रकार चावल ऊँचे नीचे होते रहते हैं उसी प्रकार गोस्तनाकार आठ

प्रदेशों के अतिरिक्त आत्मा के सब प्रदेश ऊपर नीचे ऊपर नीचे हुआ करते हैं अर्थात उनमें स्पन्दन (चलनात्मक) क्रिया होती रहती है।

भाव संसार

लोगागास पएसा असंखगुणिदा हवंति जावदिया।
तावन्नियाणि हु अज्झवसाणाणि इमस्स जीवस्स ॥ १७८० ॥ (भग आ)

अर्थ—लोक के असंख्यात प्रदेशों को असंख्यात से गुणित करने पर जितनी संख्या होती है उतने एक जीव के अध्यवसाय स्थान होते हैं।

भावस्थानान्तराण्येव दहवान् स प्रपद्यते।
कर्केटुको यथानित्य वर्णान् स्वीकुरुते बहून् ॥
अज्झवसाणठाणतराणि जीवो विकुव्वइ इमो हु।
णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥ १७८१ ॥ (भग आ)

अर्थ—शरट (गिरगट कर्कोटिया) जैसे अनेक रंग बदलता रहता है वैसे ही इस संसारी जीव के अध्यवसायों (भावों) में नित्यप्रति परिवर्तन (परिणमन) होता रहता है। इसको भाव परिवर्तन कहते हैं।

भाव परिवर्तन का विस्तार पूर्वक निरूपण

पचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि किसी जीव ने अपने योग्य ज्ञानावरण कर्म प्रकृति की सबसे जघन्य अन्तः कोड़ाकोड़ी (अन्तः सागर कोटि) सागर की स्थिति बांधी। उस जीव के उस स्थिति के योग्य कषाय अध्यवसायस्थान (आत्म परिणाम विशेष) षट्स्थानपतित (अनन्त भागादि वृद्धि व हानिरूप) असंख्यातलोक प्रमाण होते हैं। उन कषायाध्यवसाय स्थानों में जो सब जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान हैं उसके निमित्तभूत अनुभागाध्यवसायस्थान भी असंख्यातलोक प्रमाण होते हैं। इस प्रकार सर्वजघन्य स्थिति तथा सर्वजघन्य कषायाध्यवसायस्थान और सर्वजघन्य ही अनुभागाध्यवसायस्थान को प्राप्त हुए जीव के उनके योग्य सर्वजघन्य एक योगस्थान होता है। उसी स्थिति उसी कषायाध्यवसाय व उसी अनुभागाध्यवसायस्थान के लिए असंख्यातवृद्धियुक्त दूसरा योगस्थान होता है। तथा तृतीय चतुर्थ

आदि चारस्थान पतित हानि वृद्धिरूप असख्यातभागवृद्धि सख्यातभागवृद्धि सख्यातगुणवृद्धि असख्यातगुणवृद्धि तथा असख्यातभागहानि सख्यात भागहानि सख्यातगुणहानि असख्यातगुणहानिरूप) श्रेणी के असख्यात भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। जब श्रेणी के असख्यात भाग प्रमाण सब योगस्थान एक बार होजाते हैं तब वही पूर्वोक्त स्थिति और वही पूर्वोक्त कषायाध्यवसायस्थान होता है और अनुभागाध्यवसाय स्थान का प्रथमस्थान बदलकर द्वितीयस्थान हो जाता है। इस तरह एक २ बार श्रेणी के असख्यातभाग प्रमाण योग-स्थान होजाने पर अनुभागाध्यवसायस्थान का एक २ स्थान बदलते बदलते जब असंख्यात लोक प्रमित अनुभागाध्यवसायस्थान बदल जाते हैं तब स्थिति तो वही पूर्वोक्त रहती है और कषायाध्यवसाय का प्रथम स्थान बदलकर द्वितीय स्थान हो जाता है। इस द्वितीय स्थान के लिए पूर्वोक्त असख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान होते हैं। अर्थात एक एक अनुभागाध्यवसाय स्थान के निमित्त श्रेणी के असंख्यातभाग असख्यातभाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। और एक एक कषायाध्यवसायस्थान के निमित्त असख्यातलोकप्रमाण असख्यातलोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं।

इस प्रकार पूर्व की भांति एक एक बार सम्पूर्ण असख्यातलोकप्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थानों के होने पर कषायाध्यवसाय स्थान का एक एक स्थान बदलते बदलते जब वे असख्यातलोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान एक बार हो जाते हैं तब पूर्वोक्त सर्वजघन्य स्थिति में एक समय की वृद्धि होती है। इसी क्रम से स्थिति में एक एक समय की वृद्धि होते २ ज्ञानावरण की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस कोडाकोडी सागर की पूर्ण होती है। कषायाध्यवसायादि स्थानों का परिवर्त्तन पूर्व की तरह समझलेना चाहिए।

इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मों की मूलप्रकृतियो व उत्तर प्रकृतियों के परिवर्त्तन का क्रम जान लेना चाहिए। उक्त सम्पूर्ण मूलोत्तर कर्म प्रकृतियों की जघन्यस्थिति से लेकर उत्कृष्टस्थिति तक परिवर्त्तन क्रम में जितना काल लगता है उतने काल को भाव परिवर्त्तन कहते हैं। वही कहा है —

सव्वा पयडिठिदीओ अणुभागप्पदेसबधठाणाणि।
मिच्छत्तसंसिदेण य भमिदा पुण भावससारे ॥ (भग आ टीका १७८१)

अर्थ—मिथ्यात्व के वशीभूत हुए इस जीव ने सम्पूर्ण कर्मों के प्रकृतिबंध प्रदेशबंध अनुभागबंध और स्थितिबंध के योग्य आत्मा के अध्यवसायों को धारण करके ससार में परिभ्रमण किया है इसे भाव ससार कहते हैं। ऐसे भाव ससार भी इस जीव ने अनन्त बार धारण किये हैं।

भवमगार

एगविगतिगचउपचिन्यिाण जाओ हवति जोणीओ ।
मव्वाउ ताउ पत्तो अणंतखुत्तो इमो जीवो ॥ १७७२ ॥ भग आ

अथ—नाम कम क गति जाति आदि अनेक भेद माने हैं । उसमें जाति कर्म के पाच भेद हैं । जाति कर्म के उदय से एकेन्द्रिय आदि जीवो क जो आश्रय हैं यहा उनको योनि माना है । सचित्त अचित्तादि चौरासी लाख भेद जो आगम में अन्यत्र वर्णन किये गये हैं उनका यहा ग्रहण नहीं किया है । यहा पर एकेन्द्रियादि के आश्रयभूत जो बत्तीस पर्यायें हैं उनका योनि शब्द से ग्रहण किया गया है । पृथ्वी जल अग्नि और वायु कायिक जीवो मे से प्रत्येक के बादर सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे चार चार भेद होते हैं वनस्पतिकायिक जीवों क दो भेद हैं साधारण और प्रत्येक । इनमें से साधारण वनस्पति कायिक के बादर सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे चार भेद होते हैं । प्रत्येक वनस्पतिकायिकजीव बादर ही होते हैं और उनके पर्याप्त और अपर्याप्त दो भेद होते हैं । इस प्रकार एकेन्द्रिय स्थावर जीवों के ईस भेद हुए । तथा त्रसकाय क द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय सज्ञी और पचेन्द्रिय असज्ञी ये पाच भेद होते हैं और इनमें प्रत्यक पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो दो भेद होने से दस भेद हुए । इस प्रकार सब मिल कर बत्तीस भेद हुए । इनमे जन्म धारण करते रहने को भव परिवर्तन कहते हैं ।

दूसर आचार्यों के मत से भव परिवत्तन का स्वरूप निम्न प्रकार है –

णिरयादिजहण्णादिसु जावदु उवारिल्लियादु गेवेज्जा ।
मिच्छत्तससिदेण दु भवट्ठिदी भज्जिदा बहुसो ॥ (टीका भग)

अथात्—नरकगति मे जघन्य आयु दश हजार वष की है उस आयु को धारण करके किसी ने वहा जन्म लिया और आयु पूर्ण होन पर ससार मे परिभ्रमण कर पुन पूर्वोक्त आयु धारण कर वही जीव उसी नरक मे जन्मा और आयु की समाप्ति के अनन्तर ससार में अन्य २ पर्यायें धारण करता रहा । पुन उसी आयु स उसी नरक में दश हजार वष के जितने समय होते हैं उतनी बार जन्म धारण करके मरण करता रहा । उसक पश्चात् एक समय अधिक दशहजार वष की आयु धारण कर उसी नरक मे उत्पन्न हुआ और मरा । इसी प्रकार एक एक समय अधिक का आयु धारण करते और मरते हुए उस जीवने नरक म तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयुस्थिति समाप्त की । उसमें असख्यात बार जन्म मरण हुए ।

तत्पश्चात् वह जीव सातवें नरक से निकलकर तिर्यचगति में उत्पन्न होकर सर्वजघन्य अन्तमुहूर्त की आयु का धारक हुवा और अन्तमुहूर्त के जितने समय होते हैं उतनी बार उसी पर्याय में पूर्व की भाँति जन्म मरण करता रहा। उसके बाद एक एक समय अधिक की आयु धारण करते हुए पूर्वोक्त क्रमसे उत्कृष्ट तीन पल्य की आयु समाप्त की।

तदनन्तर वहां से निकलकर वह जीव मनुष्यगति में आया और वहाँ भी तिर्यंचगति के समान सर्वजघन्य अन्तमुहूर्त का आयु का धारक मनुष्य हुआ। अन्तमुहूर्त के जितने समय होते हैं उतनी बार उतनी आयु की मनुष्य पर्याय धारण करके मरता रहा। तत्पश्चात् एक समय अधिक के क्रमसे उत्कृष्ट तीन पल्य की आयु समाप्त की।

तत्पश्चात् वहाँ से निकलकर देवगति में उत्पन्न हुआ। वहां पर भी नरक के समान सर्वजघन्य आयु दश हजार वर्ष की धारण करके दशहजार वर्ष के जितने समय होते हैं उतनी बार उसी पर्याय में जन्म मरण करता रहा। उसके अनन्तर एक समय अधिक के क्रम से इकतीस सागर तक की आयु समाप्त की। क्योंकि नवग्रैवेयक तक ही मिथ्यादृष्टि का गमन है। आगे अहमिन्द्र सब नियम से सम्यग्दृष्टि होते हैं।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व के योग से नरक गति की जघन्य आयु से लेकर उत्कृष्ट आयु तथा इसी प्रकार तिर्यंच गति मनुष्यगति और देवगति के उपरिम नवें ग्रैवेयक तक बहुत बार पर्याय धारण करते भवपरिवर्तन करता रहा है। अर्थात् इस जीव ने मिथ्यात्व के वश में आकर उक्त भव परिवर्तन अनन्त बार किये हैं।

इस संसार में इस जीव को सब से भय लगा रहता है किसी जगह भी सुख शान्ति नहीं मिलती।

आगासम्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी।
हिंसंति एक्कमेक्कं सव्वत्थ भयं खु संसारे ॥ १७८२ ॥ (भग आ)

अर्थ—जब यह जीव कर्म योग से पक्षी की पर्याय में जन्म लेता है और आकाश में स्वच्छन्दवृत्ति से विचार करता है तब श्येन (बाज) आदि विरोधी पक्षी उसे सताते हैं। जब जलचर नावों में जन्म धारण करता है तब छोटे मच्छों को महामत्स्य भक्षण करते हैं। जब थलचर मृगादि पशु होता है तब सिंह व्याघ्रादि हिंसक पशुओं से भक्षण किया जाता है अर्थात संसार में एक दूसरे की हिंसा करने में जीव तत्पर रहते हैं। संसार में सर्वत्र भय लगा हुआ है। कहीं पर भी सुख व शान्ति नहीं दिखाई देती है।

भयउ वाहपरद्धा बिलंति णाऊण अजगरस्स मुहं।
मरणंति मरणमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि ॥ १७८३ ॥ (भग आ)

अथ— या (शिकारी) के भय स भगा हुआ शशक (खरगोश) अजगर क मुख को बिल समझकर उसको शरण (रक्षा का उपाय) मानकर उसमे जैसे प्रवेश करता है वैसे ही यह जीव काल के मुँह म प्रविष्ट होता है।

तात्पर्य यह है कि यह जीव स ससार में जिसको शरण समझता है वही इसका घातक होता है। प्रत्येक जीव काल के मुख के निकट निवास करता है। अवसर पाते ही उसके मुख में पहुच जाता है। अत धम ही इस जीव का शरण है इस भव और परभव में सुख और शान्ति का देनेवाला है। किन्तु अज्ञानी प्राणी मोहनीयकम क उदय से धम से विमुख होकर क्षुधा तृषादि रूपी बाधाओं से पीडित हुआ उनसे बचने के लिए भयानक दुख के देनेवाले ससार रूप भुजग (कालनाग) क मुख म प्रवेश करता है।

ससार म जितनी भी–चौरासी लाख योनिया है उनमे यह जीव अनन्तवार जन्म ले चुका है।

इस ससार म यह जीव तीर्थंकर गणधर चक्रवर्ती नारायण प्रतिनारायण पंचानुत्तर विमानवासी देव, लोकान्तिक देव लोकपाल शक्र इन्द्राणी और शक की पट्ट महिषी नहीं हुआ। इनके अतिरिक्त सब पर्यायें यह जीव अनन्तबार धारण कर चुका है।

जच्चधवहिरमूआ छादो तिसिओ वणे व एयाई।
भमइ सुचिरपि जीवो जम्मवणे णट्ठसिद्धिपहा ॥ १७८८ ॥ (भग आ)

अर्थ– इस ससार म यह जीव कभी जन्म से अन्धा बहरा व गूगा होकर जन्मा था। अनन्तवार भूख व प्यास से पीडित हुआ था। जैसे इष्ट मित्र नगर–मोक्षनगर का पथभ्रष्ट (मार्गभूला) पथिक अकेला घने जगल में इधर उधर भ्रमण करता है वैसे ही जीव अनादिकाल से मोक्षमार्ग से भ्रष्ट होकर इस भव वन मे असहाय भ्रमण कर रहा है। और भी कहा है –

'कलुषचरितैनष्टज्ञान सुसचितकर्मभि
करणविकल कर्मोद्भूतो भवार्णवपातत ।
सुचिरमवशो दु खार्तोय निमीलितलोचनो–
भ्रमति कृपणो नष्टत्राण शुभेतरकर्मकृत् ॥"

अर्थ —यह अज्ञानी जीव मिथ्यात्व पापाचरणो स बहुत कर्मों का सचय करके उनके फल स्वरूप कभी नेत्रहीन हुआ कभी कानों की श्रवण–शक्ति से रहित हुआ कभी वचन उच्चारण करने की शक्ति से विकल हुआ कभी बौना लूला लगडा टूटा हुआ कभी वचन बोलने की शक्ति पाई तो दु स्वर मिला ... कर्मों को आश्रय हुआ। कभी इन्द्रियो की पूर्णता पाई तो मूर्ख–विवेकरहित हुआ।

ग्याधि से पीड़ित होकर आर्त्तध्यानी बनारहा। कभी व्यसनों में फसकर अनेक पापक्रियाओं में मग्न रहा। कभी इष्टपदार्थों के वियोग से आतुर होकर शोक म दिन बिताये। कभी अपने से अधिक विभूतिवाले मनुष्यों को देखकर मात्सर्य भाव धारण कर भयानक कर्मों का सचय किया। कभी अभिमानवश अधिक गुणवानों स विद्वेष कर ज्ञानावरणादिकर्मों का सचय करता रहा। कभी ससार के भोग विलास की लालसा के वशीभूत हुआ अन्य जीवो की धनादि प्रियवस्तुओं के ठगने में निपुण रहा। इस प्रकार चिरकाल तक इन्द्रियों के विषय में परतन्त्र हुआ यह जीव अशुभ कार्य करके इस संसार में अशरण दु ख पीड़ित और दीन होकर एकाकी भ्रमण करता है।

विसयामिमारगाढ कुजोणिणेमि सुहदुक्खदढखील।
अण्णाणतु बधरिद कसायदढपट्टयाबध ॥ १७६१ ॥
बहुजम्मसहस्सविमालवत्तणि मोहवेगमहिचवल।
संसारचक्कमारुहिय ममदि जीवो अणप्पवसो ॥ १७६२ ॥ (भग आ)

अर्थ—कर्म के परतन्त्र हुआ यह जीव ससार रूपी चक्र पर चढ़ा हुआ सतत भ्रमण करता रहता है। इस संसार चक्र के विषयाभिलाषा रूपी मजबूत आर हैं। नरकादि कुयोनि जिसके नेमि (पुठि) है। सुख दु ख रूप जिसके दृढ कीले लगी है। अज्ञानावरणी रूप तुम्बे से जो धारण किया गया है। जिस ससार चक्र पर कषायरूप लोहे की पट्टी चढी हुई है। अनेक जन्म रूप विशाल मार्ग पर भ्रमण करता है। मोहरूपी वेग स यह अत्यन्त चचल दिखाई देता है। इस ससाररूपी चक्र पर चढ़ हुए इस जीव का निकल भागना अत्यन्त कठिन है। सत्सगति क प्रभाव से जब स आत्मा के सम्यग्ज्ञान का उदय होकर मोहान्धकार दूर होता है तब इस ससार रूप चक्र का वेग मन्द हो जाता है और जीव उससे प्रथक् होजाने की शक्ति प्राप्त करलेता है। ऐसे अवसर पर रत्नत्रय का आराधन यदि वह करले तो सदा के लिए उससे प्रथक होकर मोक्ष के अविनश्वर पद को प्राप्त कर लेता है।

ससार के छह भेद

किं केण कस्स कत्थ व केवचिर कदिविधो य भावो य।
छहिं अणियोगद्दारे हिं सव्वे भावाणुगतव्वा ॥ १५ ॥ (मूला द्वा अ)

अर्थ—१ ससार किस कहते हैं? २ यह किन भावों से होता है? ३ किसके होता है? ४ कहा है? ५ कितने काल की स्थिति वाला है? और कितने प्रकार का है? इन छह अनुयोगद्वारों की अपेक्षा ससार के छह भेद होजाते हैं। केवल संसार का स्वरूप वर्णन करने

के लिए ही ये छह अनुयोग द्वार नहीं किन्तु सम्पूर्ण पदार्थों का विवेचन करने के लिए छह अनुयोगद्वार समझने चाहिए। पदार्थों की व्याख्या करने के उपायों को अनुयोगद्वार कहते हैं। इन अनुयोगद्वारों द्वारा व्याख्या करने से पदार्थों का विशद विवेचन हो जाता है।

१ प्रश्न—ससार किसे कहते हैं ?

उत्तर—नरक तिर्यंच देव और मनुष्य इन चारों गतियों में जीव के भ्रमण करने को ससार कहते हैं।

२ प्रश्न—किन भावों से संसार होता है ?

उत्तर—औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक भावों से ससार होता है। अर्थात् ससारी जीव के ये पाचों भाव पाये जाते हैं।

३—प्रश्न ससार किसके होता है।

उत्तर—अष्ट कर्मों से घिरे हुए नारक तिर्यंच, देव और मनुष्य के होता है।

४ प्रश्न—यह संसार कहा रहता है ?

उत्तर—मिथ्यात्व असंयम कषाय और योग में ससार पाया जाता है। अर्थात् ससार के आधार मिथ्यात्वादि परिणाम हैं। जहां ये होते हैं वहा ससार होता है। अथवा ससार का आधार तिर्यक् लोक है।

५ प्रश्न—संसार का काल कितना है ?

उत्तर—इसका काल अनादि अनन्त और अनादि सान्त है। अभव्य की अपेक्षा संसार अनादि अनन्त है तथा भव्य की अपेक्षा अनादि सान्त है।

६ प्रश्न—ससार कितने प्रकार का है ?

उत्तर—सामान्य रूप से चतुर्गति में भ्रमण रूप ससार एक प्रकार का है। भव्यजीव और अभव्यजीव की अपेक्षा से दो प्रकार का है। अनादि अनन्त अनादि-सान्त और सादि-सान्त इस प्रकार ससार के तीन भेद होते हैं। क्षेत्र द्रव्य काल और भाव की अपेक्षा से ससार के चार भेद हैं। तथा उक्त भेदों में भव भेद मिला देने पर संसार पाच प्रकार का है और उक्त गाथा में वर्णित छह अनुयोग द्वारों की अपेक्षा से संसार के छह भेद हैं।

ससार में दुःख ही दुःख

तत्थ जरामरणभय दुक्खं पियविप्पओगवीहणयं।
अप्पिय सजोग पि य रोगमहावेदणाओ य ॥ १६ ॥ (मूला द्वा अ)

अर्थ—इस प्रकार के ससार में जन्म से उत्पन्न होने वाला कायिक (काय जन्य) वाचनिक (वचन-जन्य) मानसिक (मन में उत्पन्न) दुःख तथा प्रिय वस्तु के वियोग होने पर उत्पन्न होने वाला दुःख महा भयानक होता है। तथा अप्रिय अनिष्ट वस्तु के सयोग जन्य महादुःख होता है। इनको तथा ज्वरादि रोगों और खांसी श्वास वमन कुष्ट राजयक्ष्मा आदि व्याधियों से उत्पन्न हुई वेदनाओं को यह जीव निरन्तर अनुभव करता रहता है। तथा

जायतो य मरतो जलथलखयरसु तिरियणिरसेसु।
माणुसे देवत्ते दुक्खसहस्साणि पप्पोदि ॥ १७ ॥ (मूला द्वा अ)

अर्थ—यह जीव ससार में निरन्तर जन्म मरण करता हुआ तिर्यंचगति में जलचर थलचर और खेचर (पक्षी) बनकर अनन्त दुःख भोगता है। तथा नरकगति में वचन के अगोचर भीषण दुःखों को भोगता है। यदि किसी पुण्य के योग से मनुष्यगति पा लेता है तो वहा पर तृष्णावश मिथ्यात्व के निमित से अनेक सताप और इष्ट वियोग अनिष्ट सयोग आदि से उत्पन्न अनेक दुःखों का अनुभव करता है। यदि पुण्य के निमित्त से कभी देवगति में जन्म लिया तो वहा पर भी इसे सुख नहीं। उच्च ऋद्धि के धारक देवों को देखकर नित्य झूरता है। मिथ्याज्ञान के योग से तृष्णा पिशाची वहा पर भी उसका पीछा नहीं छोड़ती। मोहकर्म की बलवत्ता से उसी को सुख का साधन समझलेता है और छह मास पूर्व माला के मुर्झाने पर अपने को स्वर्ग से च्युत हुआ समझ कर महान मानसिक पीड़ा को भोगता है। वहा पर वह रो रोकर समय बिताता है और पुन एकेन्द्रियादि जीवों में जन्म लेकर अनन्त दुःख का अनुभव करता है।

इस जीव ने ससार में भ्रमण करते हुए सच्चे सुख का कभी अनुभव नहीं किया। जब कभी कुछ जिस सुख का अनुभव किया है वह इन्द्रियजन्य सुख है। सच्चा सुख नहीं सुखाभास सुख की कल्पनामात्र। और वह काल्पनिक सुख भी यहा मिलनेवाले अनन्त दुःख के समक्ष नगण्य है—नहीं के बराबर है। यही कहा भी है —

जे भोगा खलु कई देवा माणुस्सिया य अणुभूत्ता।
दुक्ख अणतखुत्तो णिरिए तिरिएसु जोणीसु ॥ १८ ॥ (मूला द्वा अ)

अर्थ—कभी कभी लाभान्तराय व भोगोपभोगान्तराय तथा सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृति के योग से देवपर्याय और मनुष्य पर्याय में सुख भोग की सामग्री भी मिली किन्तु नरक और तिर्यंच योनि में अनन्त बार घोर दुःख प्राप्त किया। इस दुःख के आगे वह सुख समुद्र में एक बूद के समान भी नहीं।

मासारिक सुख के माथ दुःख

म्जोगविप्पजोगा लाहालाह सुह च दुक्ख च ।
ममारे अणुभूदा माण च तहावमाण च ॥ १६ ॥ (मूला द्वा अ

अथ ससार म इम जीव को पुण्य योग स इष्ट वस्तुओं का समागम प्राप्त हुआ तो साथ ही में पाप प्रकृति के उदय से उन्हीं इष्ट पदार्थों क वियोग स महादु ख का अनुभव भी करना पडा । जहा लाभान्तरायकम के क्षयोपशम से मनोवाछित वस्तुओं का लाभ हुआ तो उसक साथ ही लाभान्तरायकम क उदय म दूसरा अलाभ भी हुआ अर्थात् उन अभीष्ट पदार्थों का असहयोग हुआ । सातवेदनीय कम के उदय म सुख प्राप्त हुआ तो बाधान्तराय कम क उदय म उनका सुखानुभव न कर सका अथवा तत्काल असातवेदनीय कम का उदय होने पर दुःख के साधनों का सम्बन्ध हुआ और दु ख का अनुभव करने के लिए बाध्य होना पडा । यश कीर्ति कम के उदय से व अन्य पुण्य प्रकृति के सहयोग से ससार में आदर सम्मानादि की वृद्धि हुई तो लगातार अयश कीर्ति व अन्य पाप प्रकृति के उदय से अपमानादि के प्राण घातक कष्टों को भोगना पडा । तात्पर्य यह है कि ससार मे यह जीव कम रूप मदारी के हाथ का मकट बना हुआ सदा परतन्त्रता के असीम दु खों का अनुभव कर रहा है । इस कहीं सच्चा सुख नहीं मिलता । इस तरह का अनुभव कर भव्यों को ससार भ्रमण से उन्मुक्त होने का उपाय करना चाहिए और ससार म कहीं सुख मिलने की लालसा छोड देनी चाहिए ।

लोकानुप्रेक्षा

एगविहो खलु लोओ दुविहो तिविहो तहा बहुविहो वा ।
दव्वेहिं पज्जएहिं य चिंतिज्जो लोयसब्भाव ॥ २१ ॥ (मूला० द्वा अ०)

अथ—(१)सामान्य रूप से लोक एक प्रकार है—जिसमें जीवादि पदार्थ दिखाई दे उसे लोक कहते हैं । (२) ऊर्ध्व लोक और अधोलोक के भेद स लोक दो प्रकार का है । (३) ऊर्ध्वलोक अधोलोक और तियक् लोक के भेद से लोक तीन प्रकार का है अथवा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य के भेद स लोक तीन प्रकार का है । (४) चारगति के भेद से लोक चार प्रकार का है । (५) जीवास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के भेद से लोक पाँच प्रकार का है । (६) उक्त पाँच अस्तिकाय और एक काल इन छह द्रव्यों के भेद से लोक छह प्रकार का है । (७) जीव अजीव आस्रव बध सवर निजरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों की अपेक्षा से लोक सात प्रकार का है । (८) ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की अपेक्षा लोक आठ प्रकार का है ।

इस प्रकार लोक की रचना के द्रव्यों और पर्यायों का विचार करने से लोक अनेक प्रकार का सिद्ध होता है। उसके स्वरूप के अभ्यास करने को लोकानुप्रेक्षा कहते हैं।

लोक का स्वरूप

लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पणओ।
जीवाजीवेहिं भुडो णिचो तालरुक्खसठाणो ॥ २२ ॥ (मू ला अ)

अर्थ— यह लोक अकृत्रिम है। अर्थात् ईश्वर आदि किसी का बनाया हुआ नहीं है। अनादि (आदिरहित) और अनिधन (अन्तरहित) है। न तो इसकी किसी ने सृष्टि (रचना) की है और न इसका कोई प्रलय (नाश) ही कर सकता है। यह स्वभाव से निष्पन्न है। अर्थात् घटादि की तरह इसकी परमाणुओं के संयोग से उत्पत्ति नहीं हुई है। तथा यह जीव द्रव्यों और अजीव द्रव्यों से भरा हुआ है। अर्थात् यह मायामयी असत्यभूत कल्पनामात्र नहीं जैसाकि वेदान्ती इसे माया रूप (मिथ्या) मानते हैं यह नित्य है। जैसा कि बौद्ध मत वाले सब पदार्थों को क्षणिक (क्षण विनश्वर) मानते हैं वैसा नहीं है किन्तु शाश्वत है। और इस प्रकार के इस लोक का आकार ताड़ के वृक्ष समान है। अर्थात् जैसे ताड़का वृक्ष जड़ में चौड़ा मध्य में सकड़ा और ऊपर में चौड़ा होता है उसी प्रकार यह लोक अधोभाग में सात राजू प्रमाण चौड़ा है मध्य में सकड़ा होकर एक राजू मात्र चौड़ा रह गया है और फिर ऊपर ऊर्ध्व लोक में ब्रह्म स्वर्ग के पास आकर पांच राजूप्रमाण चौड़ा और फिर और ऊचा जाकर अन्तमे एक राजू प्रमाण मात्र रहगया है।

त्रिलोकसार मे इस लोक का आकार डेढ़ खड़ी मृदंग के समान कहा है।

उब्भियदलेक्कमुरवद्धयमचयसण्णिहो हवेलोगो।
अध्दुदयो मुरवसमो चोद्दसरज्जूदओ सव्वो ॥६॥ (त्रिलोकसार)

अर्थ—खड़ी रखी हुई डेढ़ मृदंग (आधा मृदंग के ऊपर एक मृदंग) समान आकृति वाला यह लोक है। मृदंग बीच में पोली होता है किन्तु यह लोक उस की तरह पोला (खाली) नहीं है मध्य में भरा हुआ है। खड़ी की हुई अर्धमृदंग के समान अधोलोक और खड़ी हुई एकमृदंग के आकार समान ऊर्ध्वलोक है। दोनो मिलाकर सब लोक चौदह राजू ऊँचा जानना।

भावार्थ— आकाश के बहुमध्य भाग में ३४३ तीनसौ तेतालीस घनाकार राजू प्रमाण यह लोक स्थित है। यह किसी के आधार पर नहीं है। घर के मध्यभाग मे जैसे छींका होता है उसी प्रकार आकाश के मध्य भाग में लोक अवस्थित है। छींके के दो ऊपर

के क्षेत्र का आश्रय होता है किन्तु यह लोक आश्रय रहित है। इसके चारों ओर तीन वातवलय घनोदधिवातवलय घनवातवलय, तनुवात वलय हैं। इन तीनों वातवलय (वायुमण्डल) से यह लोक वेष्टित है। इस लोक के अधोभाग में तथालोक के नीचे दोनों पाश्व भागों में एक राजू पर्यन्त तीनों वातवलयों की मोटाई बीस बीस हजार योजन है। यहा से (नीचे से एक राजू के) ऊपर सातवीं नरक पृथ्वी के निकट घनोदधि की सात घन वातवलय की पाँच और तनुवातवलय की चार योजन मोटाई रह गई है। अर्थात् बीस हजार योजन से घट कर एकदम क्रमसे सात पाच और चार योजन की मोटाई रह गई है। यहाँ से वातवलय का मोटाई घटते २ तिर्यक्लोक तक क्रमसे पाच, चार और तीन योजन की मोटाई रह गई है। फिर यहाँ से क्रमम बढ़ते बढ़ते ब्रह्मलोक के निकट तीनों वातवलयों का परिमाण क्रमश: सात पाच और चार योजन का होगया है। तथा यहा से क्रम से घटते घटते उर्ध्वलोक म तियक् लोक के समान पाँच चार और तीन योजन मोटाई रह गई है। लोक के उपारम भाग में तीनों वातवलय का प्रमाण दो कोश एक कोश और एक कोश में चारसौ पच्चीस धनुष कम मोटाई का प्रमाण है। अथात घनो धिवातवलय दो कोश प्रमाण घनवातवलय एक कोश प्रमाण और तनुवातवलय पन्द्रहसो पचहत्तर धनुष प्रमाण मोटे हैं।

इस प्रकार के तीन वातवलय क आधार पर लाक स्थित है। लोक को चार ओरों से घनोदधिवातवलय (जल मिश्रित मोटी वायु) वेष्टित किये हुए है। यह वायु स लोक के चारों ओर समशक्ति अवस्थित हैं। अन इसी वायु के आश्रय पर लोक अवलम्बित है ऐसा जानना। जैस किसी पदाथ के चारो ओर स समान शक्ति स धक्का लगता रहे तो वह पदाथ बीच में ही स्थिर रहता है इसी प्रकार लोक के चारों तरफ समान शक्ति वाली वायु धक्का द रही है अत यह मध्य में जहाँ का तहाँ अवस्थित होरहा है। घनोदधि वायु के आधार पर लोक है। यह घनोदधिवातवलय घनवातवलय के आश्रय पर है। यह वायु भी मोटी है लेकिन उस में जलका भाग नहीं है। और यह घनवातवलय तनुवातवलय क आश्रित है। सूक्ष्म वायु को तनुवात कहते हैं। तनुवातवलय आकाश के आश्रित है। और आकाश अमूत्त होन से किसी के आधार पर नहीं है। यह स्वप्रातष्ठ है अपने आपक आधार है।

घनोदधिवात का रग गोमूत्र क वण समान है घनवात का रग मूग नाम क अन्न क समान हरा है और तनुवात का रग अनक प्रकार का माना गया है।

अन्य मतों में इस लोक के विषय म भिन्न भिन्न अनक मान्यताए हैं। कोई तो कहते हैं कि इस ससार में सवत्र जल ही जल था। ईश्वर को सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न हुई। उस [illegible] स एक अण्डा जल मे उत्पन्न हुआ और वह बहुत बड़ा हो गया। उसके दो विभाग (खड) हुए। एक नीचे के विभाग स पृथ्वी बना और ऊपर के खड से आकाश की रचना हुई। उन दोनों के मध्य में मनुष्य लोक स्वग लोक औरपाताल लाक का निमाण हुआ।

कोई मानते हैं कि विष्णु इस जगत की रचना करता है ब्रह्मा इस का पालन करता है और रुद्र (महादेव) इसका प्रलय (संहार नाश) करता है। इस प्रकार इसकी उत्पत्ति रचना और प्रलय होता रहता है।

योग ईश्वर की इच्छाशक्ति ज्ञानशक्ति और प्रयत्नशक्ति इन तीनों शक्तियों से जगत की उत्पत्ति मानते हैं। वे कहते हैं कि जीवों के शुभाशुभ कर्म के अनुसार ईश्वर जगत् की रचना करता है।

सांख्य मानते हैं कि सत्त्व रज और तम ये तीन धर्म प्रकृति में रहते हैं। इन तीनों की जब तक समअवस्था रहती है तब तक प्रकृति अपने स्वरूप में ही रहती है और जब इन धर्मों में विषमता होने लगती है तब जगत् का निर्माण आरम्भ होता है। उनका सृष्टिक्रम निम्न प्रकार करते हैं।

प्रकृतेर्महांस्ततो हकारस्तस्माद्गणश्च षोडशक ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्य पञ्चभूतानि ॥ (सांख्यतत्त्व कौमुदी)

भावार्थ—प्रकृति और पुरुष ये दो मूल तत्त्व हैं। सत्त्व रज और तम इनकी साम्यावस्था को प्रकृति या प्रधान कहते हैं। और जो चेतन है उसे पुरुष कहते हैं। यह चेतन केवल अपने स्वरूप का अनुभव मात्र करता है। बाह्य पदार्थों का ज्ञान बुद्धि से होता है और वह बुद्धि प्रकृति का धर्म है। क्योंकि प्रकृति के सत्त्वादि गुणों में जब विषमता उत्पन्न होती है तब प्रकृति से महान् (बुद्धि) की उत्पत्ति होती है। बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से सोलह तत्त्व उत्पन्न होते हैं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र) पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ पाँव सिर गुदा और उपस्थ (जननेन्द्रिय) पाँच तन्मात्र अर्थात् इन्द्रियों के विषय (स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द और एक मन) तथा पाँच तन्मात्र (इन्द्रियों के विषय से पाँच भूत (पृथिवी जल अग्नि वायु और आकाश) उत्पन्न होते हैं। यह सृष्टि प्रक्रिया है।

इन पच्चीस तत्त्वों में प्रकृति और पुरुष ये दो तत्त्व नित्य हैं। और शेष तेईस तत्त्व प्रकृति से जन्म लेते हैं। और प्रलय काल में प्रकृति से जिस क्रम से उत्पन्न हुए हैं उसी क्रम से लीन हो जाते हैं। अर्थात् पंचभूत तो पंचतन्मात्र में लीन हो जाते हैं। पंचतन्मात्र पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन ये सोलह तत्त्व अहंकार में लीन हो जाते है और अहंकार महान् (बुद्धि) में लीन हो जाता है और बुद्धि प्रकृति में लीन हो जाती है। इस प्रकार प्रलय काल में प्रकृति और पुरुष ये दो ही तत्त्व शेष रह जाते हैं।

उक्त रीति के अनेक मत प्रचलित हैं। उन सबका वर्णन करने से ग्रन्थ के विस्तृत होने का भय है अतः विशेष नहीं लिखते हैं। किन्तु यह ध्यान रखना कि उक्त जैनेतर सब कल्पनाएँ युक्ति से असंगत और बुद्धि से अग्राह्य हैं।

इस संसार में पहले केवल जल ही जल था ऐसा जो मानते हैं उनको सोचना चाहिए कि सबसे पहले जल ही जल था, और कुछ भी नहीं था पृथ्वी आकाश भी नहीं थे तो जल किस पर ठहरा हुआ था? क्योंकि जल बिना आधार के ठहरने में असमर्थ है। उसके लिए कोई पृथ्वी या अन्य कोई आश्रय मानना ही पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि ईश्वर (ब्रह्मा) की इच्छा से जल में एक अंडा उत्पन्न हुआ और इसी कारण इस जगत् को लोग ब्रह्माण्ड कहने लगे। इसमें यह शंका उत्पन्न होती है कि उस अण्डे का उपादान (जिस द्रव्य या पदार्थ से वह उत्पन्न हुआ है वह) क्या है और वह कहाँ पर स्थित था? तथा उस अण्डे को बनानेवाला ईश्वर किस स्थान पर निवास करता था? उसके शरीर था या नहीं?

शरीर धारण किये बिना तो मूर्त्तद्रव्य उत्पन्न नहीं किये जा सकते? क्योंकि मूर्त्तद्रव्य की उत्पत्ति मूर्त्तद्रव्य से ही होती है। अमूर्त्त से मूर्त्तद्रव्य की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती।

प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति में उपादान कारण और निमित्त कारण की आवश्यकता होती है। जो कारण कार्यरूप परिणमन करता है उसे उपादान कारण कहते हैं। जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी है क्योंकि मिट्टी घड़े के रूप में परिणत हुई है। जो कार्य की उत्पत्ति में प्रयत्न करता है या सहायक होता है उसे निमित्त कारण कहते हैं। जैसे कुम्हार घड़े के बनाने में प्रयत्न करता है अतः वह घड़े का निमित्त कारण माना जाता है। इसी प्रकार यदि ईश्वर उपादान-निमित्त कारण है तो जगत् का उपादान कारण अन्य होना चाहिए। जगत् का उपादान कारण ईश्वर तो हो नहीं सकता क्योंकि वह अमूर्त है तथा अचेतन व चेतन रूप जगत् का उपादान कारण भी वैसा ही चेतन व अचेतन रूप होना चाहिए।

प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में ज्ञान इच्छा और प्रयत्न की आवश्यकता होती है। ईश्वर में ज्ञान तो माना जा सकता है किन्तु उसमें इच्छा और प्रयत्न का सद्भाव मानना किसी भी तरह युक्ति संगत नहीं है। ईश्वर के यदि इच्छा का सद्भाव माना जाय तो प्रश्न उपस्थित होता है कि वह ईश्वर की इच्छा नित्य है या अनित्य? यदि वह नित्य है तो उसके साथ कभी कार्यों का अन्वय-व्यतिरेक नहीं बन सकता। यदि उसे अनित्य माना जाय तो बतलाना होगा कि उस इच्छा की उत्पत्ति का कारण क्या है?

जगत् में कोई भी इच्छा बिना कर्म के नहीं होती। यदि ईश्वर के इच्छा मानें तो उसे सकर्मा मानना होगा। पर ईश्वर को सकर्मा मानना तो बिल्कुल युक्ति विरुद्ध है। क्योंकि तब हममें और ईश्वर में कोई भेद ही न रहेगा इस तरह जब ईश्वर के किसी भी युक्ति से इच्छा सिद्ध नहीं हो सकती तब उसके प्रयत्न भी कैसे माना जा सकता है?

जो लोग (सांख्य) प्रकृति (प्रधान) से जगत की रचना मानते हैं उनसे हम पूछते हैं कि प्रकृति जब जड है तो उससे बुद्धि (ज्ञान) कैसे उत्पन्न हो सकता है? क्योंकि बुद्धि (ज्ञान) तो चेतन आत्मा का धर्म है।

सत्त्व रज और तम की समानावस्था को प्रकृति कहते हैं। इन सत्त्वादि गुणों में विषमता उत्पन्न करने वाला कौन है? पुरुष तत्त्व को तो उक्त कार्य करने में असमर्थ माना गया है। वह तो अपने स्वरूप का अनुभव करता है बाहर के कार्य में वह अकिंचित्कर है। जगत की उत्पत्ति और प्रलय को सांख्यों ने प्रकृति के कार्य स्वीकार किये हैं किन्तु उनका कारण प्रकृति नहीं हो सकती। क्योंकि प्रकृति का ठीक स्वरूप साम्यावस्था है। उसमें जब विषमावस्था उत्पन्न होता है तभी जगत का निर्माण स्वीकार किया गया है। हम पूछते हैं कि उस वैषम्य (विषम अवस्था) को उत्पन्न करने वाला कौन है?

इस प्रकार जगत की सृष्टि माननेवाले जितने भी जैनेतर मत हैं वे सभी युक्तियों से निराकृत होते हैं इसलिए अमान्य हैं।

लोक की रचना के समान लोक के आश्रय के विषय में भी अनेक मत हैं वे भी युक्ति संगत नहीं। जैसे—

कुछ लोग इस पृथ्वी को गाय के सींग पर टिकी हुई मानते हैं। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि गाय के सींग पर नहीं किन्तु कछुवे की पीठ पर यह पृथ्वी ठहरी हुई है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो यह कहते हैं कि यह सारी पृथ्वी शेषनाग के माथे पर ठहरी हुई है। परन्तु इनमें से किसी का भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह गाय कछुवा और शेष नाग कहाँ पर ठहर हुए हैं? यदि इनका भी कोई आधार स्वीकार किया जाय तो फिर उस आधार के विषय में भी प्रश्न उपस्थित होंगे और इस तरह अनवस्था आजायगी। अतः जैनाचार्यों ने जो इस सारे लोक को तीन प्रकार की वायु के आधार पर माना है वही बुद्धि ग्राह्य और युक्ति संगत है।

लोक के विभाग

इस लोक के तीन विभाग हैं—अधोलोक मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक।

अधोलोक सात राजू प्रमाण ऊंचा है। इसके अधोभाग में चौडाई सात राजू प्रमाण है। पुनः घटते २ अधोलोक के ऊपर के अन्तिमभाग-नरक की प्रथम पृथ्वी में जाकर इसकी चौडाई एकराजू प्रमाण रहगई है। इसका क्षेत्रफल (लम्बाई चौड़ाई) अठाईस राजू प्रमाण है।

इस अधोलोक के (नरक की सातवीं पृथ्वी के) नीचे एकराजू प्रमाण क्षेत्र में केवल निगोदिया जीवों का निवास है। उस एक राजू प्रमाण स्थान में ठसाठस निगोदिया जीव भरे पडे हैं। इस अधोलोक के शेष छह राजू प्रमाण क्षेत्र में सात नरक पृथ्वियाँ हैं।

नरक की पृथ्वियों का वर्णन

प्रथम पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। इसके तीन भाग हैं-१ खरभाग २ पंकभाग। ३ अब्बहुलभाग। उनमें से खरभाग सोलह हजार योजन मोटा है। उसमे एक एक हजार योजन की मोटी सोलह भूमियां हैं। उन नाम ये हैं—

१ चित्रा २ वज्रा ३ वैडूर्या ४ लोहिता ५ कामसार कल्पा ६ गोमेदा ७ प्रवाला ८ ज्योतिरसा ९ अंजना १० अंजन मूलका ११ अङ्का १२ स्फटिका १३ चन्दना १४ सर्वार्थका १५ वकुला १६ शैला।

इन सोलह भूमियों में से आदि की चित्रा और अन्त की शैल नाम की भूमि को छोड़ कर बाकी की चौदह भूमियों में राक्षस और असुरकुमार देवों के अतिरिक्त सब व्यंतर देवों और भवनवासी देवों के आवास स्थान बने हुए हैं। उनमें वे देव निवास करते हैं। जम्बूद्वीप से असंख्यात द्वीप समुद्रों को छोड़कर शेष द्वीप समुद्रों के नीचे के भूभाग में भवनवासी और व्यन्तर देवों के उक्त निवास स्थान बने हुए हैं। अर्थात् जम्बूद्वीप और लवणसमुद्रादि असंख्यात द्वीप समुद्रों के नीचे के भाग में उक्त देवों के निवासस्थान नहीं बने हैं किन्तु उन असंख्यात द्वीप समुद्रों के आगे के अधोभाग में उक्त निवासस्थान बने हैं।

दूसरा पंकभाग चौरासी हजार योजन का मोटा है। उसमें राक्षस नाम के व्यन्तर देवों के और असुरकुमार नामक भवनवासी देवों के निवास स्थान बने हुए हैं।

तीसरा अब्बहुल भाग है उसमें प्रथम नरक है। उक्त तीनों भाग रत्नप्रभा नामक पृथ्वी के हैं। इन तीनों भागों के मध्य कोई पोल (रिक्त या खाली अन्तराल) नहीं है। जैसे किसी पर्वत के किसी अपेक्षा से विभाग किये जाते हैं वैसे रत्नप्रभा पृथ्वी के ये तीन समझने हैं।

दूसरी शर्कराप्रभा पृथ्वी बत्तीसहजार योजन तीसरी बालुकाप्रभा अट्ठाइस हजार योजन चौथी पंकप्रभा चौबीस हजार योजन पांचवीं धूमप्रभा बीस हजार योजन छठी तमःप्रभा सोलह हजार योजन और सातवीं महातम प्रभा आठ हजार योजन मोटी है।

नरक की सात पृथ्वियों के उक्त रत्नप्रभा आदि नाम भूमि के रंग (प्रभा) के साहचर्य के कारण निष्पन्न हुए हैं। इनके रूढ नाम तो ये हैं—१ घमा २ वंशा, ३ मेघा ४ अंजना ५ अरिष्टा ६ मघवी और ७ माघवी।

ये सातों पृथ्वियां लोक के अंत (नीचे छोर) तक चली गई हैं। लोक में कुल ८ धरा (पृथ्वियाँ) हैं। सात तो ये नरक धरा

और आग्नी सिद्धधरा (सिद्धशिला) है। धरा उसीको कहते हैं जो पूर्व पश्चिम लोक के अन्त को प्राप्त हो। स्वर्ग विमानो को धरा सीलिए नहीं कहा है कि वे लोकान्त तक अखड रूप नहीं हैं।

य म तो भूमिया एक दूसरी म असख्यात योजन के अन्तर पर हैं। इन भूमियों के चारों ओर उक्त तीनो प्रकार की वायु का वेष्टन है अर्थात इन भूमियों को घनोदधिवातवलय घनवातवलय और तनुवातवलय चारों तरफ से वेढ़ हुए हैं। इन भूमियो में प्रथम पृथ्वी के अब्बहुल भाग और द्वितीय दि पाच पृथ्वीयो मे एक एक हजार योजन ऊपर नीचे का भूभाग छोडकर सातवीं पृथ्वी के ऊपर और नीचे बहुत भभाग छोडकर म य भाग म पटलों क अनुक्रम से नरक बिल हैं। शेष भूमिभाग मे एकेन्द्रिय जीवो का ही निवास है।

नारकियों क शरीर की उँचाई

प्रथम नरक क नारकी का शरीर सात धनुष तीन हाथ और छह अगुल ऊचा है। दूसरे आदि नरक मे दूना २ ऊँचा होता चला गया है। अर्थात दूसरे नरक के नारकी का शरीर सात पन्द्रह धनुष बारह अगुल (आधा हाथ) ऊचा है। तीसरे नरक क नारकी का शरीर सवा इकतीस धनुष ऊचा है। चौथे नरक के नारकी का शरीर साढे बासठ धनुष ऊचा है। पाँचवें नरक के नारकी का शरीर एक सौ पचीस धनुष ऊचा छठे नरक के नारकी का ढाईसौ धनुष ऊचा और सातवें नरक के नारकी का शरीर पाँचसौ धनुष ऊँचा है।

न सात पृथिवियो मे कुल उनचास पटल (प्रस्तार-खन) हैं। जैसे हवेली या महल में खन होते हैं वैसे ही इन पृथ्वियो म पटल है। पहली पृथ्वी (अब्बहुल भाग) मे तेरह और द्वितीयादि पृथिवी मे क्रमसे ग्यारह नव सात पाँच तीन और एक पटल हैं।

उक्त सात पृथिवियो व उनचास पटलो म कुल नारकियों के चोरासी लाख बिल हैं। अर्थात पहली भूमि में तीस लाख दूसरी म पचीस लाख तीसरी मे पन्द्रह लाख चौथी म दश लाख पाँचवीं म तीन लाख छठी मे पाच कम एक लाख और सातवीं में केवल पाँच बिल हैं।

नरक म ठण्ड और गर्मी

नरक की प्रथम भूमि रत्नप्रभा स लेकर चार भूमियों क और पाँचवी पृथ्वी के चार भागो में से तीन भाग (ऊपर के दोलाख) तक के सब बिल अग्नि से भी अधिक उष्ण हैं। इन पृथिवियो म इतनी उष्णता है कि मेरु पर्वत के समान लोहे या ताबे का गोला ऊपर से गिराया जावे तो मार्ग म ही पिघल कर पानी सा होकर बह जावे तथा पाँचवीं पृथ्वी के चतुर्थ भाग से लेकर अन्त तक (सातवीं भूमि तक) उसी प्रकार शीत का पराकाष्ठा है।

नारकियों के बिलों की स्थिति का प्रकार

नरक की पृथ्वियों के पटलों में तीन प्रकार के बिल हैं—इन्द्रक श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक। जैसे एक हवेली में कई खन (मंजिल) होते हैं वैसे ही नरक भूमियों में कई पटल हैं। प्रत्येक खन में जैसे बीच में कोठा हो वैसे प्रत्येक पटल के बीच में इन्द्रक नामका बिल है और उसकी चारों दिशाओं व विदिशाओं में कोठों की पंक्तियाँ हों वैसे प्रत्येक पटल में दिशाओं व विदिशाओं में श्रेणीबद्ध बिल हैं, एवं प्रत्येक खन में जैसे इधर उधर दिशा विदिशा के बीच बीच में कोठे हों वैसे दिशा विदिशा के बीच २ में क्रमरहित बिल हैं उन्हें प्रकीर्णक बिल कहते हैं। हवेली के खन पृथ्वी के ऊपर भाग में रहते हैं वैसे नरक रचना नहीं है किन्तु एक के नीचे एक पटल होते हैं और उन पटलों के अधोभाग में जैसे यहाँ भूमि गृह होते हैं वैसे नरक बिल हैं। महल में चढने के लिए सीढियाँ और दरवाजे आदि होते हैं वैसे नरक के बिलों में नहीं होते हैं।

प्रथम नरक के प्रथम पटल के मध्य भाग में एक इन्द्रक बिल है। ऐसे ही सम्पूर्ण पटलों में एक एक इन्द्रक बिल होता है। प्रथम पटल की चारों दिशाओं में चार पंक्तियाँ हैं उन हर एक पंक्तियों में उनचास और ऐसे ही चारों विदिशाओं में चार पंक्तियाँ हैं उन प्रत्येक पंक्तियों में अड़तालीस व उनतालीस बिल हैं ये श्रेणीबद्ध बिल कहलाते हैं। ये बिल प्रतिपटल एक एक कम होते चले गये हैं। इसलिए सब के अन्तिम सातवीं भूमि के उनचासवें पटल की विदिशा में श्रेणीबद्ध बिल का सर्वथा अभाव है। चारों दिशाओं में भी एक एक ही बिल है। और मध्य में एक इन्द्रक बिल है। इस प्रकार सातवें नरक में कुल पांच ही बिल हैं।

श्रेणीबद्ध और इन्द्रक बिलों की संख्या को सम्पूर्ण बिलों की संख्या में घटाने पर जितनी संख्या आती है उतने प्रकीर्णक बिल हैं। जैसे प्रथम पृथ्वी में चार हजार चार सौ बीस श्रेणीबद्ध बिल और तेरह इन्द्रक बिल इन दोनों को तीस लाख में घटाने पर उनतीस लाख पिच्यानवे हजार पाँच सौ सरसठ प्रकीर्णक बिलों की संख्या आती है।

जहाँ समान हानि या वृद्धि होती है उनका जोड़ जानने के लिए त्रिलोकसार में करण सूत्र इस प्रकार है—'**मुहभूमिजोगदले पदगुणिदे पदधणं होदि**' अर्थात् मुख और भूमि का योग (जोड़) करके आधा करें और उसे पद (गच्छ) से गुणा कर तब सब स्थानों का जोड़ होता है।

भावार्थ—जितने स्थानों का जोड़ देना हो उन स्थानों को पद या गच्छ कहते हैं। स्थान स्थान प्रति जितने प्रमाण से हानि या वृद्धि होती है उसे चय कहते हैं। और आदि या अन्त के दोनों स्थानों में से जो अधिक प्रमाणवाला स्थान है उसे भूमि कहते हैं और जो अल्प प्रमाणवाला स्थान है उसे मुख कहते हैं। जैसे प्रथम नरक के तेरह पटल के बिलों की संख्या का प्रमाण निकालना है तो यहाँ

प को संख्या तेरह है और प्र त के श्रेणिबद्ध विमानों में दिशा और विदिशा के दिखाए गए क्रम से गिनती की गई है। जैसे-प्रथम पटल की दिशा की प्रत्येक पंक्ति में उनचास उनचास और विदिशा की प्रत्येक पंक्ति में अड़तालीस अड़तालीस बिल हैं। नीचे के दूसरे पटल में दिशा की प्रत्येक में अड़तालीस और विदिशा की प्रत्येक पंक्ति में सैंतालीस सैंतालीस है। इसी प्रकार प्रत्येक पटल की दिशा व विदिशा की पंक्ति में एक एक कम होता चला गया है। अतः प्रथम पटल की दिशा की पंक्ति में उनचास और विदिशा की पंक्ति में अड़तालीस श्रेणिबद्ध बिलों को जोड़ने पर सतानवे होते हैं। दिशा व विदिशा के प्रमाण को चार से गुणा करने पर सतानवे को चौगुना करने पर प्रथम पटल के समस्त श्रेणिबद्ध बिलों का प्रमाण तीनसौ अठासी होता है। यह पहली पृथ्वी में है। प्रथम नरक के तेरहवें पटल में दिशा में सैंतीस और विदिशा में छत्तीस श्रेणिबद्ध बिल हैं। इनको जोड़ने पर तिहत्तर हुए। इनको चार से दिशा व विदिशा के प्रमाण से गुणा करने पर दोसौ बानवे हुए। इतने अन्त्य पटल में श्रेणिबद्ध बिल हैं। यह अन्त्य धन है। प्रति पटल आठ आठ श्रेणिबद्ध घटते जाते हैं अतः चय का प्रमाण आठ है। मुख भूमि के योग के अनुसार मुख तीनसौ बानवे और भूमि तीन सौ अठासी का योग (६८०) का आधा करने पर तीन सौ चालीस हुए। इनको पद तेरह से गुणा करने पर चार हजार चारसौ बीस प्रथम नरक के तेरह पटलों के सम्पूर्ण श्रेणिबद्ध बिलों का प्रमाण होता है। इनमें तेरह इन्द्रक बिलों का प्रमाण जोड़ने पर चार हजार चारसौ तेतीस होते हैं। इसी प्रकार द्वितीयादि नरक भूमि के श्रेणिबद्ध बिलों का प्रमाण निकाल लेना चाहिए।

समस्त भूमियों के श्रेणिबद्ध बिलों का प्रमाण भी उक्त प्रकार से निकाल लेना चाहिए। यहां पर मुख तो सप्तम भूमि सम्बन्धी श्रेणिबद्ध बिल चार हैं। तथा भूमि प्रथम भूमि के प्रथम पटल के श्रेणिबद्ध बिल तीनसौ अठासी हैं। इनका योग तीनसौ बानवे के आधे एक सौ छियानवे को चय प्रमाण उनचास में गुणा करने पर नौ हजार छह सौ चार सम्पूर्ण नरक भूमियों के श्रेणिबद्ध बिल होते हैं।

नरक भूमियों के इन्द्रक बिल का विस्तार संख्यात-संख्यात योजन, श्रेणिबद्ध बिल का विस्तार असंख्यात योजन और प्रकीर्णक बिलका विस्तार संख्यात या असंख्यात योजन है। अर्थात् कोई प्रकीर्णक बिल संख्यात योजन का है और कोई असंख्यात योजन का है।

प्रथम पटल का इन्द्रक बिल मनुष्य क्षेत्र (पैंतालीस लाख योजन) प्रमाण और पटल का इन्द्रक सातवें नरक का उनचासवें बिल जम्बू द्वीप (एकलाखयोजन) प्रमाण है। मध्य के पटलों के बिल नीचे नीचे क्रमशः हीन प्रमाण वाले हैं। इसका विशेष वर्णन त्रिलोकसार से जानना।

नरक में जन्म कौन लेता है ?

नरक के बिल कुत्ते बिल्ली शूकर आदि के अत्यन्त सड़े हुए कलेवर से भी अत्याधिक दुर्गन्धमय हैं। उनमें वे जीव उत्पन्न होते हैं जिन्होंने बहुत आरम्भ व परिग्रह के उपार्जनादि में रौद्र परिणाम करके नरकायुका संचय किया है।

नारकों के उपपाद स्थानों का आकार व जन्म की दशा

जैसे मधुमक्खी का छत्ता में कोई स्थान बना हो वैसे उन नरक के बिलों में ऊपर की ओर ऊंट आदि के मुख समान आकार वाले (भीतर में चौड़े सकड़े मुखवाले) उपपाद स्थान हैं उनमें नारकी जन्म लेते हैं। अन्तर्मुहूर्त में उनकी पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है। उसके पश्चात वे उन उपपाद स्थानों से छूटकर नीचे नरक बिलों के भूमितल पर जो तीक्ष्ण शस्त्र रहते हैं उन पर गिरते हैं और वहाँ से उछल कर फिर उन्हीं पर गिरते हैं। घमा पृथ्वी के नारकी पच्चीसौ पच्चीस में सोलह का भाग देने पर जितनी संख्या आवे उतने योजन (सात योजन सवा कोश) ऊपर उछलते हैं। वंशादि भूमि में जिनसे क्रमशः दूने उछलते हैं अर्थात् जिस भूमि में नारकियों की जितने धनुष ऊंचाई है उतने ही योजन प्रमाण वे ऊपर उछलते हैं।

नारकियों के दुःख

पुराने नारकी नवीन नारकियों को देखकर अत्यन्त कठोर वचन उच्चारण करते हुए आते हैं और उन्हें मारते हैं। शस्त्र पर गिरने से उनके शरीर पर जो घाव हो जाते हैं उनपर अत्यन्त खारा जल सींचते हैं।

नवीन नारकी जब पर्याप्ति पूर्ण होने पर कुअवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसमें वे अपना पूर्व जन्म का वैर सम्बन्ध जानकर तथा अपृथक् विक्रिया द्वारा हिंसादि या शस्त्रादि का आकार धारण कर पुराने नारकियों को मारते हैं तथा पुराने नारकी उन्हें मारते हैं। नारकियों के अपृथक् विक्रिया होती है। अतः वे अपने शरीर को हिंसक सिंह, व्याघ्र, शूकर, घूक, काक, गिद्ध आदि में किसी एक प्राणीरूप अथवा खड्ग, भाला, शूली, मुद्गर, अग्नि आदि शस्त्रादि रूप बनाकर दूसरों के हनन करने में प्रवृत्त होते हैं।

वहां पर ताल कैसा आकृति वाले भयानक पर्वत हैं तथा दुःख देने वाले सैकडों यन्त्र के समान गुफाएं हैं। अग्नि से तपी हुई लोहे की मूर्ति के समान वहां स्त्री आदि की प्रतिमा हैं। तथा वहाँ असि पत्र वन है जो छुरी, असि, फरसा आदि के समान अति तीक्ष्ण पत्रों (पत्तों) से संयुक्त है।

वहाँ अतिक्षार जल वाली वैतरणी नामक नदी है और अति दुर्गन्ध युक्त घृणास्पद रुधिर से संयुक्त महावीभत्स ह्रद हैं जो करोड़ों कीड़ों से भरे हुए हैं। नारकी जीव अग्नि के भय से दौड़ते हुए शान्ति के लिए जब वैतरणी नदी में कूद पड़ते हैं तो उसके खारे जल से उनके क्षत विक्षत हुए शरीर दग्ध हो जाते हैं। वहाँ से वे शान्ति के अर्थ असि पत्र वन को जाया में बड़े वेगसे दौड़कर जाते हैं तो वहाँ पवन से गिरे हुए असि, छुरी, भाले आदि सरीखे तीक्ष्ण पत्तों से उनके शरीरों के खंड खंड हो जाते हैं और वे घोर दुःख पाते हैं।

तप्त लोहे के समान जल से भरी हुई कुंभो में नारकियों को डालकर जैसे हांडी में अन्न पकाते हैं वैसे पकाते हैं। जैसे कडाहों में तपे हुए तैल में अन्न तलते हैं वैसे नारकियों को कडाहों में डालकर तलते हैं। इत्यादि अनेक प्रकार के दुःखों की सामग्री वहाँ पाई जाती है।

वहां की भूमि का स्पर्श तपे हुए लोहे के समान है। वह भूमि सूई सरीखा पैना हरी घास से व्याप्त है। हजारों बिच्छुओं के काटने से जैसी वेदना यहां होती है उससे भी अधिक वेदना नरक की भूमि के स्पर्श मात्र से होती है। उन नारकियों के उदर, नेत्र और मस्तक आदि के रोगों से तथा क्षुधा, तृषा, भयादि से तीव्रवेदना निरन्तर हुआ करती है।

कुक्कुर (कुत्ता) बिलाव आदि निकृष्टजीवों का दुर्गन्धमय विष्टा से भी अत्यन्त दुर्गन्धमय प्रथम नरक की मिट्टी है। अत्यन्त भूख नारकियों को वह मिट्टी बहुत थोडी खाने को मिलती है। दूसरे तीसरे आदि नरकों की मिट्टी और भी अधिक २ दुर्गन्धमय है।

पहले नरक के प्रथम पटल की मृत्तिका (मिट्टी) जिसका भक्षण वहाँ के नारकी करते हैं वह यदि इस मनुष्य लोक में डाल दी जाय तो वह मृत्तिका अपनी दुर्गन्ध से आध २ कोश के जीवों को मारने में समर्थ होसकती है। ऐसे नीचे नीचे के प्रत्येक पटल की अनुक्रम से उस मिट्टी में आध आध कोश अधिक पृथ्वी में स्थितजीवों को मारने की शक्ति होती है। अर्थात् दूसरे पटल की मिट्टी में दुर्गन्ध से एककोशतक के जीवों को मारने की शक्ति है। तीसरे पटल की मृत्तिका में डेढ़ कोशतक के और चौथे पटल की मृत्तिका में दो कोशतक के जीवों का घात करने का सामर्थ्य है। इस प्रकार सातवें नरक की मृत्तिका में साढ़े चौवास कोश तक को पृथ्वी पर के जीवों का संहार करने का शक्ति होती है।

शस्त्रों से उन नारकियों के शरीर के टुकड़े २ होजाते हैं, किन्तु वे अकाल (आयु पूर्ण हुए बिना) मृत्यु को प्राप्त नहीं होते हैं। उनके शरीर के हजारों खण्ड होने पर भी वे पारे (धातु) के समान तत्काल मिल जाते हैं।

जिनके तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता होती है। अर्थात् जो नरक से निकलकर तीर्थंकर होने वाले हैं उन जीवों के नरकायु के छह मास शेष रहने पर देवगण उनके उपसर्ग का निवारण करते हैं। (इसी प्रकार जो जीव स्वर्ग से चय कर तीर्थंकर होने वाले होते हैं उन के छह मास पूर्व अन्य देवों की भांति माला नहीं मुरझाती है।)

नारकियों की आयु अनपवर्त्य (अकाल मृत्युरहित) होता है। उनकी भुज्यमान आयु किसी निमित्त से नहीं घटती है। जितनी आयु है उसका पूर्ण भोग किये बिना मृत्यु नहीं होती है। पवन से जैसे मेघ पटल नष्ट होकर आकाश में विलीन हो जाते हैं वैसे ही नारकी जीवों के शरीर भी आयु के पूर्ण होने पर विलय को प्राप्त हो जाते हैं। मनुष्य व तियंचों के मृतक शरीर के समान भूमिपर पड़े नहीं रहते हैं।

नारक जीवों को चार प्रकार के दु ख होते हैं-क्षेत्रजन्य-२ शरीरजन्य-३ मनोजन्य व ४ असुरदेवजन्य।

१ क्षेत्रजन्य—नरक भूमि के अतितीक्ष्ण शस्त्र कठोरस्पर्श विष स अति कटु रस सडे हुए कुत्ते बिल्ली आदि के मृतक कलेवर म अत्यधिक दुर्गन्ध जिसके शस्त्र नोकीले लिये गये हैं ऐसे पत्ती के समान महावीभत्स रूप कूटशाल्मली वैतरणी नदी वेताल सम भयानक पर्वत गुफा आदि से वचनातीत क्षेत्रजन्य दु ख नारक जीवों के होता है।

२ शरीरजन्य—शरीर म अनेक प्रकार के भयानक उदरशूलरोग मस्तक मे तीव्र पीड़ा शरीर के व्रण (घाव) आदि की तीव्र वेदना होती है। यह शरीरजन्य दु ख है।

३ मनोजन्य—चारो ओर के भय स निरन्तर आकुल परिणामो के कारण जो सतत आर्तध्यान और रौद्रध्यान से उत्पन्न होन वाला अतिशय दु ख नारक जीवों को होता रहता है वह मनोजन्य दु ख है।

४ असुरकुमारदेवजन्य—तीसरे नरक तक अम्बावरीषादि जाति के असुरकुमारदेव नारक जीवों को परस्पर लड़ाते हैं। उनको पूर्व वैर का स्मरण दिलाते हुए एक दूसरे को मारने का उपाय बतला कर दु ख देते हैं।

नारकियो की आयु

अब नारक जीवो की पटल पटल प्रति जघन्य व उत्कृष्ट आयु को दिखाते हैं—

प्रथम पृथ्वी क प्रथम पटल मे नारक जीवो की जघन्य आयु दश हजारवर्ष और उत्कृष्ट आयु नब्बे हजार वर्ष की होती है। दूसरे पटल मे जघन्य आयु समयाधिक निब्बे हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु निब्बे लाख वर्ष की है। तीसरे पटल में जघन्य आयु समयाधिक निब्बे लाख वर्ष और उत्कृष्ट आयु असख्यात कोटि वर्ष पूर्व है। (सत्तर लाख छप्पन हजार कोटि को पूर्व कहते है।) चौथे पटल में जघन्य आयु तीसरे पटल की उत्कृष्ट आयु से समयाधिक प्रमाण है और उत्कृष्ट आयु एक सागर का दशवाँ भाग प्रमाण है। इस प्रकार सर्वत्र ऊपर की उत्कृष्ट आयु नीचे पटलकी जघन्य आयु समझनी चाहिए। पाँचवे छठे आदि पटल म अनुक्रम स दो सागर के दशवें भाग तीन सागर के दशवें भाग, चारसागर के दशवें भाग पाँच सागर के दशवे भाग छह सागर के दशवे भाग सात सागर के दशवें भाग आठ सागर के दशवें भाग नौ सागर के दश भाग प्रमाण और एक सागर प्रमाण आयु समझना चाहिए।

अर्थात् प्रथम नरक पृथ्वी के नारको की उत्कृष्ट आयु एक सागर प्रमाण है। दूसरी पृथ्वी में तीन सागर तीसरी में सात सागर चौथी में दशसागर पाँचवी में सत्रह सागर छठी में बाईस सागर और सातवी में तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है। पूर्व पूर्व

पृथ्वी की जो उत्कृष्ट आयु है वह समयाधिक उत्तर उत्तर पृथ्वी की जघन्य आयु जाननी चाहिए।

प्रथम नरक भूमि के अंतिम पटल में नारक जीवों की ऊंचाई सात धनुष तीन हाथ और छह अंगुल प्रमाण है तथा द्वितीयादि भूमि में नारकों के शरीर की ऊंचाई दूना दूनी होती गई है। सातवें नरक में पाँचसौ धनुष की ऊँचाई है।

प्रथम नरक पृथ्वी के प्रथम पटल में नारक जीवों के शरीर की ऊंचाई तीन हाथ प्रमाण है। प्रत्येक पटल के नारकियों की शरीर की ऊँचाई आयु आदि निकालने के लिए करण सूत्र कहते हैं —

आदाअंतविसेसे रूऊणद्धाहिदम्हि हाणिचयं"

अर्थ — आदि के प्रमाण में से अन्त प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उसमें एक कम गच्छ का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना नीचे के पटल पटल प्रति बढ़ने का प्रमाण होता है। यहाँ प्रकृत में प्रथम नरक के प्रथम पटल में तीन हाथ का उत्सेध (ऊंचाई) है सो तो आदि जानना और प्रथम नरक के अंतिम पटल का उत्सेध सात धनुष तीन हाथ और छह अंगुल प्रमाण है सो अन्त जानना। इस अन्त में से आदि तीन हाथ घटाने से सात धनुष और छह अंगुल रहे। यहाँ तेरह पटल हैं सो गच्छ का प्रमाण तेरह में से एक घटाने पर बारह रहे इसका भाग सात धनुष के अठाईस हाथ में देने पर दो हाथ हुए और शेष चार हाथ रहे। उनके छियानवे अंगुल हुए और पूर्व के छह अंगुल थे उनको इनमें मिलाने पर एक सौ दो अंगुल में बारह का भाग देने पर आठ लब्ध आये सो ८ अंगुल हुए। शेष छह रहे उनमें बारह का भाग देने से आधा अंगुल और हुआ। इस प्रकार प्रति पटल दो हाथ साढ़े आठ अंगुल वृद्धि का प्रमाण जानना चाहिए। इस प्रमाण को प्रथम पटल के उत्सेध तीन हाथ प्रमाण में जोड़ने पर दूसरे पटल के नारकी जीवों के शरीर का पांच हाथ साढ़े आठ अंगुल प्रमाण उत्सेध होता है। (चार हाथ का एक धनुष और चौबीस अंगुल का एक हाथ होता है।) उक्त प्रकार चय (दो हाथ साढ़े आठ अंगुल) पूर्व पूर्व पटल के उत्सेध में मिलाने से उत्तर उत्तर पटल के उत्सेध का प्रमाण होता है। उक्त क्रम से तीसरे पटल के नारकी के शरीर का उत्सेध एक धनुष तीन हाथ सत्रह अंगुल होता है। इसी प्रकार प्रथम नरक के सब पटलों में समझ लेना चाहिए।

द्वितीयादि पृथ्वी के विषय में भी पूर्व पृथ्वी के अन्त पटल का जो उत्सेध है वह तो आदि और विवक्षित पृथ्वी के अन्त पटल का जो उत्सेध है उसको अन्त स्थापन कर आदि को अन्त में से घटाना चाहिए। यहां पर पूर्व पृथ्वी के अन्त पटल को आदि कहा है इसलिए विवक्षित पृथ्वी में जितने पटल का प्रमाण है उसमें एक अधिक गच्छ कर उसमें से एक को घटाने पर जो प्रमाण हुआ उसके भाग देने पर जो लब्ध आता है वह चय होता है। जैसे द्वितीयादि पृथ्वी के विषय में आदि तो सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल और अन्त पन्द्रह धनुष दो हाथ

बारह अंगुल है। यहाँ आदि को अन्त म स घटान पर साा धनुष तीन हाथ छह अगुल रह। उन म द्वितीय पृथ्वी के पटल प्रमाण ग्यारह का भाग देन व धनुष आदि क हस्तादि करलेन पर दो हाथ बीस अगुल और दो अगुल का ग्यारहवा भाग प्रमाण चय आया। इसी प्रकार तृतीयादि पृथ्वी म भी चय का प्रमाण साधन करना चाहिए।

यहाँ प्रथम पृथ्वी क अन्त पटल क सात धनुष तीन हाथ छह अगुली उत्सेध मे चय का प्रमाण दो हाथ बीस अगुल और दो अगुल क ग्यारहवें भाग को मिलान पर द्वितीय पृथ्वी क प्रथम पटल का आठ धनुष दो हाथ दो अगुल और दो अगुल का ग्यारहवा भाग प्रमाण उत्सेध होता है। इसी प्रकार द्वितीयादि पटल का उत्सेध लान क लिए पूर्व पटल क प्रमाण मे चय का प्रमाण जोडते जाना चाहिए। द्वितीय पृथ्वी क उत्सेध प्रमाण क अनुक्रम स तृतीयादि पृथ्वी क उत्सेध का प्रमाण साधन करना चाहिए।

नारक जीवा का अवधिज्ञान का क्षेत्र

रत्नप्रभा पृथ्वी क नारकी का अवधिज्ञान का क्षेत्र चारकोश प्रमाण है। शर्करादि शष छह पृथ्वी क नारकी क अवधिज्ञान का क्षेत्र क्रमस प्रति पृथ्वी आधा आधा कोश हीन होता गया है। अर्थात साढे तीन तीन ढाई दो डेढ और एक कोश क्षेत्र प्रमाण अवधिज्ञान क्रमस द्वितीयादि पृथ्वी क नारकी का होता है।

नरक स निकले हुए जीवों के उत्पत्ति का नियम

नरक स निकले हुए जीव मनुष्य व तिर्यच गति म ही उत्पन्न होते हैं। देव और नरक गति म जन्म नहीं लेते हैं। मनुष्य और तिर्यचो म भी कर्मभूमि के सज्ञी पर्याप्तक गर्भजों मे ही उत्पन्न होते हैं। सप्तम पृथ्वी स निकले हुए जीव कर्मभूमिज सज्ञी पर्याप्तक गर्भज तिर्यच ही होते हैं मनुष्य नहीं होते। तिर्यचो में भी हिंसक सिंहादि क्रूर पशु ही होते हैं।

नरक स निकले हुए जीव नारायण बलभद्र चक्रवर्ती नहीं होते हैं। चतुर्थादि पृथ्वी से निकले हुए जीव तीर्थंकर नहीं होते हैं। पाचवीं आदि पृथ्वी से निकले हुए चरमशरीरी नहीं होते। छठी आदि पृथ्वी से निकले हुए सकल सयमी नहीं होते। तथा सातवी पृथ्वी स निकले हुए सासादन मिश्र (तीसरे गुणस्थान वर्ती) असयत व देशसयत नहीं होते हैं।

नरक मे गमन करन वाले जीवा का नियम

असज्ञी पञ्चेन्द्रिय और सरीसृप (गिरगट छिपकली आदि) प्राणी और भरुड आदि पक्षी सर्प सिंह मानुषी स्त्री मत्स्य और

मनुष्य नका प्रथमादि पृथ्वी मे निरन्तर उत्पत्ति आठ बार स लेकर दो बार तक जानना चाहिए। अर्थात असंज्ञी मर कर प्रथम नरक में जाकर वहाँ स निकल संज्ञी हो मरकर फिर यहा ही असंज्ञी हो मरकर फिर प्रथम नरक जावे तब एक बार होता है। ऐसे असंज्ञी अधिक स अधिक आठ बार प्रथम नरक में जाता है। नरक स निकला हुआ असंज्ञी नहीं होता है अत मध्य म क संज्ञी पर्याय का अन्तर होता है। सरीसृपादि में एक अन्तर न प्रथम रखना। सरीसृप दूसरे नरक जाकर वहां स सरीसृप हो फिर दूसरे नरक म जावे। ऐसे निरन्तर सात बार जा सकता है। ऐसे ही पक्षी निरन्तर तीसरे न क म छः बार जा सकता है। सर्प चौथे नरक में पाँच बार जा सकता है। सिंह पाँचवें नरक में चार बार जा सकता है। स्त्री छठे नरक म तीन बार निरन्तर जन्म ले सकता है। तथा मत्स्य व मनुष्य क अन्तर रखकर सातवें नरक मे निरन्तर दोबार उत्पन्न हो सकते हैं। उनमें स मत्स्य सातवें नरक जाकर वहाँ स निकल कर गर्भज तिर्यंच होता है। मरकर फिर मत्स्य होकर सातवें नरक म जाता है। क्योंकि यहाँ नरक स निकला हुआ सम्मूर्छन नहीं होता है और मत्स्य सम्मूर्छन है इसलिए यहां एक अन्तर कहागया है। इसी प्रकार मनुष्य म भी एक अन्तर जानना चाहिए। क्योंकि सातवें नरक स निकला जीव मनुष्य नहीं होता है इसलिए बीच मे एक अन्तर कहा है। इस प्रकार दोबार उत्पत्ति का नियम कहा है।

यहाँ जीवों क उत्पन्न होने का भी नियम जान लेना चाहिए। असंज्ञी जीव प्रथम पृथ्वी म ही उत्पन्न हो सकता है द्वितीयादि पृथ्वी म उत्पन्न नहीं हो सकता। सरीसृप दूसरी पृथ्वी पर्यन्त जन्म ले सकता है तृतीयादि पृथ्वी मे जन्म धारण नहीं कर सकता। पक्षी तृतीय पृथ्वी तक उत्पन्न हो सकता है आगे जन्म नहीं लेता। सर्प चतुर्थ पृथ्वी पर्यन्त जन्म ले सकता है आगे नहीं जा सकता। सिंह पाचवीं तक स्त्री छठी तक और पुरुष एवं मत्स्य सातवीं पृथ्वी पर्यन्त उत्पन्न हो सकते हैं।

नरक पृथ्वी म जीवोत्पत्ति का अन्तर

प्रथम पृथ्वी मे कोई जीव उत्पन्न न हो तो उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त पर्यन्त उत्पन्न नहीं होता है और न मरता है। चौबीस मुहूर्त क पश्चात कोई न कोई अवश्य जन्म लेता है अथवा कोई अवश्य मरता है। ऐसे ही द्वितीय पृथ्वी में सात दिन का तृतीय पृथ्वी में एक पक्ष का चतुर्थ पृथ्वी म एक मास का पाँचवीं मे दो मास का छठी म चार मास का और सातवीं पृथ्वी में छह मास का जन्म मरण का अन्तर है।

भवनवासियों क आवास

रत्नप्रभा पृथ्वी क खर भाग व पङ्क भाग मे भवनवासी व व्यन्तर देवों क भवन बने हुए हैं। उनमें स भवनवासी देवों का संक्षेप स वर्णन करते हैं—

असंख्यात द्वीप समुद्रों के बीतने के बाद शेष असंख्यात द्वीप समुद्रों के नीचे भवनवासी और व्यन्तर देवों के भवन बने हुए हैं।

भवनवासी देवों के सात करोड़ बहत्तर लाख भवन हैं तथा एक एक भवन में एक एक चैत्यालय है इसलिए जितने भवन हैं उतने ही चैत्यालय हैं।

भवनवासी देवों के भेद

भवनवासी देवो के दश भेद हैं—१—असुर कुमार २ नागकुमार ३ विद्युत्कुमार ४ सुपर्णकुमार, ५ अग्निकुमार, ६ वातकुमार, ७ स्तनितकुमार ८ उदधिकुमार ९ द्वीपकुमार और दिक्कुमार। उक्त प्रत्येक भेद में दो दो इन्द्र हैं।

असुर कुमार में चमर और वैरोचन नागकुमार में भूतानन्द और धरणानन्द विद्युत्कुमार में घोष और महाघोष, सुपर्णकुमार में वेणु और वेणुधारी अग्निकुमार में अग्निशिखी और अग्निवाहन वातकुमार में वेलम्ब और प्रभंजन स्तनितकुमार में हरिषेण और हरिकान्त उदधिकुमार मे जलप्रभ और जलकान्त द्वीपकुमार मे पूर्ण और वशिष्ट दिक्कुमार में अमितगति और अमितवाहन इस प्रकार प्रत्येक भेद में दो दो इन्द्र कहे गये हैं।

इन्द्रों में परस्पर ईर्ष्या

चमरेन्द्र तो सौधर्म इन्द्र (शक्र) के साथ और भूतानन्द इन्द्र वेणुइन्द्र के साथ तथा वैरोचन ईशानइन्द्र के साथ और धरणानन्द वेणुधारीइन्द्र के साथ स्वाभाविक ईर्ष्या करते हैं। अर्थात् दो दो इन्द्रों में से प्रथम प्रथम इन्द्र सौधर्मादि युगलों के प्रथम इन्द्र के साथ तथा द्वितीय द्वितीयस्वर्ग के इन्द्र के साथ स्वभावतः ईर्ष्याभाव रखते हैं।

भवनवासी देवों के चिह्न

असुरादि देवों के मुकुट में क्रमसे चूड़ामणि सर्प, स्वस्तिक गरुड़ कलश घोड़ा वज्र मगर (मच्छ) हस्ती और सिंह के चिह्न पाये जाते हैं। तथा चैत्यवृक्ष और ध्वजा भी इनके चिह्न हैं। अश्वत्थ सप्तपर्ण आदि दश प्रकार के चैत्यवृक्ष भी इनके चिह्न हैं। इन वृक्षों के मूल में प्रतिदिशा में (हरएक दिशा) में पाँच पाँच प्रतिमाएं हैं जिनकी देव पूजा करते हैं। इन प्रतिमाओं (चैत्य) के सम्बन्ध से इनको चैत्यवृक्ष कहते हैं।

भवनवासी देवों के भवनों की विशेषताएँ

भवनवासी देवों के भवन सुगंधित एवं पुष्पों से वासित रत्नमय भूमि से भूषित हैं उनकी दीवारें भी रत्नों की होती हैं और नित्य

प्रकाश युक्त हैं। वे सम्पूर्ण इन्द्रियों को सुख देनेवाले चन्दनादि पदार्थों से व्याप्त होते हैं और उनमें निवास करने वाले असुरकुमारादि देव अणिमा महिमा आदि अष्ट ऋद्धि के धारक होते हैं तथा वे नाना प्रकार के मणिनिर्मित झिलमिलाते हुए मुकुट कटक अंगद हार आदि अलंकारों से देदीप्यमान व अलंकृत होते हैं। वे अपनी पूर्व-सञ्चित तपस्या के फल का भोग करते हैं। उनके भवन भूमिगृह (तहखान) के समान हैं। वे रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग और पंकभाग में हैं। उन भवनों की चौड़ाई व लम्बाई जघन्य तो संख्यात करोड़ योजन और उत्कृष्ट असंख्यात करोड़ योजन प्रमाण है। ये भवन चौकोर होते हैं। इनकी ऊंचाई तीन सौ योजन प्रमाण है। प्रत्येक भवन के मध्य भाग में सौ योजन ऊंचा एक पर्वत है। उसके ऊपर चैत्यालय बने हुए हैं।

व्यंतरादि देवों के आवास स्थान

चित्रा भूमि के नीचे एक हजार योजन जाकर व्यन्तर देवों के आवास बने हुए हैं। दो हजार योजन जाकर अल्प ऋद्धि धारक भवनवासियों के भवन हैं। तथा बियालीस हजार योजन जाकर महर्द्धि धारक भवनवासियों के भवन हैं और एक लक्ष योजन पर मध्यम ऋद्धि के धारक भवनवासियों के भवन हैं। भवनवासियों में असुर कुमारों के और व्यन्तरों में राक्षसों के भवन पङ्कभाग में हैं।

देवों में इन्द्र व प्रतीन्द्र का क्रम

ज्योतिष व व्यन्तर देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते हैं अर्थात् भवनवासी और सोलह स्वर्गों के विमानवासियों में तो १ इन्द्र २ सामानिक ३ त्रायस्त्रिंश ४ पारिषद ५ आत्मरक्ष ६ लोकपाल ७ अनीक ८ प्रकीर्णक ९ आभियोग्य और १० किल्विषिक ये दश प्रकार के भेद प्रत्येक इन्द्र के साथ होते हैं। किन्तु ज्योतिष और व्यन्तरों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल ये दो भेद नहीं होते। शेष आठ भेद ही होते हैं। सोलह स्वर्गों के ऊपर नवग्रैवेयक नव अनुदिश और पंचानुत्तर विमानों में इन्द्रादि भेद नहीं होते। वे सब अहमिन्द्र होते हैं। अपने भेद में उनमें हीनाधिकपना नहीं होता है। इन्द्र के साथ एक प्रतीन्द्र होता है वह युवराज के समान माना गया है। भवनवासियों के प्रत्येक भेद में दो दो इन्द्र और दो दो प्रतीन्द्र होते हैं। अर्थात भवनवासियों के बीस इन्द्र और बीस प्रतीन्द्र तथा व्यन्तरों में सोलह इन्द्र और सोलह प्रतीन्द्र होते हैं। शेष ज्योतिष देवों में एक इन्द्र और एक प्रतीन्द्र तथा वैमानिक सोलह स्वर्गों में बारह इन्द्र व बारह ही प्रतीन्द्र होते हैं।

इन्द्रों की सभा सेना व देवांगनाएँ

प्रत्येक इन्द्र के तीन तीन परिषद (सभा) होती है—अन्तः मध्य और बाह्य परिषद। अन्तःपरिषद को समित कहते हैं मध्य पारिषद को चन्द्रा और बाह्य परिषद को जतु संज्ञा से कहते हैं। ऐसे ही सम्पूर्ण देवों की सभाओं के नाम हैं।

प्रत्येक इन्द्र के सात सात अनीक (सेना) होती हैं। असुर कुमार के १ महिष (भैंसा) २ घोटक (घोडा) ३ रथ ४ हाथी ५ प्यादे ६ गन्धर्व और ७ नर्तकी ये सात प्रकार की सेना है। उक्त सात प्रकार की सेना एक से दूसरे भेद के दूनी दूनी होती चली गई है। असुर कुमार के अनीक के प्रथम भेद में भैंसा था। नागकुमार के प्रथम भेद में नाव या सर्प सुपर्ण कुमार के गरुड़ द्वीप कुमार के हाथी उदधिकुमार के मगर विद्युत्कुमार के ऊंट या गेंडा स्तनित कुमार के मृग दिक्कुमार के सिंह अग्निकुमार के शिबिका (पालकी) और वातकुमार के अश्व ये प्रथम भेद में हैं। शेष छह भेद असुर कुमार देवों के समान हैं।

असुर कुमार के इन्द्र के छप्पन हजार देवाङ्गनाएं हैं उनमें से सोलह हजार वल्लभिका (अतिप्रिय देवांगना) पांच महा देवियाँ और पांच कम चालीस हजार परिवार देवियाँ हैं। नागकुमार इन्द्र के पचास हजार देवियाँ हैं। सुपर्ण कुमार इन्द्र के चवालीस हजार देवियाँ हैं। शेष द्वीप कुमारादि सात भेदों में बत्तीस बत्तीस हजार देवियाँ हैं उनमें दो दो हजार तो वल्लभिका हैं पांच पांच महादेवी हैं और शेष सामान्य देवांगना हैं।

असुरकुमार नागकुमार और सुपर्णकुमार इन तीन भेदों के इन्द्रों की महादेवियां अपनी विक्रिया से तो एक एक महादेवी आठ आठ हजार मूल शरीर सहित विक्रिया कर सकती हैं और शेष सात भेदों के इन्द्रों की महादेवियाँ छह छह हजार मूलशरीर सहित विक्रिया करती हैं। अन्य देवियों के अनेक रूप धारण कर सकती हैं।

चमर इन्द्र की देवाङ्गनाओं की आयु ढाई पल्य प्रमाण वैरोचन इन्द्र की देवाङ्गनाओं की आयु तीन पल्य प्रमाण तथा नागेन्द्र की देवियों की आयु पल्य के आठवें भाग प्रमाण गरुड़ इन्द्र की देवाङ्गनाओं की आयु तीन कोटि पूर्व प्रमाण और शेष इन्द्रों की देवियों की आयु तीन कोटि प्रमाण है।

असुरादि देवों के श्वासोच्छ्वास तथा आहार का क्रम

असुर कुमार जाति के देवों के एक पक्ष बीतने पर एक बार श्वासोच्छ्वास होता है और एक हजार वर्ष बीतने पर एक बार आहार होता है। नागकुमार सुपर्णकुमार व द्वीपकुमार के साढ़े बारह मुहूर्त बीतने पर श्वासोच्छ्वास और साढ़े बारह दिन बीतने पर आहार होता है। उदधि कुमार विद्युत्कुमार के बारह मुहूर्त बीतने पर श्वासोच्छ्वास और बारह दिन बीतने पर आहार होता है। अवशेष दिक् कुमार अग्निकुमार और वातकुमार के साढ़े सात मुहूर्त बीतने पर श्वासोच्छ्वास और साढ़े सात दिन बीतने पर आहार होता है।

देवों के शरीर का उत्सेध

असुर कुमार देवों के शरीर का उत्सेध (ऊंचाई) पच्चीस धनुष प्रमाण और शेष कुमारों का शरीरोत्सेध दश धनुष प्रमाण है। व्यन्तर देवों के शरीर का उत्सेध दश धनुष और ज्योतिष देवों का सात धनुष प्रमाण है।

व्यन्तर देव

व्यन्तर देवों के किन्नर किम्पुरुष महोरग गन्धर्व यक्ष राक्षस भूत और पिशाच ये आठ भेद हैं। राक्षस के अतिरिक्त सब व्यन्तर देवो के आवास खर पृथ्वी भाग के एक हजार योजन नीचे जाकर बने हुए हैं।

व्यन्तरों के शरीर का वर्ण

किन्नरों का प्रियगुफल समान वर्ण है। किम्पुरुषों का धवल वर्ण है। महोरगों का काला (श्याम) वर्ण है। गन्धर्वों का स्वर्ण समान वर्ण है। यक्ष राक्षस और भूत इन तीनों का श्याम वर्ण है। पिशाचों का काला वर्ण है। इन देवों के शरीर अगर चन्दनादि के लेप व आभूषणो स भूषित हैं।

व्यन्तरों के चैत्यवृक्ष

उन व्यन्तरो क अनुक्रम स अशोक चम्पक नागकेसर तुबर बट कंटक, तुलसी और कदम्ब ये चैत्यवृक्ष हैं। उनके मूल में पल्यकासनवाली प्रतिमाए एक एक दिशा में चार चार विराजमान हैं। वे प्रतिमाए चार तोरण द्वारों से सयुक्त हैं और जो भवन में चैत्यवृक्ष हैं उनका जम्बूद्वीप क वर्णन में जम्बू वृक्ष के परिकर का जो प्रमाण कहेंगे उससे अर्ध प्रमाण समझना चाहिए।

व्यन्तरों में इन्द्र, प्रतीन्द्र, देवागना व सेना

उक्त आठ प्रकार क व्यन्तरों के प्रत्येक भद में दो दो इन्द्र और दो दो प्रतीन्द्र होते हैं। इनमें प्रत्येक इन्द्र के दो दो वल्लभिका (अतिप्रिय देविया होती हैं। ये प्रत्येक देवी एक एक हजार दवागना से सयुक्त होती है। एक एक इन्द्र सम्बन्धी दो दो गणिका महत्तरी होती हैं। जिस प्रकार यहाँ पर वेश्या होती हैं उसी प्रकार वहाँ पर जो देवागना होती हैं उन्हें गणिका कहते हैं और उन में जो प्रधान होती हैं उन्हें महत्तरी कहत हैं।

व्यन्तरो में हर एक इन्द्र के सात सात प्रकार की सनाएँ और प्रत्येक सेना के सात सात कक्ष (सेना) और होते हैं। सात प्रकार सेन क नाम हाथी घोड प्याद रथ गन्धर्व, नर्तकी और वृषभ ये हैं। इन सेनाओं में एक महत्तर (प्रधान) होता है। उनके अनुक्रम से १ सुज्येष्ठ सुग्रीव ३ विमल ४ मरुदेव ५ श्रीदामा दामश्री और विशाल ये सात नाम हैं।

व्यन्तरों के इन्द्रों के नगर

अंजनक वज्रधातुक सुवर्ण मनःशिलक वज्र रजत हिंगलुक और हरिताल इन आठ द्वीपों में क्रमसे किन्नरादि इन्द्रों के नगर बने हुए हैं। प्रथम इन्द्र के उत्तर में और द्वितीय इन्द्र के दक्षिण में नगर हैं। प्रत्येक इन्द्र के पांच पांच नगर हैं। एक मध्य में और चार चारों दिशाओं में होते हैं। मध्य में जो नगर हैं वह इन्द्र के नाम पर हैं और पूर्व दक्षिण पश्चिम एवं उत्तर में जो नगर हैं उनके नाम इन्द्र के नाम के आगे क्रम से प्रभ कान्त आवर्त्त और मध्य ये लगाने पर हो जाते हैं। जैसे किन्नरेन्द्र के पांच नगर उत्तर दिशा में हैं। उनमें जो बीच में है उसका नाम किन्नरपुर है। उससे पूर्व दिशा में किन्नरप्रभ नगर है दक्षिण दिशा में किन्नरकान्त नगर है पश्चिम दिशा में किन्नरावर्त्त नामक नगर और उत्तर दिशा में किन्नरमध्य नामक नगर है। इसी प्रकार सब नगर इन्द्रों के नाम से होते हैं। इन्द्रों के ये सब नगर एक लक्ष योजन विस्तार वाले हैं और समतल भूमि पर हैं। न तो पर्वतादि ऊंचे प्रदेश पर है और न भूमि के नीचे हैं। उन नगरों के चारों ओर प्राकार (कोट) हैं। उनकी ऊंचाई साढ़े सैंतीस योजन चौड़ाई साढ़े बारह योजन और मोटाई ढाई योजन है। इन कोटों के द्वार (दर्वाजे) हैं उनकी ऊंचाई साढ़े बासठ योजन और चौड़ाई सवा इकतीस योजन है। दर्वाजे पर पचहत्तर योजन प्रमाण ऊंचा सुन्दर प्रासाद है। उस प्रासाद के अभ्यन्तरभाग में सुधर्मा नामकी सभा है। वह साढ़े बारह योजन लम्बी सवा छह योजन चौड़ी और नव योजन ऊंची है। उसका अवगाढ़ (मूल नींव) एक कोश प्रमाण है। इसी प्रकार सभी इन्द्रों के नगर प्रासादादि की रचना व प्रमाण जानना चाहिए।

रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग में भूतों के चौदह हजार भवन हैं और पंकप्रभा में राक्षसों के सोलह हजार भवन हैं। व्यन्तर देवों की जो गणिका महत्तरी है उनके नगर अपने इन्द्र सम्बन्धी द्वीपों में हैं और अपने इन्द्रपुरों के दोनों पार्श्व भागों में हैं। उनकी लम्बाई व चौड़ाई चौरासी लाख योजन प्रमाण है। शेष जो व्यन्तर हैं उनके नगर अनेक द्वीप व समुद्रों में पाये जाते हैं।

वाणव्यन्तरों के भेद, आवासस्थान और उनकी आयु

उक्त भेदों के अतिरिक्त व्यन्तर देवों में जो वाणव्यन्तर हैं उनके स्थान पृथ्वी के ऊपर हैं। १ नीचोपपाद २ दिग्वासी ३ अन्तरनिवासी ४ कूष्माण्ड ५ उत्पन्न ६ अनुत्पन्न ७ प्रमाणक ८ गन्ध ९ महागन्ध १० भुजग ११ प्रीतिक और १२ आकाशोत्पन्न ये उनके नाम हैं। पृथ्वी से एक हाथ ऊपर क्षेत्र में नीचोपपाद वाणव्यन्तर हैं। उनके ऊपर दशहजार हाथ ऊंचे क्षेत्र में दिग्वासी वाणव्यन्तर देव हैं। उनके ऊपर दशहजार हाथ ऊंचे क्षेत्र में अन्तरनिवासी देव हैं। उनके ऊपर दशहजार हाथ ऊंचे क्षेत्र में कूष्माण्ड हैं। उनके ऊपर बीस हजार हाथ ऊंचे क्षेत्र में उत्पन्न वाणव्यन्तर हैं। इसी प्रकार अनुत्पन्नादि में बीस बीस हजार हाथ का अन्तराल समझना चाहिए।

नीचोपपाद देवों की आयु दशहजार वर्ष दिग्वासी देवों की बीसहजार अन्तरनिवासी की तीस हजार कूष्माण्ड देवों की चालीस हजार उत्पन्न देवों की पचास हजार अनुत्पन्न देवों की साठ हजार प्रमाणक देवों की सत्तर हजार गन्ध देवों की अस्सी हजार महागन्ध देवों की चौरासी हजार भुजग देवों का पल्य के आठवें भाग प्रमाण प्रीतिक देवों की पल्य के चौथे भाग प्रमाण और आकाशोत्पन्न देवों की आधे पल्य प्रमाण आयु है।

व्यन्तरों के निलय

व्यन्तरों के निवास स्थानों के तीन नाम हैं—भवनपुर आवास और भवन। उनमें से द्वीप समुद्रों में भवनपुर पाये जाते हैं जलाशय (सरोवर आदि) वृक्ष पर्वत आदि में आवास और चित्रा पृथ्वी के नीचे भवन पाये जाते हैं। जो पृथ्वी से ऊंचे स्थान में निवास स्थान हैं—उन्हें आवास कहते हैं जो पृथ्वी के नीचे हैं—उन्हें भवन और जो पृथ्वी के समतल प्रदेश पर हैं—उन्हें भवनपुर कहते हैं। ऐसे तीन प्रकार के निलय हैं।

व्यंतरों के रहने के क्षेत्र

चित्रा और वज्रा पृथ्वी के मध्य सन्धि से लेकर जितना मेरुपर्वत की ऊंचाई है वहां तक और तिर्यक् लोक का जितना विस्तार है वहाँ तक विस्तृत क्षेत्र में व्यन्तरों के यथायोग्य भवनपुर या भवन या आवास हैं और उनमें वे निवास करते हैं।

कितने ही व्यन्तरों के तो भवन ही हैं तथा कितने ही के भवन और भवनपुर हैं। कई एक के भवन पुर और आवास तीनों ही हैं।

असुरकुमार के सिवा अन्य कई एक भवनवासी देवों के भवन भवनपुर या आवास तीन निलय पाये जाते हैं। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि पृथ्वी के नीचे खरभाग और पंकभाग में तथा पृथ्वी से ऊपर पर्वतादि पर और समतल भूमि पर व्यन्तरों और भवनवासियों के स्थान पाये जाते हैं। जो उत्कृष्ट भवन हैं वे तो बारह हजार तीन सौ योजन ऊंचे हैं। तथा जितनी भवनों की ऊंचाई है उसके तीसरे भाग प्रमाण ऊंचे कूट पाये जाते हैं और इन कूटों पर जिन मन्दिर हैं। उत्कृष्ट भवनों के चारों ओर आठ योजन ऊंची वेदी पाई जाती है तथा जघन्य भवनों के पच्चीस धनुष ऊंची वेदी होती है। जैसे बाग बगीचे के चारों ओर दीवार होती है उसी प्रकार वेदी होती है।

गोल आदि आकारवाले जो पुर हैं उनका क्रमसे उत्कृष्ट विस्तार लक्ष योजन प्रमाण है और जघन्य विस्तार एक योजन

प्रमाण है। तथा गोल आदि आकार वाले जो आवास हैं उनका उत्कृष्ट विस्तार बारह हजार दोसौ योजन है और जघन्य विस्तार पौन योजन है। भवन आवासादि के कोट द्वार नृत्यशाला इत्यादि पाये जाते हैं।

व्यन्तरों के आहार कुछ अधिक पाँच दिन बीतने पर होता है और उच्छ्वास कुछ अधिक पाँच मुहूर्त्त जाने पर होता है।

मध्यलोक

इस चित्रा पृथ्वी के एक हजार योजन नीचे से लेकर मेरु पर्वत की चूलिका तक मध्यलोक माना गया है। मध्यलोक की ऊंचाई मेरु प्रमाण है। इसका आशय यह है कि एक हजार योजन का उसका अवगाह है और एक हजार योजन कम एक लक्ष योजन प्रमाण यह चित्रा पृथ्वी के समतल से ऊंचा है तथा चालीस योजन प्रमाण उसकी चूलिका है।

इस मध्यलोक में ही ज्योतिष देवों के विमान हैं। इस चित्रापृथ्वी के समतल भूभाग से सातसौ नब्बे योजन से ज्योतिष देवों का निवास क्षेत्र प्रारंभ होता है और नवसौ योजन पर उनका क्षेत्र समाप्त होता है। अर्थात् एकसौ दस योजन प्रमाण ऊंचे (मोटे) आकाश क्षेत्र में ज्योतिष देवों के निवास (विमान) हैं। इसलिए इनका वर्णन भी इसी मध्यलोक में आगे करेंगे।

यहाँ पर तिर्यक लोक का संक्षिप्त निरूपण करते हैं।

जम्बूद्वीप का वर्णन

इस लोक में तिर्यक असंख्यात द्वीप व समुद्र हैं। उन सब के मध्य में एक लक्ष योजन के विस्तार (लम्बाई चौड़ाई) वाला जम्बूद्वीप है। उसके ठीक मध्य भाग में मेरुगिरि है। उसकी दक्षिण दिशा से लेकर १ भरत २ हैमवत ३ हरि ४ विदेह ५ रम्यक ६ हैरण्यवत और ७ ऐरावत ये सात वर्ष (क्षेत्र) हैं। इन क्षेत्रों (देशों) की सन्धि पर अर्थात् एक २ क्षेत्र के अनन्तर एक एक पर्वत है जिन्हें कुलाचल कहते हैं। ऐसे कुलाचल छह हैं—१ हिमवान् २ महाहिमवान् ३ निषध ४ नील ५ रुक्मी और ६ शिखरी। भरत और हैमवत क्षेत्र के मध्य में (सन्धि पर) हिमवान कुलाचल है। हैमवत और हरिक्षेत्र के बीच में महाहिमवान् कुलाचल है। हरिक्षेत्र और विदेहक्षेत्र की सन्धिपर निषधाचल है। इसी प्रकार सात क्षेत्रों की सन्धिपर छह कुलाचल हैं। क्षेत्रों का विभाग करने से इनको वर्षधर पर्वत भी कहते हैं।

कुलाचलों का विस्तार और वर्ण

हिमवान आदि छहों कुलाचल मूल से लेकर ऊपर तक समान चौड़ाई वाले हैं। जैसे मकान की दीवार नीचे से लेकर ऊपर तक समान चौड़ी होती है वैसे ही ये छहों पर्वत नीचे मध्य में और ऊपर समान चौड़े हैं। अन्य पर्वतों की तरह हीनाधिक विस्तार वाले नहीं हैं। उनके पार्श्व भाग (पसवाड़े) विविध मणियों से चित्र विचित्र हैं। उनके दोनों तरफ के सिरे समुद्र को स्पर्श करते हैं। अर्थात् जम्बूद्वीप के कुलाचलों के दोनों तरफ के तट लवण समुद्र को छूते हैं तथा धातकीखण्ड के कुलाचलों के एक ओर के तट लवण समुद्र को और दूसरी ओर के तट कालोदधि को छूते हैं और पुष्करार्द्ध के कुलाचलों के एक ओर के तट तो कालोदधि को और दूसरी ओर के मानुषोत्तर पर्वत को छूते हैं।

इन पर्वतों के वर्ण क्रमशः हेम (सुवर्ण) अर्जुन (चांदी) तपनीय (तपाहुआ सोना) वैडूर्य (नीलमणि) रजत (चांदी) और सुवर्ण के समान हैं। अर्थात् हिमवान सोने के समान महाहिमवान चांदी के समान निषध तपे हुए सोने के समान नील वैडूर्यमणि के समान रुक्मी चांदी के समान और शिखरी सोने के समान पीतवर्ण हैं। हिमवान एकसौ योजन ऊंचा महाहिमवान दोसौयोजन निषध चारसौ योजन नील चारसौ योजन रुक्मी दोसौ योजन और शिखरी एकसौ योजन ऊंचा है। इन पर्वतों की जितनी ऊंचाई है उसके चतुर्थ भाग (चौथाई) अवगाह (भूमि के अन्दर) है।

कुलाचलों पर सरोवर

उक्त छह कुलाचलों के ऊपर क्रम से पद्म महापद्म तिगिञ्छ केसरी महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये ह्रद (सरोवर) हैं। इनका व्यास (चौड़ाई) आयाम (लम्बाई) और अवगाह (गहराई) अपने पर्वत की ऊंचाई से क्रमशः पाँचगुणा दशगुणा और दशवभाग प्रमाण है। अर्थात् पद्मह्रद का व्यास (चौड़ाई) पाँचसौयोजन आयाम (लम्बाई) एक हजार योजन और अवगाह (गहराई) दश योजन प्रमाण है। महापद्म ह्रद की चौड़ाई एक हजार योजन लम्बाई दो हजार योजन व गहराई बीसयोजन प्रमाण है। तिगिञ्छ ह्रद की चौड़ाई दोहजार योजन लम्बाई चारहजार योजन और गहराई चालीस योजन प्रमाण है। इसी प्रकार अपने २ पर्वत की ऊंचाई से ह्रद की चौड़ाई पांचगुनी लम्बाई दशगुनी और गहराई दशवें भाग प्रमाण समझना चाहिए।

सरोवरों के मध्य कमल और उन पर सपरिवार देवियाँ

उन ह्रदों के मध्य में कमल हैं ह्रदों की गहराई के दशवें भाग प्रमाण उनके कमलों की ऊंचाई व चौड़ाई है। वे कमल पृथ्वीमय हैं। वनस्पति काय नहीं हैं। अर्थात् पद्मह्रद के कमल की ऊंचाई व चौड़ाई एक योजन महापद्म के कमल की दो योजन तिगिञ्छ ह्रद

के कमल की चारयोजन। इसी प्रकार आगे के ह्रदों के कमलों की ऊंचाई व चौडाई क्रमश चार दो और एक योजन प्रमाण है। ये कमल अपनी सुगन्ध से दशों दिशाओं को सुगन्धित करते हैं। इनकी नाल वैडूर्यमणि की बनी हुई है। उसकी ऊंचाई बियालीस कोश प्रमाण है। जिसमें से चालीस कोश प्रमाण नाल तो जल के भीतर रहती है और जलतल से ऊपर दोकोश ऊंची है। तथा एक कोशमोटी है। इसके अन्दरका म्रणाल तीनकोश का मोटा रूप्यमय श्वेतवर्ण है। कमल के ग्यारह हजार दल (पाखडिया) हैं। कमल की जितनी ऊंचाई व चौडाई है उसके अर्द्ध भाग प्रमाण नाल जल के ऊपर निकली हुई है। कमल की कर्णिका की चौडाई कमल की ऊंचाई व चौडाई से आधी है और प्रत्येक दल की चौडाई उसके चतुर्थ भाग प्रमाण है। जैसे पद्मह्रद के कमल की ऊंचाई व चौडाई एक योजन प्रमाण अत उसकी नाल उससे अर्ध (दोकोश) प्रमाण जल के ऊपर निकली है। उस कर्णिका की चौडाई दो कोश प्रमाण और उसका प्रत्येक पत्र एक २ कोश प्रमाण चौडा है। ऐसे ही अन्य ह्रदों में समझलना चाहिए।

पद्मह्रद के कमल की कर्णिका पर श्रीदेवी का रत्नमय प्रासाद है जो शरद् पूर्णिमा के चन्द्रमा की द्युति को लजाने वाला है। उसकी लम्बाई एक कोश चौडाई आधे कोश और ऊंचाई पौन कोश प्रमाण है। इस प्रकार पद्मह्रद का वर्णन किया वैसाही महापद्मादि का है उनका प्रमाण यथासंभव समझ लेना चाहिए।

पद्मह्रद के कमल की कर्णिका पर जैसे श्रीदेवी निवास करती है इस शेष ह्रदों के कमल की कर्णिकाओं पर क्रमश ह्री धृति कीर्त्ति बुद्धि और लक्ष्मी देवी निवास करती हैं। इनकी आयु एक पल्य प्रमाण है। तथा एक एक कमल के परिवार रूप एक लाख चालीस हजार एकसौ पन्द्रह कमल उसी ह्रद में स्थित हैं।

पद्मह्रद सम्बन्धी कमलो पर श्रीदेवी का परिवार स्थित है इसे दिखाते हैं।

मूल कमल के अग्निकोण दक्षिण और नैऋत्य दिशा में जो कमल हैं उनपर श्रीदेवी के आदित्य चन्द्र और जतु परिषद् के पारिषदेव निवास करते हैं। आदित्य (आभ्यन्तर) परिषद् के पारिषद देव बत्तीस हजार हैं। चन्द्र (मध्य) परिषद् के पारिषदेव चालीस हजार और जतु (बाह्य) परिषद् के पारिषदेव अडतालीस हजार हैं। एक एक पारिषद् देव के निवास के लिए एक एक कमल पर प्रासाद बने हैं। सात प्रकार की सेना के देवो के निवास करने के लिए मूल कमल से पश्चिमदिशा में सात कमलो पर प्रासाद हैं तथा सामानिक देवों के कमल उत्तर दिशा के दोनो कोनों में चारहजार है। और इनकमलो के अभ्यन्तर मूल कमल की तरफ एक एक दिशा में चार चार हजार आत्मरक्षको के कमलो पर मन्दिर (प्रासाद) हैं। प्रतीहार महत्तरा के एक सौ आठ कमल उन आत्मरक्षको के कमलो के अभ्यन्तर मूल कमल के निकट दिशा व विदिशा में स्थित हैं।

ये सब परिवार कमल भी मणिमय हैं। जलतल से ऊँचे नहीं हैं। तथा परिवार-कमल की ऊँचाई चौडाई आदि मूल कमल से अर्धप्रमाण जाननी चाहिए। अर्थात् श्रीदेवी के प्रासाद की जितनी ऊँचाई चौडाई आदि बतलाई गई है उससे आधी परिवार-कमलों की है।

श्री ह्री व धृति ये तीन तो सौधर्म इन्द्र की देवियाँ हैं। और कीर्ति बुद्धि व लक्ष्मी ये तीन ईशान इन्द्र की देवियाँ हैं।

ह्रदों से नदियों का उद्गम

उन ह्रदों से गंगा सिन्धु रोहित रोहितास्या हरित हरिकान्ता सीता सीतोदा नारी नरकान्ता सुवर्णकूला रूप्यकूला रक्ता और रक्तोदा ये चौदह महानदियाँ निकली हैं। इनमें से दो दो नदियों के सात युगलों में पूर्व की (गंगा रोहित हरित सीता नारी सुवर्णकूला रक्ता) ये सात नदियाँ पूर्वदिशा की ओर मुख करके तथा शेष नदियाँ पश्चिम दिशा की ओर मुख करके क्षेत्रों के बीच में स्थित पर्वतों की प्रदक्षिणा देकर समुद्र में मिलती हैं।

उक्त नदियों के तटों पर पुन्नाग नागकेसर सुपारी अशोक तमाल कदली (केला) ताम्बूली बड़ी इलायची लवंग मालती आदि के वृक्ष और लताओं से सुशोभित हैं।

आदि के पद्म ह्रद से गंगा सिन्धु और रोहितास्या ये तीन नदियाँ और अन्त के पुण्डरीक ह्रद से रक्ता रक्तोदा और सुवर्णकूला ये तीन नदियाँ निकली हैं। शेष चार ह्रदों में से दो दो नदियाँ निकली हैं। भरत व ऐरावत में नाभिगिरि नहीं है इसलिए इन क्षेत्रों में बहने वाली गंगा सिन्धु और रक्ता रक्तोदा इन चार नदियों को छोडकर शेष नदियाँ क्षेत्र के मध्य में स्थित नाभिगिरि को आधा योजन छोडकर समुद्र में मिली हैं। जिन्हें क्षेत्र में मेरुपर्वत है उन्हें यहाँ नाभिगिरि कहा है। हैमवत हरिरम्यक और हैरण्यवत में नाभिगिरि विद्यमान हैं। नदियाँ ह्रद से निकल कर नाभिगिरि के सम्मुख आधी आकर आधा योजन दूर से मुडकर नाभिगिरि की अर्ध प्रदक्षिणा करके समुद्र में जा मिली हैं।

गंगा नदी के निकास और गमनादि

पद्म ह्रद के पूर्वदिशा में वज्र द्वार है उससे गंगानदी निकलकर हिमवान पर्वत के ऊपर पूर्वदिशा की ओर पाँचसौ योजन जाकर हिमवान पर्वत पर स्थित जो गंगा कूट है उससे आधा योजन पहले मुडती है। वहाँ से दक्षिण दिशा की तरफ पाँचसौ तेईस योजन और कुछ अधिक आगे जाकर पर्वत के तट पर पहुँची है। पर्वत पर गंगा नदी का व्यास सवा छह योजन प्रमाण है। जिस तट से गंगा नदी नीचे गिरती है उस तट पर मणिनिर्मित दो कोश लम्बी व ऊँची प्रणाली है। उस प्रणाली के मुख कान जीभ और नेत्र के आकार तो सिंह के समान हैं तथा भौंह मस्तक आदि का आकार गौ के समान है इसलिए मुख्यरूप से प्रणाली को वृषभाकार कहते हैं। उससे गंगा

नदी हिमवान पर्वत से पच्चीस योजन आगे दूर पर काहला के आकार होकर (क्रमश चौडाई बढती हुई) दशयोजन का चौडाई को लिये हुए भरत क्षेत्र में हिमवान पर्वत के मूल में दस योजन गहरे और साठ योजन चौडे गोल कुण्ड में गिरी है।

उस कुण्ड के बीच में जल से ऊपर आधा योजन ऊचा और आठ योजन चौडा गोल द्वीप है। इस द्वीप के मध्य में वज्रमय दशयोजन ऊचा एक पर्वत है। उसका व्यास (चौडाई) पृथ्वी पर चार योजन मध्य में दो योजन और अग्रभाग में एक योजन प्रमाण है। उस पर्वत पर श्री देवी का मन्दिर है। जो नीचे तीन हजार धनुष मध्य में दो हजार धनुष और ऊपर में एक हजार धनुष प्रमाण चौडा है और दो हजार धनुष ऊचा है। उसका अभ्यन्तर का व्यास सात सौ पचास धनुष प्रमाण है। उस मन्दिर के द्वार की चौडाई चालीस धनुष और ऊचाई अस्सी धनुष है। उस द्वार के वज्रमय दो कपाट हैं।

उक्त मन्दिर के मस्तक पर एक पार्थिव कमल है। उसकी कर्णिका पर सिंहासन है। उस पर जटा सहित जिनबिम्ब है। उस का अभिषेक करने के लिए ही मानो इसके मस्तक पर गंगा का अवतरण हुआ है। अर्थात जिनबिम्ब के मस्तक पर गंगा नदी गिरती है।

कुंड से निकल के गंगा नदी सीधी दक्षिण दिशा में जाकर विजयार्ध पर्वत की खंडप्रपात नामा गुफा में प्रवेश करती है। वहाँ यह आठ योजन चौडी होकर के और गुफा के उत्तर द्वार से बाहर निकली है। उक्त गुफा के पूर्व पश्चिम दिशा की दीवार के निकट दो कुण्ड हैं उनसे दो योजन चौडी उन्मग्नजला और निमग्नजला नाम की दो नदियाँ निकली हैं और दोनों सीधी चलकर गंगा नदी में जा मिली हैं। गुफा का व गुफा के द्वार की ऊचाई तो आठ आठ योजन की है चौडाई बारह योजन की है और लम्बाई पचास योजन (विजयार्ध समान) है।

उक्त गुफा से निकल कर गंगा नदी दक्षिण भरत के अर्धभाग पर्यन्त सीधी दक्षिण की तरफ गई है और वहाँ से मुडकर पूर्व दिशा की ओर बहकर मागध नामक द्वार से होकर लवण समुद्र में मिली है।

सिन्धु नदी का निकास और गमनादि

गंगा का जिस प्रकार वर्णन किया है उसी के समान सिन्धु नदी का वर्णन समझना चाहिए। केवल इतना अन्तर है कि सिन्धु नदी पद्मद्रह के पश्चिम द्वार से निकल कर पश्चिम की ओर बहकर सिन्धुकूट के पहले मुडकर पर्वत के निकट आकर कुंड में गिरी है। वहाँ से निकल कर विजयार्ध पर्वत की तमिस्रा नामक गुफा में प्रवेशकर वहाँ से निकल जम्बूद्वीप के कोट के प्रभास नामक द्वार से पश्चिम समुद्र में मिलता है।

शेष नदियों का वर्णन

रोहित नदी महापद्महद के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी महाहिमवान् पर्वत के तट पर्यन्त सोलह सौ पाँच योजन उन्नीसवें भाग तक जाकर हैमवत क्षेत्र के कुंड में पड़ी है। वहाँ से निकलकर सीधी नाभिगिरि के आधे योजन पहले से मुड़कर पूर्व दिशा के सम्मुख होकर पूर्व समुद्र में गिरी है। रोहितास्या नदी पद्महद के उत्तर द्वार से निकलकर सीधी हिमवान् के तट तक दोसौ छहत्तर योजन और छह उन्नीसवें भाग (२७६-६ १९) तक आकर हैमवत क्षेत्र में कुंड में पड़ी है। और वहाँ से निकल कर सीधी नाभिगिरी के निकट आधे योजन की दूरी से मुड़कर पश्चिम की ओर बहती हुई पश्चिम समुद्र में प्रवेश करती है। हरित नदी तिगिञ्छहद के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी निषध पर्वत के तट तक चवहत्तर सौ इकीस योजन एक उन्नीसवें भाग तक जाकर हरि क्षेत्र के कुण्ड में गिरी है। वहाँ से निकल पूर्व की भाँति नाभिगिरी के समीपतक जाकर वहाँ से मुड़कर पूर्व दिशा की ओर बहकर पूर्व समुद्र में जामिली है। हरिकान्ता नदी महापद्म हद के उत्तर द्वार से निकल सीधी महाहिमवान् के तटतक सोलह सौ पाचयोजन और पाँच उन्नीसवें भाग (१६ ५-५/१९) पर्यन्त जाकर हरिक्षेत्र के कुण्ड में गिरी है वहाँ से निकल कर सीधी पूर्ववत् नाभिगिरि के निकट जाकर और वहां से पश्चिम दिशा की ओर बहती हुई पश्चिम समुद्र में प्रवेशकर गई है। सीता नदी केसरी हद के दक्षिण द्वार से निकलकर सीधी नील पर्वत के तट पर्यन्त चौहत्तर सौ इकीस योजन और एक के उन्नीसवें भाग तक जाकर विदेह क्षेत्र के कुंड में गिरी है। और वहाँ से निकल कर सीधी मेरु गिरि के निकट तक जाकर उससे आधे योजन की दूरी से मुड़कर पूर्वदिशा के सम्मुख होकर बहती हुई पूर्व समुद्र में जाकर मिली है। सीतोदा नदी तिगिञ्छ हद के उत्तरद्वार से निकल कर सीधी निषधाचल के तट पर्यन्त चवहत्तर सौ इक्कीस योजन और एक के उन्नीसवें भाग तक जाकर विदेह क्षेत्र के कुंड में गिरी है। और वहाँ से निकल कर सीधा पूर्ववत मेरुगिरि के निकट तक जाकर और उससे आधे योजन दूर से मुड़कर पश्चिम की ओर बहकर पश्चिम समुद्र में मिली है। नारी नदी महापुंडरीक हद के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी रुक्मी पर्वत के तट तक सोलह सौ पचास योजन पाँच उन्नीसवें भाग (१६ ५-५ १९) पर्यन्त जाकर रम्यक क्षेत्र के कुंड में गिरी है और वहाँ से निकल कर सीधी नाभिगिरि के निकट उरली तरफ से मुड़कर पूर्व की ओर बहती हुई पूर्व समुद्र में प्रवेश कर गई है। नरकान्ता नदी केसरीहद के उत्तर द्वार से निकल सीधी नील पर्वत के तट तक चवहत्तर सौ इक्कीस योजन और एक के उन्नीसवें भाग पर्यन्त जाकर रम्यक क्षेत्र के कुण्ड में गिरी है। और वहाँ से निकल सीधी नाभिगिरि के निकट उरली तरफ से मुड़कर पश्चिम दिशा की तरफ बहती हुई पश्चिम में जामिली है। स्वर्णकूला नदी पुण्डरीक हद के दक्षिण द्वार से निकल सीधा शिखर पर्वत के तट तक दोसौ छिहत्तर योजन छह उन्नीसवें भाग (२७६-६ १९) पर्यन्त जाकर हैरण्यवत क्षेत्र के कुंड में गिरी है। और वहाँ से निकल सीधी नाभिगिरि के उरली ओर तक जाकर और वहाँ से पर्वत के सम्मुख मुड़कर बहती हुई पूर्व समुद्र में प्रवेश कर गई है। रूप्यकूला नदी महापुण्डरीकहद के उत्तर द्वार से निकलकर रुक्मी पर्वत के तट तक सोलहसौ पाँच योजन एवं उन्नीसवें भाग पर्यन्त जाकर हैरण्यवत क्षेत्र के कुंड में गिरी है। तथा वहां से निकल सीधी नाभिगिरि के निकट जाकर उसके उरली तरफ से मुड़कर

पश्चिम दिशा में बहती हुई पश्चिम समुद्र में मिली । यहाँ पर्वत से ऊपर नदी के गमन करने का प्रमाण जम्बूद्वीप की अपेक्षा से कहा है। अन्यत्र घातकीखण्ड व पुष्करार्ध में उनकी अपेक्षा से यथासंभव प्रमाण जानना चाहिए।

गंगा तथा सिन्धु का जैसा वर्णन कर आये हैं वैसा ही वर्णन रक्ता व रक्तोदा का भी समझना चाहिए। केवल इतना विशेष है कि यहाँ पुण्डरीक ह्रद और शिखरी पर्वत समझना। प्रणाली आदि का सब वर्णन समान जानना। शेष नदियों प्रणाली कुंडादि के व्यासादि का प्रमाण भरत ऐरावत सम्बन्धी नदियों से अनुक्रम से विदेह सम्बन्धी नदियों तक दूना दूना समझना।

नदियों का विस्तार

गंगा सिन्धु और रक्ता रक्तोदा इनकी चौड़ाई का प्रमाण ह्रद से निकलते समय सवाछह योजन है और समुद्र में प्रवेश करते समय दशगुना होगया है। अन्य सब विदेह पर्यंत नदियों का क्रम से दूना दूना प्रमाण होता चलागया है। जैसे गंगा नदी का समुद्र में प्रवेश करते समय विस्तार (चौड़ाई) साढ़े बासठ योजन है। समस्त नदियों की गहराई अपने २ चौड़ाई के प्रमाण से पचासवें भाग है। जैसे गंगा नदी का गहराई आध कोश प्रमाण है इसी प्रकार अन्य नदियों का समझना चाहिए।

नदियों के निकलने के द्वार समुद्र में प्रवेश करने के जम्बूद्वीपादि के कोट के द्वार कुंड से निकलने के द्वार तथा अन्यत्र इन पर तोरण और उनपर जिनबिम्ब सहित दिक्कुमारियों के मन्दिर (प्रासाद) हैं।

उन तोरणों का विस्तार (चौड़ाई) अपनी नदियों के विस्तार प्रमाण है। तथा व्यास से ड्योढ़ी ऊँचाई है। जैसे गंगानदी के निर्गम द्वार के तोरण की चौड़ाई का प्रमाण सवाछह योजन और ऊँचाई का प्रमाण नवयोजन तथा तीन के आठवें भाग प्रमाण है और सर्वत्र तोरण का अवगाह (भूमि में गहराई-नींव) आध योजन प्रमाण है।

गंगा और सिन्धु दोनों नदियाँ चौदह चौदह हजार नदियों के परिवारवाली हैं। इनके आगे की नदियाँ प्रतिक्षेत्र में अनुक्रम से विदेह क्षेत्र पर्यन्त दूनी दूनी होती चली गई हैं। विदेह क्षेत्र के उत्तर में प्रतिक्षेत्र में आधी आधी हीन होती गई हैं।

भरतादि क्षेत्रों का विस्तार

जम्बूद्वीप के एकसौ नव्वे भाग प्रमाण अर्थात् पाँचसौ छब्बीस योजन और छह के उन्नीसवें भाग प्रमाण भरत क्षेत्र के विस्तार का प्रमाण है। क्रमसे इससे दुगुने दुगुने पर्वत क्षेत्रादि विदेह पर्यन्त हैं।

भावार्थ—भरत क्षेत्र से दूना हिमवान् पर्वत हिमवान् से दूना हैमवत क्षेत्र उससे दूना महाहिमवान् पर्वत, महाहिमवान् से दूना हरिक्षेत्र हरिक्षेत्र से दूना निषध पर्वत, तथा निषध से दूना विदेह क्षेत्र है। विदेह क्षेत्र के विस्तार (चोडाई) का प्रमाण तेतीस हजार छहसौ चौरासी योजन और एक योजन की उन्नीस कला में से चार कला प्रमाण है। इसके बीच में सीता व सीतोदा नदी का प्रवाह है। इसलिए विदेह की चौडाई में से नदी की चौडाई को घटाने पर शेष का जो आधा प्रमाण रहता है वही बत्तीस विदेह क्षेत्र, सोलह वक्षार गिरी, बारह विभंगा नदी देवारण्यादि वन इनकी लम्बाई प्रमाण है। विदेह का विष्कम्भ (चोडाई) प्रमाण ३३६८४-४/१९ में से पाँचसौ योजन नदी का व्यास घटाने पर ३३१८४-४/१९ योजन रहे। इस का आधा करने पर सोलह हजार पाचसो बानवें योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग प्रमाण लम्बाई का प्रमाण होता है।

विदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित मेरु का स्वरूप

मेरु पर्वत गोलाकार है और वह विदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित है। उसकी ऊंचाई निन्न्यानवे हजार योजन प्रमाण है। मूलमें भूमिपर दशहजार योजन चौडा और ऊपर एक हजार योजन चौडा है। और उसकी ऊपर ऊपर कटनियाँ हैं उन पर चार वन सुशोभित हैं।

भूमि पर भद्रशालवन है जो मेरु के मूल में भूमि पर चारों तरफ है। उससे पाचसो योजन ऊपर जाकर एक कटनी मेरु के चहुँ ओर है उस पर नन्दनवन है। वहाँ से साढे बासठ हजार योजन ऊपर जाकर कटनी है और उसपर सौमनसवन है। वहाँ से छत्तीस हजार योजन ऊपर जाकर एक कटनी है और उस पर पाण्डुक वन है। इनमें मन्दार आम्र चम्पा चन्दन घनसार कदली नारियल सुपारी इत्यादि के सुन्दर वृक्ष सुशोभित हैं। इन में व अत्यन्त रमणीय होरहे हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु की ऊंचाई आदि का वर्णन किया।

अन्य चार मेरु पर्वत

धातकीखण्ड और पुष्करार्ध सम्बन्धी विजय अचल मन्दर और विद्युन्माली इन चारों मेरु पर्वतों के पृथ्वी पर भद्रशाल वन हैं। वहाँ से पाचसौ योजन ऊपर जाकर नन्दनवन है। वहाँ से पचपन हजार पाचसौ योजन ऊपर सौमनसवन है। तथा वहाँ से अठाईस हजार योजन ऊपर जाकर पाण्डुकवन है। इस प्रकार ये चारों मेरु चौरासी हजार योजन ऊँचे हैं। उक्त पाँचों मेरु की नींव एक हजार योजन प्रमाण है

प्रत्येक मेरु के प्रत्येक वन की प्रत्येक दिशा में एक एक चैत्यालय है। इस तरह एक एक मेरु के प्रति सोलह चैत्यालय सुशोभित हैं। इन चैत्यालयों का वर्णन नंदीश्वरद्वीप का वर्णन करते समय करेंगे।

सुदर्शन मेरु के चारों गजदन्तों के मध्य चारों दिशाओं में भद्रशाल वन है जो पूर्व पश्चिम दिशा में तो बाइस हजार योजन चौडा है और दक्षिण उत्तर में ढाईसौ योजन चौडा है। भद्रशालादि वन के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों पार्श्व में वेदी है। जैसे बाग के चारों ओर कगुरे रहित दीवार होती है वैसी ही वेदी है। वह वेदी एक योजन ऊँची आधे योजन चौडी और पाव योजन नींव में है और सुवर्ण मय है। तथा बडे घंट और छोटी २ घण्टिकाओं से अलंकृत सुन्दर २ तोरणों से सयुक्त बहुत द्वार वाली है।

सुमेरु पर्वत की चौडाई का क्रम

मेरु की भूमि तल से लेकर नन्दनवन तक क्रमश चौडाई घटती गई है। वहाँ पर सर्वत्र चारों तरफ पाँचसौ योजन चौडी कटनी छूटी है उस में नन्दनवन है। यहाँ दोनों तरफ की कटनी का एक हजार योजन प्रमाण मेरु की चौडाई घटी है इसलिए ग्यारह हजार योजन की ऊंचाई तक मेरु समान चौडा चलागया है। वहा तक चौडाई में कमी नहीं हुई है। उसके बाद पुन क्रमशः घटता हुआ चलागया है। इसका गणित त्रैलोक्यसार ग्रन्थ से जानना।

मेरु नीचे से लेकर एकसठ हजार योजन की ऊंचाई पर्यन्त तो अनेक वर्णवाले नाना प्रकार के रत्नो से सुशोभित है और उसके ऊपर केवल सुवर्ण सदृशवर्ण से युक्त है।

नन्दनवन सोमनसवन और पाण्डुकवन इन तीनों में चार चार भवन हैं उनके अधिपति सौधर्म इन्द्र के सोम यम वरुण और कुबेर नामक चार लोकपाल हैं। ये पूर्वादि दिशा में रहते हैं और प्रत्येक लोकपाल के साढे तीन करोड साढे तीन करोड गिरिकन्या (व्यन्तरी) देवागनाएं पाई जाती हैं। इनमें से सोम और यम की आयु ढाई पल्य प्रमाण है तथा वरुण और कुबेर की आयु कुछ कम तीनपल्य प्रमाण है। सोमका लालवर्ण यम का श्यामवर्ण वरुण का कांचनवर्ण और कुबेर का श्वेतवर्ण है। और ये अनेक प्रकार के आभूषणों से भूषित रहते हैं। इन लोकपालों के स्वर्ग में निवास करने के विमान हैं और यहाँ मेरु के ऊपर भी उनके भवन पाये जाते हैं।

नन्दन वन के उक्त चारों भवनों के दोनों पार्श्वों में दो दो कूट बने हैं। सब कूट आठ हैं। प्रत्येक दिशा व विदिशा में चार चार सुन्दर वापिकाएं हैं जो मणिमय तोरण और रत्नमय सोपान (सीढियों) से सुशोभित हैं। तथा हंस मयूर आदि यंत्रों से युक्त हैं। ये पचास योजन लम्बी पच्चीस योजन चौडी और दश योजन गहरी हैं। इनके मध्य में सौधर्म और ऐशान के प्रासाद बने हुए हैं। स्वर्ग में सुधर्मा सभा में जैसे इन्द्र अपने परिवार सहित बैठता है वैसे ही यहाँ पर जब आता है तब यहाँ भी सभा लगाकर बैठता है।

मेरु पर स्थित शिलाओं का वर्णन

मेरु पर पाण्डुक वन में ईशानादिशा से लेकर चारों विदिशाओं में क्रम से १ सुवर्ण समान वर्णवाली पाण्डुकशिला, २ रूप्य (चाँदी) समान वर्णवाली पाण्डुकम्बला शिला ३ तपे हुए सुवर्ण समान वर्णवाली रक्ता शिला और ४ लोहित वर्णवाली रक्तकम्बला शिला ये चार शिलायें हैं।

ये पाण्डुकादि शिला क्रम से भरतक्षेत्र पश्चिमविदेह ऐरावत और पूर्वविदेह क्षेत्र में उत्पन्न हुए तीर्थकरों के जन्माभिषेक से सम्बन्ध रखती हैं। भरत क्षेत्र के तीर्थंकरों का पाण्डुकशिला पर पश्चिमविदेह के तीर्थकरों का पाण्डुकम्बला पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थकरों का रक्ताशिला पर और पूर्वविदेह क्षेत्र के तीर्थकरों का रक्तकम्बला पर जन्माभिषेक किया जाता है। ये शिलायें क्रम से पूर्व पश्चिम दक्षिण और उत्तर दिशा तक लम्बी हैं। ये सब अर्धचन्द्राकार हैं। सौ योजन लम्बी हैं। बीच में पचास योजन चौड़ी व आठ योजन मोटी हैं। इन शिलाओं के ऊपर तीन तीन गोल सिंहासन हैं—बीच में श्रीमद्‌ वाधिदेव जिनेन्द्रदेव का सिंहासन है उसकी दक्षिण दिशा में सौधर्म इन्द्र का भद्रासन है और उत्तर दिशा में ऐशान इन्द्र का भद्रासन है। उन आसनों की ऊंचाई पाँचसौ धनुष नीचे चौड़ाई पाँचसौ धनुष ऊपर चौड़ाई ढाईसौ धनुष प्रमाण है। और वे आसन पूर्व दिशा के सम्मुख हैं।

पाण्डुकवन के मध्य मेरु की चूलिका है जो वैडूर्यमणिमयी है। उसकी ऊँचाई चालीस योजन है। नीचे चौड़ाई बारह योजन और ऊपर चौड़ाई चार योजन प्रमाण है।

पर्वत वापिका कूट पाण्डुकादि शिला ये सब नाना प्रकार की मणियों से निर्मित वन वेदी और तोरण से संयुक्त हैं अर्थात् पर्वतादिक के चहु ओर वन हैं उनके वेदिका है और वेदी के तोरण से अलङ्कृत द्वार पाये जाते हैं।

जम्बूवृक्ष का वर्णन

मेरु के उत्तर (नील पर्वत के पास दक्षिण की ओर जाती हुई सीता नदी के पूर्व तट व मेरु पर्वत से ईशान विदिशा में) में उत्तर कुरुनाम की भोग भूमि है उसमें जम्बू वृक्ष की स्थली है। जैसे यहां वृक्ष के थावला होता है वैसे ही जम्बूवृक्ष के चारों ओर गोलाकार स्थली समझना। यह मूल में पाँचसौ योजन चौड़ी है अन्त में दो कोश प्रमाण मोटी है। मध्य में आठ योजन ऊंची है गोलाकार और सुवर्णमयी है। उस स्थली के बीच में एक पीठ है। उसकी ऊंचाई आठ योजन है। चौड़ाई बारह योजन और ऊपर चार योजन है। उसस्थली के ऊपर के भाग में बाहर की ओर चक्कर सुवर्ण के वलय समान आधे योजन ऊंची एक योजन के सोलहवें भाग प्रमाण चौड़ी नानारत्नों से व्याप्त

बारह अम्बुजवेदिका हैं। अर्थात् स्थली के ऊपर पहला वेदी को बेढ़े हुए दूसरी वेदी है और दूसरी को बेढ़े हुए तीसरी है और तीसरी को बेढ़े हुए चौथी। इस प्रकार एक दूसरी को वेष्टित किये हुए बारह वेदियाँ हैं। बारह वेदियाँ चार चार द्वारों से संयुक्त हैं। बाह्य और आभ्यन्तर वेदी के बीच में अन्तराल है। अतः बारह वेदियों के बीच में ग्यारह अन्तराल समझने। उनमें से चौथे अन्तराल मे एक मूल जम्बू वृक्ष है और चार जम्बू वृक्ष अन्य हैं। तथा अन्य अन्तरालों मे यथा संभव जम्बू वृक्ष हैं। सब मिलकर एक लाख चालीस हजार एकसौ बीस जम्बू वृक्ष हैं।

भावार्थ—उत्तरकुरु क्षेत्र के मध्य जम्बूवृक्ष की स्थली (ग्रह्वला) है जो तलभाग में पांचसौ योजन लम्बी चौडी है, जिसकी परिधि गोलाई चौडाई से कुछ अधिक तिगुनी है और क्रमश बाहरकी तरफ से घटती २ मध्य में बारह योजन मोटी और अन्त में दो कोश मोटी है और वह एक सुवर्ण की पद्मवर वेदी से वेष्टित है उसके मध्य भाग में नानारत्नों से निर्मापित एक पीठ (पीढ़ा चौकी) है जो आठ योजन लम्बा और चार योजन चौडा और चार योजन ही लम्बा है। उसको चारों ओर से बारह पद्मवेदिएँ बेढे हुए है। वह वेदिका गम्भरी को वेढेहुए है। मुख्य पीठ के ऊपर एक दूसरा मणिमय उपपीठ है जो एकयोजन लम्बा चौड़ा और दोकोश ऊँचा है। उस उपपीठ के मध्यभाग में सुदर्शन नाम का जम्बूवृक्ष है।

जिसकी जड आधे योजन भूमि में है पीठ की भूमि से ऊपर उसका स्कन्ध दो योजन ऊँचा है और वह मरकतमणि निर्मित है उस स्कन्ध के ऊपर वज्रमय आठ २ योजन लम्बी और आध २ योजन चौडी चार शाखाएँ (डालियाँ) हैं। अनेक प्रकार के रत्नों से निर्मित उसके उपशाखाएं (छोटी २ डालियाँ) हैं। प्रवाल (मूगे) के समान वर्ण वाले उसके फूल हैं। तथा मृदंग के समान उसके फल पाये जाते हैं। यह जम्बू वृक्ष पृथ्वीकाय है वनस्पतिकाय नहीं है। जामुन के वृक्ष का सा आकार है। इसलिए इसे जम्बू वृक्ष कहते हैं। यह जम्बू वृक्ष दश योजन ऊंचा है मध्य में छह योजन और ऊपर में चार योजन चौडा है। यह मण्डलाकार है।

इस सुदर्शन नामक मूल वृक्ष की उत्तर दिशा वाली (नील पर्वत की ओर) शाखा पर श्री जिनचैत्यालय है। और बाकी तीन शाखाओं पर आदर व अनादर यक्षों (व्यन्तर देवों) के भवन हैं। इस मूल वृक्ष के अतिरिक्त जितने परिवार वृक्ष हैं उनपर आदर व अनादर के परिवार देवों के आवास स्थान हैं।

मेरु पर्वत के दक्षिण में देवकुरु नाम की भोग भूमि है उसमें मनोज्ञ रजतमय शाल्मली वृक्षों की स्थली है। उसमे शाल्मली वृक्ष सपरिवार अवस्थित हैं। इसका समस्त वर्णन जम्बूवृक्ष के समान समझना चाहिए। इतना विशेष है कि इसके दक्षिण दिशा की शाखा पर जिनचैत्यालय है। शेष तीन शाखाओं पर गरुड कुमार के स्वामी वेणु और वेणुधारी देव के मन्दिर (भवन) हैं। और शाल्मली के परिवार वृक्षों पर इन्हीं देवों के परिवार देवों के आवास स्थान हैं।

विदेह क्षेत्र

मेरु पर्वत के पूर्व दिशा और पश्चिम दिशा में विदेह क्षेत्र है। पूर्व दिशा के विदेह क्षेत्र को पूर्व विदेह और पश्चिम दिशा के विदेह क्षेत्र को पश्चिम विदेह कहते हैं। पूर्व विदेह क्षेत्र के मध्य भाग में सीता नदी और पश्चिम विदेह क्षेत्र के मध्य भाग में सीतोदा नदी बहती है। इस प्रकार इन दोनों नदियों के दक्षिण उत्तर तट से चार विभाग हो गये हैं। एक एक विभाग में आठ आठ विदेह देश हैं। क्योंकि पूर्व और पश्चिम में भद्रशाल की वेदी है। उसके आगे वक्षार पर्वत है उसके आगे विभङ्गा नदी—इस प्रकार चार वक्षार पर्वत और तीन विभङ्गा नदी हैं और अन्त में देवारण्य व भूतारण्य की वेदिका है। इस तरह भद्रशाल की वेदी चार वक्षार तीन विभङ्गा नदी एक भूतारण्य या देवारण्य की वेदी—ये नव हुए। इन नवों के बीच आठ देश एक विभाग के हुए। इसी प्रकार अन्य तीन विभागों में भी आठ आठ देश हैं। चारों विभागों को मिलकर विदेह में बत्तीस देश होते हैं।

विदेह क्षेत्र में सात प्रकार के काल वर्ण के मेघ हैं और बारह प्रकार के श्वेत वर्ण के द्रोण नामक मेघ हैं। ऐसे ये उन्नीस प्रकार के मेघ वर्षाकाल में सात सात दिन तक वर्षा करते हैं। अर्थात् वहां पर वर्षाकाल में एक सौ तेतीस दिन तक वृष्टि होती है।

विदेह में दुर्भिक्ष नहीं होता। १ अतिवृष्टि २ अनावृष्टि ३ मूषक ४ टिड्डी ५ सूवा ६ स्वराष्ट्र और ७ परराष्ट्र इस प्रकार की ईति नहीं होती है। महामारी आदि प्राणि-समूह के नाशक रोग भी वहां नहीं होते। जिनेन्द्र देव के सिवा अन्य देव कुदेव और जिन लिङ्ग के सिवा अन्य लिंगी (कुलिंगी) और जिनोक्त मत के अतिरिक्त अन्य मत (कुमत) वहाँ नहीं होता है। तथा वह देश सर्वज्ञ केवली तीर्थंकरादि शलाका पुरुष और ऋद्धि धारक मुनियों के विहार से पवित्र रहते हैं।

विदेह के बत्तीस देशों में से प्रत्येक देश में तीर्थंकर चक्रवर्ती अर्धचक्री नारायण और प्रतिनारायण एक एक ही तब उत्कृष्ट रूपसे पांच मेरु सम्बन्धी विदेह देशों में एकसौ साठ होते हैं। और जघन्य रूप से सीता व सीतोदा नदी के दक्षिण और उत्तर तट में एक एक होते हैं। इस तरह एक मेरु की अपेक्षा चार और पाँच मेरु पर्वतों की अपेक्षा बीस होते हैं। अर्थात् बीस तीर्थंकर बीस चक्री आदि तो सदा बने रहते हैं। तथा उत्कृष्ट रूप में पाँच भरत और पांच ऐरावत क्षेत्र के दश और एकसौ साठ विदेह देश के मिलाकर कुल एकसौ सत्तर तीर्थंकरादि होते हैं।

विदेह क्षेत्र सम्बन्धी बत्तीस देशों के मध्य पूर्व पश्चिम तक लम्बा विजयार्द्ध पर्वत है। चक्रवर्ती द्वारा विजय योग्य देश को अर्ध (आधे) करने वाले पर्वत को यहाँ विजयार्द्ध नाम से कहा है। भरत क्षेत्र में जैसे गंगा सिन्धु और ऐरावत क्षेत्र में जैसे रक्ता रक्तोदा नदियाँ

विजयार्ध की गुफा म से होकर निकला ह बस ही प्र यक दश क दक्षिण विभाग मे गंगा सिन्धु और उत्तर विभाग मे रक्ता रक्तोदा नदी हैं। इस प्रकार प्रत्येक विदेह देश के छह खंड हो गये ।

विजयार्ध शैल रजत (चाँदी) मय ह। उस का ऊचा पच्चीस योजन प्रमाण है। भूमितल से लेकर दश योजन की ऊँचाई तक उसकी चौडाई बराबर पचास योजन की है। व ा पर दश दश योजन की उत्तर व दक्षिण मे दो कटनियाँ छूटी हैं। अत मध्य में तीस योजन की चौडाई रह गई है और उतनी चौडाइ समान रूप म दश योजन की ऊचाई तक चली गई है। तथा वहाँ पर दश-दश योजन की उत्तर दक्षिण मे दो कटनियाँ और छू ी हैं इसलिए म य भाग म उसकी चौडाइ दश योजन प्रमाण रह गई है और उतनी चौडाई पाँच योजन तक बराबर चली गई है। जो प्रथम कटनी उत्तर दक्षिण म छूटी है उस पर दो विद्याधर श्रेणियाँ हैं —उत्तर श्रेणी व दक्षिण श्रेणी। इन दोनो श्र णिया म विद्याधरों क पचपन पचपन नगर है। जम्बूद्वीप क दोनो छोर पर जो भरत तथा ऐरावत क्षेत्र हैं उनके विजयार्ध सम्बन्धी दक्षिण श्रणी तथा उत्तर श्रणी मे क्रमस पचास व साठ नगर हैं।

विजयार्ध की दूसरी कटनी (श्रणी) पर सौधम सम्बन्धी आभियोग्य जाति के देवों के मणि-निर्मित विचित्र नगर हैं और ा जयार्ध क शिखर पर सिद्धायतनादि नवकूट हैं। इनम जो पूर्ण भद्रनामक कूट है उसपर विजयार्धकुमारपति देव का निवास है।

विजयार्ध पवत पर उत्तर व दक्षिण दोनो श्रेणियो म एक सौ दश रत्नमय नगर हैं। उनमे (१) साधित (२) कुल और (३) जाति न तीन विद्याओं से युक्त विद्याधर निवास करते हैं। जिसको स्वय साधना करत हैं उस विद्या को साधित विद्या कहते हैं। जो पितृ कुल क्रम से चली आई है उस कुल विद्या कहते ह और जो मातृपक्ष (जाति) में चली आइ हैं उसे जाति विद्या कहते हैं। विद्याधर इज्या वार्ता दत्ति स्वाध्याय सयम और तप न षट्कम का आचरण करन वाले होते हैं। पूज्यपुरुषों की पूजा करने को इज्या कहते हैं। असिमषि कृषि आदि छह जीवन क उपायो को वार्ता कहते हैं। दान दन को दत्ति शास्त्रों क पठन पाठनादि को स्वाध्याय अविरति के त्याग करने को संयम और अनशनादि को तपश्चरण कहते हैं। व विद्या की साधना विशेष करते हैं इसलिए उन्हें विद्याधर कहते हैं। उनकी अन्य सब क्रियाएँ भरतादि क मनुष्यवत हैं।

वृषभाचल पर्वतो का वणन

विजयार्ध पवत क द्वारा किये गये छह खंडो मे कुलाचल विजयार्ध और दोनों नदियों के मध्य वर्ती म्लेच्छ खण्ड के बहुमध्य भाग मे एक एक देश मे एक एक वृषभाचल है। अथात विजयार्ध और दो दो नदियों के द्वारा प्रत्येक विदेह देश के छह छह खण्ड हुए। हैं। उन में पाच म्लेच्छ खण्ड हैं और एक आर्य खण्ड है। पाँच म्लेच्छ खण्डो में से उत्तर के दो नदियों के मध्य वर्ती खण्ड में वृषभाचल है

वह प्रत्येक देश में एक एक है। इस प्रकार पाँच मेरु सम्बन्धी पाँच विदेहों में एकसौसाठ और पाँच भरत और पाच ऐरावत सम्बन्धी दश ऐसे सब मिलाकर एकसौ सत्तर वृषभाचल हैं। वे सब सुवर्ण वर्ण के हैं और मणिमय हैं। सब सौ योजन ऊचे मूल में सौ योजन चौड़े और ऊपर पचास योजन चौडे हैं। उन पर भूतकाल सम्बन्धी चक्रवर्तियों के नाम हैं। जितने चक्रवर्ती उस उस क्षेत्र के होते हैं वे सब अपना नाम उस पर अङ्कित करदेते हैं।

राजधानियों का वर्णन

उपसमुद्र (खाड़ी) के निकट आर्यखण्ड (दक्षिण भाग में) है। उसमें क्षेमा क्षेमपुरी आदि नाम की एक एक राजधानी नगरी है। उसमें चक्रवर्ती निवास करता है। वह बारह योजन लम्बी और नव योजन चौड़ी है। अढाई द्वीप सम्बन्धी सब मिलकर एकसौ सत्तर राजधानियाँ हैं। उनके द्वारों पर रत्नमय कपाट हैं। प्रत्येक नगरी के एक एक हजार बड़े द्वार और पाँचसौ २ छोटे द्वार हैं। स्वर्णमय कोट हैं। नगर के अन्दर बारह हजार वीथियाँ (गलियाँ) हैं और एक एक हजार चौराहे बाजार हैं। नगर के बाहर तीनसौ साठ बाग-बगीचे हैं। नगर के मध्य श्री मज्जिनेन्द्रदेव के मन्दिर हैं और चक्रवर्ती के महल व अन्य समृद्ध जनों के प्रासाद हैं। वे सब रत्नमय सुशोभित हो रहे हैं।

नाभिगिरि का वर्णन

स्थिर भोगभूमि हैमवत हरि रम्यक और हैरण्यवत हैं। उनके मध्य में गोलाकार नाभिगिरि हैं। वे एक-एक हजार योजन ऊँचे और उतने ही नीचे से लेकर ऊपर तक चौड़े हैं। खड़े किये गये ढोल के समान उनका आकार है। इस प्रकार पाँच मेरु सम्बन्धी कुल बीस नाभिगिरि हैं। वे स्वर्णमय हैं और उनके शिखर पर सौधर्म और ऐशान इन्द्र के अनुचर देव निवास करते हैं।

कूटों का वर्णन

हिमवान् कुलाचल पर ग्यारह महाहिमवान् के ऊपर आठ निषध पर नव नील पर नव रुक्मी पर आठ शिखरी पर ग्यारह तथा विजयार्ध पर नव नव कूट हैं। वे सब नीचे से अधिक चौड़े और ऊपर क्रमशः थोड़े थोड़े चौडे हैं। इनमें से जो पूर्व दिशा में कूट है उन पर जिन मन्दिर हैं और शेष कूटों पर देव और देवियां निवास करती हैं। ये गोल और रत्नमय हैं और अपने २ पर्वत की ऊचाई के चौथे भाग प्रमाण ऊँचे हैं। उनकी भूमिपर चौड़ाई ऊचाई के समान है और ऊपर में चौड़ाई नीचे से आधी रहगई है। सम्पूर्ण पर्वतों के मूल में नीचे तथा ऊपर शिखरपर और ह्रदों के चारों ओर वन खंड हैं। उनकी लम्बाई पर्वतों के समान है और चौड़ाई आधे योजन प्रमाण है। उनके चारों तरफ वेदी (कंगुरेरहित कोट) की चौड़ाई पाचसौ धनुष और ऊचाई दो कोश है।

कालचक्र का परिवर्तन

विदेह क्षेत्र में सवदा चतुथकाल की प्रवृत्ति रहता है। हेमवत हरि रम्यक हैरण्यवत उत्तरकुरु और देवकुरु ये भोग भूमियाँ हैं। कवल भरत आर ऐरावत म कालचक्र का परिवत्तन होता है। अन उसक अनुक्रम का प्रतिपादन करते हैं —

उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल आर उनक छह २ भेद

अढाइ द्वीप सम्बन्धी पाच भरत आर पाच ऐरावत क्षेत्रों म उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दो काल चक्र परिवत्तन करते हैं। जिसकाल में जीवों की शरीर की ऊचाइ आयु शरीरबल आदि की क्रम से वृद्धि होती है उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं और जिसमें इनकी क्रम से हानि होती है उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं। इन दोनो के छह २ भेद है। १ सुषमासुषमा २ सुषमा, ३ सुषमादु षमा ४ दु षमासुषमा, ५ दु षमा और ६ दु षमा दु षमा (अति दु षमा) ये अवसर्पिणी काल के भेद हैं। इसके विपरीत क्रम को लिये हुए उत्सर्पिणी काल है। उसमें १ दु षमादु षमा २ दु षमा ३ दु षमासुषमा ४ सुषमादु षमा ५ सुषमा आर ६ सुषमासुषमा ऐसा क्रम होता है।

बीसकोडाकोडी (बीसकोटि कोटि) सागर का एक कल्पकाल होता है। उसम से दशकोटि कोटि सागर का अवसर्पिणी काल और दशकोटि कोटि सागर का एक उत्सर्पिणी काल होता है। इनके जो छह भेद कहे गये हैं उनमें सुषमासुषमा काल चार कोटि कोटि सागर का, सुषमा तीन कोटि कोटि सागर का सुषमा दुःषमा दो कोटि कोटि सागर का दु षमा सुषमा बियालीस हजार वर्ष कम एक कोटि कोटि सागर का तथा दु षमा इक्कीस हजार वष का और दु षमादु षमा भी इक्कीस हजार वर्ष का होता है।

काल की अपेक्षा जीवों की आयु

उन में से सुषमा सुषम नामक प्रथम काल सम्बन्धी जीवों की आयु प्रारम्भ में तीन पल्य की होता है और अन्त मे दो पल्य की होती है। शरीर की ऊचाई प्रारम्भ म छह हजार धनुष की आर अन्त में चार हजार धनुष की होती है। प्रारम्भ म अष्टमभक्ताहार (तीन दिन बीतने पर एक बार भोजन) करने वाले तथा अन्त म षष्ठ भक्ताहार (दो दिन बीतने पर एक बार भोजन) करने वाले होते हैं। और उदय होते हुए सूर्य व सोने के समान वर्णवाले होते हैं।

सुषम नामक द्वितीय काल सम्बन्धी जीवों की आयु आरम्भ में दो पल्य आर अन्त म एक पल्य की होती है। शरीर की ऊँचाई प्रारम्भ म चार हजार धनुष और अन्त में दो हजार धनुष की होती है। तथा प्रारम्भ में षष्ठ भक्ताहार (दो दिन में बीतने पर एक बार

भोजन) करने वाले और अन्त में चतुर्थ भक्ताहार एक दिन बीतने पर एक बार (भोजन) करने वाले होते हैं। चन्द्र व शंख के समान उनका वर्ण होता है।

सुषम दु षम नामक तृतीय काल में जीवों की आयु आदि में एक पल्य की और अन्त में एक पूर्व कोटि की होती है। शरीर की ऊंचाई प्रारंभ में दो हजार धनुष की और अन्त में पाँचसौ धनुष की होती है। प्रारंभ में एक दिन बीतने पर (दूसरे दिन) आहार करते हैं और अन्त में नित्य आहार करने वाले होते हैं। ये जीव हरित नील कमल के समान वर्ण वाले होते हैं।

दु षम सुषम नाम चतुर्थ काल के आदि में पूर्व कोटि की आयु और अन्त में एकसौ बीस वर्ष की होती है। प्रारंभ में नित्य आहार करने वाले और अन्त में दो बार भोजन आदि करने वाले होते हैं। शरीर की ऊंचाई प्रारंभ में पाँचसौ धनुष और अन्त में सात हाथ प्रमाण होती है तथा पाँचों वर्ण के शरीर वाले होते हैं।

दु षम नामक पंचम काल में जीवों की आयु प्रारंभ में एकसौ बीस वर्ष और अन्त में बीस वर्ष की होती है। प्रारंभ में शरीर की ऊंचाई सात हाथ और अन्त में दो हाथ प्रमाण होती है। कान्ति हीन रूखे पाँचोंवर्ण के मिश्रित वर्ण वाले होते हैं।

दु षम दु षम नामक छठे काल के आदि में बीस वर्ष की आयु और अन्त में पन्द्रह वर्ष की आयु होती है। प्रारंभ में दो हाथ प्रमाण शरीर की ऊंचाई होती है और अन्त में एक हाथ रह जाती है। वे जीव धुएं के समान श्याम वर्ण युक्त होते हैं। और वे बारंबार आहार करने वाले होते हैं।

प्रथम काल के जीव बदरी फल (छोटे बेर) बराबर दूसरे काल के जीव अक्षफल बराबर तीसरे काल के जीव आँवले बराबर कल्प वृक्षों से प्राप्त दिव्य आहार करते हैं। वे मन्द कषायी होते हैं और मलमूत्रादि नीहार से रहित होते हैं। अर्थात् उनके मलमूत्रादि नहीं होते हैं।

कल्प वृक्षों के भेद

भोगभूमि में दश प्रकार के कल्प वृक्ष होते हैं। १ तूर्याङ्ग कल्पवृक्ष से सब प्रकार के वादित्र (बाजे) प्राप्त होते हैं। २ पात्रांग से सब प्रकार के पात्र (भाजन–बर्त्तन) मिलते हैं। ३ भूषणांग से अनेक प्रकार के भूषण उपलब्ध होते हैं। ४ पानांग से पीने की सब वस्तुएँ, ५ आहारांग से सब प्रकार के आहार ६ पुष्पांग से सब प्रकार के पुष्प ७ ज्योतिरंग से प्रकाश ८ गृहांग से सब प्रकार के मकान-महल, ९ वस्त्रांग से वस्त्र और १० दीपांग से दीपक प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कल्प वृक्षों के दश भेद हैं।

भोगभूमि का स्वरूप

दर्पण के समान मणिमय भोगभूमि है। वह चार अंगुल प्रमाण ऊँचे उत्तम रस और गंध युक्त कोमल तृणों से सुशोभित है और दुग्ध या इक्षुरस या जल अथवा मधु समान रस या घृत से परिपूर्ण बावडी और द्रह (सरोवर) से व्याप्त है।

जहाँ पर माता के गर्भ से एक साथ स्त्री पुरुष का युगल (जोडा) उत्पन्न होता है। वे युगल बालक जन्म दिन से लेकर सातदिन तक अपना अंगूठा चूसते हैं। फिर सात दिन में भूमि पर रेंगते हैं—पेट के बल चलते हैं। फिर सात दिन में लडखडाते चलने लगते हैं। तदनन्तर सात दिन में स्थिरगति से चलने लगते हैं। उसके बाद सातदिन में कला गुण का ग्रहण करते हैं। पुनः सातदिन में यौवन अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। पश्चात् सातदिन में परस्पर का दर्शन व ग्रहण करते हैं। इस प्रकार उनचास दिनों में परिपूर्णता प्राप्त करलेत हैं।

ये युगल दम्पति होते हैं। इनके वज्रऋषभनाराच संहनन होता है और समचतुरस्रसंस्थान होता है। वे मन्द कषाय वाले होते हैं अतः आर्य नाम के धारक होते हैं। इनको पंचेन्द्रियों के विषयों से अरुचि नहीं होती है। इनकी अनपवर्त्य आयु होती है। अर्थात् इनकी अकाल मृत्यु नहीं होती है। आयु के पूर्ण होने पर पुरुष तो छींक से और स्त्री जंभाई से मृत्यु को प्राप्त होती हैं। इनका मृतक शरीर शरद् काल के मेघ समान विलीन होजाता है। इनके शरीर का अंश मात्र भी पड़ा नहीं रहता। ये मरकर देव पर्याय प्राप्त करते हैं। इनमें जो मिथ्या दृष्टि होते हैं वे तो भवनवासी व्यन्तर या ज्योतिष देव होते हैं और जो सम्यग्दृष्टि होते हैं वे सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जन्म लेते हैं अन्यत्र जन्म नहीं लेते हैं। इस प्रकार प्रथम काल की आदि में उत्कृष्ट भोग भूमि होती है। क्रम से घटते घटते द्वितीय काल के प्रारंभ में मध्यम भोग भूमि होती है। और उसमें भी क्रमशः घटते घटते तृतीय काल के प्रारंभ में जघन्य भोग भूमि होती है। इस प्रकार घटने का क्रम चलते हुए तृतीय काल के अंत में कुलकर उत्पन्न होते हैं और फिर कर्म-भूमि का समय आता है।

कर्म भूमि के प्रवेश का अनुक्रम और कुलकरों की उत्पत्ति

जब तृतीय काल पल्य के आठवें भाग प्रमाण शेष रहजाता है तब कुलकर उत्पन्न होते हैं। वे चौदह होते हैं—१ प्रतिश्रुति, २ सन्मति ३ क्षेमंकर ४ क्षेमंधर ५ सीमंकर ६ सीमंधर ७ विमलवाहन ८ चक्षुष्मान, ९ यशस्वी १० अभिचन्द्र ११ चन्द्राभ १२ मरुदेव, १३ प्रसेनजित और १४ नाभि। इन्हीं चौदहवें नाभि कुलकर के पुत्र प्रथम तीर्थंकर श्री आदिदेव हुए। जो पहले पात्र दान के पुण्य से मनुष्य आयु का बंध करते हैं और पश्चात् क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं वे ही जीव आकर कुलकर होते हैं। वे क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होते हैं। यद्यपि प्रकट रूप से क्षत्रियादि कुल की प्रवृत्ति तब तक नहीं होती तथापि भावी का भूत में उपचार करके इन्हें क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए कहा

जाता है। अथवा भाव में क्षत्रियत्व उनमें विद्यमान था अतः क्षत्रिय कुलोत्पन्न कहा है। इन कुलकरों में से कई तो जातिस्मरण ज्ञानवाले होते हैं और कई को अवधिज्ञान प्राप्त होता है।

प्रथम कुलकर की आयु पल्य के दशवें भाग प्रमाण होती है और आगे आगे के कुलकरों की आयु दश दश गुणी हीन है। अर्थात् प्रथम कुलकर की पल्य के दशवें भाग दूसरे की पल्य के सौवें भाग तीसरे की पल्य के हजारवें भाग से क्रमसे घटते २ अन्तिम कुलकर नाभि महाराज की आयु पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण रह गई है।

एक कुलकर के मरने के पश्चात जितना काल बीतने पर दूसरा कुलकर उत्पन्न होता है उसको कुलकरों का अन्तराल कहते हैं। चौदह कुलकरों के तेरह अन्तराल होते हैं। उनमें से प्रथम अन्तराल पल्य के अस्सीवें भाग प्रमाण है। प्रथम कुलकर की मृत्यु होने के बाद पल्य के अस्सीवें भाग बीतने पर दूसरा कुलकर हुआ है। इसी प्रकार बारह अन्तराल दश दश गुणे भागहार से भाजित पल्य प्रमाण जानने चाहिए।

आदि के पांच कुलकर अपराधियों को हा ऐसा वचन बोलकर दण्ड देते हैं। हा का अर्थ है—हाय यह बुरा किया। उनके बाद के पांच कुलकर हामा बोलकर दण्ड देते हैं। अर्थात्—हाय बुरा किया मत करो। वे अपराधियों को ऐसा कहते हैं। इनके पश्चात् ऋषभदेव सहित पांच कुलकरों ने हामाधिक् का दण्ड विधान नियत किया। इस का अर्थ है—हाय बुरा किया मत करो धिक्कार है तुम्हें।

चक्षुष्मान और यशस्वी के शरीर का वर्ण श्याम था तथा प्रसेनजित और चन्द्राभ कुलकर के शरीर का वर्ण धवल और शेष कुलकरों के वर्ण सुवर्ण समान थे।

कुलकरों का कार्य

ज्योतिरंग जाति के कल्पवृक्षों के मन्द होजाने से सूर्य और चन्द्रमा दिखाई देने लगे। उनको देखकर प्रजा भयभीत हुई। प्रथम कुलकर ने प्रजा को समझा कर उसका भय दूर किया। दूसरे कुलकर ने तारों के दर्शन से उत्पन्न हुए प्रजा के भय को दूर किया। सिंह आदि जन्तुओं में क्रूरता आने लगी। तब तीसरे कुलकर ने उनसे बचने का उपाय बतलाकर जनता को निर्भय किया। सिंहादि प्राणी अति क्रूर स्वभाव वाले होगये तब चौथे कुलकर ने उनको दण्ड देने का उपाय दिखलाकर लोगों को भयरहित किया। कल्पवृक्ष अल्पफल देने लगे तब प्रजा में परस्पर कलह होने लगा। पाँचवें कुलकर ने सीमा बांधकर उनके झगड़े दूर किये। जब कल्पवृक्ष अत्यन्त मन्द होने लगे तब प्रजा में उस मर्यादा में भी झगड़ा होने लगा तो छठे कुलकर ने विशेष चिह्नादि द्वारा सीमा को दृढ करके झगड़ा मिटाया। सातवें कुलकर ने घोड़े आदि की सवारी नियत की। आठवें ने बालक का जन्म होने के पश्चात् भी कुछ कालतक तब उसके माता पिता जीवित रहने लगे और बालक का

मुख देखकर भय करने लगे तब उनके भय का निवारण किया। बालक के उत्पन्न होने के बहुत समय पश्चात् तक जब माता पिता जीवित रहने लगे तो उन्हें दसवें कुलकर ने बालक को आशीर्वादादि देना सिखलाया। बालक की उत्पत्ति होने के पश्चात् और भी अधिक काल तक माता-पिता जीने लगे तब दशवें कुलकर ने उनको बालक को चन्द्रमा दिखाना आदि केलि-क्रीडाएँ सिखलाई। बालक के जन्म के बाद माता-पिता बहुत अधिक काल तक जीवित रहने लगे तब प्रजा को भय उत्पन्न हुआ उसका निवारण ग्यारहवें कुलकर ने किया। बारहवें कुलकर ने जब जलवृष्टि से नदी जलाशय आदि हुए तो उनमें तिरने के उपाय व नाव आदि का विधान बतलाया। जब जरायु सहित बालक उत्पन्न होने लगे तब तेरहवें कुलकर ने जरायु का छेदन करना सिखलाया। अब नाल सहित बालक जन्म होने लगे तो चौदहवे कुलकर ने नाल छेदन करना सिखलाया और इन्द्र धनुष विद्युत् (बिजली) आदि होने लगे तब उनके देखने से उत्पन्न हुए प्रजा के भय को मिटाया तथा फलों के आकारादि का ज्ञान और भोजन-विधि का ज्ञान कराया। इसके पश्चात कर्मभूमि की प्रवृत्ति हुई।

तिरेसठशलाका पुरुष

श्री आदि ब्रह्मा ऋषभ देव तीर्थकर ने नगर ग्राम पत्तनादि की रचना का ज्ञान लौकिक कार्यों से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र और असि मषि कृषि आदि जीवन के उपाय और दयामूल धर्म की स्थापना की।

चौबीस तीर्थकर बारह चक्रवर्त्ती नव नारायण नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र ऐसे तिरेसठ शलाका पुरुष चौथेकाल में उत्पन्न होते हैं।

तीर्थकर के शरीरों की ऊँचाई व आयु का प्रमाण

आदि तीर्थंकर के शरीर की ऊँचाई पाँचसौ धनुष की होती है। द्वितीय तीर्थंकर से लेकर आठ तीर्थंकरों के शरीर की ऊँचाई पचास पचास धनुष कम होती गई है। तथा दशमें तीर्थंकर से लेकर पाँच तीर्थंकरों की दश दश धनुष कम और पन्द्रहवें से लेकर आठ तीर्थंकरों की पाँच पाँच धनुष कम शरीर की ऊंचाई है। पारवनाथ के नव हाथ और वर्धमान के सात हाथ शरीर की ऊँचाई है।

प्रथम तीर्थंकर की आयु चौरासी लाख पूर्व दूसरे की बहत्तर लाख पूर्व तीसरे की साठ लाख पूर्व चौथे तीर्थंकर से लेकर पाँच तीर्थकरो की दशदश लाख पूर्व कम, नव की दोलाख पूर्व दशवें की एक लाख पूर्व वर्ष की आयु है। ग्यारहवें से लेकर क्रम से चौरासीलाख बहत्तरलाख साठलाख तीसलाख दसलाख एकलाख पिच्यानवे हजार, चौरासी हजार पचपनहजार तीसहजार, दसहजार एकहजार, एकसौ, और अन्तिम तीर्थंकर की बहत्तर वर्ष की आयु होती है।

तीथकरों के अन्तराल

प्रथम तीथकर के पश्चात् अगले तीथकर जितने काल क बा होते हैं उसे अ तराल कहते हैं। ऐसे अ तराल चौबीस तीर्थंकरों के तेईस होते हैं। प्रथम अ तराल पचासकोटिसागर तीन वष आठमहीन और एक पक्ष प्रमाण है। इतने काल के बीतने पर ऋषभदेव तीर्थंकर के पश्चात् अजितनाथ तीर्थंकर हुए। इसके बा दूसरे से लेकर चौथे अ तराल का काल कम से तीस लाख कोटि सागर दशलाख कोटि सागर नवलाख कोटि सागर है। स के बाद पाँचवें अ तर से लेकर पाच अ तरालों में कम से प्रत्येक अ तराल शवें शवें भाग प्रमाण है। अर्थात् कमसे नि वे हजार कोटि नवहजार कोटि नवसौ कोटि नि वेकोटि और नवकोटि साग प्रमाण अ तराल है। सके अन तर दशवाँ अ तराल कसौ सागर और छियासठ लाख छ बीस हजार वष हीन एक कोटि सागर प्रमाण है। सके बा ग्यारहवें आदि अ तराल क्रमश चौवन सागर तीस सागर नव सागर चार सागर प्रमाण है। प हवा अ तराल पान प य हीन तीन सागर प्रमाण है। सोलहवाँ अ तराल आधे पल्य का है। सत्रहवाँ हजार कोटि वष हीन चौथाई पल्य प्रमाण है। सके बा अठारहवें आदि अ तराल हजार कोटि वष चौवन लाख वष छह लाख वष पाँचलाख वष तियासी हजार सातसौ पचास वष प्रमाण है। और अन्तिम तेईसवाँ अ तराल तीन वष आठ महीने व एक पक्ष हीन दोसौ पचास वष का है। अर्थात् दोसौ छियालीस वष तीन मास और एक पक्ष प्रमाण अ तराल है। ये सब अ तराल एक के मोक्ष काल स लेकर दूसरे के मोक्ष काल तकके हैं जन्मादि की अपेक्षा से नहीं हैं। अर्थात ऋषभ देव के मोक्ष गमन से अजित नाथ के मोक्षगमन तक मध्य काल प्रथम अ तराल है। सी प्रकार सब अ तरालों म समझ लेना चाहिए।

न अ तरालों म अपनी अपनी आयु के काल को घटान पर पूव तीर्थंकर से आगे के तीर्थंकर का अ तराल होता है। जैसे प्रथम अ तराल म स अजित नाथ की आयु को घटा देने स प्रथम जिने के मोक्ष जाने और द्वितीय तीथकर के ज म लेने के बीच का अ तरकाल निकलता है। ऐस ही अ य का भी जान लेना चाहिए।

श्री महावीर जिनेन्द्र का तीथकाल इक्कीस हजार वष प्रमाण दुषम और तना ही दु षम दु षम है। यह सब मिलाकर बियालीस हजार वष प्रमाण है।

तीसरे काल के तीन वष आठ महीने और एक पक्ष शेष रहने पर प्रथम तीर्थंकर मोक्ष गये और चौथे काल के उतने ही (तीन वष आठ मास और एक पक्ष) बाकी रहने पर श्रीमहावीर भगवान सिद्ध हुए।

जिनधम का उ छेद काल

पुष्पद त और शीतलनाथ के अ तराल में पाव पल्य शीतल नाथ और श्रेयोनाथ के अ तराल में आधा पल्य श्रेयोनाथ और

वासुपूज्य के अन्तराल में पौन पल्य वासु पूज्य और विमलनाथ के अन्तराल मे एक पल्य विमलनाथ और अनन्तनाथ के अन्तराल में पौन पल्य अनन्तनाथ और धर्मनाथ के अन्तराल में आधा पल्य धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अन्तराल में पाव पल्य तक धर्म का उच्छेद (अभाव) चतुर्थ काल में रहा । उक्त समय मे जिन धर्म के वक्ता श्रोता आचरण कर्ता के अभाव में समीचीन जिनधर्म का अस्तित्व नहीं रहता है ।

शक और कल्की की उत्पत्ति ।

श्री वर्धमान जिनेन्द्र के मोक्षजाने के पश्चात छहसौ पाच वर्ष और पाँच महीने बीतने पर शक (विक्रम) राजा उत्पन्न होता है । और उसके अनन्तर तीनसौ चौरानवे वर्ष और सात महीने बीतने पर कल्की का जन्म होता है ।

नियत भोग भूमियाँ

भरत ऐरावत और विदेह क्षेत्र के अतिरिक्त सब भोग भूमिया हैं । उनमें देवकुरु और उत्तरकुरु ये दो उत्कृष्ट भोग भूमियाँ हैं । ये मेरु के निकट दक्षिण और उत्तर मे है । इनकी परिस्थान जीवों की आयु शरीरादि सब रचना प्रथम काल के आदि के समान सदा रहती है । हरिक्षेत्र और रम्यक्क्षेत्र में दूसरे काल के समान सब रचना प्रवृत्त होती है । ये मध्यम भोग भूमियाँ हैं । इनमें सर्वदा दूसरा काल (सुषम) रहता है । हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र में सदा तीसरा काल (सुषमदुःषम) रहता है । और विदेह क्षेत्र में सदा चतुर्थ काल अवस्थित है ।

भरत और ऐरावत सम्बन्धी पाँच पाँच म्लेच्छ खण्डों में और विजयार्ध पर्वत पर विद्याधरों की श्रेणियों मे दुःषम सुषम काल की आदि से लेकर उसी के अन्ततक जैसी हानि वृद्धि होती है वैसी हानि वृद्धि होती रहती है । अतः अवसर्पिणीकाल में तो चतुर्थ काल की आदि से लेकर अन्त पर्यन्त आर्य खंड के अनुक्रम से आयु आदि की हानि होती है । वहां पर पचमकाल व छठा काल नहीं वर्तता है । तथा प्रथमादिकाल की भी प्रवृत्ति नहीं होती है । भाव यह है कि आर्यखण्ड में प्रथमादि काल की प्रवृत्ति जिस समय होती है उस समय में भी उक्त म्लेच्छखंडादि में प्रथमादिकाल की प्रवृत्ति नहीं होती है किन्तु अवसर्पिणी काल में इसके चतुर्थ काल की आदि से अन्ततक और उत्सर्पिणी काल में उसके तृतीय काल की आदि से लेकर अन्त पर्यन्त आर्य खंड में हानि वृद्धि जैसी होती है उसी के अनुसार वहाँ पर आर्य खण्ड में अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी में हानि वृद्धि होती है । अर्थात् वहा पर एक रूप वर्तना है ।

देवगति में सुषम-सुषम काल के समान सदा सुख की प्रवृत्ति होती है और नरकगति में दुःषम दुःषम काल के समान सदा दुःखमय प्रवृत्ति रहती है । मनुष्यगति और तिर्यंचगति में छहों काल की प्रवृत्ति होती है ।

स्वयंभूरमण नामक द्वीप के मध्य में चारों ओर मानुषोत्तर पर्वत के समान स्वयंप्रभ पर्वत है इससे उसके दो भाग होगये हैं। इन में से स्वयंभूरमण द्वीप के अग्रिमभाग में तथा स्वयंभूरमण समुद्र में दु षमकाल की सी मदा प्रवृत्ति रहती है।

कुमनुष्य भोग भूमि जो समुद्र में है वहाँ तीसरे काल के समान प्रवृत्ति है।

कुभोग भूमि कहाँ कहाँ हैं?

लवण समुद्र के अभ्यन्तर आठ दिशाओं मे आठ और उनके मध्य में आठ तथा हिमवान् और शिखरी एवं भरत और ऐरावत के दोनों विजयार्ध के अन्तिम तटों पर आठ इस प्रकार चौबीस द्वीपस्थ कुभोग भूमियाँ हैं। तथा लवण समुद्र के बाह्यतट पर उक्त प्रकार चौबीस कुभोग भूमियाँ लवण समुद्र सम्बन्धी हैं। और कालोदधि में भी लवण समुद्र समान अड़तालीस कुभोग भूमियाँ हैं। ये कुभोग भूमियाँ द्वीपों पर हैं।

जो दिशा सम्बन्धी द्वीप हैं वे जम्बूद्वीप की वेदिका से पाँचसौ योजन दूरपर समुद्र मे स्थित हैं। विदिशाओं और अन्तर (मध्य) के जो द्वीप हैं वे वेदिका से साढ़े पाचसौ योजन दूर पर अवस्थित हैं। और जो पर्वतों के अन्तिम तट पर अवस्थित हैं वे छहसौ योजन दूर पर है। दिशाओं के द्वीप सौ योजन चौड़े विदिशाओं के पचास योजन और शैलान्त द्वीप पच्चीस योजन चौडे हैं। पूर्व दिशा सम्बन्धी द्वीपवर्ती कुभोग भूमि मे मनुष्य एक टांगवाले पश्चिम मे पूछवाले उत्तर मे गूंगे और दक्षिण में सींगवाले हैं। विदिशाओं में खरगोश के समान कान पूडी के समान कान ओढ़न के वस्त्र समान कान और लम्बे कान वाले हैं। अन्तराल (दिशाविदिशा के मध्य) वर्ती द्वीपों में अश्व सिंह कुत्ते भैंसे शूकर, व्याघ्र काक घूक (उल्लू) और कपि के समान मुखवाले मनुष्य हैं। शिखरी पर्वत के दोनों तटों पर मेघ और बिजली के समान मुखवाले मनुष्य हैं। हिमवान पर्वत के दोनों अन्तिम तटोंपर मत्स्य (मच्छ) मुख और काल मुख हैं। उत्तर विजयार्ध के दोनों अन्त तटों पर हस्ति समान और आदर्श (दर्पण) समान मुखवाले हैं। और दक्षिण विजयार्ध के आखिरी तटों पर गोमुख मेषमुखवाले मनुष्य हैं। उनमे जो एक टांगवाले हैं वे गुफाओं मे निवास करते हैं और अतिमिष्ट मृत्तिका का आहार करते हैं। शेष सब पुष्प व फल का आहार करते हैं और वृक्षों पर निवास करते हैं। सब कुभोग भूमि के मनुष्यों की आयु एकपल्य प्रमाण होती है।

कुभोगभूमियो में जन्म लेने वाले जीव

जो तीव्र जिन लिंग (मुनि भेष) धारण करके मायाचार करते हैं। ज्योतिष मन्त्र वैद्यक आदि से आहारादि रूप आजीविका करते हैं रुपया पैसा आदि धन चाहते हैं ऋद्धि यश साताहरूप गौरव से संयुक्त हैं आहार भय मैथुन और परिग्रह सम्बन्धी संज्ञा (वांछा)

रखते हैं गृहस्थों के परस्पर विवाह सम्बन्ध या मल मिलाते हैं सम्यग्दर्शन की विराधना करते हैं अपने व्रतादि में लगे हुए दोषों की गुरु के निकट आलोचना नहीं करते हैं अन्य जीवों को दोष लगाते हैं या जो मिथ्यादृष्टि पंचाग्नि आदि तप करते हैं मौन रहित भोजन करते हैं व कुभोग भूमि में जन्म लेते हैं। इसी प्रकार जो गृहस्थ दान देने के अयोग्य अवस्था (सूतकादि अवस्था) में दान देते हैं तथा कुपात्रों को दान देते हैं वे भी उक्त कुभोग भूमि में जन्म लेते हैं।

धातकी खंड और पुष्करार्ध द्वीपों की रचना

जम्बूद्वीप से चतुर्गुण विस्तार वाला (चारलाख योजन) धातकी खंड है। उसमें जम्बूद्वीप से दूनी रचना है। और उतनी ही रचना पुष्करार्ध द्वीप में है। इन दोनों द्वीपों के मध्य में उत्तर दक्षिण तक लम्बे दो दो इष्वाकार पर्वत हैं जो सुवर्णमय हैं। पूर्व पश्चिम में एक हजार योजन चौड़े हैं और चारसौ योजन ऊंचे हैं और उत्तर दक्षिण में अपने अपने द्वीपसमान क्रमसे चार लाख और सोलह लाख योजन प्रमाण लम्बे हैं। एक एक क्षेत्रादि की रचनारूप वसती के धारक हैं।

धातकी खंड और पुष्करार्ध में दो दो मेरु हैं। बारह २ कुलाचल और चोदह २ क्षेत्र आदि हैं। अर्थात् पर्वत व क्षेत्रादि संख्या में जम्बूद्वीप से दुगने २ हैं। विस्तार में क्रमसे दुगने २ और अठगुने २ हैं। और ऊँचाई और गहराई आदि में जम्बूद्वीप के कुलाचल हृदादि के समान ही हैं। धातकी खंड और पुष्करार्ध के क्षेत्र और कुलाचलों का आकार पहिये के अरछिद्र और अरकाष्ठ के आकार के समान हैं। अरछिद्र के आकार के समान क्षेत्र हैं और अरकाष्ठ के आकार के समान कुलाचल हैं। धातकी खंड में पृथिवी कायिक रत्नमय धातकी वृक्ष हैं और पुष्कर हैं। उनका वर्णन जम्बूद्वीप स्थित जम्बूवृक्ष के समान जानना चाहिए।

लवण समुद्र के पाताल

जम्बूद्वीप की चारों ओर की वेदिका से पिच्यानवे हजार योजन दूर लवण समुद्र में जाकर चारों दिशाओं में चार महापाताल हैं। उनके तल व पार्श्व भाग वज्रमय हैं। प्रत्येक एक लाख योजन के गहरे हैं और मध्य भाग में उतने ही (एक लाख योजन प्रमाण) चौड़े तथा मूल में मुख भाग में दशहजार योजन चौड़े हैं। पूर्व दिशा में पाताल पश्चिम में वडवामुख उत्तर में यूपकेसर और दक्षिण में कलंबुक नामक महापाताल हैं। इनमें से प्रत्येक के नीचे के तृतीय भाग में वायु भरा है। मध्य के तृतीय भाग में वायु और जल है और ऊपर के तृतीय भाग में केवल जल है। रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में भवनवासी देवों के भवन हैं। वहाँ पर वातकुमार देव और उनकी देवागनाएँ क्रीडा करती हैं। उससे वायु में क्षोभ उत्पन्न होता है। उस क्षुब्ध वायु के निमित्त से पातालों के वायु और जलका निष्कासन व प्रवेश होता है।

उसके निमित्त से जल वृद्धि होती है। तथा पाताल में वायु के वेग का शमन होजाने पर जल हानि होती है। अर्थात् जल समान स्थिति में आजाता है। चारों पातालों में एक दूसरे का अन्तर दो लाख सत्ताईस हजार सात सौ योजन और कुछ अधिक तीन कोश प्रमाण है।

उन महापातालों के मध्य में चारों विदिशाओं में चार क्षुद्रपाताल हैं। उनकी गहराई दश २ हजार योजन है तथा मध्य में इतने ही चौड़े हैं। और मूल और ऊपर मुख में एक एक हजार योजन चौड़े हैं। महापातालों की तरह उनके नीचे के तृतीय भाग में वायु है, मध्य के त्रिभाग में वायु और जल है तथा ऊपर के त्रिभाग मे जल है।

उक्त आठों दिशा व विदिशा म स्थित पातालों के अन्तरालों में एक हजार क्षुद्रपाताल हैं। वे प्रत्येक एक एक हजार योजन के गहरे और मध्य में उतने ही चौड़े हैं तथा मूलतल में व ऊपर मुख में पाँच पाँच सौ योजन चौड़े हैं। उनके भी पूर्व की तरह तीन भाग हैं। पहले (नीचे) के त्रिभाग में वायु मध्य के त्रिभाग मे वायु और जल तथा ऊपर के त्रिभाग में जल है।

भावार्थ—लवण समुद्र का जल समभूमि से ग्यारह हजार योजन ऊंचा है और पूर्णिमा को वह सोलह हजार योजन ऊचा हो जाता है। कारण यह कि पातालों के मध्य त्रिभाग म नीचे पवन और ऊपर जल है। सो कृष्णपक्ष में प्रतिदिन पवन की जगह जल होता जाता है और शुक्ल पक्ष म जल की जगह पवन होजाता है। इसलिए शुक्लपक्ष में जल अधिक ऊँचा होता २ पूर्णिमा के दिन सोलह हजार योजन ऊचा हो जाता है। और कृष्णपक्ष में घटता घटता अमावस्या के दिन अपनी समान स्थिति में आजाता है। अर्थात् समतल भूमि से ग्यारह हजार योजन ऊचा रहता है। यह इसकी स्वाभाविक स्थिति है। इसका विशेष वर्णन त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों से जानना।

अन्य द्वीप व समुद्र

इस मध्य लोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनकी संख्या अढाई उद्धार सागर प्रमाण है। (दश उद्धार पल्य का एक उद्धार सागर होता है)। उन अढाई उद्धार सागर प्रमित द्वीप समुद्रों में १ जम्बूद्वीप २ धातकी खंड, ३ पुष्करद्वीप ४ वारुणिवर, ५ क्षीरवर ६ घृतवर ७ क्षौद्रवर (मधुवर) ८ नन्दीश्वर ९ अरुणवर १० अरुणाभास ११ कुण्डलवर, १२ शंखवर १३ रुचकवर १४ भुजगवर १५ कुशागवर १६ क्रौंचवर आदि असंख्यात द्वीप हैं।

जम्बूद्वीप को चारों तरफ से लवण समुद्र घेरे हुए है धातकी खंड को कालोद समुद्र घेरे हुए है, पुष्कर द्वीप को पुष्कर समुद्र घेरे हुए है। इस प्रकार उत्तरोत्तर द्वीप व समुद्र एक दूसरे को घेरे हुए हैं। आगे के सब समुद्रों के नाम पूर्व-पूर्ववर्ती द्वीपों के समान हैं। जैसे पुष्कर द्वीप पुष्कर समुद्र वारुणि द्वीप-वारुणि समुद्र इत्यादि।

जम्बूद्वीप एकलाख योजन प्रमाण चौड़ा है और गोल है। उसमे आगे द्वीप व समुद्र दूने २ चौडे और पूर्व-पूर्व को घेरे हुए तथा गोल आकार के धारक हैं।

समुद्रों के जल का रसास्वाद

लवण समुद्र वारुणि क्षीरसागर घृतवर ये चार समुद्र अपने नामके अनुरूप स्वाद वाले हैं। लवण समुद्र में जल लवणसा खारे स्वाद वाला है, वारुणिसमुद्र में मदिरा के समान स्वाद वाला जल है क्षीरसागर में दुग्धसमान रसवाला जल है और घृतवर में घृतसमान रस का धारक जल है। कालोद पुष्कर और स्वयंभूरमण इन तीन समुद्रों में जल के समान स्वादवाला जल है। इनके अतिरिक्त सम्पूर्ण समुद्रों के जल का स्वाद इक्षु (ईख-सांठ) के रस के समान है।

लवणसमुद्र कालोदसमुद्र तथा अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र में जलचर मत्स्यादि जीव पाये जाते हैं। क्योंकि वे तीनों समुद्र कर्म भूमि सम्बन्धी हैं। शेष समस्त समुद्रों में जलचर जीव नहीं हैं क्योंकि वे भोगभूमि सम्बन्धी हैं और भोगभूमि में जलचर जीव नहीं होते हैं।

पुष्कर द्वीप के मध्य (बीचोबीच) वलयाकार गोल मानुषोत्तर पर्वत है। उसके भीतर भीतर अर्थात् ढाई द्वीप और दो समुद्रों में ही मनुष्य पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत को लांघकर बाहर जाने की मनुष्य में सामर्थ्य नहीं है।

मानुषोत्तर पर्वत के परे और स्वयंभूरमण द्वीप के मध्य में स्थित स्वयंप्रभ पर्वत के भीतर अर्थात् आधे स्वयंभूरमण द्वीप तक भोगभूमिया तिर्यंच हैं। जैसे पुष्कर द्वीप के मध्य में मानुषोत्तर पर्वत है तथा कुण्डलवर द्वीप के बीचों बीच कुण्डलगिरि और रुचकवर द्वीप के मध्य में रुचकगिरि है वैसे ही स्वयंभूरमणद्वीप के बीचोंबीच वलयाकार स्वयंप्रभगिरि है। उससे स्वयंभूरमणद्वीप के दो विभाग होगये हैं। उसके परले विभाग में तथा स्वयंभूरमण समुद्र में कर्मभूमि है। इतना विशेष जानना।

ज्योतिष देवों का वर्णन

चित्रा पृथ्वी के प्रारम्भ से मेरु की चूलिका के अन्तिम भाग तक मध्यलोक माना गया है। मेरुपर्वत की अवगाहना (भूमि के अन्दर-नींव) एक हजार योजन है। वहीं से चित्रा पृथ्वी का प्रारम्भ माना है और उसकी मोटाई एक हजार योजन (मेरु पर्वत की नींव प्रमाण) है। चित्रा पृथ्वी के ऊपर के सम भूमि भाग से सातसौ निव्वे योजन ऊंचे से ज्योतिष देवों का निवास क्षेत्र प्रारम्भ होता है और नौसौ योजन की ऊँचाई पर समाप्त होता है। अर्थात् एकसौ दश योजन मोटे क्षेत्र में ज्योतिष देवों का निवास है। जैसा कि राजवार्तिक में कहा है—

ज्योतिष् देवों के विमान

णवदुत्तर सत्तसया दसमीदी चदुतिगच दुगचदुक्क ।
तारारविससिरिक्खा बुहभग्गवगुरुअ गिरारसणी ॥ १ ॥

अ र—इस सम भूमिभाग से सातसौ नव्वे योजन ऊपर जाकर तारा‍ओं का सचार है। उसक ऊपर दश योजन जाकर सूय का संचार है। उसस अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा का भ्रमण क्षेत्र है। उसके ऊपर तीन योजन जाकर नक्षत्र हैं। उसके तीन योजन ऊपर जाकर बुध विचरण करता है। उसक ऊपर तीन योजन जाकर शुक्र का संचार होता है। उसके ऊपर तीन योजन जाकर बृहस्पति भ्रमण करता है। उसक चार योजन ऊपर मंगल का सचार क्षेत्र है। उसके ऊपर चार योजन जाकर शनैश्चर भ्रमण करता है।

त्रिलोकसार म उक्त कथन स भिन्नता प्रतीत होती है वह निम्न प्रकार है—

णवदुत्तरसत्तसए दससीदी चदुदुग च तियचउक्क ।
तारिणससिरिक्खबुहा सुक्कगुरु गारमन्दगदी ॥ ३३२ ॥

अथ—समतल भूमिभाग म सातसो निव्वे योजन ऊपर जाकर तारा हैं। उससे दश योजन ऊपर जाकर सूय का भ्रमण है। उससे अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा का संचार है। उससे चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्र हैं। उसस चार योजन ऊपर जाकर बुध है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर बृहस्पति है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर मंगल है तथा उससे तीन योजन ऊपर जाकर मन्दगति (शनैश्चर) है।

राजवार्तिक मे नक्षत्रादि चार को तीन तीन योजन क अन्तर और मगल शनि को चार २ योजन के अन्तर पर कहा है। और त्रिलोक सार मे नक्षत्र तथा बुध को चार चार योजन के अन्तर पर और शुक्र गुरु मंगल और शनि को तीन ३ योजन के अन्तर पर दिखलाया है।

अठासी ग्रहों म से उक्त कथन स अवशिष्ट ग्रहो क विमान बुध और शनैश्चर क बीच अन्तराल म हैं।

विमानों के आकार और वर्ण

सम्पूर्ण ज्योतिष देवों के विमान आध गोल क आकार हे। अर्थात् गोल क बीच मे से बराबर दो टुकड़ करने पर एक आधे

गोल का चौथा भाग ऊपर और सकडा भाग नीचे रखने पर जैसा आकार होता है वैसा आकार ज्योतिष विमानों का है। उनमें देवों के नगर और जिन मन्दिर बने हुए हैं।

ज्योतिष देवों मे चन्द्रमा तो इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र है। चन्द्रमा का विमान ५६/६१ योजन अर्थात् एक योजन के इकसठ भागों में से छप्पन भाग प्रमाण लम्बा चौडा है। तथा २८/६१ योजन मोटा है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भागों में से अठाईस भाग प्रमाण उसकी मोटाई है। विमान का आधे गोले के समान आकार है। और उसको वहन करने (उठाने) वाले सोलह हजार देव हैं। निर्मल मृणाल के समान अकमणि से वह निर्मित हैं।

सूर्य का विमान तपे हुए सुवर्ण के समान कान्तिवाली लोहिताक्ष मणि से निर्मित है। उसकी चौडाई लम्बाई ४८/६१ योजन है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भाग में से अडतालीस भाग प्रमाण सूर्य विमान लम्बा चौडा है। और २४/६१ योजन प्रमाण उसकी मोटाई है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भागों में से चौबीस भाग प्रमाण मोटा है। उसके वाहक (उठानेवाले) देव सोलह हजार हैं।

राहु का विमान अंजन समान कृष्णवर्ण की अरिष्ट मणि से निर्मित है। उसकी लम्बाई चौडाई एक योजन प्रमाण है। और मोटाई ढाईसौ धनुष प्रमाण है। उसके वाहक देव चार हजार हैं।

शुक्र का विमान रजतमय है। एक कोश लम्बा चौडा है। इसके तथा आगे के सब विमानों के वाहक देव चार चार हजार हैं।

मुक्ता के समान श्वेतवर्ण अंक नामक मणि से बना हुआ बृहस्पति का विमान है। वह कुछ कम एक कोश लम्बा चौडा है।

सुवर्णमय पीतवर्ण बुध का विमान है और आधकोश लम्बा चौडा है।

मंगल का विमान तपे हुए सोने के समान लोहितमणि का बना हुआ है तथा शनैश्चर का तप्त सुवर्ण मय है। इन दोनों की लम्बाई चौडाई आधा कोश प्रमाण है।

केतु का विमान श्यामवर्ण की मणि से निर्मित है तथा कुछ कम एक योजन प्रमाण लम्बा चौडा है।

तारा आदि के विमान कम से कम पाव कोश लम्बे चौडे हैं।

छह मास बीतने पर चन्द्रमा के नीचे राहु और सूर्य के नीचे केतु आता है। उनसे चन्द्रमा और सूर्य के विमान ढक जाते हैं। इसलिए चन्द्र और सूर्य हमको दिखाई नहीं देते। इसीको ग्रहण कहते हैं। चन्द्र-विमान और राहु-विमान का तथा सूर्य और केतु-विमान का परस्पर स्पर्श कभी नहीं होता।

राहु का विमान चन्द्र-विमान से और केतु का विमान सूर्य-विमान से चार प्रमाणांगुल (दो हजार व्यवहारांगुल अर्थात् पौने चौरासी हाथ) नीचे रहता है।

जो ज्योतिष विमान (ताराआदि) समान क्षेत्र में परिभ्रमण करते हैं वे भी परस्पर कभी नहीं मिलते। उनमें कमसे कम एक कोश के सातवें भाग प्रमाण (सवा दो फर्लांग से कुछ अधिक) अन्तर अवश्य रहता है। उनका संयोग कभी होता ही नहीं है।

ज्योतिष विमानों की गति

अढाई द्वीप और दो समुद्र सम्बन्धी ज्योतिष देवों के विमान निरन्तर भ्रमण करते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के बाहर रहने वाले असंख्यात द्वीप समुद्र सम्बन्धी ज्योतिष देवों के विमान स्थिर हैं। वे गमन नहीं करते हैं अपने २ स्थान पर अवस्थित रहते हैं।

मानुषोत्तर पर्वत के आभ्यन्तर भाग में ९५५३४ (पिच्चानवे हजार पांचसौ चौतीस) तारे ध्रुव स्थिर हैं। वे अपने स्थान को नहीं छोड़ते हैं। वे इस प्रकार हैं-जम्बूद्वीप में ३६ लवण समुद्र में १३९ धातकी खंड में १ १० कालोद में ४१११२० और पुष्करार्ध में ५३२३० हैं।

मानुषोत्तर शैल के आभ्यन्तर भाग के ज्योतिषदेवों के विमान मेरुपर्वत से ग्यारहसौ इक्कीस योजन दूर पर मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं। परन्तु ग्यारहसौ इक्कीस योजन तक कोई ज्योतिष देव-विमान नहीं पाये जाते हैं। तथा सूर्य चन्द्र और ग्रह के सिवा सब ज्योतिष विमान एक भाग पर गमन करते हैं और नक्षत्र एवं तारे अपनी २ एक परिधि में भ्रमण करते हैं भिन्न भिन्न मार्ग पर भ्रमण नहीं करते।

सूर्य व चन्द्रमा की संख्या

जम्बूद्वीप में सूर्य और चन्द्रमा दो दो हैं लवण समुद्र में चार चार हैं। धातकी खण्ड में बारह २ कालोद में बियालीस २ और पुष्करार्ध द्वीप में बहत्तर २ हैं। उत्तर पुष्करार्ध में भी बहत्तर २ हैं। सब मिलाकर पुष्कर द्वीप में एक सौ चवालीस हैं। इसके आगे के द्वीप समुद्रों में दूने दूने होते चले गये हैं। जैसे पुष्कर द्वीप से दूने २८८ सूर्य चन्द्र पुष्कर समुद्र में हैं और पुष्कर समुद्र से दूने ५७६ सूर्य चन्द्र वारुणि द्वीप में हैं और इससे दूने ११५२ वारुणि समुद्र में हैं। इसी प्रकार दूने दूने द्वीप समुद्रों में सूर्य और चन्द्रमा समझ लेने चाहिए।

चन्द्रमा की सोलह कला (भाग) हैं। उनमें से कृष्णपक्ष की प्रत्येक तिथि में एक एक कला श्याम होती है। इसी को लोग घटना कहते हैं। और शुक्ल पक्ष में पुनः एक एक दिन में एक एक कला श्वेतरूप होती जाती है। इसीलिए अमावस्या में सम्पूर्ण श्याम होजाने से चन्द्रमा नहीं दिखाई देता और पूर्णिमा के दिन पूर्ण चन्द्रमा दिखाई देता है।

इसका आशय यह है कि चन्द्रविमान के नीचे राहु का विमान गमन करता है। उस राहु का भ्रमण सदा ऐसा ही होता है कि जिससे चन्द्रमा की एक एक कला (भाग) कृष्ण पक्ष में तो आच्छादित होती जाती है और शुक्ल पक्ष में एक एक कला प्रतिदिन प्रकट होती जाती है।

एक एक चन्द्रमा के साथ सम्बन्ध रखने वाले ग्रह अठासी नक्षत्र अठाईस और तारे छ्यासठ हजार नवसौ पिचहत्तर कोटि कोटि (६६९७५०००००००००००००००) हैं। राहु केतु मंगल, बुध, बृहस्पति शुक्र शनैश्चर आदि ग्रहों के नाम हैं। अश्विनी भरणी कृत्तिका रोहिणी आदि अठाईस नक्षत्र हैं।

प्रत्येक द्वीप वा समुद्र सम्बन्धी जो ज्योतिष-विमान हैं उनमें से आधे एक पार्श्व (पखवाड़े) भाग में हैं और आधे दूसरे पार्श्व भाग में हैं।

चन्द्रमा का विचरण क्षेत्र और वीथियां

दो दो सूर्य या दो दो चन्द्रमा का चार क्षेत्र (गमन करने का आकाश प्रदेश) एक है। उसका परिमाण ५१० व ४८/६१ योजन है। इतने चार में गलियाँ निर्धारित हैं उनका प्रमाण आगे कहेंगे। उनमें एक सूर्य और एक चन्द्रमा गमन करता है। उसीमें दूसरा सूर्य भी गमन करता है। इसलिए दो २ सूर्य और दो २ चन्द्रमा का एक चार क्षेत्र है।

उक्त चारक्षेत्र में चन्द्रमा की गलियाँ १५ और सूर्य की १८४ हैं। उनमें से एक एक गली में एक एक दिन दो सूर्य और दो चन्द्रमा गमन करते हैं।

जो ५१० व ४८/६१ योजन चार क्षेत्र कहा गया है उसमें से जम्बूद्वीप सम्बन्धी सूर्य-चन्द्र का एक सौ अस्सी योजन प्रमाण चारक्षेत्र तो जम्बूद्वीप के भीतर आगया है और शेष चार-क्षेत्र लवण समुद्र में है। जम्बूद्वीप के सिवा समस्त द्वीप समुद्र सम्बन्धी ज्योतिषों का चार क्षेत्र अपने २ द्वीप समुद्र में ही है।

सब से मंदगति से गमन करने वाला चन्द्रमा है। उससे शीघ्रगामी सूर्य है। सूर्य से शीघ्रगामी ग्रह, ग्रह से नक्षत्र और नक्षत्र से तारे अति शीघ्र गमन करते हैं।

ज्योतिषियों की आयु

चन्द्रमा की आयु एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य प्रमाण है। सूर्य की आयु एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य की है। शुक्र की आयु एक सौ वर्ष अधिक एक पल्य और बृहस्पति की आयु एक पल्य प्रमाण है। बुध मंगल और शनैश्चर की आयु आधे पल्य प्रमाण है। तारा और नक्षत्र की उत्कृष्ट आयु पाव पल्य और जघन्य पल्य के आठवें भाग प्रमाण है।

ज्योतिष देवों की देवांगनाएँ

सूर्य और चन्द्रमा दोनों के चार २ पट्ट देवांगनाएँ हैं। और यह प्रत्येक पट्ट देवांगना विक्रिया द्वारा चार चार हजार शरीर धारण करने वाली होती हैं। प्रत्येक पट्ट देवांगना के चार चार हजार परिवार देवियाँ होती हैं।

ज्योतिष देवांगनाओं की आयु अपने पति देव से आधी होती है। इनमें सबसे हीन-पुण्य देव के भी कमसे कम बत्तीस देवांगनाएं होती हैं।

ज्योतिष देवों में उपपाद

भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिष देवों मे वे जीव जन्म लेते हैं जिन्होंने जिनमार्ग से विपरीत धर्म का आचरण किया हो या निदान किया हो या अग्नि में जल कर मर हो पानी में डूब कर मरे हों वृक्ष पर्वत मकान आदि के से नीचे गिरकर मरे हों अथवा परतन्त्रता से बंधनादि के निमित्त से परिषह उपसर्ग सहन द्वारा निर्जरा कर मृत्यु प्राप्त की हो, अथवा पंचाग्नि आदि द्वारा कुतपस्या की हो या सन्तोष चारित्र का आराधन किया हो।

इस प्रकार मध्य लोक का वर्णन सम्पूर्ण हुआ अब ऊर्ध्व लोक का स्वरूप कहते हैं।

ऊर्ध्वलोक

उर्ध्वलोक का विस्तार

सुदर्शन मेरु की चूलिका से ऊपर सिद्ध क्षेत्र पर्यन्त ऊर्ध्वलोक है। उसकी ऊंचाई सात राजू प्रमाण है। उसमें से डेढ़ राजू प्रमाण क्षेत्र में सौधर्म ऐशान युगल के विमान हैं। उसके ऊपर डेढ़ राजू पर्यन्त सानत्कुमार-माहेन्द्र युगल के विमान हैं। उसके ऊपर आधे

आधे राजू के अन्तर पर छह युगल हैं। इस प्रकार छह राजू प्रमाण आकाश में सोलह स्वर्ग हैं। उनके ऊपर सिद्ध क्षेत्र के बारह योजन नीचे तक क्रमसे नवग्रैवेयक नव अनुदिश और पंच अनुत्तरविमान हैं।

स्वर्गों में इन्द्र–क्रम

सौधर्म–ऐशान और सानत्कुमार-माहेन्द्र इन दो युगलों में चार इन्द्र हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव कापिष्ट शुक्र-महाशुक्र और शतार-सहस्रार इन चार युगलों में चार इन्द्र हैं। तथा आनत प्राणत और आरण अच्युत इन दो युगलों में चार इन्द्र हैं। इस प्रकार सोलह स्वर्गों में बारह इन्द्र हैं।

इन सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं। क्योंकि इनमें इन्द्र सामानिक आदि भेदों की कल्पना होती है। इनके ऊपर नवग्रैवेयक आदि को कल्पातीत कहते हैं। क्योंकि उनमें रहने वाले सब अहमिन्द्र होते हैं। [illegible] की कल्पना नहीं है।

नवग्रैवेयकादि का वर्णन

उक्त आठ स्वर्ग–युगलों के ऊपर नवग्रैवेयक हैं। उनमें अधोग्रैवेयक मध्यग्रैवेयक और उपरिमग्रैवेयक ऐसे तीन भाग हैं और उन तीनों भागों में तीन तीन ग्रैवेयक पटल हैं। उनके ऊपर नव अनुदिश विमान हैं। १ अर्चि २ अर्चिमालिनी ३ वैर, ४वैरोचन, ये चार अनुदिश विमान पूर्वादि चारों दिशा में तथा १ सोम २ सोमरूप ३ अंक और ४ स्फटिक ये चार विमान आग्नेयादि विदिशा में स्थित हैं और इनके मध्य में ९ आदित्य इन्द्रक विमान है।

इनके ऊपर १ विजय २ वैजयन्त ३ जयन्त और ४ अपराजित ये चार अनुत्तर विमान पूर्वादि चारों दिशाओं में हैं और ५ वां सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक विमान उनके मध्य में है।

प्रतर संख्या

सौधर्मादि स्वर्गों में तरेसठ प्रतर हैं। जैसे महल प्रासाद आदि में खण्ड (मंजिल) होते हैं वैसे ही स्वर्गों में प्रतर (खण्ड पटल) हैं। एक प्रतर में एक इन्द्रक विमान मध्य में होता है। सौधर्मयुगल में इकतीस प्रतर हैं। सानत्कुमार युगल में सात, ब्रह्मयुगल में चार लान्तवयुगल में दो शुक्रयुगल में एक शतार युगल में एक आनत प्राणत आरण अच्युत इन चार स्वर्गों में छह प्रतर हैं। ग्रैवेयक में नव प्रतर तथा अनुदिश में एक और पंचानुत्तर में एक प्रतर है। इस प्रकार सब तिरेसठ प्रतर हैं।

विमानों की स्थिति

मेरु की चूलिका से ऊपर एक बालाग्र के अन्तर पर सौधर्म युगल का ऋतु नामक पहला इन्द्रक विमान है। जो इन्द्रक का नाम है प्रतर का भी वही नाम समझना चाहिए। इसी ऋतु विमान की सीध में ऊपर आगे के सब इन्द्रक विमान हैं। सौधर्म युगल के ऋतु नामक इन्द्रक विमान से विमल नामक दूसरा प्रतर (पटल) असंख्यात योजन के अन्तराल पर है। इसी प्रकार प्रत्येक पटल के असंख्यात २ योजन का अन्तराल है। अर्थात एक पटल के बाद असंख्यात योजन प्रमाण जगह खाली पड़ी है उसके बाद दूसरा पटल है।

प्रथम इन्द्रक के चारों दिशाओं में चार विमान श्रेणिबद्ध हैं। और विदिशा में पुष्पप्रकीर्णक (बिखरे हुए फूलों के समान क्रमरहित) विमान हैं। एक एक श्रेणि (पंक्ति) में बासठ बासठ विमान हैं। उन्हें श्रेणिबद्ध विमान कहते हैं। प्रति पटल एक एक विमान घटता गया है; इसलिए सौधर्म युगल के अन्तिम प्रभ नामक पटल में बत्तीस श्रेणिबद्ध विमान हैं। डेढ़ राजू में सौधर्म युगल सम्बन्धी इकतीस पटल हैं। प्रत्येक पटल सम्बन्धी उत्तर दिशा के श्रेणिबद्ध विमान तथा वायव्य ईशान विदिशा सम्बन्धी प्रकीर्णक विमानों में तो उत्तर-इन्द्र ईशान की आज्ञा चलती है और तीन दिशा सम्बन्धी श्रेणिबद्ध विमानों में (इन्द्र विमानों में) तथा आग्नेय नैऋत्य विदिशा सम्बन्धी प्रकीर्णक विमानों में दक्षिण इन्द्र सौधर्म का शासन है। जिन विमानों में सौधर्म इन्द्र की आज्ञा चलती है उनके समूह को सौधर्म स्वर्ग कहते हैं और जिन विमानों में ऐशान इन्द्र का शासन है उन के समूह को ऐशान स्वर्ग कहते हैं।

उसके पश्चात असंख्यात योजन का अन्तराल है। उसके बाद सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग युगल का प्रथम पटल है। वहाँ से असंख्यात योजन का अन्तराल छोड़कर दूसरा पटल है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। उन पटलों के मध्य में इन्द्रक आदि विमान पूर्वोक्त प्रकार हैं। उत्तर श्रेणिबद्ध विमान और ऐशान कोण व आग्नेय कोण (विदिशा) के प्रकीर्णक विमानों में उत्तर इन्द्र माहेन्द्र का आधिपत्य है तथा बाकी के सब विमानों पर दक्षिणेन्द्र सानत्कुमार का अनुशासन है। इसी अपेक्षा से उसके द्वारा शासित विमानों के समूह को सानत्कुमार का स्वर्ग कहते हैं। इसी प्रकार ऊपर के सब स्वर्ग पटलों में भी समझ लेना चाहिए।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार इन आठ स्वर्गों में चार इन्द्र हैं। वहाँ इन्द्र की अपेक्षा से नाम भेद नहीं है किन्तु बसती की अपेक्षा से भेद है। जैसे यहाँ पर भी देश का एक अधिपति होता है, किन्तु नगरों के भिन्न २ नाम होते हैं इसी प्रकार वहाँ पर जानना चाहिए।

आनत-प्राणत आरण-अच्युत इन चार स्वर्गों में चार इन्द्र हैं उनमें से आनत और आरण तो दक्षिण इन्द्र हैं और प्राणत और अच्युत उत्तर इन्द्र हैं। वहाँ पूर्वोक्त प्रकार इन्द्र के भेद से स्वर्गों का भेद जानना चाहिए।

प्रत्येक पटल में एक एक श्रेणिबद्ध विमान घटता गया है इसलिए अन्तिम ग्रैवेयक के सब से ऊपर के पटल में प्रत्येक दिशा में दो दो विमान हैं। उनके ऊपर असंख्यात योजन का अन्तराल छोडकर अनुदिश विमान का पटल है। उसके मध्य में एक इन्द्र विमान है और चारों दिशाओं में चार और विदिशाओंमें चार इस प्रकार नव विमान हैं। उनके ऊपर असंख्यात योजन का अन्तराल छोडकर पंचअनुत्तर विमान हैं।

पाँच अनुत्तर विमानों के ऊपर बारह योजन का अवकाश छोडकर सिद्ध-क्षेत्र है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक रचना है। जिस प्रकार प्रत्येक पटल के ऊर्ध्व व अधोभाग में अन्तराल है, उसी प्रकार प्रत्येक विमान के ऊर्ध्वभाग व अधोभाग और तिर्यग्भाग में अन्तराल है। एक विमान दूसरे विमान से सर्वथा जुदा है। समान भाग में एक इन्द्र की सीध में रहने वाले विमानों का एक पटल माना गया है। नरक भूमियों के समान विमान एक दूसरे से जुडे हुए नहीं है, इसलिए उनको पृथ्वी नहीं कहा है। लोकान्त तक पहुंचने वाले भूभाग को पृथ्वी कहते हैं। इसलिए सात नरक भूमियाँ और एक ईषत् प्राग्भार नामक सिद्धशिला ये आठ पृथ्वियाँ मानी गई हैं।

प्रकीर्णक विमानों की संख्या, विस्तार और बाहुल्य

सौधर्म स्वर्ग में बत्तीसलाख, ऐशान में अठाइस लाख, सानत्कुमार में बारहलाख, माहेन्द्र में आठलाख,ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगल में चार लाख, लान्तव-कापिष्ठ युगल में पचास हजार, शुक्र-महाशुक्र युगल में चालीस हजार, शतार-सहस्रार में छह हजार विमान हैं। तथा आनतादि चार स्वर्गों में समुदाय रूप सात सौ विमान हैं। अधोग्रैवेयक के तीन पटलों में एक सौ ग्यारह विमान मध्यम ग्रैवेयक के तीन पटलों में एकसौ सात तथा उपरिम ग्रैवेयक के तीन पटलों में इक्यानवे विमान हैं। एवं अनुदिश में नव और अनुत्तर में पाँच विमान हैं। इनमें से अपने २ स्वर्गों के इन्द्रक और पंक्तिबद्ध विमानों की संख्या को घटाने पर प्रकीर्णक विमानों की संख्या निकल आती है।

प्रथम ऋतु इन्द्रक विमान का विस्तार मनुष्य लोक समान पेंतालीस लाख योजन प्रमाण है और सब से अन्तिम सर्वार्थ सिद्धि विमान का विस्तार जम्बू द्वीप समान एक लाख योजन प्रमाण है। शेष मध्यवर्ती द्वितीयादि इन्द्रक विमानों का विस्तार क्रमशः अल्प २ प्रमाण है।

श्रेणिबद्ध विमानों का विस्तार (लम्बाई चौडाई) असंख्यात योजन प्रमाण है और प्रकीर्णक विमानों का विस्तार संख्यात योजन और असंख्यात योजन है। कई एक प्रकीर्णक संख्यात योजन विस्तार वाले हैं और कई एक असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। समस्त कल्प विमानों के पाँचवें भाग प्रमाण विमान तो संख्यात योजन विस्तारवाले हैं और शेष विमान असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। तथा अधोग्रैवेयकों में तीन विमान मध्य ग्रैवेयक में अठारह और उपरिम ग्रैवेयकों में सत्रह विमान एवं पंच अनुत्तरों में एक विमान संख्यात योजन

विस्तार वाला है। शेष सब असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। अर्थात् संख्यात योजन विस्तार वाले विमानों से चौगुने असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं।

सौधर्मादि छह युगलों के छह स्थान आनतादि चार स्वर्गों का एक स्थान तथा तीन तीन अधोग्रैवेयकादि का एक एक स्थान और अनुदिश व अनुत्तर का एक स्थान ऐसे ग्यारह स्थान हुए। उनमें से आदि के स्थान (सौधर्म-ऐशान युगल) में ग्यारह सौ इक्कीस योजन बाहुल्य (मोटाई) के धारक विमान हैं और शेष दश स्थानों में निन्यानवे निन्यानवे योजन प्रमाण बाहुल्य प्रतिस्थान कम होता चला गया है। प्रथम स्थान में ११२१ दूसरे से लेकर अन्ततक क्रमसे १०२२ ६२३ ८२४ ७२५ ६२६ ५२७ ४२८ ३२९ २३०, १३१ इस प्रकार विमानों का बाहुल्य (मोटाई) है।

विमानों का रंग

सौधर्म-ऐशान के विमान पाँच वर्णों के हैं। सानत्कुमार-माहेन्द्र कृष्ण वर्ण रहित चार वर्ण के हैं। ब्रह्मादि चारस्वर्गों में नीलवर्ण के भी विमान नहीं हैं शेषतीन वर्ण के हैं। शुक्रादि चार स्वर्गों मे लाल रंग के भी नहीं है शेष दो वर्ण के ही विमान पाये जाते हैं। आनत से लेकर अनुत्तर तक केवल शुक्लवर्ण के ही विमान हैं।

इन्द्र के निवास करने का विमान और उसका नाम

सौधर्म युगल के अन्तिम इकतीसवें पटल में इन्द्रक विमान से दक्षिण दिशा सम्बन्धी अठारहवें श्रेणिबद्ध विमान में तो सौधर्म इन्द्र निवास करता है और उत्तर दिशा के श्रेणिबद्ध के विमानों के अठारहवें विमान में ईशान इन्द्र निवास करता है। सानत्कुमार युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी सोलहवें श्रेणिबद्ध विमान में सानत्कुमार इन्द्र और उत्तर दिशा सम्बन्धी सोलहवें विमान में माहेन्द्र इन्द्र निवास करता है। ब्रह्म युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी चौदहवें श्रेणिबद्ध विमान में ब्रह्म इन्द्र निवास करता है। लान्तवयुगल के उत्तर दिशा सम्बन्धी बारहवें श्रेणिबद्ध विमान में लान्तव इन्द्रका निवास है। शुक्रयुगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी दशवें श्रेणिबद्ध विमान में शुक्र इन्द्र का निवास है। शतार युगल के अन्तिम पटल के उत्तर दिशा सम्बन्धी आठवें श्रेणिबद्ध विमान में शतार इन्द्र का निवास है। आनत युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी छठे श्रेणिबद्ध विमान में आनत इन्द्र का निवास है और उत्तर दिशा के विमान में अच्युत इन्द्र का निवास है।

जिस विमान में इन्द्र का निवास है, उस विमान का नाम स्वर्ग के नाम पर है। जैसे सौधर्म इन्द्र जिस विमान में निवास करता है उसका नाम सौधर्म है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

इन्द्रों के नगर

सौधर्मादि चार स्वर्गों के चार स्थान ब्रह्म युगलादि चार युगलों के चार स्थान आनतादि चारस्वर्गों का एक स्थान इन नवस्थानों मे अपनी २ देवांगनाओं सहित इन्द्रों के नगर हैं। उनमे से सौधर्म में चौरासी हजार योजन प्रमाण ऐशान में अस्सी हजार सानत्कुमार में बहत्तर हजार, माहेन्द्र मे सत्तर हजार ब्रह्मयुगल मे साठ हजार, लान्तव युगल मे पचास हजार शुक्र युगल में चालीस हजार शतार युगल में तीस हजार आनतादि चार स्वर्गों में बीस बीस हजार योजन प्रमाण विस्तार के धारक चौकोर रमणीय नगर हैं। इन नगरों के चारों ओर बहुत ऊँचे २ सुन्दर प्राकार (कोट) हैं और उनके चारों दिशाओं में चार चार गोपुर (दरवाजे) हैं।

ऐसे पाँच पाँच कोट प्रत्येक नगर के हैं। एक कोट से दूसरे कोट के बीच का अन्तराल तेरह लाख योजन से लेकर चौरासी लाख योजन तक का है। पाँच कोटों के चार अन्तराल होते हैं। उनमें से पहले अन्तराल में सेना के अध्यक्ष और अंगरक्षक देव रहते हैं। दूसरे में तीन जाति के पारिषद देव रहते हैं। तीसरे मे सामानिक देव निवास करते हैं। तथा चौथे अन्तराल में अश्वादिपर चढ़ने वाले देव आभियोग्य देव और किल्विषजाति के देव अपने २ योग्य भवनों में रहते हैं। उक्त पाँचवें कोट से आधेलाख योजन की दूरी पर नन्दनवन है। वहाँ के वन आनन्द देन वाले हैं इसलिए उन्हें सामान्यरूप से नन्दनवन कहते हैं। वैसे तो उनका नाम पृथक् पृथक् है। उन वनों में चम्पक, आम्र अशोकादि सुन्दर व सुगन्धमय अति सुहावने वन हैं। पद्म हृद के समान हृद (सरोवर) हैं और प्रत्येक वन में एक एक चैत्य वृक्ष है। सौधर्मादि स्वर्गों में चारों वनों में चार चैत्यवृक्ष हैं। प्रत्येक चैत्यवृक्ष जम्बूवृक्ष के समान प्रमाण वाला है। प्रत्येक चैत्यवृक्ष के चारों पार्श्वभागों में एकएक पल्यंकासन जिनप्रतिमा विराजमान है।

उन वनखंडो से कई योजन दूर पर पूर्वादि दिशाओं मे लोकपालों के नगर हैं जो साढ़े बारह लाख योजन विस्तार वाले हैं। उनके समीप अग्नि कोणादि चारों विदिशाओं में गणिका महत्तरियों के लाख लाख योजन के लंबे चौड़े नगर बने हैं। (वेश्याओं के समान जो देवांगनाएं होती हैं उन्हें गणिका कहते हैं। और उनमें जो प्रधान देवांगनाएं होती है उन्हे गणिका-महत्तरी कहते हैं।)

महादेवियाँ और उनकी विक्रिया परिवारादि का वर्णन—

सम्पूर्ण इन्द्रों के आठ आठ महादेवियाँ होती हैं। सौधर्मादि छह युगलों के छहस्थान और आनतादि चार स्वर्गों का एक स्थान इस सात स्थानों में एक एक महादेवी का परिवार देवियाँ महादेवी सहित आधी आधी होती हैं। अर्थात् क्रमसे सोलह हजार आठ हजार चार हजार दोहजार एक हजार पाचसौ और ढाइसौ होती हैं। आठ २ महादेवियों में से प्रत्येक महादेवी के मूल शरीर सहित सोलह सोल

हजार वैक्रियिक शरीर होते हैं। तथा उक्त सातों स्थानों में से शेष छहस्थानों में दूने दूने वैक्रियिक शरीर होते हैं। अर्थात् प्रथम सौधर्म युगल स्थान की महादेवी अपने मूल शरीर सहित सोलह हजार वैक्रियिक शरीर बनाती है। सानत्कुमार युगल की महादेवी बत्तीस हजार वैक्रियक शरीर धारण करती है। इसी प्रकार आगे आगे के स्थानों की महादेवियां दूने २ वैक्रियिक शरीर बनाती हैं। इस तरह अन्त के आनतादि स्थान की महादेवियाँ दसलाख चौबीस हजार वैक्रियिक शरीर बनाती हैं।

देवियों के परिवार में जो देवियाँ इन्द्र की वल्लभा (प्यारी) होती हैं उन्हें वल्लभिका कहते हैं। उक्त सात स्थानों में अर्थात् छह युगलों के छह और आनतादि का एक स्थान इस प्रकार सातस्थानों में क्रमसे बत्तीस हजार आठहजार दोहजार पांचसो अढाईसो सवासौ और अन्त में तिरसठ वल्लभिकाएं होती हैं।

इन्द्र के आस्थान–मण्डप का स्वरूप

अमरावती नामक इन्द्र का पुर है। उसके मध्य इन्द्र के निवास करने के मन्दिर से ईशान विदिशा में सुधर्मा नामक आस्थान मण्डप अर्थात् सभास्थान है। वह सौ योजन लम्बा पचास योजन चौड़ा और पिचहत्तर योजन ऊँचा है। उसके पूर्व, उत्तर और दक्षिण दिशा में तीन द्वार हैं। उनमें से प्रत्येक द्वार की चौड़ाई तो आठ योजन और ऊँचाई सोलह योजन है। उस आस्थान के मध्य भाग में इन्द्र का सिंहासन है। उसके सिंहासन के सामने आठ महादेवियों के आठ आसन हैं। उन महादेवियों के आसन के बाहर पूर्वादि दिशाओं में १ सोम, २ यम ३ वरुण और ४ कुबेर इन चार लोकपालों के चार आसन हैं। तथा इन्द्र के आसन से आग्नेय दक्षिण और नैऋत्य दिशा में तीन प्रकार के परिषदों के क्रमसे बारह हजार चौदह हजार सोलह हजार आसन हैं। तथा त्रायस्त्रिंशत् देवों के तेतीस आसन भी नैऋत्य दिशा में ही हैं। पश्चिम दिशा में सेनाध्यक्षों के सात आसन हैं। वायव्य और ईशान दिशा में सामानिक देवों के आसन हैं। सौधर्म के चौरासी हजार सामानिक देवों के आसनों में से बियालीस हजार तो वायव्य दिशा में और बियालीस हजार ही ईशान दिशा में हैं। अंगरक्षक देवों के आसन चारों दिशाओं में हैं। और वे प्रत्येक दिशा में चौरासी हजार हैं। ये आसन सुधर्मा सभा सम्बन्धी हैं।

मानस्तम्भ और करण्डक

उस आस्थान-मण्डप के सामने पीठ सहित एक मानस्तम्भ है जो एक योजन चौड़ा व बत्तीस योजन ऊँचा है। उसके सोलह धाराएं हैं प्रत्येक धारा एक कोश के विस्तार (लंबाई) की धारक हैं। यहाँ मानस्तंभ बारह कोने वाला गोल है।

उस मानस्तम्भ में रत्ननिर्मित सांकले हैं। उनमें रत्नमय करण्डक (पिटारे) हैं। वे चौथाई कोश प्रमाण चौडे और एक

कोश प्रमाण लम्बे है। उनमें तीर्थंकर देवों के पहनने योग्य आभरण भरे रहते हैं। इन्द्र इनमें से आभरण निकालकर तीर्थंकरों के लिए पहुँचाता है। छत्तीस योजन ऊंचा मानस्तम्भ है। उसमें ऊपर से सवा छह योजन नीचे तक और नीचे पौने छह योजन की ऊँचाई तक करण्ड नहीं पाये जाते हैं मध्य में चौबीस योजन की ऊँचाई में करण्ड पाये जाते हैं

सौधर्म स्वर्ग में जो मानस्तम्भ पर करण्ड हैं, उनमें भरत क्षेत्र सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। ईशान स्वर्ग में मानस्तम्भ पर जो करण्ड हैं उनमें ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। सानत्कुमार स्वर्ग में मानस्तम्भ पर जो करण्ड हैं उनमें पूर्वविदेह सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। माहेन्द्र स्वर्ग में मानस्तम्भ पर जो करण्ड हैं उनमें पश्चिम विदेह सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। मानस्तम्भों पर तीर्थंकरों के आभरण पाये जाते हैं, इसलिए वे देवों से पूज्य हैं।

इन्द्र का उत्पत्ति-गृह

उक्त मानस्तम्भ के निकट आठ योजन चौड़ा लम्बा और उतना ही ऊँचा उपपाद गृह है। उसमें दो रत्नमयी उपपादशय्या बनी हैं। यहाँ इन्द्र का जन्म स्थान है। इसके समीप अनेक शिखरों से अलंकृत परमोत्कृष्ट जिन मन्दिर है।

कल्पवासिनी देवांगनाओं के उत्पत्ति-स्थान

स्वर्गों की सब देवांगनाएँ सौधर्म और ऐशान इन दो स्वर्गों में ही जन्म लेती हैं। ऊपर देवियों का जन्म नहीं होता है। दक्षिण दिशा के स्वर्गों से सम्बन्ध रखने वाली देवांगनाएँ तो सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होती हैं और उत्तर दिशा के स्वर्गों से सम्बन्ध रखने वाली देवांगनाएँ ऐशान स्वर्ग में उत्पन्न होती हैं। जिन विमानों में देव नहीं हैं, केवल देवांगनाएँ ही पाई जाती हैं ऐसे विमान सौधर्म स्वर्ग में चार लाख हैं। उनमें जब देवियाँ उत्पन्न हो जाती हैं तब जिस देव की जो नियोगिनी होती है उस देवी को वह देव वहाँ आकर अपने २ स्वर्ग स्थान में ले जाता है। शेष सौधर्म स्वर्ग में छब्बीस लाख और ऐशान में चौबीस लाख विमान ऐसे हैं जो देवों और देवियों से सम्मिश्र हैं। उनमें देव भी उत्पन्न होते हैं और देवियाँ भी उत्पन्न होती हैं।

देवों का प्रवीचार

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में काय से प्रवीचार (काम-सेवन) होता है। उक्त दोनों स्वर्गों के देव-देवांगना मनुष्य जैसे काम सेवन करते हैं वैसे काम सेवन करते हैं। ऊपर के दो स्वर्ग (सानत्कुमार-माहेन्द्र) के देव-देवांगना परस्पर शरीर का स्पर्श करके काम सेवन

की अभिलाषा का पूर्ण करते हैं। उनको शरीर स्पर्श करने मात्र से तृप्ति होती है। ब्रह्मादि चार स्वर्गों में देव-देवाङ्गना एक दूसरे का रूप देखकर काम-तृप्ति का अनुभव करते हैं। शुक्रादि चार स्वर्गों के में देव देवाङ्गनाएँ एक दूसरे का शब्द सुनकर तृप्त हो जाते हैं। तथा इनके ऊपर आनतादि चार स्वर्गों के देव देवाङ्गनाएँ मन में संकल्प करके तृप्ति का अनुभव करते हैं। इनके ऊपर ग्रैवेयक आदि में अहमिंद्र हैं उनके प्रवीचार नहीं होता है। वे काम-सेवन की भावना से रहित हैं।

वैमानिक देवों की विक्रिया, गमन-शक्ति और अवधिज्ञान

अधोदिशा में (नीचे के क्षेत्र में) विक्रिया करके देव जितने क्षेत्र तक जा सकते हैं अवधि-ज्ञान द्वारा उतने ही क्षेत्र में स्थित पदार्थों को जान सकते हैं। देवों के नीचे गमन करने की शक्ति और अवधिज्ञान द्वारा पदार्थ को जानने की शक्ति ये दोनों समान होती है। इसलिए इन दोनों का एक साथ वर्णन करते हैं। सौधर्मादि दो स्वर्गों के देवों की विक्रियाशक्ति व अवधिज्ञानशक्ति प्रथम नरक पृथ्वी पर्यन्त है। सानत्कुमारादि दो स्वर्गों में दूसरी पृथ्वी पर्यन्त है। ब्रह्मादि चार स्वर्गों मे तीसरी पृथ्वी पर्यन्त है। शुक्रादि चार स्वर्गों में चौथी पृथ्वी पर्यन्त है। आनतादि चार स्वर्गों में पाँचवीं पर्यन्त है। नवग्रैवेयकों में छठी पृथ्वी पर्यन्त है। अनुदिश व अनुत्तर निवासियों की सातवीं पृथ्वी पर्यन्त है। सम्पूर्ण देवों का ऊर्ध्व दिशा सम्बन्धी अवधिज्ञान अपने २ स्वर्ग के ध्वजादण्ड पर्यन्त ही होता है। इससे ऊपर के क्षेत्र को अवधि ज्ञान से नहीं जान सकते हैं। नव अनुदिशवासी देव अपने विमान के शिखर से लेकर नीचे के बाह्य तनुवातवलय पर्यन्त (कुछ कम चौदह राजू) क्षेत्र को अवधि ज्ञान द्वारा जानते हैं। अनुत्तर विमानवासी सम्पूर्ण लोकनाली को जानते हैं। सम्पूर्ण विमानवासी देव अवधिज्ञान से असंख्यात कोटि कोटि योजन प्रमाण क्षेत्र को जानते हैं। इतना विशेष है कि ऊपर ऊपर के देवों का ज्ञान अधिक २ होता है। और नीचे २ के देवों का हीन होता है। असंख्यात कोटि कोटि योजन क्षेत्र सामान्य रूप से कहा गया है।

अवधि ज्ञान के क्षेत्र का प्रमाण यहाँ प्रकरण पाकर संक्षेप से लिख दिया है। अवधिज्ञान के विषय भूत द्रव्य काल और भाव का स्वरूप ज्ञानाचार में अवधिज्ञान के वर्णन में विशद रूप से लिख आये हैं इसलिए यहां नहीं लिखा गया है। विशेष जानने की अभिलाषा हो तो वहाँ से जान लें।

सौधर्मादि देवों के जन्म व मरण का विरहकाल।

जितने काल पर्यन्त किसी का वहाँ जन्म न हो उसे जन्म का अन्तर और जितने काल पर्यन्त वहाँ पर किसी का मरण न हो उसे मरण का अन्तर कहते हैं। उत्कृष्ट रूप से सौधर्म और ऐशान दोनों स्वर्गों में सात दिन हैं। आगे के सानत्कुमारादि दो स्वर्गों में पन्द्रह

दिन ब्रह्मादि चार स्वर्गों में एक मास शुक्रादि चार स्वर्गों में दो मास आनतादि चार स्वर्गों में चार मास ग्रैवेयक आदि में उत्कृष्ट जन्म व मरण का अन्तर (विरह) छहमास है।

इन्द्रादि का उत्कृष्ट विरहकाल

इन्द्र और इन्द्र की पट्टदेवी और लोकपाल इनका विरहकाल छहमास है। सामानिक त्रायस्त्रिंश पारिषद् और अंगरक्षक इन का उत्कृष्ट विरहकाल चार मास है।

आभियोग्यादि अधम देव कैसी क्रिया व भावना से पर्याय पाते हैं ?

जो मनुष्य विशेष काम वासना से वासित होकर स्त्रीगमनादि काम चेष्टाएँ करते हैं कन्दर्प परिणाम युक्त रहते हैं वे स्वोपार्जित अन्य शुभ कर्म के अनुसार उत्कृष्ट से उत्कृष्ट ऐशान स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं वहां पर भी कन्दर्प जाति के ही देव होते हैं। जो मनुष्य गानादि संगीत से आजीविका करते हैं नाचन आदि के परिणाम से जिनका चित्त अनुरंजित रहता है वे कैल्विषिक परिणामवाले प्राणी स्वोपार्जित अन्य शुभ कर्म के अनुसार लान्तवस्वर्ग तक जन्म लेते हैं किन्तु वहाँ पर भी वे किल्विषिक जाति के देव ही होते हैं। जो मनुष्य पापक्रिया करते हैं तथा सेवक वृत्ति दास वादि धारण कर अपने हाथ से नाइ आदि की नीच क्रियाएँ करते हैं आभियोग्य भावना से भावित हैं वे अच्युत स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। और वहाँ पर भी वे आभियोग्य जाति के ही देव होते हैं। ये सब अपने अपने स्वर्ग सम्बन्धी जघन्य आयु को पाते हैं।

घातायुष्क की आयु

देवों की आयु हम पहले लिख आये हैं। केवल यहां पर घातायुष्क की आयु का विवेचन करते हैं।

किसी जीव ने पूर्वभव में अधिक आयु का बंध किया था वह पश्चात् परिणामों की विशेषता वश उसे घटाकर अल्प करदेता है तो उस जीव को घातायुष्क कहते हैं। आयु का घात दो प्रकार का होता है एक अपवर्तनघात और दूसरा कदलीघात। बध्यमान आयु का घटना तो अपवर्तनघात है और उदीयमान (भुज्यमान) आयु का घात करना कदलीघात है। यहाँ पर कदलीघात की संभावना ही नहीं होसकती क्योंकि अनपवर्त्य आयु है। इसलिए यहाँ पर अपवर्तनघात ही का ग्रहण किया है। पूर्वोक्त प्रकार घातायुष्क सम्यग्दृष्टि हो तो उस जीव के सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त पूर्वोत्कृष्ट आयु से आधे सागर अधिक आयु होती है। घातायुष्क की जघन्य आयु आधा सागर है यह सौधर्म युगल की अपेक्षा से है। आगे आगे की घातायुष्क की जघन्य आयु पूर्व पूर्व की उत्कृष्ट आयु प्रमाण है।

भवनत्रिक देवों में घातायुष्क सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की आयु

घातायुष्क यदि सम्यग्दृष्टि हो तो उसकी आयु भवनवासी में आधा सागर और व्यन्तर ज्योतिष में आधा पल्य आयु अपनी २ उत्कृष्ट आयु से अधिक होती है। यदि घातायुष्क मिथ्यादृष्टि हो तो उसकी सर्वत्र भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष और वैमानिक देवों में अपनी अपनी उत्कृष्ट आयु के प्रमाण से पल्य के असंख्यातवें भाग अधिक आयु होती है।

लौकान्तिक देवों का स्वरूप अवस्थान, आयु आदि का वर्णन

समस्त लौकान्तिक देव परस्पर में हीनाधिकता से रहित अर्थात् समान वैभव के धारक व विषयों से विरक्त होते हैं। देवों में ऋषि समान होते हैं। इसलिए उन्हें देवर्षि कहते हैं। उनका चित्त निरन्तर अनित्यादि अनुप्रेक्षा (भावना) के चिन्तन में रत रहता है। वे सम्पूर्ण इन्द्रादि के पूज्य होते हैं चौदह पूर्वों के ज्ञाता होते हैं तीर्थंकरों के निष्क्रमण कल्याण (तप कल्याण) के समय प्रतिबोध करने आते हैं। लौकान्तिक देवों की आयु आठसागर प्रमाण होती है। इतना विशेष है कि अरिष्ट जाति के लौकान्तिक देवों की आयु नवसागर प्रमाण होती है। वे सब अतिविशुद्ध सम्यग्दर्शन के धारक होते हैं। एक मनुष्य भव धारण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

वे ब्रह्मलोक (पाँचवेंस्वर्ग) के अन्त में निवास करते है। इसलिये उन्हें लौकान्तिक कहते हैं। सारस्वत आदित्य वह्नि अरुण गर्दतोय तुषित अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ क्रमश पूर्वोत्तरादि दिशाओं में निवास करते हैं।

अत्यन्त तीव्र अन्धकार रूप समुद्र समान गोलाकार एक तम स्कन्ध (अन्धकार का समूह) अरुण समुद्र से उत्पन्न हुआ है। वह मूल में असंख्यात योजन प्रमाण विस्तार (लम्बाई चौड़ाई) वाला है और ऊपर में क्रमसे बढता हुआ मध्य भाग व अन्त भाग में संख्यात योजन मोटा होकर कुक्कुट कुटी के समान ब्रह्म युगल के अरिष्ट इन्द्रक विमान के अधोभाग मे अवस्थित हुआ है। उसकी आठ अन्धकार पंक्तियाँ ऊपर की ओर उठकर अरिष्ट विमान के चारों तरफ हो गई हैं। वहा पर उनके चारों दिशाओं में दो दो विभाग हो गये हैं। और वे तिर्यक् लोक के अन्त तक फैल गई हैं। अर्थात आठ अन्धकार पंक्तियों की सोलह पंक्तियाँ होगई हैं। उन सोलह अन्धकार पंक्तियों के अन्तरालों में सारस्वतादि देव निवास करते हैं। पूर्वोत्तर कोण (ईशान) दिशा में सारस्वत विमान पूर्व दिशा में आदित्य विमान पूर्व दक्षिण (आग्नेय) दिशा में वह्नि विमान दक्षिण में अरुण विमान दक्षिण पश्चिम (नैऋत्य) दिशा में गर्दतोय विमान पश्चिम दिशा में तुषित विमान पश्चिम उत्तर (वायव्य) दिशा में अव्याबाध विमान और उत्तर में अरिष्ट विमान हैं। इन आठ भेदों के अन्तराल (मध्यप्रदेश) में अग्न्याभ-सूर्याभ आदि आठ जाति के लौकान्तिक देव हैं। वे इस प्रकार है—

सारस्वत-आदित्य के मध्य में अग्न्याभ-सूर्याभ जाति के देवों के विमान आदित्य और वह्नि के मध्य में चन्द्राभ-सत्याभ के विमान वह्नि और अरुण के मध्य में श्रेयस्कर क्षेमंकर के विमान अरुण और गर्दतोय के मध्य में वृषभेष्ट कामचर के विमान, गर्दतोय और तुषित के मध्य में निर्माणरज दिगन्तरक्षित तुषित और अव्याबाध के मध्य में आत्मरक्षित-सर्वरक्षित अव्याबाध और अरिष्ट के अन्तराल में मरुत-वसु अरिष्ट और सारस्वत के अन्तराल में अश्व-विश्व जाति के लौकान्तिक देवों के विमान हैं।

सारस्वत सातसौ सात आदित्य सातसौ सात वह्नि सातहजार सात, अरुण सातहजार सात गर्दतोय नवहजार नव तुषित नवहजार नव अव्याबाध ग्यारहहजार ग्यारह अरिष्ट ग्यारहहजार ग्यारह हैं।

अग्न्याभ देव सातहजार सात सूर्याभ देव नवहजार नव चन्द्राभदेव ग्यारहहजार ग्यारह सत्याभ तेरहहजार तेरह, श्रेयस्कर पन्द्रहहजार पन्द्रह क्षेमंकर सत्रहहजार सत्रह इस प्रकार आगे दो हजार दो प्रत्येक देवों में बढाने जाना चाहिए।

कल्पवासिनी देवियों की आयु का प्रमाण

सौधर्म-ऐशान युगल में देवांगनाओं की जघन्य आयु कुछ अधिक पल्य प्रमाण है। प्रथम स्वर्ग में उत्कृष्ट पाँच पल्य प्रमाण है। ऊपर के प्रत्येक स्वर्ग में जघन्य आयु पूर्व पूर्व स्वर्गयुगल की उत्कृष्ट आयु के प्रमाण है। तथा उत्कृष्ट आयु ऐशान स्वर्ग से लेकर सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त ग्यारह स्वर्गों में दो दो पल्य और आनतादि चार स्वर्गों में सात सात पल्य बढती गई है। प्रथम स्वर्ग में पाँच पल्य दूसरे में सात पल्य तीसरे में नव पल्य, चौथे में ग्यारह पल्य पाँचवें में तेरह पल्य छठे में पन्द्रह पल्य सातवें में सत्रह पल्य आठवें में उन्नीस पल्य नवें में इक्कीस पल्य दशवें में तेईस ग्यारहवें में पच्चीस, बारहवें में सत्ताईस, तेरहवें में चौतीस, चौदहवें में इकतालीस, पन्द्रहवें में अडतालीस और सोलहवें स्वर्ग में पचपन पल्य प्रमाण उत्कृष्ट आयु होती है।

देवों के उच्छ्वास और आहार के विषय में पूर्व लिख आये हैं। जितने सागर की देवों की आयु होती है उतने पक्ष बीतने पर वे उच्छ्वास लेते हैं। तथा उतने ही सागर बीतने पर उनके आहार की इच्छा होती है। जैसे सौधर्म युगल के देवों की आयु दो सागर की होती है। उन देवों के दो पक्ष के अन्तर पर उच्छ्वास होता है और दो हजार वर्ष के अन्तर पर आहार की इच्छा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार सब देवों में समझ लेना चाहिए।

गुणस्थान की अपेक्षा देवगति में जन्म

असंयत व देशसंयत मनुष्य और तिर्यंच अधिक से अधिक अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं। द्रव्य से जिन लिंग के धारक

(द्रव्य लिंगी मुनि) भाव से पहले चौथे या पाँचवें गुण स्थान में हैं तथा निरतिचार चरित्र का पालन करते हैं वे मरकर अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त जन्म लेते हैं उसके ऊपर नहीं जासकते। सम्यग्दृष्टि भाव-मुनि अर्थात् द्रव्य और भाव से मुनि धर्म का आचरण करनेवाले मुनि सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त जन्म धारण करते हैं। भोगभूमिज सम्यग्दृष्टि सौधर्मद्विक में उत्पन्न होते हैं। भोगभूमिज मिथ्यादृष्टि जीव भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं। पंचाग्नि आदि तपश्चरण करनेवाले तापसी उत्कृष्ट रूप से भवनत्रिक में जन्म धारण करते हैं। चरक एकदंडी त्रिदंडी सन्यासी अधिक से अधिक ब्रह्म स्वर्ग तक जन्म लेते हैं। कांजी आदि का आहार करनेवाले आजीवक साधु अधिक से अधिक अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं।

अनुदिश व अनुत्तर विमान से चयकर नारायण तथा प्रतिनारायण नहीं होते हैं।

सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र उसकी शची नामा महादेवी उसके सोम आदि चार लोकपाल और सानत्कुमार आदि दक्षिण इन्द्र सब लौकान्तिक देव और सब सर्वार्थसिद्धि के देव ये सब चयकर मनुष्य भव धारण कर नियम से निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

मनुष्यगति तिर्यचगति और भवनत्रिक से निकलकर जीव सीधे तिरेसठ शलाका के पुरुष नहीं होते हैं। (चौबीस तीर्थंकर बारह चक्रवर्ती नव नारायण नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र इनको शलाका-पुरुष कहते हैं)।

देवों के जन्म का वृत्तान्त।

जैसे उदयाचल पर सूर्य उदित होता है वैसे उपपाद शय्यापर अन्तर्मुहूर्त में छह पर्याप्ति पूर्ण करके मनोज्ञ सुगन्धमय सुख रूप स्पर्शवाले पवित्र शरीर का धारक देव उत्पन्न होता है। जन्म के समय वहाँ आनन्द रूप बाजे बजते हैं जय जयकार आदि स्तुति रूप शब्द होता है उन सबसे अपने को देव पर्याय मिली जानकर तथा वहाँ उपलब्ध हुए वैभव (ऐश्वर्य) व अपने देवांगनादि परिवार को देखकर भवप्रत्यय अवधिज्ञान से पूर्व जन्म के वृत्तान्त को जानकर वह देव धर्म की प्रशंसा करता है कि धर्म के आचरण से मैं ऐसे दिव्य सुख सामग्री से परिपूर्ण स्वर्ग को प्राप्त हुआ हूँ। इस प्रकार धर्म की स्तुति करके वह निर्मल सुगन्धमय जल से परिपूर्ण ह्रद में स्नान करता है। उसके बाद अन्य देव उसका पट्टाभिषेक करते हैं और दिव्य वस्त्राभूषण पहनाते हैं। सम्यग्दृष्टि देव तो स्वयमेव देवाधिदेव जिनेन्द्र का अभिषेक और पूजन करता है और मिथ्यादृष्टि देव अन्य देवों से संबोधित हुआ जिनेन्द्र भगवान की पूजन करता है। वहाँ के सब देव सुख रूप समुद्र में मग्न होते हुए व्यतीत काल को नहीं जानते हैं। तीर्थकरों का महापूजा और उनके गर्भादि पंच कल्याणकों में कल्पवासी देव आते हैं। और अहमिन्द्र देव अपने स्थानों में ही सात पैंड तीर्थकरों की दिशा में चलकर रत्नमय मुकुट के धारक अपने मस्तक पर अंजुलि लगाकर अति विनीत भाव से नमस्कार करते हैं।

देवाग्नि की विभूति किनको प्राप्त होती है ?

जिन जीवों ने अनेकप्रकार के तपश्चरणों से आत्मा को विभूषित किया है सम्यग्दर्शन से जिनकी आत्मा पवित्र है और सम्यग्ज्ञान से जिन की आत्मा में उज्ज्वल प्रकाश हो गया है जो शील से सौम्य हैं उनही को स्वर्ग-मुक्ति-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

ईषत्प्राग्भार नामक अष्टम पृथ्वी

तीन भुवन के मस्तक पर आरूढ ईषत्-प्राग्भार नामकी आठवीं धरा (पृथ्वी) है। उसकी चौड़ाई एकराजू, लम्बाई सात राजू और मोटाइ आठयोजन प्रमाण है। वह लोक के अन्ततक चली गई है। उस अष्टम धरा के मध्य में रूप्यमय उत्तान (ऊपर से चौड़ी नीचे से सकड़ी) श्वेत छत्र के आकार गोल सिद्धशिला है। जिसका व्यास (लम्बाई चौड़ाई) पैंतालीस लाख योजन प्रमाण—मनुष्य लोक क बराबर—है। उसकी मोटाइ मध्य मे आठ योजन प्रमाण है और चारों ओर से क्रम क्रमसे घटती चली गई है। उस सिद्धशिला के ऊपर में जो तनुवात है उसके अन्त भाग में सम्यक्त्वादि आठ गुणों से भूषित आनन्द से परिपूर्ण तृप्त सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं। इस लोक में जिस पुरुषपुंगव के सत्यज्ञान उत्पन्न होजाता है वस्तु का यथार्थ स्वरूप जिसके हृदय पटलपर प्रतिबिम्बित हो जाता है उसकी आत्मा में अद्वितीय सन्तोषामृतपानजनित अनुपम आह्लाद उत्पन्न होता है तब जो चराचर त्रिलोकवर्ती पदार्थों का साक्षात् अवलोकन करते रहते हैं जो अनन्त सुखादि के स्वामी है उनक आह्लाद का क्या ठिकाना ? चक्रवर्ती के सुख से भोगभूमिज मनुष्य का सुख अनन्त गुणा है। उससे अनन्तगुणा सुख धरणेंद्र के मानागया है। धरणेन्द्र स अनन्तगुणा देवेन्द्र के है। उससे अनन्तगुणा अहमिन्द्र के होता है। अतीत अनागत वर्तमान सम्बन्धी उन सब सुखों को एकत्र किया जावे तो उससे भी अनन्त गुणा सुख सिद्धों के क्षणमात्र से उत्पन्न होता है। यह कथन भी बिल्कुल ठीक नहीं है। क्योंकि अन्य सब संसारिक सुख आकुलतामय हैं, पराश्रित (इन्द्रियजन्य) हैं और सिद्धों का सुख निराकुल और आत्मोत्थ है। उस सुख का ठाक ठीक कथन करन की वचन मे शक्ति नहीं है वह वचनातीत है।

इस प्रकार लोक के आकार का और उसक मध्यवर्ती क्षेत्रादि का तथा उनम निवास करनेवाले जीवों क कर्मानुसार प्राप्त अवस्थाओं का चिन्तन करने से आत्मा मे धर्माचरण की रुचि विशेष जागृत होती है। लोक में जिन प्राणियों ने धर्मपालन किया व परभव म स्वर्गादि सम्बन्धी दिव्य सुखों का अनुभव करते हुए निराकुल सिद्धावस्था को प्राप्त करके सदा के लिए सुखी बने। तथा जिन्होंने धर्माचरण की उपेक्षा की, मिथ्यात्व का सेवन किया, विषयसेवन में ही सुख समझा, हिंसादि पापों में ही मग्न रहे, उनको नरकादि के हृदयविदारक दुःख उठाने पड़े, अनन्त काल के लिए उस निगोद पर्याय की वेदना के पात्र बनना पड़ा जहां से कि निकलकर बाहर त्रस पर्याय म आना भी अति कठिन है। इत्यादि विचारों का लाभ लोक के स्वरूप का चिन्तन करने से होता है। अर्थात् लोक के स्वरूप का विधिवत् अभ्यास करन से लोक

में कहाँ कहाँ कितना दु ख है और कहाँ कहाँ कितना सुख है तथा नित्य निराकुल सुख कहाँ है—यह सब समझ में आजाता है जिससे कि धम से प्रेम व पाप म भय उत्पन्न होता है और जीव का सुधार होता है। इसलिए लोकानुप्रेक्षा को बार-बार भा ो और अपने को कल्याण माग मे लगा रक्खो।

अशुचि (अशुभ) अनुप्रेक्षा

णिरएसु असुहमेय तमेव तिरिएसु बधरोहादी।
मणुएसु रोगसोगादय तु दिवि माणस असुह ॥ ३ ॥ (मूला द्वा०)

अथ—नरकों में सर्वदा और सर्वप्रकार दु ख हो होता है। वहाँ पर लेशमात्र भी (सुख) नहीं है। तिर्यचों म बध बन्धन रोध आदि जन्य दु ख प्राप्त होता है। मनुष्यों मे रोग-शोकादि क निमित्त से निरन्तर संक्लेश उत्पन्न होता है तथा देवों में मानसिक दु ख सताप आत्मा को नित्य जलाता है।

और भी कहा है—

असुहा अत्था कामा य ह ति देहो य सव्वमणुयाणम्।
एओ चेव सुभो णवार सव्व सोक्खायरो धम्मो ॥ १८१३ ॥ (भ० आ०)

अथ—अर्थ(धन) और काम (विषयाभिलाषा) अशुभ है। मनुष्यों का शरीर अशुभ है। संसार में सब जीवों को सुख देने वाला एक धम ही शुभ है। अर्थात् अथ कामादि सब आत्मा को अशुचि-अपवित्र करने वाले हैं। आत्मा को पवित्र करने वाला व सदा का अनुभव कराने वाला संसार मे यदि कोई है तो वह एक धर्म ही है।

धन के लोभ से यह प्राणी राजदण्डादि भावी दु ख को परवाह न करके चोरी करता है। उत्तम कुल के अयोग्य अन्याय माग पर गमन कर जनता म निन्दनीय होता है। परलोक में नरकादि के दु खों को भोगता है अत धन मुक्ति का शत्रु सब अनर्थों का मूल कारण और महाभ ता जनक है।

विषय महाअपवित्र वघृणित शरीर से उत्पन्न होते हैं और वह शरीर रूपी कुटी (झोंपड़ी) अस्थि (हड्डी) रूपी पत्तों से बनी है। नसाजाल रूपी त्वचा (वक्कल) से बंधी है। मांसरूपी मिट्टी से लीपी पोती गई है और अपवित्र रक्त चर्बी मल मूत्रादि से भरी है और ग्लानि उत्पन्न करने वाली है। जिस प्रकार लकड़ी का कोयला जलादि से धोने पर भी शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार यह देह पवित्र और सुगन्धित जलादि पदार्थों से निरन्तर धोने रहने पर भी कभी पवित्र नहीं होती। बल्कि यह उन पवित्र और सुगन्धित जलादि को अपवित्र और दुर्गन्धमय बना देती है। क्या मल (विष्टा) से भरा हुआ घड़ा जलादि के द्वारा धोने पर कहीं पवित्र हो सकता है? यदि नहीं तो क्या महा अपवित्र रुधिरादि से भरा हुआ यह शरीर जलादि से पवित्र हो सकता है? सर्वथा पवित्र तो एक रत्नत्रय रूप धर्म ही है जिसका भली भाँति आचरण करने से जल्लौषधि मलौषधि आदि अनेक ऋद्धियाँ मुनि को उत्पन्न होती हैं। जिनसे मुनि के शरीर के स्वेद मल मूत्रादि अपवित्र पदार्थ औषधि रूप हो जाते हैं और उनके स्पर्श को प्राप्त हुई वायु भी जीवों के भयानक और असाध्य रोगों का क्षण भर में ध्वंस करती है। अतः धर्म ही परमपवित्र है, जो अपवित्र पदार्थों में पवित्रता और अद्भुत शक्ति उत्पन्न करता है।

हे मुने! धर्म में पवित्रता इसलिए है कि वह परम पवित्र शुद्ध आत्मा से उत्पन्न होता है और यह शरीर अपवित्र इसलिए है कि इसका उपादान कारण भी अपवित्र है।

वही कहा है—

कणिका शुद्धितः शुद्धः कणिकाघृतपूरकः।
वर्चोबीजः कथं देहो विशुद्ध्यति कदाचन ॥ १०३४ (सं म आ)

अर्थ—गेहूँ के आटे से बना हुआ घृतपूरक (घेवर) शुद्ध है क्योंकि उसका कारण गेहूँ का आटादि शुद्ध है। रक्त और वीर्य से उत्पन्न हुआ शरीर कैसे शुद्ध हो सकता है? क्योंकि उसका उपादान कारण अशुद्ध है।

शरीर की उत्पत्ति का क्रम —

कललगदं दसरत्तं अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं।
थिरभूदं दसरत्तं अच्छदि गब्भम्मि तं बीयं ॥ १००७ ॥

तत्तो मास बुब्बुदभूद अच्छाद पुणो ।व घणभूद ।
जायदि मासेण तदो मसप्पेसी य मासेण ॥ १ ०८ ॥

मासेण पच पुलगा तत्ता हु ति हु पुणो वि मासेण ।
अ गाणि उवगाणि य णरस्स जायति गब्भम्मि ॥ १० ६ ॥

मासम्मि सत्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती ।
फदणमट्ठममासे णवमे दसमे य णिग्गमण ॥ १०१० ॥ (भ आ)

अर्थ—माता के उदर के भीतर गर्भाशय (बच्चेदानी) में पहुचा हुआ माता का रज और पिता का वीर्य दश दिन पर्यन्त कलल पर्याय में रहते हैं । अर्थात् अग्नि के सयोग स पिघले हुए ताबे और चादी के समान रहते हैं । तथा दशदिन पर्यन्त कलुषित (मिश्रित मलान) अवस्था में रहते । पश्चात् दशदिन पर्यन्त दृढ अवस्था में रहते हैं । इस प्रकार एक मासक में रजोवीर्य की तीन अवस्थाए होती हैं ।

इसके अनन्तर दूसर मास मे उसकी बुलबुले की सी अवस्था होती है । तीसरे मास में वह कठिन (ठोस) हो जाता है । इसक बाद वह चतुर्थ मास में मास की पेशी (डली) के आकार होता है । पाँचव मास में उस मासपेशी से पाँच अ कुर निकलते हैं । नीचे के दो अ कुरों से दो पाँव बीच के दो अ कुरों से दो हाथ और ऊपर के अ कुर से मस्तक का प्रारंभ होता है । उक्त अवयवों की अ कुरावस्था रहती है । तदन्तर छठे मास में हाथ पाँव नितम्ब (चूतड) छाती पीठ और मस्तक इन आठ अ गों निर्माण होता है तथा आँख, कान नाक कपोल ओष्ठ अ गुलि आदि उपागों की रचना होती है । सातवें मास में गर्भ के अवयवों पर चम और रोम की उत्पत्ति होती है और हाथ पावों क नख उत्पन्न होते हैं । आठवें मास में उस गर्भ में हलन चलन किया होने लगती है । नववें या दसवें मास में गर्भस्थ बालक उदर से बाहर निकलता है । अर्थात् कभी नवव या कभी दशवें मास में जन्म होता है ।

जिनसे यह शरीर बना है उन घृणित पदार्थों का नाम मात्र उच्चारण करने से आगम में भोजन-अन्तराय बताया है । फिर ऐसे शरीर से प्रेम करना क्या उचित है ? इस शरीर में सिवाय अशुचि पदार्थों के अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो पवित्र हो ।

शरीर के स्वरूप का वर्णन प्रथम किरण मे पृष्ठ ७४ पर कर आये हैं। इस महा अपवित्र पदार्थों से भरे हुए शरीर में जो राग करेगा उसे पुन गर्भ में निवास करना पडेगा। गर्भ में जीव की कैसी दशा होती है ? सुनिए —

असुइ विलविल ग भ वसमाणा वत्थि पडल पच्छण्णो।
मादुइ सेभलालाइय पु तिव्वासुह पिवदि ॥ ३३ ॥ (मू. आ)

अर्थ—मूत्र विष्टा कफ पित्त रुधिरादि से घृणित माता के उदर मे निवास करता हुआ प्राणी जरायु से आवृत (ढका हुआ) रहता है। वहाँ पर माता के द्वारा भक्षणकिये हुए भोजन से बना हुआ जो कफ और लार मिश्रित रस है जिसमें भयानक दुर्गन्ध होती है, उसे पीता है। गर्भ में यह जीव जब ऐसे महा अपवित्र आहार का ग्रहण करता है तब सोचना चाहिए कि जिस शरीर की उत्पत्ति का मूल कारण ही अशुचि है जिसके प्रारंभ का आहार भी अपवित्र है तथा संसार मे जितने घृणाकारक पदार्थ हैं वे जिसमें सदा भरे रहते हैं उसमें अनुराग की कौनसी वस्तु है ? इसमें जो जीव का अनुराग होता है उसका अज्ञान और मोह के सिवा कोई कारण दृष्टि-गोचर नहीं होता। क्या कोई बुद्धिमान विष्टा रुधिरादि से भरे पात्र को शुचि समझेगा और उससे प्रेम करेगा ? जीव को अन्धा बनाने वाले इस मोह को धिक्कार हो।

शुद्धि के भेद

शुचिपना (शुद्धि) दो प्रकार का मानागया है—१ लौकिक और २ लोकोत्तर। लौकिक शुचिता का श्रावकधर्म में विस्तृत वर्णन किया जावेगा क्योंकि यहाँ उसका सम्बन्ध नहीं। मुनियों के लोकोत्तर शुचिता मानी गई है। लेकिन नाम निक्षेप मात्र यहाँ भी लौकिक शुद्धि का निरूपण करदेते हैं।

लौकिक शुद्धि के ८ भेद और उनका स्वरूप

लौकिक शुद्धि आठ प्रकार की मानी गई है—१ कालशुद्धि २ अग्निशुद्धि ३ भस्मशुद्धि ४ मृत्तिकाशुद्धि ५ गोमयशुद्धि ६ जलशुद्धि ७ पवनशुद्धि और ८ ज्ञानशुद्धि। श्री राजवार्त्तिक में पवन शुद्धि के बजाय निर्विचिकित्सा शुद्धि मानी है। ये आठों शुद्धिया शरीर को शुद्ध करने में असमर्थ हैं।

१ कालशुद्धि—रजस्वला स्त्री तीन रात्रि बीतने पर शुद्ध होती है। सूतक की शुद्धि दश दिन में और पातक-शुद्धि बारह दिन में मानी गई है। इत्यादि

२ अग्निशुद्धि—शूद्रादि से स्पर्श किये हुए धातु-निर्मित पात्र अग्नि में तपाने पर शुद्ध माने गये हैं।

३ भस्मशुद्धि—भोजन के उच्छिष्ट बर्त्तन भस्म से माजने पर शुद्ध होते हैं।

४ मृत्तिकाशुद्धि—मलमूत्रादि के हाथों को तथा उच्छिष्टादि के बर्त्तनों को मृत्तिका से धोने पर पवित्र माने गये हैं।

५ गोमयशुद्धि—भूमि को गोमय (गोबर) से लीपने पर उसकी शुद्धि होती है।

६ जलशुद्धि—वस्त्रादि की शुद्धि जल से धोने पर होती है तथा कर्मादि शरीर के लग जाने पर या अस्पृश्य पदार्थों का स्पर्श होने से जलस्नान करने पर शुद्धि मानी गई है।

७ पवनशुद्धि—भूमि पाषाण काष्ठ-कपाट आदि की शुद्धि पवन से मानी गई है।

८ ज्ञानशुद्धि—ज्ञान द्वारा शुद्धि को ज्ञान शुद्धि कहते हैं। कालाध्ययनादि ज्ञान का विनय कर ज्ञान की आराधना भी ज्ञानशुद्धि है।

इस प्रकार लौकिक शुद्धि का संक्षेप से वर्णन किया। मुनिमार्ग में लोकोत्तर शुद्धि कार्य-कारिणी है अतः अब उसका वर्णन करते हैं—

लोकोत्तर शुद्धि के आठ भेद और उनका स्वरूप

श्री भट्टाकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक में लोकोत्तर शुद्धि आठ प्रकार की कही है—१ भावशुद्धि २ कायशुद्धि ३ विनयशुद्धि ४ ईर्यापथशुद्धि ५ भिक्षाशुद्धि ६ प्रतिष्ठापनशुद्धि ७ शयनासन शुद्धि ८ वाक्यशुद्धि।

१ भावशुद्धि—कर्मों के क्षयोपशम से मोक्षमार्ग में रुचि उत्पन्न होने से तथा रागादि के अभाव से जो आत्म-विशुद्धि होती है वह भावशुद्धि है।

२ कायशुद्धि—निराभरण संस्कार रहित, अंगविकार से शून्य यथाजातरूप को धारण करने वाली प्रफुल्लित वदन जो शरीर की परम शान्त वृत्ति है वह कायशुद्धि है।

३ विनयशुद्धि—परमभट्टारक श्री अरिहंत देव में पूज्य गुरुओं में तथा ज्ञानादि गुणों में यथायोग्य भक्ति का होना गुरु के अनुकूल सदा प्रवृत्ति करना आगम का पठन पाठन करना तथा मनन करने के पश्चात् द्रव्य क्षेत्र कालादि के अनुसार आगमानुकूल उपदेश करना आचार्य की अनुमति के अनुसार प्रवृत्ति करना विनय शुद्धि मानी गई है।

४ ईर्यापथशुद्धि—नाना प्रकार के जीवों के स्थानों व उत्पत्ति के स्थानो को जानकर जीवों की पीड़ा का परिहार करने के लिए सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित चार हाथ भूमि को अपने नेत्रों से पूर्ण सावधानतया शोधते हुए चलना न तो बहुत शीघ्र चलना न बहुत विलम्ब करते हुए चलना संभ्रान्तचित्त होकर न चलना इधर उधर दिशाओं का अवलोकन करते हुए न चलना किन्तु सम्मुख मार्ग पर दृष्टि रखते हुए—खोये हुए रत्न को ढूढने वाले मनुष्य के समान उपयोग पूर्ण दृष्टि से मार्गस्थ जीवों को बचाते हुए—गमन करना ईर्यापथशुद्धि कही जाती है।

५ भिक्षाशुद्धि—जिसने लौकिक और लोकोत्तर प्रवृत्ति का ज्ञान प्राप्त करलिया है पिच्छिका से शरीर के ऊपर के और नीचे के भाग का प्रमार्जन कर लिया है जो आचार शास्त्रोक्त काल और देश को जान कर उसमें प्रवृत्ति करने में कुशल (प्रवीण) है जिसको आहारादि पदार्थों की प्राप्ति में हर्ष और अप्राप्ति में विषाद नहीं होता है जिसका चित्त मान से संतुष्ट और अपमान से कुंठित नहीं होता है जो लोक-निंद्य कुलों में गोचरी नहीं करता है जो दीन व अनाथशाला का तथा विवाह याग सम्बन्धी घरों का भोजन ग्रहण नहीं करता है भोजन के अलाभ में जिस के चित्त पर लेश मात्र दीनता प्रकट नहीं होती आचार शास्त्रोक्त निर्दोष व निरन्तराय प्रासुक आहार से ही वैयावृत्यादि करने के लिए अपने शरीर का रक्षण करता है सरस नीरस आहार में तथा लाभ व अलाभ में जो समान वृत्ति वाला है, सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित युवति के द्वारा दिये हुए घास को चरने में ही जैसे गाय लगी रहती है और उस युवति के सौन्दर्य वस्त्राभूषण और हाव भाव के अवलोकन करने में निरुत्सुक होती है उसी प्रकार मुनीश्वर भिक्षा(भोजन)परोसने वाले मनुष्यों के सुन्दर ललित रूप वेष भूषा विलासादि के तथा उनके द्वारा की गई आहार पान की योजना के अवलोकन करने में निरुत्सुक हुआ यथाप्राप्त निरवद्य सरस नीरस आहार को ग्रहण करता है उसे मुनि के भिक्षा शुद्धि मानी गई है।

६ प्रतिष्ठापनशुद्धि—शरीर के मलमूत्र कफ नख रोमादि का जन्तु रहित एकान्त स्थान में निक्षेपण करना जिससे कि किसी जन्तु को बाधा न हो और मनुष्यों को ग्लानि हो इसे प्रतिष्ठापन शुद्धि कहते हैं।

७ शयनासनशुद्धि—जिसस्थान पर स्त्री क्षुद्र-मनुष्य चोर मद्यपायी खटीक जुआरी आदि पापी मनुष्यों का निवास हो, जहा शृङ्गार रस का पोषण होता हो सुन्दर ललित वेषवती वेश्यादि का तथा नपुंसक गौ महिषी आदि तिर्यंचों का गमनागमन होता हो, तथा गीत नृत्य वादित्रादि का प्रचार हो रहा हो ऐसे स्थानों का परित्याग कर, जन्तु बाधा रहित अकृत्रिम पर्वत की गुफा वृक्ष कोटरादि में तथा सूने घरों में अपने उद्देश से रहित(खाली)किये गये या खाली कराये गये स्थानों में शयनासन(सोने बैठने) को शयनासन-शुद्धि कहते हैं।

८ वाक्यशुद्धि—जिनसे पृथिवीकायिकादि जीवों के आरम्भ में प्रेरणा न हो, जिनमें दूसरे जीवों को पीड़ाजनक कटु

कठोर असुहावने वचनों का प्रयोग न हो जो व्रत शील के पोषण करने वाले हों इस प्रकार के हित मित और प्रिय वाक्यों के उच्चारण करने को वाक्यशुद्धि कहते हैं।

आस्रवानुप्रेक्षा

दुक्ख भय-मीण-पउरे ससार-महण्णवे परमघोरे।
जतु जतु णिमज्जदि कम्मासवहेदूय सव्व ॥ ३७ ॥ (मू० प्रा)

अर्थ—दु खभय रूपी मत्स्य जिसमें भरे हैं-ऐसे महाभयानक संसार-समुद्र में जो ये सब संसारी प्राणी डूबते हैं उसका मूल कारण आस्रव है।

भावार्थ—जिसकी आत्मा में राग-द्वेष मोह का निवास है उसके निरन्तर आस्रव होता रहता है। जिस भाव के द्वारा कर्मों का आगमन होता है उसे भावास्रव कहते हैं और कर्मों के आगमन को द्रव्यास्रव कहते हैं। आगम में मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषायादि को आस्रव कहा है वे सब राग द्वेष के ही परिणाम हैं। इनके निमित्त से आत्मा में निरंतर कर्मों का आगम होता रहता है। जैसे समुद्र में पड़े हुए जहाज के पैंदे में छेद होजाने पर उसमें निरन्तर जल भरता रहता है उसी प्रकार संसार समुद्र में पड़े हुए इस आत्मा के अन्दर भी राग द्वेष या मिथ्यात्वादि रूप छेद (आस्रव) हो रहे हैं उनके द्वारा निरन्तर कर्म आते रहते हैं। उनके निमित्त को पाकर आत्मा के साथ लगे हुए कार्माण-वर्गणा रूपुद्गल कर्म रूप बन जाते हैं।

कर्म बनने की योग्यता रखने वाले सूक्ष्म और बादर पुद्गल परमाणुओं से यह लोक ठसाठस भरा हुआ है। जो शरीर का हिलना चलना वचनों का उच्चारण तथा मन में भले बुरे विचार निरन्तर होते हैं उनसे आत्मा के प्रदेशों में क्रिया होती है और उससे वे कर्म-परमाणु खिंचते हैं तथा आत्मा से सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। जैसे अग्नि से तपा हुआ गोला जल के मध्य पड़ा हुआ चारों ओर से जल को खींचता है उसी प्रकार मन वचन काय की क्रिया से संतप्त आत्मा चारों ओर से कर्म परमाणुओं को प्रतिक्षण ग्रहण करता रहता है। ये आगत कर्म परमाणु तब तक कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते जब तक कि आत्मा में मिथ्यात्व अविरति आदि का सद्भाव न हो। जैसे सूखे घड़े पर लगी हुई रज चिकनाई के बिना उस पर नहीं ठहरती है-वायु के लगते ही दूर हो जाती है। अत यह सिद्ध है कि ये मिथ्यात्व, अविरति आदि ही कर्म-शत्रुओं को उत्पन्न करने वाले हैं। ये ही महाशत्रु हैं। आस्रव से बचने के लिए इनको अपनी आत्मा से हटाना चाहिए। इनका स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है—

वीतराग सर्वज्ञ अर्हंत भगवान् के द्वारा जो द्रव्य पदार्थ व तत्त्वों का स्वरूप वर्णन किया गया है उसका संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित श्रद्धान न करना ही मिथ्यात्व है। हिंसा, असत्य स्तेय (चोरी), अब्रह्म (मैथुन) और परिग्रह इनका त्याग न करना अविरति (असंयम) है। प्रशस्त क्रियाओं के आचरण करने में उदासीनता रखने को प्रमाद कहते हैं। क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय हैं। ये चारों राग द्वेष की सन्तान हैं। द्वेष से क्रोध-मान उत्पन्न होते हैं और राग से माया-लोभ की उत्पत्ति होती है। यह अज्ञानी जीव अपने हित अहित के विचार से पराङ्मुख हुआ अहित करने वाले शरीर, इन्द्रिय-विषय आदि में तो अनुराग करता है और हितकर अहिंसा, सत्य, क्षमा आदि धर्म के आचरण से विरक्त रहता है—उनसे द्वेष करता है। आत्मा के शत्रु जो विषय कषाय हैं उनको सुख देने वाले समझ अपनाता है। आत्मा के मित्र सम्यक्त्व संयमादि को दुःखद (शत्रु) समझ उनसे दूर भागता है।

दुर्लभ मनुष्य भव पाकर धर्माचरण की तो उपेक्षा करता है और विषयादि की अभिलाषा करता है। यह विवेकहीन कृत्य उस अविवेकी मनुष्य के समान है जो रत्न द्वीप में जाकर रत्नों का तो त्याग करता है और काष्ठ का भार ग्रहण करता है। अथवा उस पुरुष के समान है जो पूर्व पुण्य के योग से सुन्दर उपवन में पहुंच कर भी अमृत फल को छोड़कर विष फल का भक्षण करता है। यह नर भव पूर्व पुण्य के उदय से मिला है। इसे पाकर जीव को चाहिए कि वह इसे अमृतमय धर्म के पान करने में लगावे। विषयादि रूप विष का पान करके तो पहले ही इसने अनन्त काल पर्यन्त वचनातीत दुःख पाये हैं। इसलिए उनका त्याग करना ही इसके लिए हितकर है। जिस दुष्ट योग पाप जनक मन वचन काय की क्रिया से अशुभास्रव होता है वही जीव का शत्रु है, क्योंकि वही कर्म शत्रुओं का जनक है। अतः यहां शुभ अशुभ आस्रव का विशेष स्वरूप समझाते हैं। अनुकम्पा (दया) और शुद्धोपयोग पुण्य-कर्म के आस्रव द्वार हैं तथा इनसे विपरीत परिणाम पापास्रव के द्वार हैं। योग द्वारा आये हुए कर्मों में पुण्य (शुभ) रूप परिणमन के उत्पन्न होने को पुण्य कहते हैं, और अशुभ रूप परिणमन के उत्पन्न होने को पाप कहते हैं।

अनुकम्पा के तीन भेद और उनका स्वरूप

अनुकम्पा (कृपा) तीन प्रकार की है—१ धर्मानुकम्पा २ मिश्रानुकम्पा और ३ सर्वानुकम्पा। उनमें से धर्मानुकम्पा का स्वरूप इस प्रकार है—

धार्मिक पुरुषों पर भक्ति रूप परिणाम होने को धर्मानुकम्पा कहते हैं। उस धर्मानुकम्पा से प्रेरित हुआ विवेकी मनुष्य स्वशक्ति को न छिपाकर संयम में तत्पर रहने वाले संयमीजनों के योग्य अन्न-पान, औषध, वसती, उपकरणादि संयम के साधक पदार्थों का दान करता है। ऊपर आये हुए उपसर्गों का निवारण करता है। 'आज्ञा दीजिए, मैं आपकी सेवा में उपस्थित हूँ' इत्यादि मधुर वचनों का उच्चारण करता

हुआ उनकी सेवा में तत्पर रहता है। जिनको मार्ग में भ्रम उत्पन्न होगया है उन्हें सन्मार्ग का उपदेश देता है। संयमियों का संयोग पाकर आनन्द में विभोर होजाता है और भाग्य को सराहता है कि मैं बड़ा पुण्यवान हूँ जो ऐसे सत्पुरुषों का योग मिला है। सभा में उनके गुणों की महिमा गाता है। जो उन सत्पुरुषों के गुणों का कीर्तन करते हैं उनकी अनुमोदना करता है। उनका प्रतिक्षण स्मरण करता है ऐसे महाभाग का सत्समागम मुझे कब मिलेगा इस प्रकार उनके सम्मिलन की उत्कण्ठा रखता है। इत्यादि प्रकार से महापुरुषों की गुण-राशि में हर्ष प्रकट करने से महान् पुण्य का आस्रव होता है।

जिन्होंने असंयम का त्याग किया है मान-अपमान लाभ-अलाभ तृण-कंचन में समानबुद्धि करली है इन्द्रिय और मन को अपने वश करलिया है तीव्रकषाय और विषयों का त्याग किया है शरीर को नश्वर धन वैभव को क्षणभंगुर और दिव्य भोगों को रोग समझकर वैराग्य भावना में अपने को रंगलिया है संसार समुद्र से भयभीत होकर जो रात्रि में अल्पनिद्रा लेते और आत्मा की सुख साधना में सतत सचेत रहते हैं जो उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों में ऐसे मग्न रहते हैं मानो साक्षात् उत्तम क्षमादि धर्म ही शरीर धारण कर दर्शन दे रहे हों—ऐसे महात्माओं पर उक्त प्रकार से अनुकम्पा करने को धर्मानुकम्पा कहते हैं।

२ मिश्रानुकम्पा—महान् अनर्थ के मूल हिंसा आदि महापातकों का एक देश त्याग कर जो अणुव्रती बने हैं तथा सन्तोषामृत के स्वाद का अनुभव करते हैं तथा वैराग्य भावना से जिनका अन्तःकरण ओत प्रोत है, जो दिग्व्रत देशव्रत और अनर्थदण्डत्याग व्रत इन तीन गुणव्रतों का आचरण कर आत्मा के गुणों का विकास कर रहे हैं जिनके सेवन से महादोष प्रादुर्भूत होते हैं ऐसे भोग व उपभोग के पदार्थों का जिनने त्याग किया है जो पाप कृत्यों से डरकर नित्यप्रति यथाकाल स्वल्पदेश व किंचित्वस्त्रादि परिग्रह के सिवा अन्य सब पापकृत्यों का तथा परिग्रहादि का त्यागकर सामायिक करते हैं पर्वदिनों में सब आरंभ का त्यागकर जो उपवास कर धर्मध्यान में समय बिताते हैं जो अतिथि के आतिथ्य में आदर पूर्वक मन की परिणति लगाकर अपने को अहोभाग्य समझते हैं—ऐसे संयतासंयत (देशव्रती) पर अनुकम्पा करने को मिश्र-अनुकम्पा कहते हैं।

जो प्राणियों पर दया तो करते हैं किन्तु दया का यथार्थ स्वरूप नहीं समझते हैं जिनागम से बहिर्भूत अन्य पाखण्डी गुरुओं की सेवा करते हैं कोमल और कष्टदायक कायक्लेश करते हैं उन पर अनुकम्पा करना भी मिश्रानुकम्पा है। क्योंकि गृहस्थों की धर्म में प्रवृत्ति एक देशरूप है। उनको लौकिक व्यवहार और धर्म व्यवहार उभय का आचरण करना पड़ता है। जिस व्यवहार से सम्यक्त्व की हानि न होती हो ऐसी क्रिया करने में उसे दोष नहीं होता है। इसलिए वह अन्यधर्म के दयालु व दुखी आदि जनों पर और स्वधर्मी गृहस्थादि पर अनुकम्पा करता है। दोनों पर अनुकम्पा करने के कारण उसकी अनुकम्पा को मिश्र-अनुकम्पा कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि जो स्वभावत कोमलचित्त होकर दयासे आर्द्र हृदय होकर सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करते हैं उस दया को सर्वानुकम्पा कहते हैं। जिससे प्रेरित हुआ वह जीव अन्य प्राणियों के दु ख को अपने दु ख समान मानता हुआ उनको सुख पहुचाने के लिए प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखकर सतत प्रयत्नशील रहता है सत्य उपदेश देता है ऐसी सर्वानुकम्पा भी पुण्यास्रव का कारण होती है।

शुद्धोपयोग के भेद

शुद्धोपयोग अर्थात् शुद्धपरिणाम-दोप्रकार का है। मुनि का शुद्ध परिणाम और गृहस्थ का शुद्धपरिणाम।

मुनि का शुद्धोपयोग-निर्मल व्रतों का धारण निर्दोषशील का पालन स्वाध्यायतत्परता और ध्यानादि में तल्लीनता ये सब शुद्धोपयोग हैं। उनके आचरण से निज आत्मा का कल्याण और अन्यजीवों का उपकार होता है। इसके विपरीत आचरण करने वाला मुनि अपने धर्म को कलंकित करता है।

सिद्ध, अर्हत, आचार्य, उपाध्याय जिन-प्रतिमा संघ जिनधर्म-इन पर भक्ति रखना विषय से वैराग्य, गुणों पर प्रेम, गुरु आदि का विनय, इन्द्रिय व प्राणिसंयम, प्रमाद का त्याग कर सत्कृत्यों में सावधानता क्षमा, मार्दव आर्जव सन्तोष आदि गुणों का धारण आहारादि चार संज्ञाओं पर विजय, तीन शल्य और तीन गारव का त्याग, उपसर्ग और परिषहों पर विजय, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की वृद्धि सराग संयम धर्मध्यान इत्यादि गुणों को धारण कर जिनेन्द्र की भक्ति का उपदेश निःशङ्कितादि आठ गुण, तपस्याद्वारा कर्मक्षय करने की उत्कृष्ट भावना पाचसमिति और तीनगुप्ति आदि मुनियों का शुद्ध उपयोग है। यहाँ पर शुद्धोपयोग से निर्मल परिणाम का ग्रहण है जो शुभोपयोग और शुद्धोपयोग रूप होता है।

गृहस्थ का शुद्धोपयोग-जो व्रत धारण किया है उसका पालन करने की उत्कण्ठा रखना एक क्षण मात्र भी व्रतभंग को अनिष्ट व अकल्याण-कारक समझना। सदा मुनि-समागम की अभिलाषा रखना श्रद्धापूर्वक यथाविधि मुनि को आहारादि दान करना विषय भोगों के सेवन को रोगप्रतीकार का कारण समझते हुए उनका त्याग करने में सामर्थ्य न होने पर भी उनकी निन्दा करना और गृहवास त्याग करने की भावना करते रहना धर्म का श्रवण कर अत्यानन्द से उल्लासित होना भक्ति से गद्गद हो पंचपरमेष्ठी की स्तुति करना, वन्दना प्रणाम करना पूजा करना अन्यजनों को भी धर्म में लगाना उनको स्थिर करना उनके अज्ञानवश व प्रमाद कृत दोषों का उपगूहन करना (ढकना) साधर्मिक पुरुषों पर अतिप्रेम-वात्सल्य रखना जिनेन्द्र के भक्तों का उपकार करना जिनशास्त्रों का उद्धार प्रकाशन पठन एव पाठन करना जिनधर्म की प्रभावना करना आदि गृहस्थों के शुद्ध उपयोग हैं अर्थात् निर्मल शुभ परिणाम हैं।

उक्त अनुकम्पा और शुद्धोपयोग के विपरीत परिणामों से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है।

संवर–भावना

तम्हा कम्मासवकारणाणि सव्वाणि ताणि रु धेज्जो।
इंदिय–कसाय–सण्णा–गारव रागादि आदीणि ॥४८॥ (मूला द्वा)

अर्थ–इन्द्रिय कषाय संज्ञा गारव और रागादि इनसे कर्मों का आस्रव होता है। इन कारणों से निरन्तर आत्मा में कर्मों का आगमन होता है इसलिए इन सम्पूर्ण कर्मास्रव के कारणों को रोकना चाहिए।

भावार्थ—इन्द्रियां दुर्दान्त अश्व के समान हैं, ये आत्मा को विषय रूप उत्पथ (कुमार्ग) में लेजाकर नरकादि कुगति रूपी महागर्त (अगाध खड्ड) में पटकती हैं। अर्थात् आत्मा पंचेन्द्रियों के विषय भोग में लम्पट होकर महान् पाप कर्मों का बन्ध करके उनका फल भोगने के लिए नरक निगोदादि दुर्गति में जाता है। वहाँ उसे मनसे भी अचिन्त्य दु ख भोगने के लिए बाध्य होना पड़ता है। उनको रोकने के लिए अपने वश में रखने के लिए ज्ञान और वैराग्य ये दो कारण हैं। जिस प्रकार दुर्दान्त अश्व को अपने वश में रखने के लिए सवार के हाथ में लगाम होती है उसीसे वह अश्व को अनुचित मार्ग से रोक कर उचित सत्पथ पर ले आता है उसी प्रकार विषय की ओर दौड़ती हुई इन्द्रियों को सन्मार्ग में लाने वाला विवेक-ज्ञान और विषय-वैराग्य हैं। क्योंकि विवेक ज्ञान और विषय–वैराग्य से अन्त करण की प्रवृत्ति विषयों से हटती है। उसकी चंचलता दूर होकर एकाग्रता होती है। उसी मनकी एकाग्रता से इन्द्रिय रूपी सर्पों का निग्रह होता है। जिस प्रकार विद्या, मन्त्र और औषधि से रहित मनुष्य में जहरीले सर्पों को वश में करने का सामर्थ्य नहीं होता उसी प्रकार ज्ञान वैराग्य से जिसका मन वश मे नहीं हुआ–है एकाग्र नहीं हुआ है वह विषय–विष के आस्वादन करने में चपल इन्द्रियों को अपने वश में नहीं कर सकता है।

कषाय कर्मों के मूल कारण हैं। उन्हीं से स्थिति और अनुभाग (आत्मा को सुख दु खादि देने की शक्ति) बंध होता है। अत कषायों को रोकने पर सब कर्म–आस्रव रुक जाते हैं। अर्थात योग द्वारा आये हुए कर्म भी कषाय के अभाव में एक समय तक ठहर कर अपने आप निवृत्त हो जाते हैं। अधिक समय तक आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं रखते हैं। तथा एक समय तक भी आत्मा का भला बुरा नहीं कर सकते हैं। अत कषाय ही आस्रव का द्वार है। जिस प्रकार समुद्र में पड़ी हुई नाव के छिद्र बन्द करने पर उसमें जल नहीं भरता है वह जल में नहीं डूबती है उसी प्रकार कर्मों के द्वारभूत कषायों के रोक देने पर आत्मा में कर्मों का सम्बन्ध नहीं होता है, और आत्मा संसार समुद्र में नहीं डूबती है। आशय यह है कि कषायों के रोकदेने पर मूल से सब आस्रव रुक जाते हैं। यद्यपि योगादि के द्वारा आस्रव होता है तथापि उससे आत्मा की कुछ हानि नहीं होती।

प्रमादकथन

४ विकथा, ४ कषाय ५ इन्द्रिया १ निद्रा और १ स्नेह इन पन्द्रह प्रमादों से जीवों के निरन्तर कर्मों का आस्रव होता रहता है। इनका निरोध अप्रमाद अवस्था से होता है। जैसे रणागण में शत्रुओं के शस्त्र प्रहार को शूरवीर पुरुष ढाल से रोकते हैं वैसे ही कर्मों को पराजित करने के लिए उनसे युद्ध करने वाला शान्त धीर वीर मुनि नवीन कर्म शत्रुओं का आगमन अप्रमाद (स्वाध्याय ध्यानादि) रूपी ढाल के द्वारा रोकता है।

स्वाध्याय और ध्यान में एकाग्रता रूप अप्रमाद (सावधानी) से विकथा-प्रमाद-जन्य कर्मों का आगमन रुक जाता है। क्योंकि सत्य भाषा असत्यमृषाभाषा, स्वाध्याय और ध्यान में चित्त की एकाग्रता ये विकथा-प्रमाद के प्रतिपक्षी हैं।

क्षमा मार्दव आर्जव और शौच (सन्तोष) कषाय प्रमाद के शत्रु हैं।

ज्ञान का सर्वदा अभ्यास करना राग द्वेष उत्पन्न करने वाले इन्द्रियों के विषयों से अलग होकर एकान्त प्रदेश में रहना, ज्ञान बल से मन को निज स्वरूप में एकाग्र करना इन्द्रियों के विषयों का स्मरण न करना विषयों की प्राप्ति होने पर उनमें आदर न करना ये सब प्रमाद के विनाशक हैं।

इन्द्रिय के विषयों से विरक्ति

प्रश्न—मुनि इन्द्रियों के विषय प्राप्त होवे पर उनमें किस प्रकार अनादर करते हैं ?

उत्तर—मुनि राग भाव से सुन्दर स्त्री के अवयवों पर दृष्टि नहीं डालते हैं। अकस्मात् दृष्टि पड़ जाने पर राग भाव उत्पन्न नहीं करते और दृष्टि को खींच लेते हैं। द्वेष के वश होकर अशुभ रूप को नहीं देखते और अशुभ रूप दिखलाई देने पर उससे द्वेष नहीं करते हैं। इस प्रकार मुनि नेत्रेन्द्रिय को अपने वश में करते हैं।

उत्तम गायन व कर्णमधुर संगीत की ध्वनि तथा युवती महिलाओं के कोकिल कण्ठ से निकले मधुर मंजुल स्वर सुनने की मुनि अभिलाषा नहीं करते हैं और अचानक सुनाई देने पर उनमें आसक्त नहीं होते हैं। तथा अनेक असुहावने कर्कश कठोर शब्दों को सुनकर क्रोधित नहीं होते, इस प्रकार कर्णेन्द्रिय पर अपना काबू रखते हैं।

जो मुनि चन्दन कपूर, केसर, चम्पक, गुलाब आदि की मनमोहक सुहावनी गन्ध को सूंघने की उत्कण्ठा नहीं करते तथा अचानक

सुगन्ध घ्राणगोचर हो जाने पर चित्त में अनुराग नहीं करते हैं तथा अत्यन्त अप्रिय दुर्गन्ध का सम्बन्ध होने पर ग्लानि व द्वेष नहीं करते हैं वे मुनीश्वर घ्राणेन्द्रिय के विजयी होते हैं।

जो अतिमधुर सुस्वादु भोजन के रसास्वादन में लोलुप नहीं होते हैं तथा दैवयोग से विशिष्ट स्वादिष्ट रसीले भोजन के प्राप्त होने पर उसका आसक्त भाव से आस्वादन नहीं करते हैं तथा असुहावने कटु अस्वादु भोजन के रस में द्वेश भाव नहीं करते ऐसे मुनि रसनेन्द्रिय को स्वाधीन करते हैं।

सुन्दर कोमल शय्या रूपवती स्त्री तथा अन्य सुखस्पर्श मन का आकर्षण करते हैं। किन्तु जो मुनि विरक्त भावना से भावित होकर उनके सेवन की अभिलाषा तो दूर रही, उनका स्मरण तक नहीं करते हैं तथा स्वाभाविक सुन्दर स्पर्श का संयोग होने पर उसके सेवन में अनुरक्त नहीं होते हैं शीतस्पर्श या उष्णस्पर्श वाली भूमि पर्वतशिला अथवा कठोर तृणादि का स्पर्श होने पर मनमें खेद नहीं करते वे ही स्पर्शनेन्द्रिय के विजयी होते हैं।

जो अनशन अवमौदर्य रसपरित्याग करते हैं, संसार से भयभीत रहते हैं रत्नत्रय में अनुराग रखते और अपने दुष्कृत्यों का स्मरण कर उन पर पश्चात्ताप करते हैं वे मुनिराज सदा आलस्य का त्याग कर निद्रा को जीतते हैं।

स्नेह का नाश करने के लिये मुनि ऐसा चिन्तन करते हैं कि बन्धुगण आदि सब अस्थिर हैं स्वार्थ परायण हैं, अपने प्रयोजन की पूर्ति पर्यन्त साथ देने वाले हैं। उनके निमित्त आरम्भादि पापकर्म करने की चिन्ता होती है जो नरकादि कुगति में लेजाने वाली है। येही बन्धुगण धर्म में विघ्नबाधा उपस्थित करते हैं सदा आत्मा को विपरीत मार्ग में लगाने वाले हैं इत्यादि। इस प्रकार अप्रमाद रूप ढाल हाथ में लेकर मुनि प्रमाद शत्रु का मुकाबला करता है। जिस प्रकार किले के द्वार बन्द कर देने पर बाहर से शत्रु का प्रवेश रुक जाता है उसी प्रकार अप्रमाद के किवाड़ जुड़ देने से आत्मा में कर्मशत्रु का प्रवेश रुक जाता है। जैसे-कोट खाई आदि से सुरक्षित नगर में शत्रु सेना प्रविष्ट नहीं होसकती वैसे ही मनोगुप्ति वचन गुप्ति और कायगुप्ति से सुरक्षित आत्मा में कर्म-शत्रुओं का प्रवेश बंद हो जाता है।

इसलिए उक्त प्रकार से आस्रव के कारण मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद और कषाय के विपरीत सम्यक्त्व, संयम स्वाध्याय ध्यान और क्षमा मार्दव आर्जव सन्तोष का अभ्यास करके कर्मों के आस्रव का निरोध करने में सतत उद्यत रहो।

निर्जरानुप्रेक्षा

रुद्धासवस्स एव तवसा जुत्तस्स णिज्जरा होदि।

दुविहा य सावि भणिया देसादो सव्वदो चेव ॥ ५४ ॥ (मूला द्वा०)

अर्थ—जिसने कर्मागमन द्वार को ढक दिया है एव जो तपस्या से युक्त है, उसके कर्मों की निजरा होती है। वह दो प्रकार की है-१ एकदेशनिजरा और २ सवनिजरा।

भावार्थ—आत्मा के साथ सम्बद्ध कम परमाणुओं के आत्मा से पृथक् होजाने को अर्थात उन कम परमाणुओं में आत्मा को परतन्त्र करने की शक्ति के नष्ट होजाने को निर्जरा कहते हैं।

निर्जरा के भेद और उनका स्वरूप

पुव्वकदकम्मसडण तु णिज्जरा सा पुणो हवेदुविहा।
पढमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य॥ १८४७॥ (भग-आ०)

अर्थ—पूवकाल मे किये हुए कर्मों का जीव क प्रदेशों से पृथक् होना निजरा है। उसके दो भेद हैं-१ सविपाक निजरा और २ अविपाक निजरा।

सम्पूण ससारी जीवों के चाहे वह सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि सबके उदय में आये हुए कर्मों की सुख दु खादि रूप फल देकर जो निजरा होती है उस एकदेश निजरा कहते हैं। उसीका नाम सविपाक निजरा है। और जो तपस्या द्वारा बिना फल दिये हुए कर्मों की निजरा होती है अर्थात तपश्चरण द्वारा कर्मों की फल देने की शक्ति का नाश करके जो निजरा होती है उसको अविपाक निजरा कहते हैं। सका विशेष विवेचन पहले कर आये हैं।

आम्रादि फल दो तरह स पकते हैं। एक तो समय पर पकते हैं और दूसरे कच्चे फल तोड़कर पाल में पकाये जाते हैं इसी प्रकार निजरा भी दो तरह की होती है। कर्मों की स्थिति पूण हो जाने पर अपना सुख दु खादि फल (रस) देकर शुष्क हुए कम स्वय झड़जाते हैं—आत्मा से अलग हो जाते हैं वह सविपाक निर्जरा है। उस निजरा से आत्माका कुछ भी हित नहीं होता क्योंकि वह नवीन कम को उत्पन्न करके पश्चात् होती है। दूसरी अविपाक निजरा है। जो संवर पूर्वक तपस्या से कर्मों का रस सुखाकर स्थिति पूरी हुए बिना ही कर्मों की निजरा होती है वही आत्मा का हित करने वाली है। इसीसे शनै शनै सम्पूण कर्मों का क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सवर रहित निजरा से नवीन कर्मों का बन्ध (सम्बन्ध) होता है जैसे नौका के जल प्रवेश करने के छेद को न बन्द करने से नौका में निरन्तर जल आता रहता है वैसे ही बिना कर्मास्रव का निरोध किये निरन्तर कर्मों का सम्बन्ध होता रहता है। और जब तपरूपी

अग्नि में सुवर्ण रूपी आत्मा को ज्ञानरूपी सुहागा डालकर चारित्र रूपी भस्त्रा (धोंकनी) से धमा जाता है तब कषायादि रूप कीट कालिमा नष्ट होती जाती है और सुवर्ण रूपी आत्मा शुद्ध होती जाती है। इस प्रकार होते होते सम्पूर्ण कर्मों की जब निर्जरा हो जाती है, तब यह आत्मा जन्मजरामरणरोगशोकादि बन्धन से विमुक्त होकर अनन्त आनन्द को पाता है। इसलिए इस निर्जरा की निरन्तर आराधना करो जिससे संसार के सब दुःखों से मुक्ति पाकर अविनाशी सुख के अधिकारी बनो।

धर्मानुप्रेक्षा

सव्वजगस्स हिदकरो धम्मो तित्थकरेहिं अक्खादो।
धण्णा तं पडिवण्णा विसुद्धमणसा जगे मणुया ॥ ६० ॥ (मूलाचार)

अर्थ—सम्पूर्ण जगत का हितकारक धर्म है ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है। जिन मनुष्यों ने विशुद्ध अन्तःकरण से उस उत्तमक्षमादि रूप धर्म को धारण किया है जगत् में वे महात्मा धन्य हैं कृतार्थ हैं।

धर्म का स्वरूप

संसार की दुःख परम्परा से हटाकर जो निराकुल सुख शान्ति देने वाला है उसे धर्म कहते हैं। धर्म नाम वस्तु के स्वभाव का है। जिस वस्तु का जो वास्तविक स्वभाव होता है वही उसके लिए हितकारी है। जब वस्तु में किसी अन्य पदार्थ का मेल होता है तब वह विकृत और मलीन होजाती है। जैसे पारे के साथ गन्धक का योग होने पर कजली हो जाती है जो पारे के रङ्ग-रूप आदि गुण की विकृत अवस्था है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव राग द्वेष रहित निराकुल अवस्था है। उसको कर्म के संयोग ने विकृत बनाकर राग द्वेष रूप बना दिया है। इस विकृतावस्था को दूर करने के उपाय को भी धर्म कहते हैं उस उपाय रूप धर्म का नाम चारित्र है। जैसे पारे के साथ गन्धक का संयोग होने पर कजली बनती है। पारे की उस विकृत अवस्था को दूर कर पुनः शुद्ध अवस्था में लाने के लिए रासायनिक विधि से अग्नि में तपा कर उसको गन्धक से अलग कर दिया जाता है। तब पारा अपनी शुद्ध अवस्था का प्राप्त होजाता है। उसी प्रकार कर्मों के संयोग से उत्पन्न हुई रागद्वेषादि रूप मलीन अवस्था को दूर करने के लिए विवेक ज्ञान रूप रासायनिक विधि से चारित्र रूपी अग्नि द्वारा आत्मा को शुद्ध किया जाता है। इसलिए उस शुद्धि के उपाय भूत चारित्र को भी आगम में धर्म कहा है। इस प्रकार वस्तु के स्वभाव को तथा वस्तु को शुद्ध करने वाले—उसके शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कराने वाले उपायों को भी धर्म कहा है। अतः आगम में धर्म के चार लक्षण बताये हैं :—

"धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
चारित्त खलु धम्मो जीवाण रक्खणो धम्मो॥"

अर्थात्—१ वस्तु का स्वभाव धर्म है। २ उत्तमक्षमादि दशलक्षण धर्म है। ३ महाव्रतादि तेरह प्रकार का मुनि-चारित्र और अणुव्रतादि गृहस्थ चारित्र धर्म है। ४ जीवों की रक्षा करना धर्म है। इनमें से पहला धर्म का मुख्य लक्षण जो वस्तु का स्वभाव है उसी को (आत्मा के स्वभाव को) स्पष्ट करने के लिए क्षमादि को धर्म कहा है। क्योंकि क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौचादि आत्मा के स्वभाव हैं। इसलिए इनका वस्तु-स्वभाव रूप धर्म के मुख्य लक्षण में समावेश होजाता है और जो तीसरा और चौथा धर्म का लक्षण है, दोनों वस्तु के स्वभाव की प्राप्ति के उपाय हैं। क्योंकि चारित्र का पालन करने से तथा स्वदया और परदया का आचरण करने से आत्मा की व्यावहारिक शुद्धि होती है और धीरे २ आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करता है।

इसका आशय यह है कि जिन जिन उपायों से आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव की ओर झुकता है, तथा जिनका आचरण-धारण व पालन करने से आत्मा में एकदेश व सर्वदेश निराकुलता की प्राप्ति होती है उन्हें ही धर्म समझना चाहिए।

दश लक्षण धर्म

उत्तम क्षमा

यह शरीर मल का घड़ा है। आत्मा का शत्रु है। आत्मा में जितने भी क्रोधादि या राग द्वेषादि शत्रु उत्पन्न होते हैं व इसी के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। देखो जब तुम तप की साधना के लिए परगृह में आहार के लिए जाओ प्रतिष्ठापनासमिति (मल मूत्र त्याग) के लिए जाओ आगम की आज्ञा के अनुसार ग्रामान्तर के लिए मार्ग में ईर्या समिति का पालन करते हुए चलो, उपदेश देते होओ ध्यान निमग्न होओ या अन्य किसी स्थिति में होओ किसी भी समय कोई भी दुष्ट जीव अपने अशुभ कर्म के प्रेरित हुआ तुम्हें दुर्वचन कहे कि यह अज्ञानी पशु है, दम्भी है पाखण्डी है भूत है इत्यादि मन में क्षोभ उत्पन्न करने वाले मर्म भेदी कठोर निष्ठुर वचन बोले तुम्हारी जन समाज के सम्मुख हंसी करे, अपमान और अनादर करे तुम्हें पीटने लगे और प्राणघात का अवसर भी आवे तो भी उस समय तुमको विचारना चाहिए कि ये दुर्वचनादि क्या पदार्थ हैं और ये दुर्वचन किसे कह रहा है? ये वचन तो पुद्गल हैं इसने क्रोधादि के वश होकर अपनी आत्मा का घात करके कलुषित परिणामों से तथा अपने तालु ओष्ठ आदि के व्यापार से ये वचन उत्पन्न किये हैं। इनका मेरी आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध? कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरी आत्मा अमूर्त है और ये पुद्गल हैं। जैसे आकाश में जलती हुई अग्नि आकाश का कुछ भी बिगाड़

नहीं करसकती क्योंकि वह अमूर्त है उसी प्रकार मेरी अमूर्त आत्मा का ये कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते। आत्मा तो दूर रहा ये दुर्वचन मेरे इस शरीर का भी कुछ बिगाड़ नहीं करसकते। फिर रोष करना कितनी मूर्खता है? इसने जो दुर्वचन कहे या गाली दी है वह किस को दी है? इस शरीर को ही तो दी है। मुझ तो इसने देखा ही नहीं। इसकी चर्म चक्षु मुझे देख नहीं सकती और यदि देख लेती तो यह कभी दुर्वचन नहीं बोलता। इस शरीर को देखकर इसने गाली दी है और यह मेरा नहीं है- इस प्रकार चिन्तन करो।

यदि कोई मारने लगे तो सोचो कि यह किसको मारता है? मुझ को तो नहीं मार रहा है। मैं तो अजर अमर हूँ। इस शरीर को मारता है इससे मेरा क्या सम्बन्ध? यह शरीर तो कर्म-कृत है मेरा इसमें क्या है? इस प्रकार विचार करो। यदि तुम उसपर क्रोध करोगे तुम्हारा ही अनिष्ट है। क्रोधी मनुष्य प्रथम अपने आत्मा की हिंसा करता है अपने शुद्ध स्वभाव का घातकर द्वेष उत्पन्न करता है अपने ज्ञान गुण का विनाश कर अज्ञानी बनता है। क्रोध आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा तो शान्ति स्वभाव है। यदि तुमने अपने शान्त स्वभाव का नाश कर क्रोध किया तो तुम्हारा जिनलिंग धारण करना व्यर्थ है। कहीं जल में अग्नि लगते नहीं सुना और नहीं देखा। जिनेन्द्र समान रूप के धारक बनकर यदि तुम क्रोध करोगे तो मुनिपद की अवहेलना होगी। तुम्हारे निमित्त से जिनधर्म कलङ्कित होगा। शूर वीर मुनि की क्षमा ही ढाल है। दुर्वचनादि के प्रहार को क्षमा रूपी ढाल पर झेलने से शत्रु स्वयं हार जावेगा और तुम्हारी विजय होगी। यदि तुम उसे वास्तव मे पराजित करना चाहते हो तो उसका क्रोध शान्त होजाने पर तुम्हारा अपराध न होने पर भी तुम उससे विनीत भाव से क्षमा मागो और कहो कि हे सज्जन! तुम मेरे बड़े उपकारी हो। तुमने मुझे अपराध से सचेत किया। तुम्हारे चित्त को मेरे द्वारा बड़ा दुःख हुआ। मैं तुमसे इसकी क्षमा चाहता हूँ। यदि तुम्हारे मे उसके प्रति किसी प्रकार के उपकार करने की शक्ति है तो उसका ऐसा उपकार करो कि उस उपकार के भार से वह इतना दब जावे कि जन्म भर तुम्हारे गुण को न भूले। उसका अन्त करण अन्दर ही अन्दर तुम्हारे लिए धन्य धन्य की ध्वनि करता रहे। इससे तुम्हारी महिमा की महक अदृश्य संसार में भी महकने लगेगी। जिसके पास क्षमा रूपी शस्त्र है उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

जिसने क्रोध शत्रु को जीत लिया है वही वीर पुरुष क्षमा को धारण कर सकता है। कायर मनुष्य इसे धारण नहीं कर सकता। जिसकी आत्मा बाह्य तुच्छ निमित्तों के संयोग से विकारवान् होती है वह क्रोध शत्रु से लोहा नहीं ले सकता है। उसको परास्त करना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है इसीलिए कहा है क्षमा वीरस्य भूषणम् क्षमा वीर पुरुष का भूषण है।

क्षमा तभी मानी जाती है जब कि अपराधी के प्रति मन में विकार भाव उत्पन्न न हो। किसी बलवान और समर्थ पुरुष के ऊपर बलहीन असमर्थ मनुष्य का वश न चलने पर वह मन ही मन में क्रोध को दबाये रहता है और ऊपर से क्षमा भाव दिखाता है तो वह क्षमा नहीं है। क्योंकि उसके अन्त करण में क्रोध की अग्नि दहक रही है। यदि उसके हृदय में इतनी निर्मलता हो कि उसमें प्रति-

किया (बन्ला लेने) के भाव न हों और परोक्ष में भी वह उसकी वचनादि द्वारा निन्दा न कर प्रशंसा करे तो उस असमर्थ व्यक्ति के भी क्षमा कही जा सकती है किन्तु जो समर्थ है और असमर्थ के ऊपर क्रोध न कर उसके प्रति उदार भाव प्रदर्शित करने के लिए उस अशक्त व्यक्ति पर उपकार करने का अवसर ढूंढता है तथा अवसर मिलते ही उसका उपकार करके प्रसन्न होता है वह क्षमा श्लाघनीय है।

प्रश्न—क्षमादि के साथ जो उत्तम शब्द लगा है उसका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—ख्याति सांसारिक लाभ पूजा सत्कार आदि की अभिलाषा न रखकर क्षमादि का धारण करना धर्म माना गया है। इस बात को सूचित करने के निमित्त उत्तम शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस क्षमा के धारण से व्रत और शील की रक्षा होती है। क्षमा धारण करने वाले के कोई शत्रु नहीं होता। उसके स्वत सब मित्र बन जाते हैं। इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी दु ख का विनाश होता है। समस्त प्राणी उसका आदर सम्मान करते हैं। उस को अलभ्य वस्तु का लाभ और संसार में ख्याति होती है। इनके सिवा और भी अनेक गुण उत्पन्न होते हैं। और क्रोध करता है उसके निकट बन्धु भी शत्रु बन जाते हैं। माता पिता भी क्रोधी पुत्र का संयोग अनिष्ट कारक समझते हैं धर्मपत्नी भी क्रोधी पति का अनादर करती है पुत्र उसकी अवहेलना करता है मित्र सम्बन्ध तोड लेते हैं बिना कारण सारा संसार उसका शत्रु बन जाता है। उसके धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार क्रोध-जन्य दोषों का विचार कर क्षमा धारण करना चाहिए।

क्रोध के कारण उपस्थित होने पर आत्मा में विचारना चाहिए कि इसमें मेरा दोष है या नहीं ? यदि मेरा दोष है तो मेरा क्रोध करना निष्कारण है। इसने क्या मिथ्या कहा ? जो मेरे में दोष हैं उसका प्रकाशन किया। मैं अपराधी हू। मुझे अपने अपराध का दण्ड मिलना आवश्यक है। यदि अपना दोष न हो तो ऐसा विचार करे कि कोई मुझे बुरा भला कहे गाली गलोच दे या निन्दा करे तो मेरी क्या हानि है ? मैं निर्दोष हू मुझे क्या डर है ? इससे मेरी आत्मा को कुछ भी हानि नहीं होती। इसलिए मुझे क्षमा धारण करना चाहिए। यह अज्ञानी है और मैं ज्ञानवान् चारित्रवान् हू। यदि मैं भी इसके समान क्रोध करूगा तो इसमें और मुझमें क्या अन्तर रहेगा ? मैंने वह जगत् पूज्य वेष धारण कर रखा है जिसकी चक्रवर्ती और देवेन्द्रादि भी पूजा करते हैं। अज्ञानी लोग तो मारने लगजाते हैं। इसने मुझे मारा तो नहीं। दुष्ट जीव मारने भी लग जावें तो सोचे कि इसने मुझे प्राणरहित तो नहीं किया। क्योंकि क्रोधी दुष्ट जीव तो प्राणों का घात तक करते हैं। पुरातन समय में सुकोशल पच पाण्डव आदि मुनियों पर कितना भयानक उपसर्ग किया गया था। यदि प्राणों के घात का अवसर आजावे तो विचारे कि कि मेरा अहो भाग्य है कि सावधान अवस्था में मेरी मृत्यु का समय उपस्थित हुआ है। यह शरीर तो अवश्य छूटता अनेक रोगादि पीडित अवस्था में प्राण छूटते तो दुर्ध्यान से मरना होता। यह तो मुझे बडा लाभ हुआ जो सावधान और ज्ञानवैराग्य अवस्था में प्राणों का वियोग होता है। इसमें इसका कुछ भी अपराध नहीं है। यह तो निमित्त मात्र है। मैंने पूर्व जन्म में जैसा कर्म उपार्जन

किया उसका फल मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा। यह बेचारा क्या कर सकता है ? प्राण वियोग अवश्य होता उसमें यह निमित्त मात्र है । यह नहीं तो दूसरा निमित्त अवश्य मिलता। मुझे इस समय क्षमा धारण करना श्रेयस्कर है। सबसे बड़ा लाभ मुझे यह है कि मेरी आत्मा की निधि जो रत्नत्रय है, वह सुरक्षित है। शरीर तो मेरी वस्तु नहीं है। यह तो कर्म ने दिया था और वह अपनी दी हुई वस्तु लेता है। मेरी वस्तु तो मेरे पास है। उसको कोई छीन नहीं सकता। यदि मैंने इस समय अपनी आत्मा में क्रोध शत्रु को बुलाया तो वह दुष्ट मेरी चिर उपार्जित रत्नत्रय निधि को लूट लेगा और मैं दीन हीन होकर अनन्त काल के लिए दरिद्री बन कर न जाने कौनसी गति में भटकता फिरूंगा। अत एव मुझे माता के समान सबका सुख देने वाली क्षमा का ही आराधन करना चाहिए।

उत्तम मार्दव—

मान कषाय के अभाव से आत्मा में जो विनय (नम्र) भाव उत्पन्न होता है उसे मार्दव गुण कहते हैं। मान दो प्रकार का है- १ शुभ रूप २ अशुभ रूप। जिन कार्यों से आत्मा का पतन होता है समाज और राज्य में अपमान होता है उन नीच कार्यों को प्राणान्त कष्ट आने पर भी नहीं करना उसे शुभमान कहते हैं। इसी का नाम स्वाभिमान है। कहा भी है —

अपमानकरं कर्म येन दूरान्निषिध्यते ।
स उच्चैश्चेतसां मानं परः स्वपरघातकः ॥ ५६ ॥ (ज्ञाना०)

अर्थ—उन्नत चित्त वाले मनस्वी मानवों का वह मान प्रशस्त माना गया है जिस मान से अपमान जनक कृत्यों का दूर से ही त्याग किया जाता है। मैंने उत्तम जाति में जन्म लिया है। प्रशंसनीय कुल और सब श्रेष्ठ जिन धर्म को पाया है। क्या अधम व धर्महीन मनुष्यों के योग्य कार्यों को करूंगा ? कदापि नहीं। इस प्रकार के स्वाभिमान को प्रशस्त मान माना है। ऐसा मान तब तक उपादेय है जब तक शुद्ध उपयोग तथा आत्मध्यान में प्रवृत्ति नहीं हो रही है। उस समय तो यह मान भी सर्वथा त्याज्य है। भाव यह है कि आत्मा की उन्नति के लिए तथा दूसरों को उन्नत मार्ग में प्रवृत्त कराने के लिए मान पूर्वावस्था में उपादेय हो सकता है। किन्तु जो जाति कुल, ज्ञान शरीर, ऐश्वर्य, तपस्या आदि का अभिमान करना अशुभ मान है—सर्वथा उस मान का त्याग करना चाहिए। श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है —

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ १ ॥ (रत्न करंड श्रा०)

मेरी जाति श्रेष्ठ है मैं उत्तम कुल म उत्पन्न हुआ हूँ। तू नीच जाति व नीच कुल का है। मैं तुझसे श्रेष्ठ हूँ। मैंने बहुत ज्ञान प्राप्त किया है-मैं सबस अधिक ज्ञानवान हूँ तुम सब मूर्ख हो। मैं बड़ा भारी ऐश्वयवान हूँ। ये रंक मेरी बराबरी क्या करते हैं? मैं जगत् में पूज्य हूँ। सब मेरा सत्कार करते हैं। मेरे में इतना सामर्थ्य है कि इन सबको क्षण भर में पीस डालू । ये अशक्त मेरी शक्ति को नहीं जानते हैं। इनको मजा चखा दूगा। मैं बड़ा भारी तपस्वी हूँ। मेरी तपस्या के प्रभाव को ये रंक क्या समझते हैं? मेरा शरीर बड़ा सुन्दर है,ये सब कुरूप निन्दा के पात्र हैं इस प्रकार स कम के क्षयोपशम से प्राप्त हुए ज्ञान आदर-सत्कार कुल जाति बल ऋद्धि (ऐश्वय) तप और शरीर का अभिमान करना अशुभमान है। क्योंकि यह अभिमान आत्मा को नीचे गिराने वाला है इसका सम्बन्ध पुद्गल से है। इसका आश्रय कम के क्षयोपशम से प्राप्त तथा क्षणभगुर है। अपनी (आत्मा की) वस्तु नहीं है दूसरे की (कम की) थोड़े काल के लिए धरोहर है। दूसरे की सम्पत्ति से अपने को धनवान समझने वाला जसे हास्य व निन्दा का पात्र होता है वैसे ही उक्त जाति आदि वस्तुओं के निमित्त से अभिमान करने वाला हास्य व निन्दा का पात्र होता है।

शङ्का—जाति कुल पूजा (आदर सम्मान) शरीरादि के बल ऐश्वय (वैभव) और शरीर सौन्दय का अभिमान करना तो अनुचित है क्योंकि पुद्गल-जन्य है किन्तु ज्ञान और तपस्या ये दोनों तो आत्मा से उत्पन्न होने के कारण आत्मा के हैं। और आत्म-गुण का अभिमान करना अप्रशस्त पुण्य कैसे हो सकता है?

समाधान—जाति आदि की तरह ज्ञान और तपस्या भी कम के क्षयोपशम से होते हैं इसलिए कमजन्य हैं। ज्ञानावरण के क्षयोपशम स जो क्षयोपशमिक मति श्रुतादि ज्ञान होता है वही मद (गव) को उत्पन्न करता है। कम के सवथा क्षय (अभाव) से उत्पन्न होने वाला तो सिफ केवलज्ञान है। केवलज्ञान स गव नहीं होता क्योंकि वह आत्मजन्य है और सवथा मान का नाश होने से उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त शेष मत्यादि चारों ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। अथात् इन ज्ञानों के साथ कम का उदय रहता है इसलिए ये अभिमान उत्पन्न करते हैं।

इसी प्रकार वही अपूर्ण तपस्या अभिमान पैदा करता है जिसके साथ मोहनीय कर्म का सम्बन्ध है। मोहनीय कम के उदय से ही गव उत्पन्न होता है इसलिए क्षायोपशमिक और अपूर्ण तपस्या ये आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। इसलिए अभिमान को पैदा करते हैं। किन्तु इनका गव न करने पर ही आत्मा उन्नत-माग पर लगा रहता है और अभिमान उत्पन्न होते ही उन्नत-माग से गिर जाता है। जैसे ऊपर उछली हुई गेंद अवश्य नीचे गिरती है।

हे आत्मन! तू जाति और कुल का क्या अभिमान करता है? जाति और कुल तेरा स्वरूप नहीं है। अनन्त काल से ससार में

भ्रमण करते हुए तूने अनन्त बार ऐसी जाति और ऐसा कुल पाया है। परन्तु उससे तेरा क्या भला हुआ ? तेरा भला तो इसी में है कि इनका अभिमान त्याग कर मार्दव धर्म को अङ्गीकार कर। सक ।ना उत्तम जाति और उच्च कुल पा लेना निष्फल है। मार्दव (विनय) धारण करने वाला मनुष्य सबका आदर-सम्मान पाता है। नम्रता से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। कोमल आत्मा में ही जिनधर्म फलता और फूलता है मानी का आत्मा कठोर पाषाण के समान होता है। उसमें जिनेन्द्र धर्म का तथा उत्तम गुणों का अंकुर नहीं जमता। विनयवान शिष्य पर गुरू का विनीत पुत्र पर पिता का नम्र भृत्य पर स्वामी का स्वतः अनुराग होता है और वे गुरू स्वामी आदि अपने विनीत शिष्यादि को सदा उन्नति चाहते हैं और उन्हें सदा सुखी रखने में प्रयत्नशील रहते हैं।

जो तूने थोडा बहुत ज्ञान प्राप्त किया है वह भी पराश्रित है तीव्र वेदनीय कर्म के उदय से शरीर के निर्बल होने पर वह लुप्तसा हो जाता है। केवलज्ञानी और पूर्ण श्रुतज्ञानी के ज्ञान सूर्य के सामने तेरा यह अल्पज्ञान जुगनू के समान भी नहीं है। तू इस पर क्या इतराता है ? ज्ञान का फल तो चारित्र का आराधन और मोक्ष की प्राप्ति है। इस ज्ञान रूपी रत्न को तू अभिमान रूपी कीचड़ में क्यों फेंक रहा है। पुण्य योग से यदि कुछ ज्ञान प्राप्त किया है तो नम्रता धारण कर अपनी आत्मा को सन्मार्ग में लगाने का प्रयत्न कर। यही तेरे ज्ञान प्राप्त करने का सुफल हो सकता है।

शरीरादि का बल भी क्षण नश्वर है। शरीर में थोड़ी सी व्याधि के उत्पन्न होते ही यह विलीन हो जाता है। जो पहले बडे बलवान पहलवान थे वे शारीरिक व्याधि के उत्पन्न होने पर अतिनिर्बल होते देखे गये हैं। यदि तुमने वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से शरीरादि की शक्ति पाई है तो उसको ज्ञानाभ्यास और तप के आचरण में लगाओ जिससे सदा के लिए सुखी बन जाओ।

राज्यादि के वैभव का अभिमान करना भी म ा अज्ञानता है। जो आज राज्य का अधिपति है कल वही प्राणों की भिक्षा मांगता दिखाई देता है। वह अपने प्राण बचाने में भी असमर्थ होकर इधर उधर छिपता फिरता है। जिस राज्य वैभव पर इतराता था वही उसके प्राणों का घातक और अतिनिन्दनीय पर्याय में जन्म लेने का कारण बन जाता है। कहा भी है—

क्व मानो नाम संसारे जन्तुव्रजविडम्बके।
यत्र प्राणी नृपो भूत्वा विष्टामध्ये कृमिर्भवेत् ॥ १ ॥ (ज्ञाना०)

अर्थ—सम्पूर्ण जीवों की विडम्बना करनेवाले इस संसार में मान किस वस्तु का किया जावे ? इस संसार में राजा भी विष्टा का कीडा बन जाता है। अर्थात जो अभी राजा बना हुआ है वही आयु के अन्त में मरकर विष्टा में कीडा उत्पन्न होता देखा जाता है। फिर अभिमान

किस बात का किया जावे ?

जो वैभव इस भव में भी अनेक उपद्रव और पाप का जनक है और परभव में नीच गति का देने वाला है, उसका अभिमान कौन बुद्धिमान करेगा ?

शरीर का सौन्दर्य इन्द्र धनुष के समान थोड़ी देर तक टिकने वाला है। जिसका शरीर बाल्यावस्था में अत्यन्त मनोहर था, चेचक आदि फोड़ा फुंसी के हो जाने से युवावस्था में वही भयानक दिखाई देने लगता है। यह रूप तो रुधिरादि घृणित पदार्थों से उत्पन्न हुआ है। जो युवती यौवनावस्था में अपने को अप्सरा के समान समझती थी वह वृद्धावस्था में अपने को चुडेल के समान देखकर पश्चाताप करती है। अत एव कर्म के उदय से यदि तुमने सुन्दर और निरोग शरीर पाया है तो इससे पुण्योपार्जन करना तथा तपश्चरणादि द्वारा कर्मों की निर्जरा कर उसको सफल बनाना चाहिए। जो उस रूप का अभिमान करता है वह अनेक दुष्कृत्यों में फँस कर अपना नाश करता है। इसलिए रूप का अभिमान आत्मा का अहित करने वाला जानकर उसका त्याग कर मार्दव धर्म धारण करो।

उत्तम आर्जव

माया का त्याग करने से आर्जव गुण उत्पन्न होता है। आर्जव नाम मन वचन और काय की निष्कपट प्रवृत्ति का है। मायावी-कपटाचारी मन में कुछ और विचारता है वचन से कुछ और कहता है और शरीर के द्वारा कुछ और ही करता है। महात्मा और दुरात्मा की पहचान करने के लिए कहा है—

"मनस्य यद्वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद्धि पापनाम् ।
मनस्येक वचस्येक कर्मण्येक महात्मनाम् ॥ १ ॥"

जिनकी मन वचन और काय की एकसी प्रवृत्ति है अर्थात् जैसा मन में सोचते विचारते हैं वैसा ही मुख से बोलते और वैसा ही शरीर से करते हैं उन्हें महात्मा कहते हैं। और जो मन में कुछ रखते हैं मुख से कुछ और कहते हैं और करते कुछ और ही हैं उनको दुरात्मा (दुर्जन) कहते हैं।

मायाचार रूई से लपेटी हुई अग्नि के समान है। जो थोड़ी देर तक ही छिपा रहकर बड़ी तेजी से बाहर प्रकट होता है। छल-कपट से किया हुआ दुष्कृत्य छिपा नहीं रहता। यह तो पानी में दबाये हुए मल के समान अवश्य सबके समक्ष प्रकट हो जाता है, मायाचारी मनुष्य का कोई विश्वास नहीं करता। उसका पद पद पर अपमान होता है। उसके परिणाम निरन्तर कलुषित रहते हैं और वह सदा

भय और शंका से व्याकुल रहता है। उसके हृदय मे अनेक सकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। जिसस सतत अशुभ कर्मों का बन्धन होता है। निगोद उसकी भावी निवास भूमि होती है और इस भव में भी वह सदा दुखी रहता है। जो लोग मायाचार करके थोड़े देर तक अपने मनोरथ को सफल हुआ समझ कर हर्ष मानते हैं वे मूर्ख अमूल्य मानव जन्म को पापरूपी दलदल (की चड़) में फेंकते हैं। माया के विषय में कहा है–

जन्मभूमिरविद्यानामकीर्त्तेर्वासमन्दिरम् ।
पापपङ्कमहागर्त्तो निकृति कीर्त्तिता बुधे ॥ १ ॥ ज्ञाना

अथात्—यह माया अनेक अज्ञानों की जन्म भूमि है। अर्थात मायाचारी मनुष्य में अनेक खोटी२ बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं जिनसे वह अपना व दूसरे का नाश करता है। वह अपयश का मन्दिर होता है। और पापरूपी कीचड़ का वह गहरा खड्डा होता है। अर्थात् उस की आत्मा में पाप ठसाठस भरजाता है। इसीलिए वह निगोद का पात्र होता है।

मायाचार नाम कुटिलता का है। जिसका आत्मा कुटिल है उसके अन्दर अति सरल जनधर्म कदापि निवास नहीं कर सकता जैसे टेढे म्यान के भीतर सीधा खड्ग (खाडा) कभी नहीं जा सकता। जिसका मन आर्जव (सरलता) गुण से युक्त है वह प्रत्येक स्थान पर आदर पाता है। उसका आत्मा सदा प्रसन्न रहता है उसम अनेक गुण स्वत आकर निवास करते हैं और वह प्राणी मात्र का विश्वास पात्र होता है। इसलिए इस भव और पर भव म दु ख देनेवाली माया (छल कपट) का त्याग कर आर्जव (सरलता) धर्म को अङ्गीकार करो।

उत्तम शौच

लोभ का परित्याग करने से जो सन्तोष उत्पन्न होता है उसे शौच कहते हैं। संसार मे आत्मा का सबस महान् शत्रु लोभ है। जिसक मन म निर्लोभता उत्पन्न हो जाती है उसको लोग देवता के समान पूजते हैं उसपर विश्वास करते हैं, उसकी महिमा संसार म सूय के प्रकाश क समान सवत्र फलती है और वह सब गुणों का आश्रय हो जाता है।

लोभ के भेद और उनका स्वरूप

ससार म लोभ चार प्रकार का होता है—१ जीवित रहने का लोभ २ आरोग्य का लोभ ३ इन्द्रिय-विषय का लोभ और ४ भोगोपभोग का लोभ। ये चारों स्व और पर के भेद से दो दो प्रकार के हैं—

स्वजीवित लाभ और परजावित लोभ स्वआरोग्य लाभ व परआरोग्य लोभ । स्वइन्द्रियलोभ और परइन्द्रियलोभ । त । स्व भोगोपभोग-लोभ और पर भोगोपभोग-लोभ

१ स्वजीवित व परजीवितलोभ—स्वयं बहुत काल तक जीवित रहने के लिए तथा आत्मीय बन्धु पुत्रादि को जीवित रखने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के अनुचित उपायों का अवलम्बन लेता है। अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण स्वयं करता और करवाता है। मिथ्या दृष्टि कुलिंगी चण्डी मुण्डी भवानी भैरू आदि की आराधना करता है। पशुबलि समान घोर पातक करने में भी नहीं चूकता। अनेक प्रकार के कूट कपट करता है।

स्व पर आरोग्य लोभ—अपने को और पुत्र-स्त्री आदि को नीरोग करने के लिए मांस-मदिरा मिश्रित अशुद्ध औषधियों का स्वयं सेवन करता और पुत्रादि को भी करवाता है। उसको भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का विवेक ज्ञान नष्ट हो जाता है। रात्रि भोजन आदि पापाचार करता है और लोकनिन्दा का और परलोक का भय लुप्त हो जाता है। क्या असमीचीन आचरण करने से वह या उसके कुटुम्बी चिर काल तक जीवित और नीरोग रह जायगे? यह उनके अज्ञान और मोह का माहात्म्य है जो इस नर भव समान कल्पवृक्ष को अनुचित लोभ के वश होकर भस्म के निमित्त जलाता है। जीवन और आरोग्य के लिए उचित धर्मयुक्त उपायों का आश्रय लेना तो आवश्यक है। इसके विपरीत मार्ग का आश्रय लेना इस भव और परभव को बिगाड़ कर पर जो नरकादि गति का देने वाला है। ऐसा समझकर इस अनुचित लोभ का त्याग करना चाहिए।

स्व-इन्द्रिय विषय व पर इन्द्रिय विषय का लोभ—इन्द्रिय विषय के वशीभूत हुए प्राणी संसार में दुःख की ज्वाला में निरन्तर जल रहे हैं। विषय लाभ में अन्धे होकर अपने प्राणों तक को आहुति दे रहे हैं। स्पर्शन इन्द्रिय के वश हाथी गड्ढे में गिर कर बंधबंधन आदि अनेक कष्टों को सहता है। रसना इन्द्रिय के वश मछली जाल में कांटे में अपना गला छिदाती है। घ्राण इन्द्रिय के वश भ्रमर कमल में बन्द होकर मृत्यु का शिकार होता है। चक्षु इन्द्रिय के लोभ में पतङ्ग (कीड़ा) दीपक में गिर कर अपनी आहुति देता है। श्रोत्रेन्द्रिय के अधीन हुआ हिरन बहेलिया के जाल में फंसता है। तात्पर्य यह है कि एक एक इन्द्रिय के विषय के लोलुपी प्राणी अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। तो फिर यह मानवपशु पांचों इन्द्रियों के विषय की लालसा से ललचाकर किस सुख की इच्छा रखता है? यह समझ में नहीं आता। हे आत्मन्! इन इन्द्रियों की प्राप्ति पूर्वजन्म कृत कठोर तपस्या से हुई है। इसलिए विषय-विष का भक्षण करके इनका विघात मत करो। अन्यथा भवभव में इनके लिए तरसते रहोगे और निगोद में या नरक में संख्यातातीत काल तक अचेत अवस्था में या घोर संतापशील अवस्था में पड़े हुए अनन्त दुःख सहोगे।

ज्यों ज्यों ये इन्द्रियां मद की उत्कटता को धारण करती हैं त्यों त्यों मनुष्यों के कषाय रूप अग्नि अधिक प्रज्वलित होती जाती है। अतः ज्ञान और वैराग्य भावना से कषाय अग्नि का शमन कर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो।

इन इन्द्रियों को लुटेरे व डाकुओं की सेना समझो क्योंकि ये तुम्हारे अन्तःकरण रूपी किले के भीतर सुरक्षित विवेक रूप रत्न को लूटती हैं।

इन्द्रिय विषयों से ठगे हुए मनुष्य की विषय-तृष्णा बढ़ जाती है सन्तोष नष्ट हो जाता है और विवेक विलीन हो जाता है।

विषयों को हालाहल विष से भी बहुत अधिक समझो। इनमें मेरु और सरसों का सा अन्तर है। कालकूट (विष) तो एक पर्याय का घातक है अतः सरसों के सदृश है और विषय अनन्त भवों में आत्मा का विनाश करने वाला है अतः यह मेरु के समान है। इसलिए जो तुम्हें तुम अपनी आत्मा की रक्षा करना है तो सत्संगति में रहकर विवेक ज्ञान द्वारा परपदार्थ के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करो। लोभ को सीमित कर शनैः शनैः उसका अभाव करो। जब तक आत्मा में पर पदार्थ का लोभ रहता है सन्तोष नहीं होता और सन्तोष के अभाव से मन बाहर भटकता फिरता है।

संसार में जितने भी अत्याचार अन्याय आदि महापातक होते हैं उनका मुख्य कारण लोभ है। इसलिए विषयादि के लोभ का त्याग कर ज्ञानोपार्जन का व शीलादि गुणों का लोभ करो जिससे तुम्हारी आत्मा इस मनुष्य जन्म में भी आनन्द का अनुभव करे और परभव में भी स्वर्गादि विभूति का भोगने वाला बने।

उत्तम सत्य

प्राणियों को पीड़ा उत्पन्न करने वाले वचन न बोलना तथा स्व और पर के लिए हितकारक प्रिय और परिमित वचन का उच्चारण करना ही सत्य है।

असत्पुरुषों के सामने मौन धारण करना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि आचार्यों ने प्रशस्त (सज्जन) पुरुषों के मध्य साधु (उत्तम) वचन बोलने को सत्य कहा है। इसका आशय यह है कि यानादि कर्त्तव्य में जब चित्त ऊब जाता है—थक जाता है उस समय यदि उपदेशादि के लिए वचनोच्चारण करना पड़ता तो उस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मेरा बोलना इस समय उपयुक्त है या नहीं? जन समाज कैसी प्रकृति वाला है। शान्तस्वभाव है या उग्रस्वभाव। शान्तस्वभाव जनसमूह में वचनोच्चारण करना—धर्म का व्याख्यानादि करना स्वपर का कल्याण करने वाला होता है और जो उग्रस्वभाव जन समूह हो तो मौन धारण करलेना अथवा अपने निज कार्य स्वाध्यायादि में लग जाना चाहिए। अन्यथा सदुपदेश का भी दुरुपयोग होजाता है और अशान्ति का वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

आचार्यों ने सत्य के दश भेद कहे हैं–१ नामसत्य २ रूपसत्य ३ स्थापनासत्य ४ प्रतीत्यसत्य ५ संवृत्तिसत्य ६ संयोजना सत्य ७ जनपद सत्य ८ देशसत्य ९ भावसत्य १० और समयसत्य। इनका विशेष वर्णन पहले किया जा चुका है।

उक्त सत्य के भेदों को जानकर उनके अनुकूल वचन का उच्चारण करना सत्य है।

सत्य वचन बोलनेवाला मनुष्य संसार में पूज्य माना जाता है। उसपर शत्रु भी विश्वास करता है। प्राणीमात्र उसका आश्रय लेते हैं। मनुष्य जीवन की उत्कृष्टता सत्य वचन से ही मानी गई है। इसलिए जो वचन बोलने की शक्ति इस मनुष्य भव में प्राप्त हुई है उसको कटु कठोर तथा अधम पुरुषों के उच्चारण करने योग्य निंद्य वचन बोलकर मत खोवो। सत्य होने पर भी वचन से दूसरे का चित्त पीडित हो ऐसे वचन को भी आगम में असत्य माना है। जो मनुष्य लोभादि के वश असत्य बोलता है उससे उसका स्वार्थ भी बिगड जाता है और और वह लोक में निन्दा का पात्र होता है। उसका बडप्पन क्षणभर में मिट्टी में मिल जाता है। उसकी प्रतिष्ठा चरणोंपर लौटती हैं। उसकी पूज्यता पैरों से ठुकराई जाती है और वह सब के लिए भयानक जन्तु बन जाता है।

अन्य दुर्गुणों से दूसरे मनुष्यों का उतना अकल्याण नहीं होता जितना कि असत्य वचन से होता है। इसी असत्य वचन से संसार में मिथ्या शास्त्रों का प्रचार हुआ है। तीनसौ तिरेसठ पाखंड की प्रवृत्ति इस असत्यवचन द्वारा ही हुई है जिसके कि जाल में फसे असंख्य प्राणी हिंसादि घोर पापों का आचरण कर रहे हैं।

नरसंहार करनेवाले संग्राम इस असत्य वचन से ही प्रारंभ होते हैं। यदि मनुष्य शान्तचित्त होकर पूर्वापर हिताहित का विचार कर वचन निकाला करे प्रिय मधुर और स्वपर हितकारक वचन बोला करे तो यह मर्त्यलोक स्वर्ग समान बन जावे।

असत्य वचन बोलने में तो आत्मा के स्वाभाविक भावों को दबाने में बडी शक्ति लगानी पडती है आत्मा कुंठित होता है और सत्य वचन उच्चारण करने में आत्मा को आह्लाद होता है। उसका प्रभाव सब सुननेवाले जीवों पर स्वतः विदित हो जाता है। असत्य भाषी स्व और पर की हिंसा करता है। क्योंकि वह असत्य भाषण कर अपने सच्चे निराकुल भाव की हिंसा करता है और असत्य से सुनने वालों के चित्त में गहरी चोट लगती है। उनका हृदय विदीर्ण हो जाता है। इसलिए असत्यभाषी आत्मघाती और परघाती मानागया है। इसलिए जब सत्य वचनामृत से अपनी व दूसरे की आत्मा को आनन्द मिलता है और उसके लिए कुछ कष्ट भी नहीं होता तो इस अमूल्य अमृत का आस्वादन क्यों नहीं करते ? इस सत्य के आधार पर सब संसार के कार्य होते हैं इसलिए सत्य के आश्रित सारा संसार ठहरा है ऐसा कहाजाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है। सत्य ही जीवन का आधार है और संसार के सब कार्यों का मुख्य साधन है। इसलिए वचन बोलते समय पूर्ण सावधानी रखना योग्य है।

उत्तम संयम

षट्काय के जीवों का रक्षण और पाँचों इन्द्रिय और मन का निग्रह करना संयम कहलाता है। लोभादि के वश विषय और कषाय में भटकते हुए मन रूपी मातङ्ग (हाथी) को वश में करने के लिए यह संयम अंकुश के समान है। अथवा कुमार्ग में गमन करते हुए इन्द्रिय रूपी घोड़ों को लगाम के समान है—क्योंकि मन और इन्द्रिय को रोकने का नाम संयम है। इसका पालन करने से इन्द्रिय और मन का प्रचार रुककर आत्मा में स्थिरता आती है।

संयम के भेद और उनका स्वरूप

संयम दो प्रकार का है—१ उपेक्षा संयम और २ अपहृत-संयम।

(१) उपेक्षा-संयम—देश काल-विधि के ज्ञाता उत्कृष्ट शरीर वाले मनोयोग वचनयोग एवं काययोग का निग्रह कर तीन गुप्ति के धारण करनेवाले महामुनि के जो रागद्वेष का अभाव होता है उसे उपेक्षा-संयम कहते हैं।

(२) अपहृत-संयम—पाँच समिति का आचरण करने से अपहृत संयम होता है। ईर्या भाषा एषणा आदान-निक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समिति हैं। इनका विवेचन पहले कर आये हैं वहाँ से जान लेना चाहिये।

इन ईर्यादि पाँच समितियों में प्रवृत्ति करने वाले मुनि के प्राणी और इन्द्रियों का परिहार होता है। अर्थात् पृथिवी-कायादि पाँच स्थावर और त्रसकाय के जीवों की रक्षा और इन्द्रियों का निग्रह होता है। इसीको अपहृत संयम कहते हैं।

वह अपहृत संयम तीन प्रकार का है—१उत्कृष्ट २मध्यम और ३ जघन्य। जिनके प्रासुक वसतिका और आहार ये दोनों ही बाह्य साधन हैं तथा ज्ञान और चारित्र क्रिया जिनके पराधीन है तथा बाहर के जन्तुओं की रक्षा का उपनिपात (संयोग) होने पर वसतिका आदि का त्याग कर जन्तुओं की रक्षा करने वाले मुनि के उत्कृष्ट अपहृत संयम होता है। अर्थात् वसतिका आदि में जन्तुओं का संसर्ग हो जाने पर उन जन्तुओं को न हटाकर जो मुनि स्वयं उस वसतिका आदि का त्याग कर देते हैं उनके उत्कृष्ट अपहृत-संयम होता है। कोमल पिच्छिका से उन जन्तुओं प्रमार्जन करनेवाले मुनि के मध्यम अपहृत संयम होता है। अन्य पुस्तकादि उपकरणों की इच्छा रखने वाले मुनि के जघन्य अपहृत संयम है।

उस अपहृत संयम का प्रतिपालन करने के लिए भावशुद्धि आदि आठ शुद्धियाँ आवश्यक मानी गई हैं उनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

संयमी का निवास

संयमी का निवास तीन प्रकार का होता है। १ स्थान २ आसन और ३ शयन।

(१) स्थान—दोनों पाँवों को चार अगुल के अन्तर पर स्थापन कर ऊपर नीचा अथवा तिरछा मुख किये हुए जिसमें अपना भाव लगा रहे अपने बल व वीय के अनुसार कमचय करने के निमित्त संक्लेश परिणाम रहित होकर जो खड़ा रहता है उसे स्थान कहते हैं।

( ) आसन—यदि खड़ा न रह सके और खड़ रहने की प्रतिज्ञा न की हो तो पयक (पालथी माडकर बैठना) आदि आसन लगाकर बैठ जाये उसे आसन कहते हैं।

(३) शयन—यदि बहुत काल तक स्थान आसन से खेद खिन्न(परिश्रम से थकना) हो जावे तो मुनि अपनी भुजा का तकिया बनाकर एक पसवाड अग सुकोड कर अल्पकाल पयन्त श्रम दूर करने के निमित्त शयन करे—इसको शयन कहते हैं।

साक्षात मोक्ष के कारण भूत सयम के पाच भेद हैं–१ सामायिक २ छेदोपस्थान ३ परिहारविशुद्धि ४ सूक्ष्मसाम्पराय, ५ और यथाख्यात चारित्र। इनका स्वरूप पहले कह आये हैं।

उत्तम तप

कर्म का क्षय करने के लिए बाह्य और आभ्य तर रूप से जो तपा जाता है उसे तप कहते हैं। उसके दो भेद हैं—१ बाह्य और आभ्यन्तर। इन दोनों के छह भेद हैं। उनका विशेष विवेचन तप आराधना में कर आये हैं। अभ्रावकाशयोग वृक्षमूलयोग और वर्षायोग इस प्रकार तीन योग को तप के अन्तगत समझना चाहिए। इनका वणन भी पूव कर आये है।

उत्तम त्याग

चतन व अचतन दश प्रकार के परिग्रह के तथा मिथ्यादि चौदह प्रकार के परिग्रह के उत्सग करने (छोडने) को त्याग कहते हैं।

उत्तम आकिञ्चन्य

मेरा संसार में कोई नहीं है। यह शरीर भी मेरा नहीं है अन्य पुत्र स्त्री आदि मेरे कैसे हो सकते हैं? मैं यहा पर अकेला ही आया हूँ और अकेला ही जाऊगा। आत्मा के सम्यक् दशन ज्ञान और चारित्र मेरे हैं। ये ही मेरे साथ परभव में जाने वाले हैं। इस प्रकार अकिंचन भाव का चिन्तन करने से आकिञ्चन्य धम प्रकट होता है।

उत्तम ब्रह्मचर्य

(१) ब्रह्म (आत्मा) में चर्या करने को ब्रह्मचय कहते हैं। यह निश्चय ब्रह्मचय है। सम्पूर्ण स्त्रियों का त्याग

करना व्यवहार ब्रह्मचर्य है। स्त्रीमात्र के साथ रागद्वेष सम्बन्ध का त्याग करने से आत्मा अपने स्वरूप में रमण करती है इसलिए मुख्य ब्रह्मचर्य के साधन को भी ब्रह्मचर्य कहा है। इसका विशद विवेचन ब्रह्मचर्य महाव्रत में किया जा चुका है।

बोधि दुर्लभ भावना

हे आत्मन्! बोधि (सम्यक्त्व अथवा दीक्षा धारण करने की बुद्धि) का मिलना अति दुर्लभ है। तुमने अनन्त काल तो निगोद में निवास किया है। क्योंकि सम्पूर्ण संसार निगोद जीवों से भरा हुआ है। जीव का चिर निवासस्थान निगोद है। उससे निकल कर पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय अवस्था प्राप्त करना भी अति कठिन है। उससे निकल कर त्रसपर्याय प्राप्त करना बालू के समुद्र में खोई हुई हीरे की कणी के समान दुष्प्राप्य है। त्रस में विकलेन्द्रिय जीवों में जन्म हुआ तो किस काम का? उससे निकलकर पंचेन्द्रिय पर्याय मिलना दुष्कर है। पंचेन्द्रिय में पशु पक्षी आदि तिर्यंचों में उत्पन्न हुए तो वहाँ पर हित अहित का विचार न होने से बोधि की प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य होकर भी यदि नीच जाति नीच कुल म्लेच्छ क्षेत्रादि में जन्म हुआ तो वह मनुष्य जन्म भी निरर्थक है। तुम्हें सब योग मिलगया है। उत्तम कुल जाति निरोग शरीर जिन-धर्म का शरण सत्संगति आदि आत्म-कल्याण का सब योग प्राप्त हुआ है। यदि अब भी बोधि की प्राप्ति नहीं की तो अधिक से अधिक पूर्व कोटि पृथक्त्व सहित दो हजार सागर तक त्रस पर्याय में रहकर तुमको पुनः निगोद का शरण लेना पड़ेगा।

यह बोधि संसार में सब से श्रेष्ठ है। देखो! तीर्थंकर प्रकृति का उदय भी बोधि के प्राप्त हुए बिना नहीं होता है। तथा तीर्थंकर जब बोधि दुर्लभ भावना का चिन्तन करते हैं तब ही लौकान्तिक देव आते हैं गर्भादिक कल्याण में नहीं आते इसलिए स्पष्ट है कि बोधि संसार में सर्वोत्कृष्ट है। अतः इसको हाथ से मत जाने दो।

मनुष्य जन्म कितना दुर्लभ है?

संसारम्हि अणंते जीवाण दुल्लहं मणुस्सत्तम्।
जुगसमिलासंजोगो लवणसमुद्दे जहा चेव ॥ ६५ ॥ (मूला. द्वा.)

अर्थ—लवण समुद्र की पूर्व दिशा में युग (जूला जूड़ा) डाला और पश्चिम दिशा में डाली समिला (जूड़े की कील)। उस कीला का जूड़े के छेद में आकर प्रविष्ट होना जैसे अति दुर्लभ है वैसे ही इस अनन्त संसार में चौरासी लाख योनियों के मध्य मनुष्य पर्याय का मिलना अति दुर्लभ है।

भावार्थ—मोहनीय कर्म रूपी पिशाच के वशीभूत हुआ यह जीव सद्गुरुओं के सदुपदेश को कानों से सुनकर भी हृदय में धारण नहीं करता है। जिसके संसार का अन्त सन्निकट है वही निकट भव्य का मन बोधि की दुर्लभता को समझकर उसका आराधन करता है,

वही मनुष्य पर्याय की दुष्करता को समझता है। उसके चित्त में देश कुल निरोगता आयु तथा शारीरिक-सामर्थ्य का सदुपयोग करने की उत्कण्ठा जागृत होती है। प्राप्त हुए इन्द्रिय जैन धर्म के असली स्वरूप का रहस्य उसी के अन्त करण में झलकता है। सत्पुरुषों के सत्संगरूप कल्पवृक्ष का लाभ वही लेता है। जिनागम के अमृत समान एक एक वचन को कर्णपुट द्वारा पान कर अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। इस नश्वर शरीर से अविनश्वर पद देने वाली बोधि की प्राप्ति करने में ही अपना कल्याण मानकर इसके पालन में निरत हो जाता है। क्योंकि संसार के सब पदार्थ आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं रखते हैं। वे जड़ स्वरूप है और आत्मा को बन्धन में डालने वाले हैं। आत्मा के बन्धन को खोलने वाली एक बोधि है।

जिसको रत्नत्रय में अनुराग होता है सम्यग्दर्शन की जिसको प्राप्ति होगई है वह जीव अर्धपुद्गल काल के अन्दर मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता रखता है। लेकिन जब तक वह चारित्र का अनुष्ठान नहीं करेगा उसको सिद्धस्थान प्राप्त होना दुर्लभ है। अत चारित्र को पूज्य कहा है। चारित्र का धारक पूजा के योग्य माना है। अत हे आत्मन्! जो तुमको ऐसे सर्वोत्कृष्ट पूज्य पद तो प्राप्त करना है तो इस पूज्यता की कारण भूत चिन्तामणि रत्न के समान बोधि को यदि पाकर तुमने खो दिया तो अनन्त काल के लिए दरिद्री बन जाओगे और दारिद्र्य का अनुभव करने के लिए निगोदादि पर्याय में जा पहुंचोगे इसलिए पूर्ण सावधानी से इसका पालन करो।

तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति रूप बोधि तथा मुनि दीक्षा धारण करने की बुद्धि-रूप बोधि संसार में अति दुर्लभ है। ऐसा समझकर जीवादि तत्त्वों का यथार्थ बोध करके श्रद्धान करो तथा दीक्षा धारण करने के परिणाम को अति दुर्लभ समझो। इसकी प्राप्ति होना सुलभ नहीं है। कर्म के क्षयोपशमादि से यदि वह प्राप्त हो जावे तो चिंतामणिरत्न से अनन्त गुणा श्रेष्ठ समझकर उसे हाथ से मत जाने दो। जिन्होंने अचिन्त्यपद तथा सिद्धपद प्राप्त किया है वह सब इसी बोधि का माहात्म्य है।

इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओं का जीवन में उतारते रहने से आत्मा में दृढ़ संस्कार उत्पन्न होता है और उस संस्कार से सम्पन्न हुई आत्मा धर्म से कभी नहीं डिगती है। क्रमश कर्मों का क्षय करके निर्मल बन जाती है—विमल (मोक्ष) पद को प्राप्त करने में समर्थ हो जाती है।



अथ अनगार भावना अधिकार

द्वादश भावनाओं के वर्णन के बाद अब अनगार भावना अधिकार का प्रारम्भ किया जाता है। यद्यपि इस प्रकरण की बहुत सी बातों का वर्णन यथावसर पहले किया जा चुका है फिर भी उन पर विशेष प्रकाश डालना यहाँ आवश्यक जान पड़ता है। क्योंकि मुनिधर्म में लिंग-शुद्धि आदि दश शुद्धियों का प्रकरण बड़े महत्व का है। इसे समझे बिना किसी की मुनि धर्म में स्थिति नहीं हो सकती। इसलिए मुनि पद को विशुद्ध बनाने के लिए आगे कही जाने वाली शुद्धियों का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए और उनकी उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए। अनगार-भावना के दश अधिकार हैं।

लिंग वदं च सुद्धी वसदि विहार च भिक्खणाणं च।
उज्झणसुद्धी य पुणो वक्कं च तवं तधा झाणं ॥ ३ ॥
एदमणयारसुत्तं दसविधपदं विणयअत्थजुत्तं।
णाण पढइ भत्तिजुत्ता तस्स पणस्सदि पावाइं ॥ ४ ॥ (मू. अ. भा.)

अर्थ — इन्द्र चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी जिनके चरणारविन्द की पूजा करके अपना अहोभाग्य मानते हैं—अपने को कृतार्थ समझते हैं—ऐसे गृहत्यागी वैराग्य की मूर्ति अनगार के योग्य कर्त्तव्यों को दश पदों में विभाजित किया है।

(१) लिंगशुद्धि (२) व्रतशुद्धि (३) वसतिशुद्धि (४) विहारशुद्धि (५) भिक्षाशुद्धि (६) ज्ञानशुद्धि, (७) उज्झन शुद्धि (८) वाक्यशुद्धि (९) तपशुद्धि (१०) ध्यानशुद्धि। ये दश प्रकार के कर्त्तव्य का निरूपण करने वाले दश अधिकार पद सब सुन्दर अर्थ वाले सिद्धान्त के अनुसार मुनि-भावना का प्रतिपादन करने वाले हैं। जो इनका भक्ति पूर्वक पठन पाठन करता है उसके पापमल का प्रक्षालन होता है।

(१) लिंगशुद्धि अधिकार

चलचवलजीविदमिणं णाऊण माणुसत्तणमसारं।
णिव्विण्णकामभोगा धम्मम्मि उवट्ठिदमदीया ॥ ७ ॥ (मू. अ. भा.)

अर्थ—यह मानव जीवन अस्थिर व विद्युत (बिजली) के चमत्कार के समान विनश्वर है। इसमें कुछ भी सार तत्त्व नहीं है।

प्रतिसमय इसका नाश हो रहा है न जाने किस समय इसका सर्वथा क्षय जावे। अभीष्ट पदार्थ की कामना स्त्री आदि उपभोग सामग्री आत्मा को आकुल करने वाली है ताम्बूल कुंकुम पुष्पादि के समान एक बार सेवन करने के पश्चात् उच्छिष्ट हुई पुनः सेवन करने योग्य नहीं है। इस प्रकार काम भोग से विरक्त होकर निर्ग्रन्थ लिंग धारण करने की बुद्धि करो।

भावार्थ—काम भोग की निःसारता और असेव्यता को समझकर इनसे विरक्त चित्त हुआ विवेकी मनुष्य अपने चञ्चल और विनश्वर जीवन को शीघ्र सफल बनाने को उत्सुक हुआ संसार से भयभीत होकर आचार्य के चरण की शरण ले और गद्गदकण्ठ हो प्रार्थना करे कि भगवन्! इस संसार सागर से उद्धार करने की कृपा करो। मुझे अपने आत्मा का कल्याण करने के लिए शुद्ध-लिंग–दिगम्बर मुनिवेष–की दीक्षा प्रदान करो।

इस प्रकार प्रार्थना करने पर आचार्य निम्नोक्त बातों का पूर्ण विचार करे। दीक्षा के योग्य जो व्यक्ति हो, उसके गुणादि की परीक्षा करके पश्चात् दीक्षा दे।

दीक्षा-योग्य पात्र

(१) जिसने उत्तम देश में जन्म लिया हो उसे ही दीक्षा दे क्योंकि देश के संस्कार आत्मा में स्थायी रहते हैं और देश के अनुकूल शरीर संस्थान आत्मपरिणाम सहनशीलता आदि होते हैं। इसलिए जन्म व निवास का देश शुद्ध होना चाहिए।

(२) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ये तीन उत्तम वर्ण ही मुनि दीक्षा के योग्य माने गये हैं। श्री जयसेनाचार्य कृत प्रवचनसार की टीका में कहा है—

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गा ॥१०॥

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीन वर्णों में से ही कोई मुनि-दीक्षा का अधिकारी होता है। इनमें से भी वही योग्य माना गया है जिसका शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा हो तप के योग्य जिनकी वय हो अर्थात् अतिवृद्ध और बालक न हो। जिसका मुख विकारहीन हो अर्थात् निर्विकार शुद्धचैतन्य परिणाम की शुद्धि को प्रकट करने वाला प्रफुल्लित मुख जिसका हो। अथवा जिसके मुख में वक्रतादि न हो। लोक में जिसे किसी प्रकार के दुराचार आदि के कारण अपवाद न लगा हो। ऐसा क्रोधादि रहित विनयगुण सहित हो मुनि दीक्षा के योग्य माना गया है।

(३) मुखादि विकार न हो। हीनांग न हो, और अधिकांग भी न हो।

(४) जिसने राज्य विरुद्ध कार्य न किया हो। अन्यथा संघ पर आपत्ति विपत्ति आने की सम्भावना रहती है।

(५) जिसने लोकाचार के विरुद्ध आचरण न किया हो दुराचारादि के कारण जिसका संसार में अपवाद न हो।

भाव यह है कि यदि कोई दुराचारी चोर क्रूर परिणामी निर्दयी पर उच्छिष्ट का भक्षण करने वाला आवारा फिरने वाला असत् व्यापार करने वाला निन्दनीय आजीविका करनेवाला परधन को हड़पनेवाला ऋणी हत्यारा जातिच्युत वर्णसंकर उन्मत्त अतिक्रोधी मानी मायाचारी राजा देश जाति व कुल का अपराधी या ऐसे ही अन्य दोषों से युक्त हो तो आचार्य उसे दीक्षा न दे।

भगवती आराधना की ७७ वीं गाथा की अपराजित सूरिकृत-विजयाटीका और पण्डित आशाधरजी कृत मूलाराधना टीका इन दोनों संस्कृत टीकाओं में बाह्य लिंग-शुद्धि अत्यावश्यक बताई गई है—

जिसका पुरुष चिन्ह मुनि दीक्षा के योग्य हो अर्थात लिंग (पुरुषचिन्ह) का अग्रभाग चर्म से ढका हो (यदि चर्म रहित (उघाड़ा) हो तो दीक्षा के अयोग्य है) अतिदीर्घ व स्थूल न हो और जिसमें विकार भाव उत्पन्न न होता हो तथा अण्डकोष बड़े न हों। यदि इन दोषों से युक्त हो तो वह व्यक्ति दिगम्बर दीक्षा के सर्वथा अयोग्य होता है। जो आचार्य इन उक्त लिंग-दोषों की ओर ध्यान न देकर दीक्षा देता है तथा उक्त दोषों में से किसी भी दोष सहित जो व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करता है वे दोनों जिनागम विरुद्ध आचरण करने वाले हैं और मुनि धर्म की जगत में निन्दा कराने के कारण होते हैं।

प्रवचनसार की टीका पर में आचार्य जयसेन लिखते हैं— यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि इसका आशय ऐसा समझना चाहिए कि सत् शूद्रादि मुनि-दीक्षा के योग्य न होने पर भी उनको आगम के अनुकूल क्षुल्लकादि दीक्षा दी जाती है। यथायोग्य पद से उक्त अर्थ ही ध्वनित होता है।

इसी प्रकार पं० आशाधरजी ने सागारधर्मामृत में कहा—

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुः शुद्ध्याऽस्तु तादृशः ।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥

अर्थ—वर्ण से हीन शूद्र का यदि रहन-सहन शुद्ध है वह मद्य मांसादि का भक्षण नहीं करता है तथा स्नानादि से शरीर वस्त्रादि को पवित्र रखता है तो वह भी जिन धर्म के श्रवण करने का अधिकारी है। क्योंकि जातिसे हीन जीव भी कालादि लब्धि के आनेपर

श्रावक धर्म का धारण करने वाला होता है।

सत शूद्र ऐल्लक दीक्षा के योग्य भी नहीं माना गया है क्योंकि जो उत्तम आर्य है वही ऐल्लक हो सकता है। शूद्र उत्तम आर्य न होने से ऐल्लक दीक्षा का अधिकारी नहीं होता है तब उसमें मुनि दीक्षा की योग्यता कैसे हो सकती है? धर्मसंग्रह श्रावकाचार के नवें अधिकार में कहा है—

पशुपाल्यात् कृष शिल्पाद्वत्न्ते तेषु केचन।
शुश्रूषन्ते त्रिवर्णी ये माण्डभूषाम्बरादिभि ॥ २३२॥

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीन वर्णों में कई तो पशुपालन से अपना जीवन निर्वाह करते हैं कई कृषि से अपनी जीविका करते हैं और कई शिल्पविद्या से अपना भरणपोषण करते हैं। जो उक्त तीनों वर्ण के मनुष्यों की वर्तन भूषण और वस्त्रादि से सेवा करते हैं वे शूद्र हैं। शूद्रों के भेद इस प्रकार किये गये हैं—

शूद्रों के भेद

ते सच्छूद्रा असच्छूद्रा द्विधा शूद्रा प्रकीर्तिता।
येषा सकृद्विवाहोऽस्ति ते चाद्या परथा परे॥ २३२॥ धर्म श्रा

अर्थ—उन शूद्रों के सत शूद्र और असत शूद्र इस प्रकार दो भेद हैं। जिन शूद्रों के स्त्रियों का एक बार ही विवाह होता है वे सत शूद्र हैं और जिनके पुनर्विवाह (विधवा विवाह-धरजा) होता है उन्हें असत शूद्र कहते हैं। तथा—

सच्छूद्रा अपि स्वाधीना पराधीना अपि द्विधा।
दासीदासा पराधाना स्वाधीना स्वोपजीविन ॥ २३४॥ धर्म श्रा

अर्थ—सत शूद्रों के भी स्वाधीन और पराधीन के भेद से दो विकल्प हैं। जो दासी व दास हैं वे पराधीन सत शूद्र हैं और जो दास वृत्ति न करके अन्य प्रकार से स्वतन्त्र आजीविका करके अपना निर्वाह करते हैं वे स्वाधीन सत शूद्र हैं।

निष्कर्ष यह है कि सत शूद्र मुनिलिंग नहीं धारण कर सकता। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्ण के पुरुष ही मुनिदीक्षा के अधिकारी माने गये हैं।

उक्त प्रकार मुनि दीक्षा के योग्य व्यक्ति की पूरी छान–बीन करके पश्चात् आचार्य मुनि-दीक्षा देवे। क्योंकि मुनि लिङ्ग जगत् पूज्य है। इसलिए विकलाङ्ग अधिकाङ्ग लिङ्गदोष (पुरुषेन्द्रिय दोष) विकार युक्त मुख इत्यादि शरीर के दोषों से युक्त व्यक्ति को तथा दुराचार व्यभिचार असंयमी क्रोधी मानी मायावी लोभी राज समाज व देश विरोधी मनुष्य को भूलकर भी दीक्षा न दे। शान्त गम्भीर,सुशील असंयमता सौम्याकृति सरल चित्त परम वैराग्यवान कुलीन मन्दकषायी विवेकी विनत इत्यादि गुणों से युक्त मनुष्य को बहुत काल पर्यन्त साथ में रख कर भलीभांति परीक्षा करके पश्चात् दीक्षा देवे। इसी में दीक्षा लेने वाले व देने वाले का और जगत् का हित है। अन्यथा सब का अकल्याण और धर्म का अपवाद होने की सम्भावना रहती है और उसका कारण दीक्षा देने वाला आचार्य बनता है। उसका शिष्यमोह या प्रमाद समाज व धर्म का नाशक सिद्ध होता है। अतः दीक्षकाचार्य को इस विषय में पूर्ण सावधान रहना चाहिए।

(७) दीक्षकाचार्य को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि दीक्षा का अभिलाषी व्यक्ति स्त्री पुत्र माता पिता आदि कुटुम्बियों से लड़ाई झगड़ा करके तथा जाति में किसी से बैर बांधकर तो दीक्षा नहीं ले रहा है। क्योंकि वह गुरु बनकर अपने पूर्व बैर का बदला लेने में जगत्पूज्य मुनि भेष का दुरुपयोग करता है। और इस उत्कृष्ट विश्वसनीय परमशान्त मुनि धर्म की निन्दा व हास्य करवाता है। इसलिए सब प्रकार प्रकृति आदि सब बातों की जांचकर दीक्षा देनी चाहिए।

(८) जिसके धर्मपत्नी अल्प वय (छोटी उम्र) की हो या घर में पांच बाल-बच्चे हों और उनके भरण–पोषण शिक्षणादि का प्रबन्ध न हो या जिसके सर पर धनका ऋण हो माता पिता वृद्ध हों और उनकी सेवाशुश्रूषा करने वाला अन्य कोई न हो उसे दीक्षा नहीं देनी चाहिए। आचार्य का कर्तव्य होता है कि जिसको दीक्षा देना हो उसके माता पिता स्त्री पुत्रादि की आज्ञा मिलने पर उसे दीक्षा देवे। मुख्य सम्बन्धियों की आज्ञा मिले बिना कदापि दीक्षा न दे। यदि बिना उन की अनुमति के दीक्षा देगा तो बड़ा उपद्रव उपस्थित हो जावेगा और उनकी निराधार पत्नी असहाय माता पिता व अनाथ बाल बच्चों के हाय विलाप करने व उनके करुण रोदन से उसका व समाज के अन्य दयालु मनुष्यों का हृदय फटने लगेगा। सम्पूर्ण विवेकी मनुष्य विरोधी बन जावेंगे। तथा अन्य विधर्मी भी मुनिधर्म की घोर निन्दा करने लगेंगे। वास्तव में ऐसा अविवेक पूर्ण कृत्य निन्दा के योग्य ही माना गया है। इसलिए दीक्षाकाचार्य के लिए धर्मज्ञान के साथ व्यवहार ज्ञान का होना भी आवश्यक बताया गया है।

मुनि धर्म तो सब का हित चाहने वाला है उस में निर्दयता और अपवाद का क्या काम है ? लेकिन अज्ञानी जीवों के निमित्त से अनुचित धर्म विरुद्ध कार्यों के करने से धर्म की भी निन्दा होती है और इस जिनेन्द्र के समान मुनि भेष की हंसी होने लगती है। साधु वह शान्ति की और समता व उदारता की मूर्ति होते हैं उनसे जो अज्ञानवश अनुचित कार्य होने से सम्पूर्ण मुनियों को निर्दय होने का कलङ्क लगता है वह अदूरदर्शी व अज्ञानी साध्वाभासों से ही लगता है।

किस प्रकार के पुरुष व स्त्री को दीक्षा देना चाहिए

(१०) जिसके चित्त से सांसारिक सम्बन्धियों का मोह ममत्व निकल गया हो, जिसका मन विषयों से परम विरक्त हो गया हो, जिसको जैन सिद्धान्त का ज्ञान हो अपने शरीर से वैराग्य और संसार से भय उत्पन्न हो गया हो केवल आत्म-कल्याण की भावना ही जिसके हृदय में लहराती हो जिसे खोटे कार्यों से घृणा और पाप से भय होता हो जिसकी प्रत्येक क्रिया में दया भाव पाया जाता हो जो शान्त स्वभाववाला और अपने कर्तव्य को समझनेवाला हो वह दीक्षा के योग्य है। किन्तु यदि किसी के सफेद कोढ़ हो मृगी रोग हो या वह काना हो बहरा हो नपुंसक हो या किसी संक्रामक रोग से पीड़ित हो तो परिस्थिति के विचार से आचार्य दीक्षा न दे।

दोषरहित और गुणसहित दीक्षा के योग्य श्रेष्ठ जाति कुल के व्यक्ति को ही दीक्षा देनी चाहिए।

दीक्षा लेकर कैसी अवस्था धारण करे ?

शरीर के सम्पूर्ण संस्कारों का त्याग कर, बालक के समान निष्कषाय और निर्विकार नग्न दिगम्बर वेष धारण कर इन्द्रिय और मन को अपने वश में रखे। वैराग्य भावना में तत्पर हुआ अपने दाढ़ी और मूछ के बालों का लोच करे। जीवरक्षा के निमित्त मयूर की पिच्छी अपने हाथ में धारण करे। शौच के लिए काष्ठ का कमण्डलु तथा ज्ञानाभ्यास के लिए योग्य पुस्तक ग्रहण करे। इस प्रकार जीव-रक्षा, शरीर-शुद्धि व ज्ञानाभ्यासके उपकरण के अतिरिक्त सम्पूर्ण बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना द्वारा नवकोटि त्याग करे तथा निरन्तर आत्म-भावना में अनुरक्त हुआ द्वादशानुप्रेक्षा का मनन चिन्तन करता रहे। एवं मन वचन व काय से लिंग शुद्धि दिगम्बर भेष की (निर्मलता) के लिए सदा सावधान रहे।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने ऐसे परमवीतराग दिगम्बर मुनि भेष को अर्थात् लिंग शुद्धि को आयतन कहा है—

मण-वयण-कायदव्वा आयत्ता जस्स इंदिया विसया।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रूवं ॥ ५ ॥
मयरायदोसमोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंचमहव्वयधारा आयदणं महरिसी भणियं ॥ ६ ॥ (बोधपाहुड)

मन वचन काय द्रव्य तथा इन्द्रियों के विषय स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द ये जिसके आधीन हैं वह संयम विशिष्ट मुनि का

रूप जिन मार्ग में आयतन कहा गया है।

जिस मुनि के आठ प्रकार के मदों में से एक भी मद नहीं है जिसके राग परिणति का सर्वथा अभाव है बाह्य पदार्थ में तथा शरीर में भी जिसके मोह का लेश नहीं है जिसकी आत्मा में क्रोध लोभ और मायाचार का अंश ढूंढने पर भी नहीं मिलता और जो परम अहिंसा उत्कृष्ट सत्य महान अचौर्य पूर्ण ब्रह्मचर्य और समस्त परिग्रह का त्याग इन पञ्च महाव्रतों के धारण करनेवाला है वह आयतन है। अर्थात् दर्शन स्पर्शन और पूजन के योग्य उसकी उक्त प्रकार की अवस्था को लिंगशुद्धि कहा गया है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने लिंग शुद्धि को ही प्रतिमा रूप से वर्णन किया है।

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥ १० ॥ (बंध पाहुड)

अर्थ—दर्शन और ज्ञान से जिनका चारित्र निर्मलता को प्राप्त होगया है ऐसे मुनि का आत्मा से भिन्न जो निर्ग्रन्थ वीतराग शरीर है वह प्रतिमा स्वरूप है। अर्थात् जिसके बाल के अग्र भाग बराबर भी परिग्रह नहीं है तथा जो वीतराग स्वरूप है पर पदार्थ में न राग है न द्वेष है और न मोह है-इस प्रकार शान्त-मुद्रा का धारक परम वीतराग स्वरूप निर्ग्रन्थ मुनि का दर्शन ज्ञान चारित्र सम्पन्न जो जङ्गम शरीर है वह जिन मत में प्रतिमा मानी गई है। इस प्रकार की अवस्था का नाम लिंग-शुद्धि है।

लिंग-शुद्धि से लाभ

विस्सासकरं रूवं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु।
सव्वत्थ अप्पवसदा परिसह अधिवासणा चेव ॥ ८४ ॥ (भग आ)

अर्थ—दिगम्बर मुद्रा सम्पूर्ण जीवों के विश्वास का कारण होती है। जगत् के प्राणी विचारते हैं कि ये अपने पास वस्त्र का खंड तक नहीं रखते हैं, तब अन्य वस्तु का ग्रहण कैसे कर सकते हैं ? इनसे किसी को भय नहीं होता क्योंकि भय उत्पन्न करने वाले शस्त्र अस्त्रादि इनके पास नहीं होते हैं। गुप्त (छिपे हुए) शस्त्रादि की भी सम्भावना या शङ्का नहीं हो सकती क्योंकि शस्त्रादि छिपाने के लिए इनके पास वस्त्रादि कुछ भी नहीं हैं। तथा इनकी शान्त मुद्रा देख कर शत्रु भी विश्वास करने लगता है। उनके निर्विकार और कुरूप संस्कार रहित मलीन शरीर को देखकर दर्शक को विरक्ति उत्पन्न होती है। मुनि को भी मलीन संस्कार रहित शरीर के धारण करने से नित्य प्रतिक्षण

वैराग्य भावना की जागृति होती है। विषयों से विरक्ति उत्पन्न होती है। सम्पूर्ण मनुष्य (स्त्री या पुरुष) का उनपर पूज्य भाव पैदा होता है। वे सोचते हैं कि इनको अपने शरीर पर अनुराग नहीं है अतः दूसरी वस्तुओं पर कैसे अनुराग कर सकते हैं ? इसलिए उनका हृदय उनके प्रति निर्विकार और पवित्र रहता है। जातरूप धारक संयमी का मन भी नग्न वेष के धारण करने से व स्नानादि द्वारा शरीर का संस्कार न करने से विषय सुखों से सदा विरक्त रहता है। वह सदा चिन्तन करते हैं कि "मैं किस पर अनुराग करूं ? क्या मांस रुधिर और मल मूत्र की गंदी मोंपड़ी रूप अत्यन्त घृणित स्त्री आदि का शरीर अनुराग करने योग्य है ? विवेकी पुरुष इस मांस रुधिरादि की थैली का छूना तो दूर रहा देखना व स्मरण करना भी नहीं चाहते हैं। मैंने तो शुद्ध बुद्ध अतिनिर्मल आनन्दमय चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति के लिए इस सर्वोत्कृष्ट मुनि धर्म को धारण किया है।"इस प्रकार वे विवेकज्ञान से अपने स्वरूप का चिन्तन करते हैं। इसलिए उनके मनमें विषय सुख के प्रति कभी आदर भाव उत्पन्न नहीं होता है। प्रेताकार समान मलिन मुनि के शरीर को देखकर अविवेकी महिलाजन भी उनमें अनुराग नहीं करती हैं। इसलिए संसार के सब प्राणियों का आदर भाव निग्रन्थ लिंग से होता है।

वस्त्रादि का सर्वथा त्याग करने से मुनि किसी के परतन्त्र नहीं होते। वस्त्रादि रखने से उनकी प्राप्ति के लिए संयमी की गृहस्थ के अधीन वृत्ति होती है। तथा उसी का रक्षा का सदा भय लगा रहता है। चोरादि के द्वारा चुराये जाने का भय बना रहता है। उनके प्रक्षालनादि के लिए आरम्भादि द्वारा हिंसादि दोष उत्पन्न होते हैं। वस्त्रादि के नाश के भय से उनकी रक्षा के लिए संयम के घातक बहुमादि दोष सहित स्थान में शयनासन करना पड़ता है।

दिगम्बर मुद्रा धारण करने से दंश मशक शीत घामादि की परीषहों को सहने का सुअवसर प्रतिक्षण मिलता है जो कि कर्मनिर्जरा का मुख्य साधन है। इससे आत्मबल प्रकट होता है और अनेक उपसर्गों के आने पर भी चित्त चञ्चल नहीं होता है। धैर्य और सहिष्णुता की वृद्धि होती है। और सब प्रकार के परिग्रह के बोझ से रहित हुआ मुनि आत्मध्यान में स्थिरता प्राप्त करता है। परिग्रहधारक के चित्त में निष्कम्पता नहीं आती है। उसके चित्त में चञ्चलता रहती है। कहां तक इसके गुण वर्णन किये जावें। यह दिगम्बर भेष जिनेन्द्र भगवान् का प्रतिरूप (प्रतिबिंब) है और मुमुक्षु जीवों के लिए मुक्ति का उपाय है। इससे रागादि दोषों का परिहार होता है। और आत्मानुभूति की जागृति होती है। और भी बहुत से गुण इस जिनसदृश लिंग (दिगम्बर भेष) के धारण करने पर स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं।

(२) व्रतशुद्धि

ते सव्वगन्थमुक्का अममा अपरिग्गहा अहाजादा।
वोसट्टचत्तदेहा जिणवरधम्मं समं णेंति ॥ १४ ॥ (मूला० अन०)

अर्थ—जिस संयमी ने मिथ्यात्व वेद कषाय (क्रोध मान माया लोभ) राग द्वेष हास्य रति अरति, शोक भय जुगुप्सा इन चौदह प्रकार के आभ्यन्तर तथा क्षेत्र वास्तु हिरण्य सुवर्ण धन धान्य दासी दास कुप्य भाण्ड इन दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों का नवकोटि से जन्म भर के लिए त्याग किया है वही नग्नमुद्रा का धारक मुनि अपने शरीर से भी ममत्व रहित बालक समान निर्विकार होता हुआ तैलादि मर्दन उद्वर्तन (उबटना) स्नानादि से शरीर के संस्कार का त्यागी होता है और जिनेन्द्र प्रणीत धर्म को पर भव में भी अपने साथ ले जाता है।

भावार्थ—दिगम्बर मुद्रा धारण करने वाला मुनि चौदह प्रकार के आभ्यन्तर और दश प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग कर शरीर से भी ममत्व नहीं करता है। शरीर के संस्कार का त्यागी होता है। सम्पूर्ण आरंभ (प्राणी हिंसा के कार्य) से अलग रहता है। हिंसादि सब पापों का त्याग करता है। बाल के अग्रभाग प्रमाण भी परिग्रह को नहीं रखता है। जिस स्थान पर सूर्य अस्त हो जाता है वहीं निवास करता है। किसी के अधीन नहीं रहता। सब प्रकार स्वतन्त्र होता है विहग के समान जिसका स्थान नियत नहीं होता है अर्थात् निश्चित रूप से एक स्थान में निवास नहीं करता है।

(३) वसतिका शुद्धि

गामेयरादिवासी णयरे पंचाहवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारी विवित्तएगंतवासी य ॥ १६ ॥ (मू० आ०)

अर्थ—जिस बस्ती के चारों ओर कांटे आदि बाड़ हो उसे गाँव कहते हैं उसमें मुनि एक रात्रि वास करते हैं। जिसमें प्रवेश चार बड़े दर्वाजे हों उसे नगर कहते हैं उसमें पांच दिन तक निवास करते हैं। उससे अधिक नहीं ठहर सकते क्योंकि पांच दिनों में तीर्थ यात्रादि सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं। इससे अधिक निवास करने से उस स्थान से ममत्व उत्पन्न होता है। स्त्री नपुंसक, पशु आदि से रहित एकान्त स्थान में निवास करने वाले निर्दोष आचरण के पालक मुनियों का ग्राम में एक रात और नगर में पांच दिन ठहरने का विधान है।

एकान्त स्थान का अन्वेषण करनेवाले गन्धहस्ती के समान मुनि विविक्त स्थान में ही सुख का अनुभव करते हैं। पर्वत की कन्दरा गुफा वृक्ष कोटर, शून्य-गृहादि में रहते हुए भी धैर्य से विचलित नहीं होते हैं। जिनाज्ञा में रमण करते हुए परम आनन्द चित्त होकर आत्मा को ध्यान में संलग्न करते हैं।

जिस समय गाँव या नगर में वास करते हैं, उस समय वहां पर भी एकान्त मठ शून्य गृहादि निर्दोष स्थान में वास करते हैं। उस स्थान से ममत्व सम्बन्ध नहीं जोड़ते। वहां पर कमल पत्र की तरह निर्लेप रहते हैं।

मुनीश्वर पर्वत के शिखर कंदरा तथा गुफा आदि कायर पुरुषों को भय उत्पन्न करने वाले स्थानों में निवास करते हैं। जहां पर सिंह व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं का प्रचार रहता है उन विकट स्थानों में रहकर वे ध्यान करने के लिए उत्सुक रहते हैं।

सिंह समान निर्भीक मुनि उन भयावह घने जंगल मे जाकर ध्यान धरते हैं जहा पर सिंह व्याघ्र शूकर रीछ आदि के शब्द गूंज रहे हो। उनकी त्रास जनक ध्वनि मुनीश्वरों के चित्त को लेशमात्र भी चचल नहीं करती है। वे धीर वीर मुनि ऐसे भयानक स्थानों में उत्तम ध्यान सिद्धि प्राप्त करते हैं।

ऐसे भयानक वन मे मुनि किस विधि से रहते हैं ? उसे दिखाते हैं—

> सज्झायझाणजुत्ता रत्तिं ण सुवंति ते पयामं तु।
> सुत्तत्थं चिंतंता णिद्दाए वसं ण गच्छंति ॥ २८ ॥ (मूला चा)

अर्थ—भयंकर वनादि तथा एकान्त शून्य गृहादि मे निवास करनेवाले मुनि स्वाध्याय और ध्यान में दत्तचित्त हुए रात्रि में नहीं सोते। भ्रम भावना में और एकाग्रचित्त होकर ध्यान में मग्न रहते हैं। रात्रि का प्रथम और अन्तिम प्रहर उक्त-प्रकार बिताते हैं। वे सूत्र तथा अर्थ और उभय (सूत्र व अर्थ) का चिन्तन करते रहते है इसलिए वे निद्रा के वश नहीं होते हैं।

भावार्थ—निर्ग्रन्थ मुनि ध्यान स्वाध्यायादि के कारण जब शरीर में थकान मालूम होती है तब श्रम का परिहार करने के लिए रात्रि का पहला और पिछला पहर छोडकर शयन करते हैं। हाथ का तकिया लगाकर एक करवट सोते हैं। बार बार करवट बदलते नहीं हैं। गोदूहन आसन वीरासन मृतकासन पद्मासन पर्यंकासन आदि आसनों में जो ध्यान में स्थिरता करनेवाला प्रतीत हो उस आसन से एकाग्रचित्त होकर आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करते हैं। श्रुतज्ञान के पद पदार्थ का मनन चिन्तन करते हैं। आत्मा धर्म्यध्यान या शुक्लध्यान में रमण करता रहे ऐसे उपायों का अवलम्बन करते हैं। अनेक प्रकार के परीषह और उपसर्गों के आने पर उनके प्रतीकार की इच्छा तक नहीं करते। अपने शरीर से ममत्व का त्याग करने के कारण परीषह व उपसर्ग उनकी आत्मा में किसी प्रकार विकार उत्पन्न नहीं करते। जैसे किसी दूसरे के सूने घर में अग्नि काण्ड आदि उपद्रव के उपस्थित होने पर मनुष्य के मन में दुःख व शोक नहीं होता है उसी प्रकार भेद विज्ञान द्वारा शरीर को अन्य घर समझनेवाले मुनि के दुःख का आविर्भाव नहीं होता है। इस प्रकार की भावना जिनके अन्तःकरण में निरन्तर निवास करता है वेही वीर और पापभीरु मुनीश्वर कर्म का क्षय करने में समर्थ होते हैं।

(४) विहार शुद्धि

मुत्ता णिरावयेक्खा सच्छंदविहारिणो जहावादा ।
हिंडंति णिरुव्विग्गा णयरायरमंडियं वसुहं ॥ २१ ॥ (मूला० ७८०)

अर्थ—समस्त प्रकार के परिग्रह से सर्वथा निर्लेप तथा किसी पदार्थ की आकांक्षा नहीं करने वाले मुनि वायु के समान स्वच्छन्द विहारी ग्राम नगर पत्तनादि से मण्डित वसुंधरा (पृथ्वी) पर नित्यप्रति भ्रमण करते हैं। किन्तु किंचित् मात्र भी उद्विग्न नहीं होते।

भावार्थ—नित्य विहार करनेवाले मुनि शुद्ध माने गये हैं। जो मुनि आगमोक्त विहार करने में प्रमाद करते हैं अथवा जिन शासन की अवहेलना करके बिना विशेष कारण के महीनों तक एक स्थान में निवास करते हैं वे मुनि सदोष हैं। मुनि की उत्तमता व निर्मलता तो वायु के समान निरंतर स्वच्छन्द विहार करने से ही होती है। मुनि पैदल विहार करते हैं। किसी प्रकार की सवारी नहीं करते। क्योंकि चेतन बैल अश्वादि वाहन पर चढ़कर विहार करने से उन्हें पीड़ा पहुंचती है और मार्गस्थित छोटे जन्तुओं की रक्षा नहीं हो सकती है। अचेतन मोटर वायुयान आदि की सवारी से भी जलकाय पृथ्वीकाय अग्निकायादि जन्तुओं की तथा मार्गस्थित त्रस जीवों की भारी हिंसा होती है। तथा वाहन पर सवारी करने से परतन्त्रता तथा दीनता आती है। समस्त परिग्रह के त्यागी मुनि के निकट रुपया पैसा नहीं होता और वे किसी से याचना नहीं करते। अतएव मुनि के सब प्रकार के वाहन का त्याग होता है। वे पदल विहार करते हैं। मुनीश्वर सब जीवों के निष्कारण बन्धु होते हैं। करुणा से उनका हृदय आर्द्र रहता है। वे भूमि पर के जीवों को बचाते हुए इस प्रकार चलते हैं कि मानो खोये हुए रत्न का ही अन्वेषण कर रहे हों। तथा माता जैसे पुत्र पर स्नेह करती और उसकी सब प्रकार रक्षा करती है उसी प्रकार मुनि सब जीवों के रक्षक होते हैं। वे जीवादि छह द्रव्य और नवतत्त्व के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। उनके स्वरूप को ज्ञान रूपी उज्ज्वल प्रकाश से भले प्रकार जानते हैं इसलिए पापजनक क्रियाओं का परिहार कर प्रवृत्ति करते हैं।

निर्ग्रन्थ साधु पाप भीरु होते हैं। अतः उनके यावज्जीव मन वचन काय व कृत कारित अनुमोदना द्वारा सम्पूर्ण पाप जनक कर्मों का त्याग होता है। वे प्रयोजन वश भी तृण का छेदन नहीं करते वृक्ष का पत्ता नहीं तोड़ते। किम्बा हरितकाय–वनस्पति का छेदन नहीं करते। वृक्ष की त्वचा शाखा कोंपल व मूलादि छेदन भेदन मोटन (मरोड़ना) आदि नहीं करते। छेदन तो दूर रहा उनका स्पर्श तक नहीं करते। प्रमाद से अथवा भूल से किसी सचित्त वनस्पति का स्पर्श हो जाने पर प्रायश्चित्त लेकर उस दोष को दूर करते हैं। वे दूसरे से पत्र फलादि का आरम्भ नहीं करवाते और न उनको अनुमति देते हैं। जो साधु सचित्त वनस्पति के आरम्भ व भक्षणादि की प्रेरणा करता है उसको अहिंसा महाव्रत से च्युत समझना चाहिए।

दयापरायण परम अहिंसक निर्ग्रन्थ मुनि सचित्त मिट्टी आदि पृथ्वी आदि खोदना पाटना चूर्ण करना कूटना आदि न तो स्वय करते और न दूसरे स करवाते हैं। जल का सिंचनादि कदापि नही करते। पखा आदि हिलाकर वायुकाय क जीवों की विराधना कभी नहीं करते। अग्नि को न जलात और न बुझाते और न अन्य किसी प्रकार उक्त जीवों को पीड़ा पहुचाते हैं और न दूसरों के द्वारा उक्त जीवों को कष्ट दिलाते हैं यदि अन्य पुरुष किसी प्रकार का सावद्य कार्य करता है तो उसकी अनुमोदना नहीं करते। बल्कि प्रिय मधुर वचन द्वारा उपदेश देकर पाप कार्य म होनवाली हानि समझाकर सावद्य कार्यों स उसको बचाते हैं।

साधु सदा निर्भय निहत्थेसिंह समान विचरते है। समस्त प्राणियों पर साम्य भाव रखते है इसलिए किसी प्रकार के शस्त्र अस्त्र धारण नही करते। हाथ में डंडा तक नही रखते। उनका कोइ शत्रु नही है। सब जीवों को मित्रवत् समझते हैं। सम्पूर्ण जीवों को आत्मवत चिन्तन करते हैं। मेरे द्वारा किसी तरह किसी जीव को पीड़ा न हो जावे। यदि मेरे निमित्त से इन जीवों को दुःख पहुचा तो वह दु ख मेरी आत्मा को बेचैन करदेगा उनका ऐसा स्वच्छ व दृढ संकल्प सम्पूर्ण जीवों की पीड़ा के परिहार में प्रवृत्ति करता है।

आत्म-साधना में तत्पर रहने वाले निर्ग्रन्थों का अतिशान्त गम्भीर चित्त क्षुधा तथा शीत उष्ण इत्यादि परीषहों के तथा देव-तिर्यचादि कृत उपसर्गों के प्राप्त होने पर दीनता नहीं दिखाता किन्तु रणागण में उत्साहित शूरवीर पुरुष की तरह धैर्य धारण कर वैराग्य भावना रूपी शस्त्र का प्रयोग कर उन पर विजय प्राप्त करता है। साधु शत्रु मित्र पर माध्यस्थ भावना धारण कर रागद्वेष को परास्त करते हैं। कूर्म (कछुए) की तरह अपनी सब इन्द्रियों को सुकोड कर प्रिय व अप्रिय विषयों में आदर व अनादर बुद्धि नहीं करते हैं। संसार के किसी पदार्थ की आकांक्षा न होने से उनके मन की चपलता दूर होकर स्थिरता उत्पन्न हो जाती है। उनके निर्मल अन्त करण में माया प्रपन्च का लेशमात्र सद्भाव न होने के कारण वे सब जीवों के विश्वास पात्र होते हैं।

जिनेन्द्र शासन रूपी मार्ग पर मन दृढ रखते हैं। उसके उल्लंघन से आत्मा की महती हानि को समझते हैं। जन्म मरण के तथा सासारिक इष्ट वियोगादि अन्य दु खों से भयभीत हुए गर्भावास के असह्य कष्टों से घबराते हैं।

हे आत्मन ! घोर नरक के कुंभीपाक के समान दुःख देने वाले माता के उदर में बहुत काल तक मल मूत्र रुधिरादि से लिपटे हुए रहकर भयानक सताप भोगना पड़ता है। इसलिए इस गर्भ बसती से अतित्रस्त होकर मुनि छुटकारा चाहते हैं।

ज्ञान-दीपक स जगत् के समस्त पदार्थों की असली हालत को देखकर कामभोग मे विरक्त होते हैं और ज्ञान-चक्षु से अगम-वास के स्थान को ढूढते हैं और वहा पर पहुंचने के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र का आश्रय लेकर वैराग्य भावना में लीन होते हैं। शरीर से निरपेक्ष हुए धैर्य रूप लगाम हाथ में लेकर आत्मा का दमन कर संसार के मूल (मोह राग द्वेष) का छेदन करते हैं।

(५) भिक्षा शुद्धि

छट्ठट्ठमभत्तेहिं पारेंति य परघरम्मि भिक्खाए ।
जमणट्ठं भुंजंति य ण वि य पयाम रसट्ठाए ॥ ४४ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—मुनीश्वर अपने संयम की साधनाके लिए बेला,तेला चोला पंचोला आदिके पारणे निमित्त परघर भिक्षा से भोजन करते हैं। जो भोजन कृत कारित और अनुमोदना से रहित हो तथा उद्दिष्टादि दोषों से वर्जित हो उसे ही ग्रहण करते हैं। जिव्हारसकी लोलुपता से अधिक भोजन नहीं करते हैं।

भावार्थ—साधु जन आहार को उपादेय नहीं समझते। जहाँ तक हो सके उसका त्याग करते हैं। अपनी शक्ति को न छिपाकर बेला तेलाआदि उपवास धारण कर निरन्तर आत्म-ध्यान स्वाध्याय में लगे रहते हैं। जब देखते हैं कि आहार के बिना स्वाध्यायादि कार्यों में बाधा उपस्थित होती है तब भिक्षा के लिए बस्ती में निकलते हैं। क्षुधा व तृषा से अतिपीडित होने पर भी मुखादि द्वारा दीनता प्रकट नहीं करते। नवधा भक्ति के साथ दिया हुआ कृत कारित अनुमोदना से रहित नवकोटि विशुद्ध उद्दिष्टादि दोषवर्जित तथा चौदह मल (नख रोमादि) रहित प्रासुक शुद्ध आहार पर-घर में लेते हैं। जिस घर पर ममत्व हो उसमें आहार ग्रहण नहीं करते हैं। रस की लालसा रहित उतना आहार करते हैं जिससे स्वाध्यायनादि आत्मीय कार्य की सिद्धि हो सके। आधा उदर अन्न से और चौथाई जल से भरते हैं। चौथाई खाली रखते हैं। स्वादिष्ट भोजन की लोलुपता वश रस हीन भोजन का त्याग नहीं करते हैं। गृहस्थ जैसा भी शुद्ध और ग्राह्य भोजन देता है उसे मौन पूर्वक ग्रहण करते हैं और वह भी पाणि-पात्र में है।

उद्दिष्टादि छियालीस दोष और बत्तीस अन्तराय रहित साधु का भोजन होता है। उसका विवेचन पिण्ड शुद्धि अधिकार में किया गया है। वहाँ से जान लेना चाहिए।

मुनि भिक्षा के लिए किस प्रकार भ्रमण करते हैं इसका खुलासा निम्न प्रकार है।

अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिच उच्चमज्झिमकुलेसु ।
घरपंतिहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति ॥ ४७ ॥ (मूला० आ० अ०)

अर्थ—आज मुनीश्वर भिक्षा के लिए यहा पर आवेंगे इस प्रकार गृहस्थों को ज्ञात नहीं हो उसे अज्ञात कहते हैं। अनभिप्रेत

अर्थात् मुनि अमुक अभिग्रहादि धारण करेंगे व अमुक घर जावेंगे इत्यादि अभिप्राय का ज्ञान न हो उसे अनभिप्रेत कहते हैं। ऐसे अज्ञात और अनभिप्रेत घर में चाहे वह धनिक का घर हो या मध्यम स्थिति वाले का घर हो चाहे गरीब का घर हो एक पंक्ति में आये हुए घरों को नहीं टालकर मौन पूर्वक भिक्षा ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—मुनियों को चाहिए कि वे जो अभिग्रह करें उसका स्पष्ट ज्ञान गृहस्थों को न हो सके। तथा जिस घर में मुनि आहार को जावें उसमें पहले अपने संघ का ब्रह्मचारी आदि जाकर सब अनुकूल व्यवस्था न करे। जहा पर संघ का कोई व्यक्ति गृहस्थ के घर जाकर पहले भोजनादि का प्रबन्ध करले और उसी घर में साधु का आहार हो तो इसमें उद्दिष्ट दोष ही नहीं अधः कर्म दोष उत्पन्न होता है जो मुनि के मुनित्व का नाशक माना गया है। तथा साधु चर्या के लिए निकले तब पक्तिबद्ध घरों में जहा पर भी विधि मिल जावे वहां पर आहार के सम्पूर्ण दोषों को टालकर आहार ग्रहण करले। ऐसा न करे कि विधि मिलने पर किसी घर को बीच में छोड़ कर अपनी इच्छानुसार कहीं पर भोजन ग्रहण करे। इससे ममत्व और आहार की लालसा या अन्य किसी प्रकार का मोह प्रकट होता है। इसलिए गरीब धनवान साधारण घर के भेद भाव को ध्यान में न रखकर प्रासुक शुद्ध विधि सहित जहा पर भी योग्य सरस या नीरस आहार मिले उसको स्वीकार करले। भोजन ठंडा हो या गर्म हो स्निग्ध हो या रूक्ष हो लौना हो अलौना हो स्वादु हो या बेस्वाद हो अपने मनके अनुकूल हो या प्रतिकूल हो इन बातों का खयाल न कर प्रासुक शुद्ध आहार जहा पर मिल जावे वहा ही ग्रहण करले।

आजकल अत्यन्त शीत (ठंड) है यदि गर्म भोजनादि मिले तो अच्छा हो आजकल गर्मी के दिन हैं इस समय शरीर में शीतलता करनेवाला पदार्थ मिले तो अच्छा हो आज उपवास का पारणा है स्निग्ध सरस भोजन मिले तो शरीर के लिए हितकर होगा इत्यादि बातों का कभी चिन्तन न करे। जैसा भी प्रासुक शुद्ध आहार मिले साधु को शान्ति पूर्वक इस प्रकार ग्रहण करलेना चाहिए—जैसा कि कोई व्यापारी अपनी मालसे भरी गाडी को इष्टस्थान पर ले जाने के लिए पहियों के मध्यभाग में तैल या घी का औंगन देता है। यदि औंगन न दिया जावे तो धुरे से अग्नि उत्पन्न हो जाती है और वह धुरा नष्ट भ्रष्ट होजाता है गाड़ी इष्टस्थान पर पहुचने में असमर्थ हो जाती है। उस अभीष्ट स्थान पर पहुंचने के लिए घृत या तैल का औंगन आवश्यक होता है। उसी प्रकार साधु का शरीर रत्नत्रयादि अमूल्य रत्नों से भरी हुई गाडी है। यदि इसका उचित समय में प्रासुक शुद्ध आहार रूपी औंगन न दिया जावे तो वह अपने अभीष्ट स्थान (मोक्ष) में पहुंचने के पहले मार्ग में ही नष्ट हो जावेगी तथा उसका संयम तपश्चरण ध्यानादि के विषय में किया गया समस्त श्रम व्यर्थ हो जावेगा। साधु शरीर को मोक्ष मार्ग पर चलान के लिए आहार रूपी औंगन देना आवश्यक समझते हैं। राग बुद्धि से शरीर को पुष्ट करने के लिए साधु आहार नहीं करते हैं।

मुनि उक्त विधि से गृहस्थ के घर चर्या के लिए जाते हैं। यदि दैवयोग से विधि न मिलने पर या अन्तराय आदि के हो जाने पर आहार न मिले तो उदास नहीं होते चित्त में विषाद नहीं करते। उसको कर्म की निर्जरा का कारण समझकर शान्ति से स्वाध्यायादि आत्म हितकर कार्यों में लग जाते हैं।

वे विचारते हैं कि आहार प्राण-धारण के लिए किया जाता है और प्राणों का धारण धर्म के आराधन के लिए है। अतः जितने काल शरीर प्राण में हैं उतने समय तक उस धर्म के आराधन में ही लगाना चाहिए। ऐसे विचारों से वे धर्म कृत्यों में एक समय भी प्रमाद नहीं करते हैं।

भोजन की प्राप्ति के लिए वे किसी की प्रशंसा स्तुति नहीं करते हैं। न किसी वस्तु की याचना करते हैं। क्योंकि याचना करने वाले के दीनता होती है। जिसके हृदय में दीनता होती है वह गृहस्थों का दास बन जाता है तो उसका श्रोताओं के चित्तपर कुछ भी असर नहीं पड़ता है। इत्यादि की याचना करनेवाला साधु नहीं होता वह साधु भेष को लजाने वाला है। इसलिए साधु किसी वस्तु की याचना करना तो दूर रहा उसकी इच्छा तक नहीं करते। क्योंकि उसको भी वे संयम का नाशक समझते हैं। आहार के लिए भी जब मौन धारण करके बस्ती में जाते हैं तब आहार कर चुकने तक किसी प्रकार का संकेत तक नहीं करते। तब अन्य वस्तु को मुख से कैसे माग सकते हैं। देहि (दो) यह शब्द दीनता और करुणा का प्रकट करने वाला है। इसे कदापि अपने मुख से नहीं निकालते। पाच सात दिन आहार न मिलने से भूख के मारे मुनि का शरीर शिथिल व अशक्त हो गया हो आखो के सामने अधेरा आने लगा हो मस्तक शून्य हो गया हो चक्कर आने लगे हों हाथ पाव हिलाने का सामर्थ्य भी नहीं रहा हो तथापि धीर वीर मुनि एक ग्रास तक नहीं मागते हैं। ऐसे स्वाभिमानी (मुनि धर्म का मान रखने वाले) मुनीश्वर अपने मुख से क्या कोई अन्य वस्तु माग सकते है ?

मुनि भोजन न मिलने पर अपने हाथ से भोजन नहीं बनाते न उपदेश देकर दूसरे से बनवाते हैं। न अपने लिए भोजन वाले की अनुमोदना करते हैं। क्योंकि उन्होंने भोजन बनाने का नवकोटि से त्याग किया है। भिक्षा के समय जो अन्न मिल जाता है उसीमें सतुष्ट रहते हैं। भिक्षा में भात रोटी आदि अशन मिले अथवा दुग्धजलादि पेय पदार्थ मिले या लड्डू आदि पकवान मिले अथवा राबड़ी आदि मिले या जलमात्र मिले जो शुद्ध व प्रासुक हो पाणिपात्र में उसका प्रतिलेखन कर-देखशोधकर भक्षण करते हैं। जो भोजन विवर्ण (भद्दा) न हो प्रासुक (सम्मूर्छनादि से रहित) मनोहर तथा एषणा के दोष से रहित हो ऐसा भोजन भिक्षा में मिले तो ग्रहण करते हैं। किन्तु बासा (दो तीन दिन का बना) भोजन नहीं करते। विवर्ण (भद्दा) तथा चींटी आदि जिसमें चल रही हों उसे अप्रासुक समझ कर उस भिक्षा भोजन का त्याग करते हैं।

जिस भोजन के पदार्थ में काली पीली नीली लाल श्वेत पाच रंग की फूलन में से कोई फूलन आगई हो, जो चलित रस हो

जिसमें दुर्गंध आती हो साधु उसको अप्रासुक समझ कर त्याग करते हैं। क्योंकि फूलन में साधारण वनस्पतिकाय के अनन्त निगोदिया जीव होते हैं। इसलिए साधु ऐसे पदार्थ का भोजन करते हैं जो सर्वथा प्रासुक हो शुद्ध हो और मनोज्ञ हो। जो आहार देखने में भी भद्दा मालूम होता हो उसका भी ग्रहण नहीं करते हैं।

फलादि जब तक अग्नि में पकाये नहीं गये हों साधु उन्हें नहीं लेते हैं। क्योंकि बिना अग्नि के पकाये फलादि के टुकड़े प्रासुक नहीं होते हैं।

जिसमें बीज न हो ऐसा फलों का गूदा या रस प्रासुक किया हुआ ग्रहण करते हैं। जिसमें बीज हों ऐसा फल का गूदा रस आदि कभी नहीं लेते। तथा बिना बीजवाला रस वगैरह भी यदि प्रासुक न किया गया हो तो उसका ग्रहण नहीं करते हैं।

शुद्ध प्रासुक भिक्षा भोजन करने पर भी प्रमादादिकृत दोषों का निवारण करने के लिए मुनि प्रतिक्रमणादि करते हैं। दिन में भोजन की दो वेला होती हैं किन्तु मुनि एक दिन में एक बार ही भोजन करते हैं।

५ ज्ञान शुद्धि

ते लद्धणाणचक्खू णाणुज्जोएण दिट्ठपरमट्ठा।

णिस्संकिद णिव्विदिगिछादबलपरक्कमा साधू ॥ ६२ ॥ (मूला० अ)

अर्थ—जिन महात्माओं ने ज्ञान-चक्षु प्राप्त कर लिया है मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान, मनःपर्यज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश से सम्पूर्ण लोक के सारे पदार्थों को जान लिया है उनको आगम निरूपित पदार्थों में शंका नहीं होती है तथा संसार की किसी बीभत्स (घृणास्पद) वस्तु पर निर्दई घृणा नहीं है तथा कठिन से कठिन तपस्या करने पर भी आत्मग्लानि उत्पन्न नहीं होती है आत्मबल के अनुकूल पराक्रम द्वारा निरन्तर उत्साह सहित कार्य में लगे रहते हैं।

जिस साधु को स्वसिद्धान्त का तथा परमत के सिद्धान्तों का रहस्य ज्ञान होता है वह साधु अपने आचरण से नहीं गिरता है। ज्ञान रूप उज्ज्वल दीपक उसके आगे प्रकाश करता चलता है। वह संसार के सब पदार्थों का असली स्वरूप उघाड़कर उसके सामने रख देता है। यह पदार्थ तेरे लिए अमृत के समान ग्राह्य है और यह पदार्थ तेरे लिए विष के समान अहितकर होने के कारण त्याज्य है। यह अनुकूल क्रिया तेरे आत्मा को पवित्र और बलवान बनाने वाली है और यह विपरीत क्रिया तेरी आत्मा को मलीन व निर्बल बनाने वाली है इत्यादि बातों को सूचित कर श्रेयोमार्ग को प्रकाशित करने वाला एक सम्यग्ज्ञान ही है। यदि विपरीत कारणों के संयोग से

चारित्र के आराधन में साधु उत्साह हीन होने लगता है कठिन परीषहों के प्राप्त होने पर चारित्र से उदासीनता होने लगती है तब यह ज्ञान उसका हाथ पकड़कर गिरने से बचाता है और उदासीनता दूर कर उत्साह को बढ़ाता है। उन्मार्गगामी मन को थाम कर मार्ग में लाता है। साधु को यथासमय भले बुरे की सूचना देने वाला एक ज्ञान ही है।

ज्ञान बल से साधु तपस्यादि कार्यों में निरन्तर दृढ़-चित्त रहता है उसका धैर्य बढ़ानेवाला ज्ञान ही है आत्मा में गम्भीरता तथा अन्य गुणों की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। ज्ञान रूपी लगाम से ही इन्द्रिय रूपी चंचल घोड़े वश में रहते हैं। मन-मातङ्ग को आत्मा के वश में रखने के लिए ज्ञान अंकुश के समान है।

तपस्या से जिन साधुओं के कपोल सूखकर चिपक गये हैं भृकुटि (भौंहें) ऊपर उठ आई हैं आंखें अन्दर घुस गई हैं शरीर अस्थि पंजर मात्र हो गया है वे साधु भी ज्ञान के बल से निरन्तर तपश्चरण में उत्साहित रहते हैं और उनका वास्तविक स्वरूप जानते हैं। यही कहा है।

सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलबुद्धी।

णिउणत्थसत्थकुसला परमपयवियाणया समणा ॥ ६७ ॥ (मूला० अ

अर्थ—जिन मुनि पुंगवों के कर्ण श्रुतज्ञान रूपी रत्न से भूषित हैं जो हेतुवाद में पारङ्गत हैं जिनकी बुद्धि विशाल है जो व्याकरणशास्त्र तर्कशास्त्र साहित्य छन्द अलंकार आदि शास्त्रों में निपुण हैं वे महामति साधु परमपद (मोक्षमार्ग) के वास्तविक ज्ञाता होते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञान व चारित्र मोक्ष का मार्ग माना गया है। नय व प्रमाण से जीवादि पदार्थों के स्वरूप को जानकर उनपर श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। उस सम्यग्दर्शन सहित जितना भी ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान तथा जितना भी चारित्र है वह सम्यक चारित्र होता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के लिये पदार्थों का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है और पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्रमाण और नय के द्वारा होता है इसलिए सबसे प्रथम प्रमाण व नयों के स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए। नय और प्रमाण के ज्ञान बिना वस्तु का यथार्थ ज्ञान होना असंभव है।

श्रुतज्ञान से निरूपित अर्थ के एक देश (अंश-धर्म) का निश्चय करनेवाले ज्ञान को नय कहते हैं। नैगम संग्रह आदि उसके सात भेद हैं। उनका स्वरूप ज्ञानाचार में दिखा आये हैं। अथवा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय के दो भेद हैं। नैगम, संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय द्रव्यार्थिक हैं क्योंकि ये द्रव्य का ग्रहण करते हैं। और शेष तीन (शब्द समभिरूढ और एवंभूत)

पर्यायार्थिक हैं। ये पर्याय का ग्रहण करते हैं। अथवा व्यवहार और निश्चय इस प्रकार नय के दो भेद हैं। वस्तु की शुद्ध अवस्था के ग्रहण करनेवाले नय को निश्चय नय कहते हैं। तथा अन्य वस्तु के संयोग से उत्पन्न हुई वस्तु की जो वर्तमान अवस्था है उसके ग्रहण करनेवाले नय को व्यवहार नय कहते हैं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु को समस्त स्वरूप के ग्रहण करनेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उसके प्रत्यक्ष व परोक्ष ये दो भेद हैं। इसका विशेष विवेचन ज्ञानाचार में किया गया है वहां जान लेना चाहिए।

जिसको आगम का ज्ञान है उस मुनि का चारित्र उज्ज्वल होता है। तथा वही अपना तथा दूसरे का कल्याण करने में समर्थ हो सकता है। श्रुतज्ञान बिना मनुष्य अन्धे के समान होता है। जैसे अन्धा मार्ग स्थित कण्टक, पत्थर, खड्ड आदि अनिष्ट वस्तु से बचकर ठीक मार्ग पर चलने में असमर्थ होता है वैसे ही ज्ञान हीन मनुष्य आत्मा के अहितकर मार्ग (चारित्र) से बचकर उत्तम निर्दोष मोक्षमार्ग पर चलने में असमर्थ होता है। इसलिए आचार्य महाराज ने साधु के श्रुतज्ञान (आगमज्ञान) की आवश्यकता दिखाई है।

मुनि को व्यवहार ज्ञान भी होना चाहिए। जो द्रव्य क्षेत्र काल व भाव के अनुसार उपदेश नहीं देता है उसके उपदेश से जनता को कुछ भी लाभ नहीं होता है प्रत्युत कभी कभी उससे भयंकर हानि हो जाती है। द्रव्यक्षेत्रकालादि का विचार न करनेवाला मुनि अपने चारित्र को भी निर्मल नहीं रख सकता इसलिए साधु को मतिमान होना चाहिए।

जो साधु व्याकरण न्याय छन्द साहित्यादि शास्त्रों का वेत्ता होता है उसके द्वारा मुनिपद सूर्य के समान देदीप्यमान हो जाता है। वह विद्वानों के हृदय में स्थान पाता है। उससे जैन धर्म का उद्योत (प्रकाश) होता है। सच्ची धर्म की प्रभावना विद्वान् मुनि ही कर सकता है। उसकी ज्ञानमय आत्मा के मुख से निकले ओजस्वी वचनों से विरोधी विद्वान् भी नत मस्तक हो जाते हैं। शास्त्र निपुण विद्वान् आचार्यों ने ही सम्पूर्ण जीवों को सन्मार्ग दिखानेवाले शास्त्रों की रचना की है। उन शास्त्रों के आधार पर ही इस समय जैन धर्म टिका हुआ है और भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग प्राप्त हो रहा है। इसलिए यह स्पष्ट है कि मोक्ष मार्ग के ज्ञाता व प्रणेता (उपदेशक) विद्वान् मुनिराज ही हो सकते हैं।

अनेक शास्त्रों के पारगामी विद्वान् साधु कैसे होते हैं इसके लिए कहते हैं—

अवगद माणत्थमा अणुस्सिदा अगव्विदा अचडा य।
दंता मद्दवजुत्ता समयविदण्हू विणीदा य ॥ ६८ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ— शास्त्र पारगत मुनियों के लेश मात्र भी ज्ञान का गर्व नहीं है, ज्ञान के गर्व से उच्छृंखल (उद्दण्ड) होकर आगम विरुद्ध एक शब्द

भी उच्चारण नहीं करते हैं उत्तम जाति उच्च कुलादि का अभिमान उनके ह्रदय को स्पश तक नहीं करता है क्रोध के कारण उपस्थित होन पर भी उनक अ त करण म क्रोध का आविर्भाव नहीं होता है इन्द्रियों का दमन उनने कर लिया है वे मृदुता गुण से भूषित हैं। स्वसिद्धान्त पर सिद्धान्त के विद्वान् हैं तथापि वे अत्यन्त विनयवान होते हैं।

भावार्थ—प्रकाण्ड विद्वान मुनि के सामने जगत के उद्भट विद्वान खद्योत क समान प्रतीत होते हैं। उनकी ज्ञान-तेजस्विता से विख्यात कीर्ति पडित भी कांपते हैं। तथापि वे मुनिराज अपने ज्ञान का गव नहीं करते हैं। क्योंकि उन्हें वस्तु क यथाथ स्वरूप का बोध होगया है। पुण्य और पाप क कारणों का स्वरूप उनक हृदय मे अ कित होगया है। वे समझते हैं कि अभिमान पाप का बीज है। अभिमान स आत्मा का पतन होता है। केवलज्ञान के सामने मेरा ज्ञान खद्योत क समान है। मैं जिसका अभिमान करू वह क्षायोपशमिक ज्ञान कर्माधीन है। तीव्र असाता कम तथा वीर्यान्तराय कम के उदय होने पर यह क्षायोपशम ज्ञान नष्ट हो जाता है। इस पराधीन और नश्वर ज्ञान का अभिमान करना अज्ञानता है। मेरा स्वरूप तो केवलज्ञान है। उसकी प्राप्ति क लिये मैंने यह उत्कृष्ट मुनिपद धारण किया है। यदि मैं अभिमान करूगा तो दुष्ट माग म गिर जाऊगा और मेरा सवस्व लुट जावेगा—ऐसा विचार कर साधु अभिमान को निकट तक नहीं आने देते हैं। किन्तु इसक विपरीत विनीत भाव धारण करते हैं। अपने ज्ञान की अल्पता की ओर ध्यान रखते हैं। अभिमान वश किसी का निरादर नहीं करते। उनक वचन म क्रिया म नम्रता झलकती है। निरन्तर ज्ञानोपयोग म तल्लीन रहते हैं। अपने चारित्र को उज्ज्वल करने म तत्पर रहते हैं। इन्द्रिय व मन पर विजय प्राप्त कर धर्मध्यान म उपयुक्त रहते हैं।

( ) उज्झनशुद्धि

न छिण्णणेहबंधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि।
ण करंति किंचि साहू परिसंठप्पं सरीरम्मि ॥ ७ ॥ (मूला अ)

अर्थ—जिनने पुत्र स्त्री आदि क प्रेम सम्बन्ध को छिन्न भिन्न कर दिया है और अपन शरीर से भी स्नेह सम्बन्ध तोड़ दिया है वे साधु अपने शरीर का किंचिन्मात्र भी संस्कार नहीं करते हैं।

भावार्थ—उज्झन शुद्धि चार प्रकार की होती है। १ शरीर के संस्कार का त्याग २ पुत्रादि बन्धुवग का सवथा त्याग ३ सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग और ४ रागादि भाव का त्याग।

उत्तम शुद्धि के चार भेदों का स्वरूप

जिन महात्माओं ने अपने शरीर के ममत्व (मोह) का त्याग कर दिया है वे शरीर को आत्मा का शत्रु समझते हैं। क्योंकि जितने पापकर्म होते हैं उनका कारण यह शरीर ही है। साधुजन इसका किसी प्रकार का संस्कार नहीं करते। न वे मुह धोते हैं न नेत्रों पर जल छिड़कते है न दन्तधावन करते हैं। अर्थात् मंजन या दतौन लेकर या अंगुल से रगड़कर दांत स्वच्छ नहीं करते हैं। सुगन्धित द्रव्यों का उबटना नहीं करते है। न पाँवों पर केशर आदि द्रव्यों को लगाकर उन्हे स्वच्छ करते है न शरीर का मर्दन करवाते हैं न मुक्का आदि से शरीर कुटवाते हैं न किसी काष्ठादि यंत्र से शरीर को दबवाते हैं न शरीर के अवयवों को धूपादि से सुगन्धित करते है। अपने कंठ की शुद्धि के लिए अथवा स्वर को ठीक करने के लिए वमन नहीं करते हैं। अपने नेत्रों में सुरमा कज्जलादि का अंजन नहीं करते। न पेट की शुद्धि के लिए या उदर पीड़ा का परिहार करने के लिए विरेचन लेते हैं। सुगन्धित तैलादि का शरीर पर मालिश नहीं करते हैं। चन्दन अगर कपूरादि का लेप नहीं करते हैं। कभी नेति धौती नहीं करते हैं। नासिका में और उदर में वस्त्र डालकर नासिका और उदर को स्वच्छ करने की क्रिया को नेति धौती कहते हैं साधु इस कभी नहीं करते हैं न सिंगी आदि लगाकर अपने शरीर का रुधिर निकलवाते हैं। इत्यादि शरीर सम्बन्धी कोई संस्कार नहीं करते हैं।

प्रश्न—मुनिराजों ने अपने शरीर के समस्त संस्कारों का त्याग कर दिया है तो व्याधि आदि के उत्पन्न होने पर वे क्या करते हैं?

उप्पण्णम्मि वाही सिरवेयण कुक्खिवेयणा चेव।
अधियासिंति सुधिदिया कायतिगिंछं ण इच्छन्ति ॥ ७९ ॥ (मूल अ)

अर्थ—ज्वर जुकाम खांसी आदि रोगों के उत्पन्न होने पर सर की पीड़ा उदर शूल पेट में दर्द अथवा इसी प्रकार अन्य असह्य पीड़ा के उत्पन्न होने पर वे परम धैर्य धारण करनेवाले मुनि शरीर का प्रतीकार ... रखने हुए आत्मा को बेचैनी पैदा करने वाली वेदना की प्रतीकार की इच्छा भी नहीं करते हैं किन्तु चित्त को ज्ञान दर्शन की भावना में लगाते हैं।

भावार्थ—ममान्तक पीड़ा देनेवाले असह्य रोग वेदना के उपस्थित हो जाने पर धैर्यधुरन्धर मुनिराज शरीर की ओर से ध्यान को हटाकर ज्ञान दर्शन भावना में चित्त को लगा देते हैं। वे विचारते हैं कि हे आत्मन् तेरे जो असाता वेदनीय कर्म का उदय आया है वह अपना फल दिए बिना न रहेगा। ... यथा ... हो रहा है। इस समय तुझे शांति धारण करना चाहिए। इसका उपार्जन तूने किया है अब उसका फल भोगते समय क्यों कायर होता है? यह कर्म का ऋण तूने किया है। ऋण को चुकाना सत्पुरुषों का कर्तव्य है। यदि तू इस समय धैर्य धारण कर इसे शांति से सहलेगा तो इस ऋण से मुक्त हो जावेगा। और यदि तू धैर्यहीन होकर हाय विलाप करेगा। आत्मा में आर्त

ध्यान उत्पन्न करेगा तो भी यह कर्म तुझे नहीं छोड़ेगा अपना फल अवश्य देगा। बल्कि धीरज का त्याग करने से तुझे कई गुना अधिक कष्ट प्रतीत होगा और नये कर्म का बंध भी होगा। वह फिर तुझे भविष्य में इससे भी अधिक दुःख देगा। सोच! यह अवसर तेरे लिए बड़ा शुभ उपस्थित हुआ है जो सचेत और ज्ञानोपयोग दशा में यह कर्म उदय में आया है। सब सुन्दर संयोग इस समय तुझे प्राप्त हैं। इस समय भी तू अज्ञान वश शोक संताप करेगा तो तेरे समान मूर्ख और कौन होगा? जरा सोचो! तुमने नरकों में कैसे २ दुःख सहे। जहाँ निरन्तर ताड़न छेदन भेदन भाड़ में भंजन शूल्यारोहण अग्नि पाचन आदि घोर क्लेश सहे हैं जिनका स्मरण मात्र हृदय को कम्पित कर देता है, उसके समक्ष यह आगत दुःख तो कुछ भी नहीं है। देखो! सुकुमाल मुनिराज के शरीर को नोच नोच दोनों बच्चों सहित स्यालनी ने भक्षण किया, तथापि लेशमात्र भी उनके मन में विकार नहीं हुआ। कहाँ वह सुकमाल मुनीश्वर जिनके शरीर को सरसों भी काँटे समान दुःख देती थी, उसको स्यालनी द्वारा आधा भक्षण कर लेने पर रंचमात्र दुःख नहीं हुआ। पाँचों पांडव मुनिराजों के गले में अग्नि से तप्तायमान लोहे के जगमगाते हुए गहने डाले गये तथापि उन्होंने रंच मात्र दुःख नहीं किया। उनके शरीर के अवयव दग्ध होगये किन्तु उनके भाव में विकार नहीं हुआ। गजकुमार मुनि के मस्तक पर अंगीठी बनाकर अग्नि जलाई गई किन्तु मुनिराज का मन-सुमेरु तनिक भी चंचल न हुआ। तुमको कष्ट है ही कहाँ? क्या यह शरीर तुम्हारा है? यह तो विनश्वर पुद्गल का पिण्ड है। तुम तो शुद्ध बुद्ध चैतन्य सुख स्वरूप आत्मा हो। ऐसे शरीर तो तुमने अनन्त बार पाये हैं। जैसे पुराने वस्त्र को उतार कर नये वस्त्र पहननेवाला मनुष्य अप्रसन्न नहीं होता है। उसी प्रकार इस जीर्ण शीर्ण दुर्गंध शरीर को छोड़कर दिव्य अनुपम देवादि के शरीर को प्राप्त करनेवाले को क्या दुःख? संयमी इसकाल में भी स्वर्ग का अधिकारी है। इस पंचमकाल में मोक्ष नहीं होता तो भी देवगति के सिवा संयमी दूसरी गतिमें नहीं जाता। यदि तुम आर्त्तध्यान करोगे तो तुम्हारे संयम रत्न को कषाय चोर लूटलेंगे और तुम्हें नरकादि गति में जाना पड़ेगा। इत्यादि ज्ञान द्वारा मुनिराज अपने शारीरिक रोगादि के प्राप्त होने पर शरीर का संस्कार नहीं करते हैं। न वेदना से मन को विकृत करते हैं—व्याकुल चित्त नहीं होते हैं। किंकर्त्तव्य विमूढ नहीं होते और मन में कायरता नहीं धारण करते किन्तु महान धैर्य का अवलम्बन लेकर व्याधि रोग वेदनादि से न घबराकर उससे मुकाबला करते हैं। विवेक ज्ञान से शरीर को अन्य समझ कर उसकी चिकित्सा आदि की इच्छा तक नहीं करते हैं।

शंका—क्या मुनिराज विरेचनादि सब औषधियों का त्याग करते हैं?

समाधान—नहीं ऐसा नहीं है।

शंका—तो किस की इच्छा करते हैं?

समाधान—मुनिराज जिनेन्द्र भगवान के वचन रूपी औषध का निरन्तर सेवन करते हैं। इन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले विषय-सुख का विरेचन लेते हैं। अर्थात् विषय-सुख का त्याग करते हैं। ज्ञानामृत का पान करते और आत्मा के ध्यान में सन्तुष्ट रहते हैं।

आत्म ध्यान जन्म जरा मरण रूप व्याधि के क्षय करने का कारण है। शारीरिक मानसिकादि समस्त दुःखों के क्षय का कारण है तथा सम्पूर्ण कर्मों के नाश करने में समर्थ है।

जिनागम के तत्वों में सम्यक्श्रद्धान रखने वाले चारित्रपरायण साधु जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करके कोई क्रिया नहीं करते। जिनागम में व्याधि प्रतीकार करने के लिए औषधादि का सेवन करना साधु के लिए निषिद्ध है। अतः प्राणों का नाश होते हुए भी साधु किसी प्रकार की औषधादि का सेवन नहीं करते हैं।

आत्महित-परायण मुनिराज शरीर को रोगादि-ग्रस्त हुआ जानकर विचारते हैं कि यह शरीर रोगों का मन्दिर है। इसमें सैंकड़ों व्याधियां उत्पन्न होती हैं। यह तो रोगों का प्रसूतिगृह है। एक रोग का प्रतीकार करने पर दूसरा उत्पन्न हो जाता है और उसका उपशमन होते ही तीसरा रोग प्रकट हो जाता है। इसकी असली चिकित्सा असाता वेदनीय कर्म का क्षय करने से हो सकती है। यह शरीर जब तक रहेगा तब तक रोग का अस्तित्व मिट नहीं सकता अतएव इसकी उत्पत्ति कभी न हो ऐसा उद्योग करना ही श्रेयस्कर है।

इस शरीर के साथ रोग व्याधि आदि का सम्बन्ध है। ये इसीको हानि पहुंचा सकते हैं। इसमें मेरी क्या हानि है? यह शरीर तो अशुचि है महा अशुभ है शुभ लेश्या से रहित है नसों और आतड़ियों से वेष्टित है चमड़ी से ढका हुआ है हड्डियों की ठठरी है जो मांस चर्बी से लिपी हुई है भीतर रुधिर शुक्र कलेजे आदि से भरा हुआ और मलमूत्र कफ आदि का स्थान है।

यह शरीर सड़े हुए फोड़े के समान घिनावना है। संसार के सब अपवित्र और घृणित पदार्थों से यह शरीर बना है। शरीर का सबसे उत्तम अवयव मुख है वह कफ और लार युक्त है। आंखों में से कीचड़ नासिका से कफ कानों से कर्णमल निकलता रहता है। अधो द्वार से मल मूत्र समय समय निकलते रहते हैं। सम्पूर्ण शरीर से स्वेद जल बहता रहता है। कहाँ तक कहा जावे यह शरीर मलगृह है, श्मशान के समान बीभत्स है। और इस पर भी इसके टिकने का कुछ भरोसा नहीं। कितने ही रक्षा के उपाय किये जावें तो भी अनियत काल में नष्ट हो जाता है। इसकी क्षण भर रक्षा करने को भी त्रिलोकी में कोई भी समर्थ नहीं है।

जिस शरीर की रक्षा करने के लिए यह प्राणी निरन्तर दत्तचित्त रहता है-जिसको सुन्दर पवित्र सुगन्धित दुग्ध पक्वान्न आदि पदार्थों का भोजन देता है उनको यह शरीर मल मूत्र रूप कर डालता है। यदि वह अन्नादि दातों में लगा रह जावे तो रोग उत्पन्न कर देता है। इस शरीर के संसर्ग से सुन्दर भोजन जलादि मनोज्ञ पदार्थ कफ-क्षार-स्वेद-मल-मूत्रादि दुर्गन्ध पदार्थ बन जाते हैं, जिसका स्पर्श तो दूर रहा नेत्रों से देखना भी कोई नहीं चाहते।

प्र न—ऐस शरीर को मुनि क्या धारण करते हैं ? और आहारादि स उसका पोषण क्यों करते हैं ?

उत्तर—इस अत्यन्त अशुचि और विनश्वर शरीर से पवित्र और अविनाशी सुख देने वाले धर्म का आराधन करने के लिए इसकी आहारादि स रक्षा क त हैं क्योंकि मनुष्य शरीर मे ही चारित्र धर्म का पालन होता है स्वाध्याय-ध्यान की सिद्धि होती है। जब तक यह स्वाध्यायादि म साधक होता है तब तक इसका पोषण करते हैं और इसस अपना खूब काम लेते हैं। और जब यह रोगादि से पीडित होता है स्वाध्यायादि कार्मों में उपयोगी सिद्ध नहीं होता है तब इससे अपना सम्बन्ध तोड देते हैं और अपने परिणामों में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होने देते। इसीको ग्रहण शुद्धि कहते हैं।

७ वाक्य शुद्धि

भास विणयविहूण धम्मविरोही विवज्जए वयण।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा ण वि ते भासंति सप्पुरिसा ॥ ८७॥ (मूला अ)

अर्थ—सत्पुरुष मुनिराज धर्मविरोधी वचन का उच्चारण नहीं करते धर्म स अविरुद्ध भाषा भी विनय रहित नहीं बोलते। पूछने पर या बिना पूछे कटु कठोर तथा व्यवहार विरुद्ध या आगम विरुद्ध कोई वचन मुख से नहीं निकालते।

भावार्थ—पाप स भयभीत महापुरुष इस बात का पूर्ण ध्यान रखते हैं कि मेरे मुख स प्रमादवश ऐसा वचन न निकलने पावे जो लोगों को धर्म स विपरीत मार्ग पर चलाने वाला हो। प्रियवचन भी धर्म के अनुकूल ही होना चाहिए। अविनीत वचन भी जनता को सन्मार्ग पर लाने में समर्थ नहीं होता। भाषा के वक्ता विद्वान मुनि आर्यभाषा का उच्चारण करते हैं जिससे श्रोताओं के अन्त करणमें आर्यभाषा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने लगे। यदि समझाने के लिए किसी अन्य देश भाषा का प्रयोग करना पडे तो भी ऐसी सरल और व्यवहार-मान्य भाषा का उचारण करते हैं जो सर्व ग्राह्य होता है। नीचजाति के उच्चारण करने योग्य रे तू आदि तुच्छ वचन कभी नहीं बोलते। बडों मे तो क्या बालक के प्रति भी रे तू आदि हलके शब्दों का प्रयोग नहीं करते। उत्तम पुरुषों के उच्चारण करने योग्य तुम आप सज्जन आदि वचनों का प्रयोग करते हैं। विनय पूर्वक बोला गया वचन श्रोताओं के हृदय को आकर्षित करता है। तथा वक्ता के प्रति आदर व पूज्य भाव उत्पन्न करता है। धर्मोपदेश के समय मुनि आगम के सिद्धातों का घात करनेवाली भाषा नहीं बोलते। जिस विषय का ज्ञान न हो उसका अपनी मति स कल्पित विवेचन नहीं करते किसी के प्रश्न करने पर आगम के अनुकूल सरल चित्त से उत्तर देते हैं। यदि उस प्रश्न का उत्तर देने की शक्ति नहीं होती है तो ऊटपटांग उत्तर न देकर अपनी अशक्ति प्रकट करते हैं। वे समझते हैं कि मेरे मुख स निकला हुआ वचन लोग सत्य मानते हैं। यदि मैंने अभिमान वश कुछ भी असत्य भाषण कर दिया तो इस मुनिवेष को लज्जित कर दिया। मुझे असत्य-भाषण करते हुए

देखकर लोगों की मुनिवेष मे घृणा होने लगेगी। लोगों को सत्यभाषी मुनिराजों के प्रति भी अश्रद्धा होने लगेगी। मुनियों की सर्वोत्कृष्टता का नाश करके उनके प्रति अरुचि और अपूज्यता की ओर निन्दा का कारण हो जाऊंगा तो मेरे समान और कौन पापी होगा? मुझसे यह गृहस्थ ही अच्छे हैं जो जैन धर्म की व मुनि वेष की प्रभावना व पूजा करते हैं। और मैं ऐसा पापी हुआ जो उनकी निन्दा का कारण हुआ। इस सत्य महाव्रत के कारण ही सम्पूर्ण संसार मेरा विश्वास करता है। मेरे चरण पूजता है और मेरा दर्शन पूजन कर अपने जन्म को सफल व धन्य समझता है। मेरा कर्तव्य है कि मैं प्राण जाने पर भी अज्ञानवश व अभिमानवश या मोहवश असत्य वचन न निकालूं।

मुनिगण शास्त्रों के पठन पाठन मनन चिन्तन में अपना समय व्यतीत करते हैं। बिना प्रयोजन किसी गृहस्थ स्त्री व पुरुष से संभाषण नहीं करते। वे गृहस्थों के लौकिक झगड़ों में नहीं बोलते। कहा भी है—

अच्छीहिं य पच्छंता कण्णेहिं य बहुविहाइ सुणमाणा।
अत्थति मूयभूया ण ते करंति हु लोइय कहाओ ॥ ८८ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—मुनिराज भले बुरे रूप तथा योग्य-अयोग्य वस्तु को आंखों से देखते हुए भी रहते हैं मानों वे नेत्रविकल हैं। कानों से सुनने योग्य व न सुनने योग्य अनेक प्रकार के वाक्यों को सुनते हैं तथापि वे गूंगे व बहरे बन जाते हैं। मानो उन्होंने सुना ही नहीं हो कहने के लिए उनके जीभ ही न हो। किसी भी समय लौकिकी कथा गृहस्थों के झगड़े टण्टे की बात को न सुनते हैं और न बोलते हैं।

सामाजिक झगड़ों से लोगों के परस्पर बखेड़ों से मुनिराज को क्या मतलब है? उन्होंने लौकिक सब सम्बन्ध का त्याग कर मुनि दीक्षा धारण की है। उस त्याग हुए व्यवहार का ग्रहण करना उच्छिष्ट का ग्रहण करना है। अतः किसी लौकिक झगड़े में पड़नेवाले अपने आत्मा का घात तो करते ही हैं साथ में अन्य मुनिपद को भी कलंकित करते हैं।

हे मुनियों! तुमने लौकिक कथाओं का वचन से ही नहीं मन से भी त्याग किया है। अतः उनको मन में भी स्थान देना तुम्हारे लिए लज्जा की बात है। तुम्हें स्त्री सम्बन्धी कोई कथा नहीं करनी चाहिए। यह स्त्री सुरूप है यह कुरूप है यह सौभाग्यवती है यह मधुर भाषणी है यह कलहकारिणी है यह अल्पवयस्क है यह प्रौढ़ा है इत्यादि स्त्री सम्बन्धी कथा तुम्हारे लिए अत्यन्त अहितकारक है। ऐसे ही तुम्हें अर्थकथा भी नहीं करना चाहिए। धन के उपार्जन करने के उपायों का वर्णन करना अर्थकथा है। राजादि की सेवा के द्वारा प्रसन्न करने से अमुक वस्तु का वाणिज्य व्यवहार करने से अमुक उपायों का अवलम्बन कर खनी आदि करने से धातुओं के शोधन खननादि के साधनों को काम में लाने से मंत्रतंत्रादि का प्रयोग करने से धन की उपलब्धि होती है। इस प्रकार की कथा को अर्थ कहते हैं। भोजन से सम्बन्ध

सम्बन्ध वाली कथा को भोजन कथा कहते हैं। उनके यहाँ सुन्दर अशन-पान-खाद्य आहार में मिलते हैं। अमुक घर में भोजन-सामग्री की सुव्यवस्था है। वे आहार में बड़े स्वादिष्ट पदार्थ संयमी को देते हैं। वह स्त्री बड़ा स्वादिष्ट और मनोहर भोजन बनाती है। उस के हाथ के बने हुए भोजन में बड़ा सुन्दर स्वाद आता है। अमुक घर में रूखा सूखा भोजन मिलता है। उसके घर दुर्गन्धियुक्त बेस्वाद भोजन होता है। इत्यादि प्रकार से भोजन की कथा तुम्हें कभी नहीं करनी चाहिए। देश-नगर-ग्राम खेटक कर्वटादि की कथा को देश कथा कहते हैं। (नदी पर्वत से घिरे हुए प्रदेश को खेट कहते हैं। सब तरफ से पर्वतों द्वारा घिरे हुए प्रदेश को कर्वट कहते हैं) अमुक खेट व कर्वट के निवासी बड़े युद्ध कुशल हैं। अमुक ग्राम (कांटों की बाड़ से घिरे हुए प्रदेश) में धन धान्य की समृद्धि है। वहाँ के लोग बहुत धनिक हैं। वहाँ पर परचक्र का भय नहीं है। वह नगर धनधान्य से परिपूर्ण है उसमें किसी शत्रु का प्रवेश करना असंभव है। अमुक देश उत्तम यन्त्र चालित सेनाओं से सुरक्षित है। उस पर शत्रु का प्रभाव नहीं हो सकता। इत्यादि नगर ग्राम द्रोणमुख देशादि की कथा कर्मबन्ध करने वाली है। अतः साधुओं को लिए सर्वथा त्याज्य हैं तथा राजाओं की कथा करना राजकथा कही जाती है उसके मन्त्री चाणिक्यादि नीति में प्रवीण हैं योग और क्षेम में वह राजा उद्योगशील है। (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग और प्राप्त वस्तु के रक्षण को क्षेम कहते हैं) उसके पास चतुरंग सेना है उसने अनेक घोर संग्रामों में विजयलक्ष्मी पाई है उसने सम्पूर्ण शत्रु-समूह को निर्मूलन कर निष्कण्टक राज्य किया है। उस राजा के प्रताप के सामने किसी की तेजस्विता नहीं टिकती। उसकी सेना रण कुशल है। उसके पास शस्त्रास्त्रों के प्रचुरता है इत्यादि राज-कथा करने से रौद्र परिणामों का प्रादुर्भाव होता है। इसलिए मुनियों को कदापि ऐसी कथाएं नहीं करनी चाहिए। साधुओं को चोरी की कथा भी नहीं करनी चाहिए। अमुक नगर का निवासी चोर बड़ा निपुण है। यह धीरता से मार्ग में लूटता है। घात लगाने में उसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता है। वह ऐसा गंठकटा है कि देखते देखते वस्तु को चुरा लेता है। आँखों में से कज्जल तक निकाल लेता है और पता नहीं चलने देता वह ऐसा पश्यतोहर है। वह डाकू इतना शूर है कि उसको सेना ने चारों ओर से घेर लिया तथापि वह अकेला ही उससे लड़कर भाग निकला। इत्यादि चोर डाकू गंठकटे लुटेरे आदि की कथा चोरी का महत्व प्रकट करती है आत्मा के परिणामों में विकार भाव उत्पन्न करती है इसलिए मुनियों को ऐसी कथाएं कभी नहीं करनी चाहिए। अमुक देश में हीरा पन्ना होता है। अमुक जगह पन्ना की खाने हैं। अमुक खाड़ी में मोती बहुतायत से पाये जाते हैं और बहुत सस्ते मिलते हैं। अमुक स्थान पर जाकर अमुक रत्नादि लाये जावें और अमुक स्थान में बेचे जावें तो बड़ा लाभ होता है। वहाँ पर केसर आदि उत्तम और अल्पमूल्य में मिलती है। अमुक नगर में बहुत महँगी मिलती हैं और बहुत बिकती है। वह देश रमणीय है। वहाँ पर अन्न पान साधु को सुलभ है। वहाँ के लोगों का खान पान पहनाव रहन-सहन बड़ा श्रेष्ठ और मनोहर है। अमुक नगर के लोग इत्र तैलादि सुगन्धित द्रव्यों का अधिक उपभोग करते हैं। इसी प्रकार अन्य भी कर्मबन्ध की कारणभूत कथाओं को साधु कदापि न करे और न उनके सुनने में प्रीति करे।

मुनिराज नाटक के पात्रों (नटों) की युद्ध में कुशल सहस्रभट कोटिभटादि योद्धाओं की कुश्ती करने में प्रवीण पहलवानों की मुष्टि आदि युद्ध में कुशल मल्लों की इन्द्रजालादि माया प्रपञ्च करने में प्रवीण इन्द्र जालियों (बाजीगरों) की मत्स्यबध करने वाले

मनुष्यों की चतुराई की उडते पक्षियों पर निशाना लगाने वाले लक्ष्यवेधी मनुष्यों का जुआ खेलने में चातुर्य (चालाकी) करने वाले जुवारियों का हस्त पाद सिर आदि शरीर के अवयवों का भञ्जन करने में कुशल तथा जीव हिंसा में रति (प्रेम) रखने वाले मनुष्यों की, रस्सी व बांस पर चढ़कर खेल करने वाले नटों की कथा में कभी अनुराग नहीं करते हैं। वैराग्य परायण मुनीश्वर इन कथाओं का उच्चारण तो क्या, मनमें चिन्तन तक नहीं करते हैं। उक्त कथाओं को क्षण मात्र भी हृदय में स्थान नहीं देते हैं। जिन परम वीतराग भावना में रत हुए मुनियों का चित्त निरन्तर धर्म भावना में रंगा रहता है वे उक्त कथाओं का मन वचन काय से त्याग करते हैं। अर्थात् उक्त कथाओं के अर्थ को सूचित करने वाली काय द्वारा कोई चेष्टा नहीं करते हैं। हस्तादि से संकेत नहीं करते हैं। उनका वचन से उच्चारण तथा कर्ण से श्रवण नहीं करते हैं। और न मन से उनका मनन चिन्तन तक नहीं करते हैं।

वैराग्य की मूर्ति साधु लोग हस्तादि द्वारा काम-क्रिया का सूचक संकेतादि नहीं करते काम उत्पन्न करने वाले वचन नहीं बोलते प्रेम से मिश्रित अशिष्ट वचन मुख से कभी नहीं निकालते कभी खिलखिलाकर अट्टहास नहीं करते और न दूसरों को हंसाते हैं शृंगार रस के पाण्डित्य द्योतक रमणीय वचनों का उच्चारण नहीं करते अपने हाथ से दूसरे के हाथ का ताड़न नहीं करते और न पीठ आदि ठोकते हैं। क्योंकि ये सब क्रियाएं विकारी मनुष्यों के योग्य हैं। निर्विकार मन वचन काय के विकार से विमुख परम विरक्त मुनिराजों की सब चेष्टाएं उद्धतता से रहित होती हैं। वे समुद्र के समान गम्भीर होते हैं। उनका चित्त सदा भय रहित स्थिर होता है। उनका अन्तःकरण षट्-आवश्यक क्रियाओं-स्वाध्याय ध्यानादि में-तल्लीन रहता है। परभव के सुधार की भावना निरन्तर उनके चित्त में जागृत रहती है और इस लोक के अनिष्ट से भयभीत रहते हैं। अपने सर्वोत्कृष्ट जगत्पूज्य पद का उन्हें सदा ध्यान रहता है। इसलिए वे कभी शरीर से वचन से और मन से ऐसा कोई कार्य (विकथादि) नहीं करते जिससे मुनि धर्म का अपवाद हो धर्म की निन्दा हो और अपने आत्मा का अहित हो

प्रश्न—यदि मुनिराज उक्त विकथाएं नहीं करते तो कैसी कथाएं करते हैं।

उत्तर—मुनिराज ऐसी कथाएं करते हैं जिनसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति होती है या वृद्धि होती है। रत्नत्रय का स्वरूप प्रकट करनेवाली तथा उसमें दृढ़ता उत्पन्न करनेवाली शरीर भोगादि से वैराग्य उत्पन्न करनेवाली परलोक में विश्वास पैदा करनेवाली धर्म में अभिरुचि करने वाली स्व पर का हित करने वाली धर्म कथाओं का वे उच्चारण करते हैं। आत्मा के कर्म बन्ध के कारणों तथा बन्ध का क्षय करने के उपायों का विवेचन करने वाली कथाओं को वे करते हैं। सर्व प्रथम तो वे मुनिराज अपने आत्महित के कार्य-षट् आवश्यक क्रियाओं का आचरण तथा ध्यानाध्ययन करते हैं। उससे जो समय बचता है उस समय को वे आत्महित-साधक जीवादि तत्त्वों का निरूपण करनेवाली भेद विज्ञान प्रकट करनेवाली पापकार्यों से अरुचि और पुण्यकार्यों में रुचि उत्पन्न करनेवाली चारित्र में प्रेम बढ़ानेवाली तथा वैराग्य भावना को पुष्ट करनेवाली पुण्यकथाओं में लगाते हैं। वे मुनिराज एक उत्तम

वैद्य के समान होते हैं। क्योंकि वे विषय भोग रूपी अपथ्य सेवन करने वाले संसारी जीव रूपी रोगी को रत्नत्रय रूपी पथ्य औषध का दान देते हैं और स्वयं भी पथ्य और हितकर वैराग्य का सेवन करके स्व पर का कल्याण करते हैं।

८ तपशुद्धि

खित्ति च अप्पमत्ता, मज्झममभिन्तेसु झाणजोगेसु

तवचरण-करण जुत्ता हवंति समणा समिदपावा ॥ ६६ ॥ (मूला अ)

अर्थ—तपस्या में तत्पर मुनिराज सदा पन्द्रह प्रकार के प्रमाद से रहित हुए प्राणीसंयम व इन्द्रिय संयम (छहकाय के जीवों के रक्षण और इन्द्रियों के दमन) में पंच समितियों के पालन में धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान के चिन्तन में नानाप्रकार के अवग्रह (आखड़ी) के ग्रहण करने में बारह प्रकार के तपश्चरण के आचरण करने में तेरह प्रकार के चारित्र के पालन में और तेरह प्रकार के करण में उद्यत हुए सम्पूर्ण पापों का नाश करते हैं।

कर्मों का क्षय करने के लिए मुनिराज बाह्य और अभ्यंतर तप को तपते हैं। उनमें कायक्लेश तप अति दुष्कर है। उस तपश्चरण का आचरण करने के लिए अभ्रावकाश योग आतापन और वृक्षमूल योग का साधन करते हैं। इन योगों का वे ही महापुरुष साधन कर सकते हैं जिनकी आत्मा में परम वीर्य पराक्रम का उत्कर्ष है तथा शरीर में बल का प्राबल्य है। वे ही अपनी आत्मा से शरीर को सर्वथा भिन्न अनुभव करके तदनुकूल प्रवृत्ति करते हैं। वे ही महापराक्रमी धीर-वीर परम विरक्त मुनिराज उस शरीर को मन के लिए आत्मा से पृथक् करने के लिए अभ्रावकाशादि योगों की भावना करने में कटिबद्ध होते हैं।

अभ्रावकाश योग

जिस शीत में समस्त अटवी के वन जल गये हैं सरोवरों के पानी पत्थर-से जम गये हैं कमलों के सम्पूर्ण वन जलकर नष्ट हो गये हैं पक्षी वृक्षों के घोसलों को छोड़कर पर्वतों की गुफाओं और कोटरों में बसेरा लेने लगे हैं सिंह और हिरन एक दूसरे के समीप रहते हुए भी शीत के कारण शरीर की चेष्टाओं से शून्य होकर एक दूसरे को बाधा देने में असमर्थ हो रहे हैं कई पशु और पक्षी शीत के कारण अपने प्राणों से रहित हो गये हैं रात दिन निरन्तर हिम (पाला) गिर रहा है मनुष्यों के शरीर थरथर काँपते हैं कोई भी अपने घर से बाहर नहीं निकलता उसी शीत के समय में वे धीर वीर महामुनि अर्धरात्रि में नदी के तट या किसी जलाशय के निकट कायोत्सर्ग

धारण कर पत्थर के स्तम्भ की भांति खड़े हुए ध्यान लगाते हैं। उस समय चरण से लेकर मस्तक पर्यन्त सम्पूर्ण शरीर हिम से ढक जाता है तो भी वे महामुनी शरीर से सब प्रकार का सम्बन्ध तोड़कर आत्म ध्यान मे मग्न रहते हैं। उनके रोम मात्र में भी विकार प्रतीत नहीं होता है। और वे क्षमा की प्रतिसमय अभ्यास रूपी निर्जरा करते हुए आत्मा की शुद्धि करते हैं।

आतापन-योग

ज्येष्ठ मास के सूर्य की प्रचण्ड किरणों से पृथ्वी समस्त भूतल अग्नि के समान हो गया है। अग्नि ज्वाला के समान अत्यन्त उष्ण वायु से वन के सब वृक्ष व लताएं सूखकर पत्ते पुष्पादि से रहित हो गये हैं। नदियां और सरोवरों का जल सूख गया है। प्यास से व्याकुल हुए प्राणियों के कण्ठ सूख गये हैं। गर्म लू से … होकर … के कलेवर प्राण-शून्य हो गये हैं। मार्ग पथिक विहीन हो गये हैं। मनुष्य अपने निवास स्थान से बाहर पाँव तक नहीं रखते। वन के पशु पर्वत की गुफाओं में बेहोश पड़े हुए हैं। मनुष्य अपने घरों में भी गर्मी के सन्ताप से व्याकुल होकर अनेक प्रकार के शीतोपचार करने पर भी शान्ति नहीं पा रहे हैं। उस समय में धीरधुरीण महा मुनिराज पर्वत के शिखर पर जाकर सूर्य के सम्मुख हुए कायोत्सर्ग धारण कर खड़े रहते हैं। शरीर को झुलसानेवाली कड़ी धूप उनके शरीर पर अठखेलियाँ करती है। पर्वत और भूमितल को अग्नि समान तपाने वाली उष्ण-वायु उनके शरीर के साथ रंग रेलियाँ करती है। तीक्ष्ण गर्मी से मुनिराज के कण्ठ ओष्ठ सूख गये हैं। तथापि वे महामुनि अनुभव रूपी अमृत का पान करने में आसक्त हुए उस गर्मी की बाधा की कुछ भी परवाह न करके आत्म ध्यान से च्युत नहीं होते हैं।

वृक्षमूल-योग

वर्षा के समय जब निरन्तर मूसलधार वृष्टि होने से सम्पूर्ण मार्ग जल से पूरित होजाते हैं। मेघ की घनघोर गर्जना और बिजली की कड़कड़ाहट से दिशाएं गूंज उठती हैं। मेघ समूह के कारण भयानक अन्धकार से भूतल का मार्ग-ज्ञान लुप्त होजाता है। बीच बीच में बिजली के चमकने से वन की भयानकता और भी बढ़ जाती है। अत्यन्त शीत वायु के कारण प्राणियों के शरीर व्याकुल होते हैं। उस समय ध्यान के रसिया वे वीर धीर महा मुनीश्वर वृक्ष के तल में कायोत्सर्ग से खड़े रहते हैं। जिस वृक्ष के मूल में अनेक सर्पों ने अपना मुख्य स्थान बना रखा है उस वृक्ष के नीचे घोर अन्धकार में खड़े होकर ध्यान में निश्चल बने रहते हैं। रंच मात्र चित्त में भय और क्षोभ नहीं करते मानों निश्चल पाषाण प्रतिमा है अथवा पत्र शाखा रहित वृक्ष का स्कन्ध है।

इस प्रकार त्रिकाल योग के धारक महामुनीश्वर बड़े बड़े वृक्षों को जड़ से उखाड़ फेंकनेवाले भयानक आंधी के झोंकों को

सहते हैं। बड़ी बड़ी नदी तड़ाग सरोवर आदि के जल को सुखा देने वाली भयंकर उग्र गर्मी की बाधा को सहते हैं। सम्पूर्ण शरीर के अवयवों को संताप देनेवाले तीव्र पिपासा (प्यास) के असह्य दुःख को सहन करते हैं। शरीर के रुधिरादि को शोषण करने वाली प्रलय काल की अग्नि के समान असह्य बुभुक्षा के क्लेश को कुछ नहीं गिनते हैं। बीहड़ वन में अगणित दंश मशक आदि जन्तुओं के काटने से शरीर में उत्पन्न असह्य वेदना पर विजय प्राप्त करते हैं। तथा सिंह व्याघ्र वराहादि के द्वारा किये गये घोर उपद्रव को सहते हैं। अधिक कहाँ तक कहा जाय अधम देवकृत तिर्यचादिकृत सब उपसर्गों को केवल कर्मों का क्षय करने के निमित्त सहते हैं। इस लोक सम्बन्धी किसी भोगों का आकांक्षा नहीं करते।

इस प्रकार कायक्लेश तप का निरूपण कर अब वचन जन्य क्लेश तप का निरूपण करते हैं—

घट चनायमान उछलती हुई लोह की चिनगारियों के समान सम्पूर्ण शरीर में संताप पैदा करने वाले मर्मभेदी दुर्जनों के अपवाद जनक वचन सुनकर मुनिराज लेशमात्र भी चित्त में क्षोभ नहीं करते। अविद्यमान दोषों के प्रकाश करनेवाले परुष-कठोर तीक्ष्ण वचनों को सुनकर चित्त में खेद नहीं करते। जाती और कुल को लाञ्छित करनेवाले तथा तू पशुवत् है तू शास्त्र ज्ञान रहित तिर्यंच है इत्यादि अपमान जनक वचन अथवा असूया करने वाले दुर्वचनों को सुन कर मुनि मन में विचारते हैं कि यह अज्ञानी भोले जीव इस हड्डी और मांसादि के कलेवर को दुर्वचन कहते हैं। क्योंकि इन्होंने आँखों से इसी को देखा है और सुना है यह शरीर तो मेरा नहीं है। मैं इसके निमित्त से अपने परिणामों को कलुषित कर अपने आत्मा को कर्म बन्धन में क्यों डालूं? पशुआदि के अनेक शरीर मैंने धारण भी किये हैं। उनका नामाधारण कर यह उपकारी मित्र मुझे उनका स्मरण दिला रहा है। यदि मैं क्रोधादि कषाय करूंगा तो वे नीच शरीर मुझे फिर मिलेंगे अतः मुझे इन वचनों में आनन्द मानना चाहिए। इस प्रकार विचार कर मुनि मन में प्रफुल्लित होते हैं कि यह कर्म-निर्जरा करने का अवसर मिला है। शान्ति धारण करने से नवीन कर्म बन्ध नहीं होगा और संचित कर्मों की निर्जरा होगी। यह तो मेरे लाभ का कारण हुआ।

वचन जन्य क्लेश के सहन करने के स्वभाव का निरूपण करके अब शस्त्र प्रहारादि के उपद्रव सहने की क्षमता का निरूपण करते हैं—

यदि कोई मिथ्यादृष्टि किसी मुनिराज को क्रोध से अन्धा होकर लकड़ी से पीटने लगे उनपर कङ्कर पत्थर की वर्षा करने लगे रेत मिट्टी फेंकने लगे चाबुक बेंत का प्रहार करने लगे खड्ग (तलवार) छुरी आदि से आक्रमण करने लगे अथवा छुरी आदि शस्त्रों का प्रहार भी करे तो भी वे परमशान्त गम्भीर मुनिराज प्रहार व चोट करने वाले मनुष्य पर टेढ़ी निगाह से भी नहीं देखते हैं। वे विचारते हैं कि मेरे पूर्वकृत कर्म का उदय आया है। यह बेचारा क्या कर सकता है यह तो निमित्त मात्र है। इसमें इसका क्या अपराध है? यह निमित्त नहीं होता तो कोई दूसरा निमित्त मिलता। तीव्रकर्म उदय में आया है वह तो अवश्य फल देगा। मेरा शत्रु तो पूर्वोपार्जित कर्म है।

मैंने उसको उपन्न किया है। अब वह उदय को प्राप्त हुआ है। मेरी भूल मुझे दुःख दे रही है। इस शस्त्रादि के प्रहार करनेवाले का कोई अपराध नहीं है। मैं पागल कुत्ते के समान मूर्ख तो हूं नहीं जो असली शत्रु को न समझकर बाह्य निमित्त को शत्रु मान बैठूं। मैंने जिनागम का अभ्यास किया है। आत्म अनात्म का भेद विज्ञान प्राप्त किया है। सब संसार से सम्बन्ध तोड़ कर कल्याण करनेवाली जिनदीक्षा ली है। क्या मैं अज्ञानवश इन निरपराध मनुष्यादि पर द्वेष करूं? यह मेरा काम नहीं है। ऐसा तो मिथ्यादृष्टि करते हैं जिनको विवेक ज्ञान नहीं हुआ है और जिनको अर्हतदेव और जिनवाणी का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। मुझे तो महापुण्य योग से यह सब कुछ मिला है। ऐसे अवसरों के उपस्थित होने पर यदि मैंने विवेकज्ञान का उपयोग नहीं किया तो मेरा मनुष्यजन्म पाकर ऐसे सुयोग का पाना व्यर्थ हो जावेगा इसलिए मुझे सावधान होना चाहिए। मेरे क्षमादि धर्म तथा रत्नत्रय रूप धर्म का घात न होना चाहिए। उसका घात ये मनुष्यादि नहीं कर सकते। ये शरीर का घात कर सकते हैं जो कि मेरी वस्तु नहीं है। अतः यह रोष करने का अवसर नहीं है। इस प्रकार जो ज्ञान रूपी जल से आत्मा को अशान्त करने वाली अज्ञान मोहनीय रूपी अग्नि को शान्त करते हैं वे मुनिराज शस्त्रादि के प्रहार से कभी आत्मा में क्षोभ उत्पन्न नहीं करते। सामान्य मनुष्य भी जो कि पांचों इन्द्रियों का निग्रह (दमन) करने में तत्पर रहता है वह भी क्रोध नहीं करता है। जिनागम के वेत्ता मुनिराज उपद्रव करने वाले मनुष्य पर किस प्रकार क्रोध कर सकते हैं? अतः हे महात्माओं! क्षमा के गुण को भलीभांति जाननेवाले सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को अंगीकार करनेवाले क्षमामूर्ति आपको शत्रु पर क्षणमात्र रोष न करना चाहिए और अपने तपश्चर्यादि कार्य में दृढ़ता से संलग्न रहना चाहिए।

(१०) ध्यान शुद्धि

ध्यान की शुद्धि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किये बिना नहीं होती अतः प्रथम इन्द्रियजय का निरूपण करते हैं।

> विसएसु पधावंता चवला चंडा तिदंडगुत्तेहि।
> इंदियचोरा घोरा वसम्मि ठविदा ववसिदेहिं ॥ १७ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—मन को लुभाने वाले रूप में मधुर रसीले रस में मनोमोहक सुगन्ध में शरीर को सुहावने स्पर्श में तथा चित्ताकर्षक पंचम धैवतादि स्वरों और मनोज्ञ गानों में दौड़ती हुई अति चपल तथा प्रचण्ड चक्षु आदि इन्द्रियाँ भयानक चोर हैं। इनको वश में रखना यद्यपि अति कठिन है तथापि मनवचनकाय पर काबू करनेवाले विषय विरक्त एवं चारित्राचरण में लीन मुनीश्वर उन्हें वश में कर लेते हैं।

भावार्थ—जैसे अश्वारोही (सवार) लगाम को हाथ में सावधानी से थामकर दुर्दान्त अश्व को भी अपने काबू में कर लेता है वैसे ही लगाम स्वरूप मन को अपने वश में रखता हुआ साधु इन्द्रियरूपी अश्वों को विषयरूप उन्मार्ग में जाने से रोक देता है।

ध्यानी मुनि मन्मोन्मत्त मन रूपी हस्ती को ध्यान व वैराग्य रूपी दृढ़ रस्सी से आत्मा रूपी आलान-स्तम्भ के इतना दृढ़ बांध देते कि जिससे वह उन्मत्त-मनो हस्ती विषयादि रूप बन या राजमार्ग में दौड़ने के लिए असमर्थ हो जाता है।

इन्द्रिया बन्दर के समान चपल हैं। उनको तत्त्वज्ञान रूपी पाश से बाँधकर वैराग्य रूपी पींजरे में बन्द किया जावे तभी उनकी उछल कूद बन्द होती है और शनै शनै अनुपम दिव्य सुख का आविर्भाव होने लगता है–विषयों से उदासीनता होती है।

तपरूपी दुर्ग (किले) में निवास करनेवाले साधु का राग द्वेष मोह और इन्द्रिय रूपी डाकुओं का गिरोह कुछ भी बिगाड़ करने में समर्थ नहीं होता है। उस दुर्ग के धैर्ययुक्त मति का कोट होता है। चारित्र का बहुत ऊंचा दरवाजा है और उसके क्षमा और सुकृत कर्म के दो किवाड़ लगे होते हैं। तथा संयम दुर्गरक्षक कोतवाल होता है। इस प्रकार सुरक्षित तपरूपी दुर्ग का आश्रय लेने वाले मुनी के रत्नत्रयरूप धन भंडार को राग द्वेष-मोह इन्द्रिय चोर लूट नहीं सकते हैं।

इन्द्रिय को वश में करने से ही ध्यानसिद्धि होती है --

दंतेंदिया महरिसी राग दोस च ते खवेदूण।
झाणोवजोगजुत्ता खवेंति कम्मं खविदमोहा ॥ ११५ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—इन्द्रियों का दमन करनेवाले समीचीन ध्यान में रत हुए महर्षि राग व द्वेष रूप आत्मा के वैभाविक भावों का क्षय करके मोह रहित होकर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण कर्मों का मूल कारण राग द्वेष हैं। उनका नाश होने पर सब कर्म सहज में नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—हे मुनीश्वरो ! राग द्वेष से प्रेरित हुए इन्द्रियरूपी अश्व विषयरूप बीहड़ वन के उन्मार्ग (ऊबड़ खाबड़ मार्ग) में आत्मा को ले जाते हैं। जबतक ये इन्द्रिय अश्व उन्मार्ग में गमन करते रहते हैं तब तक आत्मा को शुभध्यान रूपी उत्तम मार्ग प्राप्त नहीं होता है। इसलिए उत्तम ध्यान रूप सुमार्ग में आत्मा को लेजाने के लिए मन रूपी घोड़ों की लगाम को दृढता से थाम लो तथा मन को विषयों से हटाने के लिए उसको शुभध्यान में स्थिर करने के लिए सबसे प्रथम विषयों में उत्पन्न होनेवाले राग द्वेष को क्षीण करो और व्रत उपवासादि का आचरण करके उद्धत हुई इन्द्रियों का दमन करो। उनको उपवासादि से निबल बनाओ। निबलता को प्राप्त हुई इन्द्रियाँ रूपी अश्व को वैराग्य भावना द्वारा स्थिर हुए मन रूपी लगाम के थाम लेने से विषयों से उदासीनता और सुध्यान में रति उत्पन्न होती है। आर्त्तरौद्रध्यान का विनाश होकर शुभध्यान की जागृति होती है। अत धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान में परायण हुए मुनिराज के क्षमादि

उपशम तथा रत्नत्रय रूप आत्मीय धर्म प्रकट होते हैं और अष्टकर्मों का क्षय सहज में होने लगता है। जिस वृक्ष का मूल (जड़) नष्ट हो जाता है वह वृक्ष कितने कालतक खड़ा रह सकता है ? अथवा कितने समय तक वह हरा भरा रह सकता है ? अर्थात् उसका शीघ्र भूमि पर पतन होता है और वह अल्प समय में ही सूख जाता है और वह पुनः भूमि में नहीं जमता है। इसी प्रकार अष्ट कर्मों के मूल कारण कषाय राग द्वेष हैं। उनका ध्वंस होने पर सब कर्मों का सहज में ध्वंस हो जाता है और फिर वह आत्म-भूमि में कभी नहीं उत्पन्न होते हैं। अतएव हे मुनिराजो ! इष्ट वियोगादि से उत्पन्न होने वाले आर्तध्यान को तथा क्रोधादि कषायों की उग्रता से उत्पन्न होने वाले रौद्रध्यान को आत्मा के निकट मत आने दो। और धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान का निरन्तर चिन्तन करो। इन शुभ ध्यानों को स्थिर करने के लिए शुक्ल लेश्या को प्रकट करो। यदि तुम इस प्रकार आचरण करने में दत्तचित रहोगे तो तुम्हारी आत्मा में क्रोधादि कषाय किसी प्रकार के विकार भाव उत्पन्न करने में समर्थ न होगी।

निश्चल चित्तवाले मुनियों को कषाय दबा नहीं सकती हैं और न उनके मन को चंचल कर सकती हैं। जैसे कल्पान्त काल की उत्तर दक्षिण पूर्व व पश्चिम की प्रचण्ड वायु सुमेरु को कम्पित नहीं कर सकती है।

हे मुनियो ! यदि तुम यथावत् छह आवश्यकों का पालन व आगमोक्त चारित्र का सम्यक् प्रकार आचरण करो तो प्रतिकूल परिस्थिति भी तुम्हारा कुछ भी बुरा नहीं कर सकती और तुम कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ हो सकते हो।

जो मुनि संसार से भयभीत विषयों से उदासीन व शरीर से विरक्त है जिसके हृदय में अभिमान की मात्रा नहीं है, वह मन्द कषायी शास्त्रों का अधिक ज्ञान न होने पर भी भेदविज्ञान के जागृत होने से कर्मों का क्षय कर लेता है। लेकिन उस मुनि के २८ मूलगुण तो अवश्य होने चाहिए। यदि मूलगुण रहित होकर मुनिपद धारण करता है तो वह दृढ कर्मों का बन्धन कर नरक या निगोद में जाता है।

हे मुने ! यदि तुम निर्दोष चारित्र का पालन करना चाहते हो तो प्रासुक निर्दोष आगमानुकूल भिक्षा भोजन करो। वन में या एकान्त स्थान में रहो। अल्प आहार करो। बहुत भाषण मत करो। दुःख आने पर चित्त में विकार मत उत्पन्न होने दो। निद्रा को जीतो। सब जीवों के साथ मैत्री भाव रक्खो उत्तरोत्तर वैराग्य की वृद्धि करो। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मेरा स्वरूप है इनके सिवाय कर्मजन्य भाव शरीरादि मेरे नहीं हैं। ऐसा सतत चिन्तन करो। श्रद्धान पूर्वक सम्यग्ज्ञान सहित जो तपस्या करते हैं उनके पूर्व कर्मों का क्षय व नवीन कर्मों का संवर होता है। सरागसंयम शुभ लेश्या तथा सामायिकादि का आचरण करते हुए यदि मृत्यु होतो वह जीव स्वर्गों में जाता है—जैसा कि निम्न विवेचन से स्पष्ट होगा —

मुनियों के पुलाकादि भेद और उनका वर्णन

श्री भगवान् भट्टाकलंकदेव ने राजवार्तिक में नवें अध्याय (सूत्र ४७) में कहा है—

पुलाकादय संयमादिभि साध्या ॥४७॥ एते पुलाकादय पंच निर्ग्रन्थविशेषा संयमादिभिरष्टभिरनुयोगै व्याख्येया इत्यर्थ ।

पुलाक वकुश कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाचों प्रकार के मुनि निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) होते हैं। उनका संयम श्रुत प्रतिसेवना तीर्थ लिङ्ग लेश्या उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों से व्याख्यान किया जाता है। तद्यथा—के कस्मिन् संयमे भवन्ति ? जैसे कि कौन किस संयम के आराधक होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर समाधान करते हैं—

पुलाकवकुश प्रतिसेवनाकुशीला द्वयो संयमयो सामायिकच्छेदोपस्थापनयोर्भवन्ति । कषायकुशीला द्वयो परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसाम्पराययो पूर्वयोश्च । निर्ग्रन्थस्नातका एकस्मिन्नेव यथाख्यातसंयमे ।

अर्थ—पुलाक वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि सामायिक तथा छेदोपस्थापना संयम के आराधक होते हैं। कषायकुशील मुनि पूर्वोक्त दो संयमों के तथा परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय संयम के आराधक होते हैं । निर्ग्रन्थ और स्नातक एक यथाख्यात संयम के ही आराधक होते हैं।

श्रुत—पुलाक-वकुश प्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधरा । कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधरा । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु । वकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातर । स्नातका अपगतश्रुता केवलिन ।

अर्थ—पुलाक वकुश और प्रतिसेवना कुशील ये तीन प्रकार के मुनि अधिक से अधिक अभिन्नाक्षर दशपूर्व के धारक होते हैं। अर्थात् उनके नवपूर्वों का पूर्ण ज्ञान तथा दशवें पूर्व का अपूर्णज्ञान होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्व तक के धारक होते हैं। पुलाकमुनि के जघन्य से जघन्य श्रुतज्ञान आचार वस्तु का होता है। वकुश कुशील प्रतिसेवना कुशील के कम से कम आठ प्रवचन माता (पांचसमिति व तीन गुप्ति) का ज्ञान होता है। स्नातक मुनि केवली होते हैं। उनके श्रुतज्ञान नहीं होता है।

प्रतिसेवना—पंचानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगात् बलादन्यतमं प्रतिसेवमान पुलाको भवति। वकुशोद्विविध उपकरणवकुश शरीरवकुशश्चेति। तत्र उपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रपरिग्रहयुक्तो बहुविशेषयुक्तोपकरणाकांक्षी तत्संस्कारप्रतीकारसेवी भिक्षुरुपकरणवकुशो भवति। शरीरसंस्कारसेवी शरीरवकुश । प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन् उत्तरगुणेषु कांचिद्विराधनां प्रतिसेवते। कषायकुशील निर्ग्रन्थस्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति।

अर्थ—दूसरे किसी मनुष्यादि के बलात्कार से पुलाक जाति का मुनि पांच मूल गुण (अहिंसादि पंच महाव्रत) और रात्रि भोजन त्याग इनमें से किसी एक के विपरीत सेवन (विरुद्ध आचरण) कर लेता है। वकुशमुनि के दो भेद हैं—१ उपकरण वकुश और

शरीर बकुश। इनमें से उपकरण बकुश उसे कहते हैं जो उपकरण (कमण्डलु पुस्तकादि) में विशेष आसक्ति रखता है, विविध और विचित्र परिग्रह (पुस्तकादि) से युक्त होता है विशिष्ट उपकरण की आकांक्षा करता है तथा उनके संस्कारादि को करता है। शरीर के संस्कार को करने वाला शरीरबकुश होता है। प्रतिसेवनाकुशील उसे कहते हैं जो मूल गुणों की विराधना नहीं करता है किन्तु कभी २ उत्तरगुणों की विराधना कर बैठता है। कुशील निर्ग्रंथ और स्नातक के किसी प्रकार की प्रतिसेवना (विरुद्धाचरण) नहीं होती है।

तीर्थमिति—सर्वेषां तीर्थकराणां तीर्थेषु सर्वे भवन्ति।

अर्थ—सम्पूर्ण तीर्थंकरों के तीर्थ में पुलाकादि सब प्रकार के मुनि होते हैं।

लिङ्ग—द्विविधं द्रव्यलिंगं भावलिंगं च। भावलिंगं प्रतीत्य सर्वे पञ्चनिर्ग्रन्था लिङ्गिनो भवन्ति इति। द्रव्यलिंगं प्रतीय भाज्या।"

अर्थ—लिङ्ग दो प्रकार का है—१ द्रव्यलिङ्ग और २ भावलिङ्ग। भावलिंग की अपेक्षा से सब पांचों निर्ग्रन्थ लिंगी होते हैं। द्रव्यलिंग की अपेक्षा विविध विकल्प होते हैं।

लेश्या—पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो लेश्या भवन्ति। बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयो षडपि। कषायकुशीलस्य परिहारविशुद्धेश्चतस्र उत्तराः। सूक्ष्मसाम्परायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च शुक्लैव केवला भवति। अयोगशील प्रतिपन्ना अलेश्या।

अर्थ—पुलाक मुनि के पीत पद्म और शुक्ल ये तीनों शुभ लेश्याएँ होती हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहों लेश्या होती हैं। कषाय कुशील और परिहारविशुद्धि संयमवाले के कापोत पीत पद्म और शुक्ल ये चारों लेश्या होती हैं। सूक्ष्मसाम्पराय तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक (सयोग केवली) के केवल एक शुक्ल ही होती है। अयोगकेवली के कोई भी लेश्या नहीं होती है।

उपपाद—पुलाकस्य उत्कृष्ट उपपाद, उत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहस्रारे। बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशतिसागरोपमस्थिति-ष्वारणाच्युतकल्पयो। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु सर्वार्थसिद्धौ। सर्वेषामपि जघन्य सौधर्मकल्पे द्विसागरोपम-स्थितिषु। स्नातकस्य निर्वाणमिति।

अर्थ—पुलाक मुनि मरकर अधिक से अधिक सहस्रार स्वर्ग में उत्कृष्ट स्थितिवाले देवों में जन्म लेते हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि आरण व अच्युत स्वर्ग में बाईस सागर की स्थिति वाले देवों तक में जन्म लेते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ मुनि तेतीस सागर की स्थिति वाले सर्वार्थसिद्धि तक के देवों में उत्पन्न होते हैं। उक्त सब (चारों प्रकार के) मुनि कम से कम सौधर्म कल्प में २ सागर की स्थिति वाले देव होते हैं। तथा स्नातक महामुनि नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

स्थान—असंख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति। तत्र सर्व जघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशलयो तौ युगपदसंख्येयस्थानानि गच्छत। तत्र पुलाको व्युच्छिद्यते। कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलबकुशा युगपदसंख्येयानि स्थान नि गच्छन्ति। ततो बकुशा व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा कषाय कुशीलो व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्व अकषायस्थानानि निर्ग्रन्थ प्रतिपद्यते। सोऽप्यसंख्येयस्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्व एकं स्थान गत्वा स्नातको निर्वाण प्राप्नोति— एषा संयमलब्धिरनन्तगुणा भवति इति।

अर्थ—कषाय के निमित्त से संयम के असंख्यात स्थान होते हैं। उनमें सबसे जघन्य स्थान पुलाक व कषायकुशील के होते हैं। वे दो असंख्यात स्थानों तक तो एक साथ जाते हैं। पुलाक वहीं रह जाता है। वहां से से आगे कषायकुशील प्रतिसेवनाकुशील और बकुश असंख्यात संयम स्थानों तक तो तीनो साथ जाते हैं पश्चात् बकुश उनसे अलग होकर वहीं रह जाता है। उसके आगे असंख्यात संयमस्थान आगे जाकर प्रतिसेवना कुशील अलग हो जाता है और उससे असंख्यात संयमस्थान आगे चलकर कषायकुशील भी रहजाता है। उसके ऊपर अकषाय स्थानों में निर्ग्रन्थ पहुंचता है। वह असंख्यात स्थान आगे जाकर ठहर जाता है। उसके ऊपर एक स्थान जाकर स्नातक निर्वाण को प्राप्त करता है। इस प्रकार इन संयमियों की संयम की लब्धि (प्राप्ति) अनन्त गुणीअनन्तगुणी होती है।

भावार्थ—मुनि चारित्र तप और ध्यान के प्रभाव से कम से कम सौधर्म स्वर्ग में और पुलाक उत्कृष्ट सहस्रार स्वर्ग तक जाते हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील अच्युत स्वर्ग में बाईससागर की आयु वाले देवों तक होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्धि तक जाते हैं। तथा स्नातक मोक्ष जाते हैं। मिथ्यादृष्टि भी मुनि-चारित्र व तप का आचरण कर नव ग्रैवेयक तक जाता है और वहाँ पर अपूर्व इन्द्रिय सुख का अनुभव करता है। यदि सम्यग्दृष्टि चारित्र व तपस्या का आचरण करता है तो वह उत्तरोत्तर दिव्य-सुखों का उपभोग करता हुआ निर्वाण पद को पाता है। इसलिए हे मुने! सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र और तपश्चरण तथा ध्यान का आराधन करो। क्योंकि येही संसार के सम्पूर्ण सुखों के देने वाले हैं। इष्ट पदार्थों का संयोग और अनिष्ट पदार्थों का असंयोग करानेवाले हैं। मनोऽनुकूल सुख सामग्री जो कुछ इस लोक में मिलती है उस के ये मूल कारण हैं। चक्रवर्ती की अनुपम विभूति और देवेन्द्र के दिव्य भोगोपभोग इनके सेवन करने से ही मिलतेहैं इसी प्रकार के सुन्दर और अत्यन्त प्रिय स्वर्गादि के भोग प्राप्त कर निर्वाण की प्राप्ति इन्हीं से होती है। अत ऐसा सुअवसर पाकर इनके आचरण करने में दत्त चित्त हो जाओ। किंचिन्मात्र प्रमाद न करो। इसीमें मनुष्य जन्म की सफलता है।

वही भाव पाहुड में कहा है—

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य इच्छुफुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण॥ ७१॥

अर्थ—जिस साधु का निजस्वभाव रूप धर्म मे तथा उत्तम क्षमादि दश लक्षण धर्म में वास नहीं है वह दोषों का आवास है। तथा इक्षु के फूल के समान है। जैसे इक्षुका फूल फल रहित होता है और गन्धादि गुण से भी शून्य होता है वैसे उस साधु का मुनिभेष भी धर्म हीन होने से निष्फल है और क्षमादि गुण रहित है। वह साधु तो नग्न रूप धारण कर नाचनेवाले नट के समान है। अर्थात् नग्न साधु का स्वांग धारण करने वाला बहुरूपिया है।

भावार्थ—जो साधु के गुणों से हीन मुनि मनुष्यों को सम्यक्त्व व संयम विरुद्ध उपदेश देकर उनको प्रसन्न करता है, तथा अपनी कषाय के पोषण करने में आगम के विरुद्ध लोगों की प्रवृत्ति करता है वह स्वयं नष्ट होता है दूसरों का नाश करता है एवं धर्म के मार्ग को मलीन करता है। जो साधु के गुणों से शोभित है उसीसे निम्नोक्त लिंग कल्प शोभित होता है।

लिंगकल्प के चार भेद

अचेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुविधो होदि णादव्वो॥ १७॥ (मू० स)

अर्थ—१ सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग २ केशलोच करना ३ शरीर-संस्कार का त्याग ४ तथा प्रतिलेखन लिंग कल्प है।

भावार्थ—यहाँपर आचेलक्य शब्द से सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग लिया गया है। यद्यपि आचेलक्य शब्द का अर्थ तो केवल वस्त्र का त्याग करना है तथापि यहाँ पर उपलक्षण से वस्त्रादि समस्त परिग्रह के त्याग का ग्रहण है। आचेलक्य और केशलोच के बारे में मूलगुणाधिकार में विशेष लिखा जा चुका है।

शरीर के संस्कार-त्याग का वर्णन भी वहीं अस्नान (स्नानत्याग) नाम मूलगुण में कर आये हैं इसलिए यहाँ उनका विवेचन न करके प्रतिलेखन के बारे में कुछ विशेष लिखते हैं।

प्रतिलेखन (मयूरपिच्छी) का स्वरूप

रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति॥ १८॥ (मूला० सम)

अर्थ—जो रज (धूल) और पसीने का ग्रहण न करे अत्यन्त मृदु (मुलायम कोमल) हो जो देखने में सुन्दर प्रतीत हो जा का ना—ऐसे पाच गुण जिसमे पाये जावे वह प्रतिलेखन प्रशंसनीय माना गया है।

भावार्थ— हे मुने! तुम्हारे संयम की रक्षा करनेवाला संयम का उपकरण प्रतिलेखन है। जो तुम्हारे पास प्रतिसमय रहना चाहिए? उसमे निम्नोक्त पाच गुण पाये जावे वही प्रतिलेखन प्रशंसनीय माना गया है।

(१) रजो ग्रहण— स्वेद का अग्रहण ३ मृदुता ४ सुकुमारता और लघुता।

( ) साधु प्रतिदिन अपने उपयोग मे आने वाले शास्त्रो का प्रमार्जन करता है। निवास करने की वसतिका प्रदेश का पट्ट आदि का प्रमार्जन करता है उस रजोहरण (प्रतिलेखन) मे ऐसा गुण होना चाहिए कि धूल आदि का सम्पर्क होने पर भी वह मलीन न हो ऐसा स्वाभाव गुण जिसमे पाया जावे वही रजोहरण प्रशंसनीय है और साधु के हाथ में धारण करने योग्य है।

( ) स्वेदका अग्रहण मुनि के शरीर पर यदि पसीना आ रहा है तो उसका प्रतिलेखन से पोंछना पड़ता है। पसीने से जो नहीं भीगे वही मुनि के ग्रहण करने योग्य माना गया है।

शङ्का—क्या मुनि शरीर के स्वेद (पसीने) को पिच्छी से पोछते हैं?

समाधान—मुनि अपने शरीर को किसी वस्त्र से कभी नहीं पोछते किन्तु जब मुनि धूप से छाया में या छाया से धूप में आते हैं उस समय पिच्छी से अपने शरीर को पोछ कर ही जाते हैं। यदि ऐसा न करें तो छाया के जन्तु धूप के संसर्ग से और धूप से जीवन प्राप्त करने वाले छाया मे पहुचने से मरण को प्राप्त हो जायेंगे। अत मुनि को उचित है कि वह अपने शरीर को कोमल पिच्छी से पोंछ कर छाया से धूप मे और धूप मे छाया मे जावे।

(३) मृदुल—नेत्र मे फिराने पर भी जो पीड़ा न पहुचावे ऐसा कोमल प्रतिलेखन उपादेय माना गया है। श्वेताम्बर साधु भेड़ की ऊन का प्रतिलेखन रखते हैं। उनमे यह गुण नहीं पाया जाता है। यदि भूल से वह आख में लग जावे तो आख में भारी बाधा पहुचाता है। अत सूक्ष्म (छोटे शरीर) जन्तुओ के अति कोमल शरीर को वह प्रति लेखन अवश्य बाधा पहुचावेगा है। इसलिए वह साधुओं के लिए उपादेय नहीं बताया है। दूसरी बात यह है कि उनमे असंख्य जीव उत्पन्न होजाते हैं। तीसरा दोष यह है कि उसका मूल्य (कीमत) अधिक होता है। अत वह सर्वथा अग्राह्य माना गया है।

(४) सुकुमारता—जिसमे अपूर्व सुकुमारता पाई जावे। अर्थात् उक्त गुणों के साथ जिसका रूप भी दर्शनीय हो। नेत्रेन्द्रिय व

मन को प्यारा लगनेवाला रूप जिसमें विद्यमान हो वही प्रतिलेखन मुनि के ग्रहण करने योग्य होता है।

(५) लघुता—वह इतना हल्का हो कि जिससे सूक्ष्म जन्तु के शरीर को भी किसी प्रकार की बाधा न पहुचे। तथा उठाने रखने आदि में सुविधाजनक हो। अत्यन्त वृद्ध तथा अशक्त मुनि को भी उससे मार्जन करने में किसी प्रकार का कष्ट न हो।

उक्त सब प्रकार के गुण मयूरपिच्छी में ही पाये जाते हैं। ऊन आदि के बनाये गये रजोहरण में उपयुक्त गुण नहीं होते। उनमें मयूरपिच्छ के समान कोमलता नहीं होती अपने शरीर को भी कठोर प्रतीत होती है। तब अति कोमल सूक्ष्म प्राणियों को तो वह शस्त्रसा प्रतीत होती है। वह धूल स्वेद आदि से मलीन होजाती है। उसमें दर्शनीय गुण भी नहीं होता। उसमें जीवों की उत्पत्ति होती है। चोरी होजाने का भय लगा रहता है। उसे बाजार में बेचकर द्रव्य वसूल किया जा सकता है। ऐसे ही और भी अनेक कारण हैं जिनसे उनका प्रतिलेखन मुनियों के सयम की रक्षा करने में समर्थ नहीं होता बल्कि बाधक सिद्ध होता है। मयूरपिच्छ में गुण ही गुण हैं। इसके समान अन्य कोई ऐसा द्रव्य नहीं है जिसमें उक्त पाचों गुण हों और जो संयम का उपकारक हो। इसके चोरी जाने का भी भय नहीं रहता है।

शङ्का—ऊन तो ऐसा पदार्थ है जिसे भेड़ोंके स्वामी साल में दो बार भेड़के शरीर पर से कतरनी द्वारा कतरकर उतार लेते हैं। उस के उतारने से भेड़ को कष्ट नहीं होता है और मयूर के पिच्छ उतारने से तो मयूर को दुःख होता है इसलिए ऊन मयूर पिच्छ की अपेक्षा उत्तम है।

समाधान—भेड़ के शरीर से कतरनी द्वारा ऊन उतारते समय भेड़ का थोड़ा बहुत कष्ट अवश्य होता है और मयूरपिच्छ को तो मयूर अपने आप वर्ष में एक बार कार्तिक मास में अवश्य छोड़ता है। पुराने पिच्छ उसके स्वयं गिरते हैं और नये आते हैं। ऐसा प्राकृतिक नियम है। जो स्वतः गिरे हुए पंख होते हैं उनसे ही मुनि की पिच्छी बनाई जाती है। अतएव मयूरपिच्छी में कोई दोष नहीं होता। उसके निमित्त मयूर को पीड़ा नहीं दी जाती है। वह तो स्वयं उन्हें छोड़कर अपने को लघु बनाता है और उसमें आनन्द मानता है। क्योंकि बिना पुराने पिच्छ का त्याग किये नवीन पिच्छ उत्पन्न नहीं होते हैं।

उक्त प्रकार सब दोषों से निर्मुक्त और पाच गुणों से युक्त प्रतिलेखन मयूरपिच्छ के सिवा अन्य कोई नहीं है। इसलिए परम दयालु संयमनिष्ठ निर्ग्रन्थ आचार्यों ने सर्वगुण-सम्पन्न मयूरपिच्छ का ही सर्वश्रेष्ठ सयम का रक्षक प्रतिलेखन स्वीकार किया है।

शङ्का—नेत्र द्वारा जीवों को देखकर उनकी रक्षा कर सकते हैं तो फिर जीवरक्षा के निमित्त मयूरपिच्छ (प्रतिलेखन) की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—नेत्र इन्द्रिय द्वारा देख कर चलने फिरने आदि क्रियाओं के करने से जीवों की रक्षा होती है किन्तु चक्षु इन्द्रिय छोटे छोटे सब जीवों को देखने में असमर्थ है। उनकी रक्षा के लिए मयूरपिच्छ की अत्यन्त आवश्यकता है। वही कहा है—

सुहुमा हु संति पाणा दुप्पेक्खा अक्खिणो अगेज्झा हु।
तम्हा जीवदयाए पडिलिहणं धारए भिक्खू ॥ २० ॥ (मूला० स०)

अर्थ—संसार में द्वीन्द्रियादि त्रसजीव व एकेन्द्रिय वनस्पति कायादि स्थावर जीव इतने छोटे२ होते हैं कि जिनका दिखाई देना अत्यन्त दुष्कर है। उनको चर्म-चक्षु देख नहीं सकती हैं। इसलिए उन जीवों की रक्षा के निमित्त साधु को मयूरपिच्छिका अवश्य धारण करनी चाहिए

भावार्थ—साधु ने सम्पूर्ण जीवों के साथ मैत्रीभाव धारण किया है। उनको किसी प्रकार का कष्ट न देने की प्रतिज्ञा की है। वह उनके दुःख को अपना दुःख समझता है। दूसरे मनुष्यों को भी जीवों की रक्षा का उपदेश देता है। वह साधु जीवों के भेद स्थान योनि आदि आदि का ज्ञाता होता है। जो नेत्रेन्द्रिय के गोचर स्थूल जीव होते हैं उनको बचाकर गमनागमनादि क्रिया करता है। किन्तु कितने ही जीव ऐसे छोटे होते हैं जो इन चर्म चक्षुओं से दिखाई नहीं देते हैं। उनकी रक्षा का उपाय एक मयूरपिच्छिका है। वह इतना कोमल व हल्का उपकरण है कि छोटेस छोटे जन्तु को भी उससे बाधा नहीं होती है। उस सर्वोत्तम प्रतिलेखन से भी साधु बड़ी सावधानी से धीरे धीरे हल्के हाथ से प्रमार्जन करता है।

हे मुने! तुम प्रातःकाल नित्यप्रति अपने ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि का तथा संयम के उपकरण कमण्डलु आदि का तथा अपने निवास स्थान वसतिका प्रदेश का मयूरपिच्छिका से प्रमार्जन करो। तुम्हें मलमूत्र की बाधा दूर करना हो, थूकना हो तो पहले उस स्थान को नेत्र से भले प्रकार देखकर तथा रात्रि में उठना बैठना मलमूत्रादि का त्याग करना अथवा थूकना हो तो मयूर पिच्छिका से प्रमार्जन करके उस स्थान को निर्जन्तु करके करो। तुम उठना चाहते हो तो उठने के पहले पाँव रखने की भूमि को बैठना चाहते हो तो बैठने की भूमि आदि को सोना चाहते हो तो शयन करने के स्थान को आगे पाव रखना चाहते हो तो पाव रखने के स्थान को पहले मयूरपिच्छिका से प्रमार्जन करलो। यदि करवट लेना आवश्यक हो हाथ पाव फैलाना सुकोड़ना हो तो मयूरपिच्छिकासे उस स्थान का अवश्य प्रमार्जन करो। कमण्डलु आदि उठाना हो तो कमण्डलु आदिको तथा उनको नीचे रखना होतो उस स्थानको पहले प्रमार्जन करके पश्चात् नीचे रक्खो। कारणवश यदि वसतिका आदि के किवाड़ या खिड़की आदि खोलने या ढकने पड़ें तो बड़ी सावधानी रक्खो। कभी कभी किवाड़ों की चोखटों की सांधयों में छिपकलिया मकड़िया व कसारिया पाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त और भी छोटे २ जन्तु रहा करते हैं इसलिए उनको देखकर तथा पिच्छी से

प्रमार्जन कर खोलना व बन्द करना चाहिए। इसी प्रकार तुम्हारे शरीर पर खुजली चले या किसी जन्तु के काटने आदि की बाधा प्रतीत हो और यदि तुम उसको न सह सको तो सहसा न खुजलाओ किन्तु पिच्छी से शनैः शनैः उसे प्रमार्जन करो। तात्पर्य यह है कि मयूरपिच्छी का प्रत्येक क्रिया के पूर्व जहां उसकी आवश्यकता हो अवश्य उपयोग करो। इस पिच्छी को आहार करते समय कुछ काल के लिए दूर रखो। शेष सब कामों में उसको सदा निकट रखो। एक क्षण के लिए भी उसे अपने पास से अलग मत करो। सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित स्थान में एक डग भी तुम को चलना पड़े तो पिच्छी को छोड़ कर मत चलो। उठो तब पिच्छी को हाथ में तथा बगल में दबा कर चलो व उठो।

शंका—मयूर की पिच्छी से जीव जन्तुओं को हटाने पर उन जीवों को बाधा होती है इसलिए उसके धारण करने की क्या आवश्यकता है?

समाधान—मयूर की पिच्छी के अग्र भाग इतने कोमल होते हैं कि आँखों के अन्दर फिराने पर भी पीड़ा नहीं होती है। आखों को भी सुहावने लगते हैं। तब उनसे जीवों को बाधा कैसे हो सकती है? जीव जन्तुओं की रक्षा करनेवाला यह अद्वितीय उपकरण है। उसका धारण करना साधु के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्रतिलेखन जीवों के हृदय में विश्वास उत्पन्न करनेवाला है। अतएव यह साधु के लिए सबसे अधिक आवश्यक उपकरण है। इस प्रकार इसका ग्रहण करना साधुके लिए युक्ति और आगम से परमावश्यक सिद्ध होता है। जिस प्रकार आहार की शुद्धि पर ध्यान रखना संयमी का परम कर्त्तव्य है उसी प्रकार उपकरणों की शुद्धि पर ध्यान रखना भी परम कर्त्तव्य माना गया है। अतः संयम की रक्षा के लिए मयूरपिच्छिका होना आवश्यक है-इसमें कोई सन्देह नहीं।

मुनि इन चार लिङ्गों को धारण करके चारित्र का अनुष्ठान (आचरण) करते हैं। इनको धारण किये बिना मुनि पूर्णरूप से चारित्र का आराधन करने में समर्थ नहीं हो सकता इसलिए इनका धारण करना मुनिमात्र के लिए परमावश्यक है। आचेलक्य (नग्नपना) तो स्वाभाविक चिह्न है। माता के पेट से बालक नग्न निकलता है, उस समय उस शरीर पर बाल के अग्रभाग मात्र भी कोई वस्त्रादि परिग्रह नहीं होता है। केशलोच सद्भावना प्रगट करने वाला चिह्न है। तथा शरीर के संस्कार का त्याग करने से वैराग्य भाव प्रकट होता है। जिसको शरीर से राग नहीं होता है वही उसको मैला कुचैला धूल से धूसरित देखकर भी उसको स्वच्छ नहीं करता है। तथा जीवों की रक्षा करने के लिए मयूरपंख की पिच्छी का उपयोग है ही। इस प्रकार मुनिलिंग के चार भेद बताये गये हैं।

सिद्धान्तों में दश प्रकार का श्रमण कल्प वर्णन किया गया है—

अच्चेलक्कुद्देसिय सेज्जाहर रायपिंड किदियम्मं।
वद जेट्ठ पडिक्कमणं मास पज्जो समणकप्पो॥ (मूला० स०)

अर्थ—१ आचेलक्य अर्थात् सम्पूर्ण वस्त्रादि परिग्रह का त्याग, २ औद्देशिक (उद्दिष्ट) भोजनादि का त्याग ३ शय्याधर वस

निग्न क स्वामी क ‌घर के आहार का त्याग ४ राजपिण्डत्याग ५ कृति कर्म ६ व्रतारोपण ७ ज्येष्ठपने (बड़प्पन) का विचार ८ प्रतिक्रमण ९ स्थितिकल्प (एक मास ठहरना) और १० पर्या अर्थात् मुनि की निषद्या जहाँ हो या पंच कल्याणक जिन स्थानों पर हुए हों उन स्थानों की यात्रा करने को पर्या स्थिति कल्प कहते हैं। अथवा वर्षाकाल में चार मास पर्यन्त एक जगह ठहरने को पर्या कहते हैं। इस प्रकार मुनिकल्प । मुनि व्यवहार दश प्रकार का है

उक्त भेदों का विशेष वर्णन पहले मूलगुणाधिकार के आचेलक्यादि प्रकरण में तथा समाचाराधिकार में आचार्य के ३६ गुणों के अवसर पर कर आये हैं।

भाव श्रमण बनो

निक्षेप की अपेक्षा श्रमणों के चार भेद किये जा सकते हैं—(१) नाम श्रमण (२) स्थापना श्रमण ३ द्रव्य श्रमण और ४ भाव श्रमण। इन चार निक्षेपों में से आदि के तीन निक्षेप हेय हैं। शेष भावनिक्षेप ही उपादेय है। क्योंकि नामादि तीन निक्षेपों से जीव की प्रसिद्ध नहीं हो सकती। उसमें वास्तविक पूज्यतादि लानेवाला भाव निक्षेप है। किसी का मुनि या साधु नाम रख लेने से वह मुनि का गौरव नहीं पा सकता। किसी विषयासक्त या परिग्रह धारक व्यक्ति में मुनि की स्थापना करलेने से भी कोई लाभ नहीं। द्रव्य मुनि का भी वह महत्त्व नहीं। यदि इस पद का कोई लाभ है तो वह भाव मुनि बनने में ही है।

शंका—आधुनिक दिगम्बर मुनियों में पुरातन मुनियों की स्थापना हो सकती है या नहीं ? यदि हो सकती है तो जीव में दूसरे जीव की स्थापना हो गई और आपने मना पहले निषेध किया है सो कैसे ?

समाधान—पुरातन मुनियों की आधुनिक मुनियों में स्थापना करके उनके समान इनको समझ कर व्यवहार करना सर्वथा अनुचित है। मुनि की पूज्यता उसके गुण के आश्रित है। यदि उसमें अठाईस मूलगुण हैं तो वह पूज्य है और यदि उन में से एक भी कम है तो वह पूज्य नहीं है। केवल नग्नरूप में पूज्यता की कल्पना करने पर नग्न रूप धारण करने वाला बहुरूपिया भी पूज्यता का अधिकारी बन जावेगा। अतः पुरातन मुनियों की आधुनिक साधुओं में कल्पना करके गुण न होने पर भी उनको पूज्य समझना मिथ्यात्व को ग्रहण है। क्या किसी अन्याय संसारी जीव में भगवान महावीरादि की कल्पना हो सकती है ? जैसे तीर्थंकरादि की स्थापना किसी व्यक्तिविशेष में नहीं हो सकती वैसे ही प्राचीन काल के मुनीश्वरों की स्थापना आधुनिक साधुओं में भी नहीं हो सकती है।

हे मुनियो ! तुम भावश्रमण बनो। अठाईस मूलगुणों का भंग मत होने दो। भिक्षाशुद्धि पर पूर्ण ध्यान दो। क्योंकि वह व्रत शील व तप का आधार है। भिक्षाशुद्धि का विचार किस रीति से किया जाय इस विषय में निम्न उल्लेख पर ध्यान देना चाहिए।

भिक्षा शुद्धि कब होती है ?

भिक्खं सरीरजोग्गं सुभत्तिजुत्तं ण फासुयं दिएणं ।
दव्वपमाणं खेत्तं कालं भावं च णादूण ॥ ५२ ॥
णवकोडीपडिसुद्धं फासुयं सत्थं च एसणासुद्धं ।
दसदोसविप्पमुक्कं चोद्दसमलवज्जियं भुंजे ॥ ५३ ॥ (मूला स)

अर्थ—जो प्रासुक भिक्षा भोजन नवधा भक्ति युक्त दातार के द्वारा दिया गया हो उसमें साधु नवकोटि से शुद्धि की गवेषणा करे। यह भिक्षा अन्न मन-वचन-काय द्वारा कृत कारित व अनुमोदित तो नहीं है ? तथा उसकी प्रासुकता का विचार करे। इसमें किसी अप्रासुक द्रव्य का सम्मेलन या संयोग तो नहीं हुआ है तथा कुत्सित दोषोंवाला तो नहीं है। इसमें दुर्गंधादि दोष तो नहीं है। उसकी तथा एषणा शुद्धि की, उद्दिष्टादि दश दोष चौदह मलदोषों के अभाव का तथा क्षेत्र काल भाव और द्रव्य प्रमाण की जांच करके सम्यग्दर्शनादि की रक्षा और क्षुधा के उपशमन करने के लिए उस आहार का ग्रहण करे।

भावार्थ—वीतरागी साधु उस आहार का ग्रहण करते हैं जो दाता के द्वारा नवधा भक्ति पूर्वक दिया गया हो प्रासुक हो। शरीर की रक्षा करनेवाला हो जो नवकोटि से शुद्ध हो जो साधु के निमित्त बनाया गया हो छियालीस दोषों से विमुक्त हो सड़ा गला दुर्गन्धमय न हो, जिसके द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की परीक्षा कर ली गई हो। अर्थात् जिस भोजन का द्रव्य शुद्ध हो पवित्र क्षेत्र में तैयार किया गया हो योग्य काल में बनाया गया हो जिसके गुणों में व स्वरूप में विकृति उत्पन्न न हुई हो जो एषणा समिति से शुद्ध हो देखने में भी सुन्दर हो उसकी सब प्रकार से शुद्धि का ज्ञान होने पर मुनि रत्नत्रय की सिद्धि के निमित्त क्षुधा का उपशमन करने के लिए प्रमाण सहित आहार का ग्रहण करे।

हे मुने ! रत्नत्रय को निर्मल बनाने के लिए शंकादि दोषों का परिहार करो और अहिंसादि व्रतों का पूर्णतया पालन कर चारित्र को शुद्ध बनाओ। तथा द्रव्य क्षेत्र काल व भाव के आश्रय से दोष लगे हों तो उनका निवारण करने के लिए गुरु महाराज के निकट जाकर विनयपूर्वक आलोचना करो और उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर लौकिक-शुद्धि का पालन करो। लौकिक और लोकोत्तर दोनों शुद्धियों से आत्मा को निर्मल करो।

हे मुने ! जिस क्षेत्र में क्रोधादि कषाय जाग उठती हों जहां भक्ति और आदर की हीनता प्रतीत हो जहां पर धृष्टता व मूर्खता

की प्रबलता हो जहां चक्षुरादि इन्द्रियों को ललचाने वाले राग बढानेवाले विषयों की प्रचुरता हो चित्ताकर्षक श्रृंगार रस की रसिक स्त्रियों का जमघट हो अर्थात् जिस क्षेत्र में स्त्रियां श्रृंगार रसप्रिय हों उनके आकार तथा अंगविकार विषय के पोषक हों उनमें हाव भाव नृत्य गानादि एवं हास उपहास करने की आदत सी हो गई हो जिस क्षेत्र में साधुओं को पद पद क्लेशों को सहन के लिए बाध्य होना पड़ता हो तथा जो क्षेत्र उपसर्गों से भरा हो ऐसे स्थानों से साधु सम्यग्दर्शनादि को शुद्ध रखने के लिए दूर रहे—उस जगह न ठहरे।

शंका—क्या मुनि आदर के भूखे होते हैं? यदि नहीं होते तो आदर-सम्मान रहित क्षेत्र के परित्याग का उपदेश क्यों दिया गया है?

समाधान—मुनि आदर-अनादर को समान समझते हैं किन्तु जिस स्थान में इतर जनों द्वारा दिगम्बर मुद्रा की अवहेलना होती है धर्म पर प्रीति का अभाव होता है वहाँ पर मुनि को नठहरना चाहिए। यदि कोई मुनि हठ करके ठहरता है तो वह मुनिधर्म का तिरस्कार करानेवाला है तथा जिनाज्ञा को उल्लंघन करने के कारण मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न—तो मुनि को कैसे स्थान में ठहरना चाहिए?

उत्तर—जो मुनि धीर वीर है उसको पर्वतों की गुफाओं में या श्मसान में या सूने घर व मठादि में अथवा वृक्षों की कोटर (पोल) में ठहरना चाहिए क्योंकि ये स्थान वैराग्य की वृद्धि करने वाले और चारित्र का पोषण करने वाले हैं। किन्तु निम्नोक्त देश नगरादि में अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाले पर्वतादि में भी साधु निवास न करे। जैसा कि कहा है—

> णिवदिविहीणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज।
> पव्वज्जा च ण लब्भइ संजमघादो य तं वज्जे॥ ६० ॥
> णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयम्हि चेट्ठेदु।
> तत्थ णिसेज्ज उव्वट्टण सज्झायाहार वोसरणे॥ ६१ ॥ मूला० स०)

अर्थ—जिस क्षेत्र का कोई राजा न हो। अर्थात् जिस देश नगर गाँव या घर का कोई स्वामी न हो वहाँ के रहने वाले सब मनुष्य स्वच्छन्दता से अपनी मनमानी प्रवृत्ति करते हैं। तथा जिस देश नगर गाँव या गृह का स्वामी दुष्ट स्वभाव का हो दूसरों को सताने और धर्म की विराधना करने में जिसको संतोष उत्पन्न होता हो जिस देश में शिष्यमण्डली न हो धर्मोपदेश को सुनने वाले न हों शास्त्रों का अध्ययन करने वाले न हों व्रतों के रक्षण करने में तत्पर न हों तथा जिन के मन में मुनिधर्म की तथा श्रावकधर्म की दीक्षा

ग्रहण करने की भावना भी न हो जहं संयम में अतिचार अधिक लगने की संभावना हो आत्म हित का अभिलाषी साधु ऐसे सब स्थानों का परिहार करे।

निर्दोष चारित्र के आराधक मुनियों और आर्यिकाओं को ऐसी वसतिका में कभी नहीं रहना चाहिए-जिसमें शयन करने की आगमोक्त योग्यता न हो, बैठने की योग्यता न हो जहाँ से भिक्षा के लिए जाने में बाधा उपस्थित होती हो। स्वाध्याय करने में विघ्न परिलक्षित होता हो तथा अन्य शरीर सम्बन्धी बाधा दूर करने में अनेक प्रकार आपत्ति प्रतीत होती हो जहाँ रहने से लोकापवाद होता हो अथवा व्रतभंग होने का सन्देह हो अपने चारित्र को उज्वल रखनेवाले साधु व आर्यिका ऐसे स्थान का यत्नपूर्वक परित्याग करदे।

क्योंकि उत्तम वस्तु के संसर्ग से सम्यग्दर्शनादि की शुद्धि होती है और निन्दनीय वस्तु के सम्पर्क से सम्यग्दर्शनादि में मलीनता उत्पन्न हो जाती है। कभी २ उनका सर्वनाश भी हो जाता है। जैसे कमल के संसर्ग से जल का कुंभ सुगन्धमय और शीतल हो जाता है और अग्नि आदि द्रव्य के संयोग से शीतल सुगन्धित जल-कुंभ उष्ण और वेस्वाद हो जाता है एवं पत्थर आदि के संयोग से उसका सर्व नाश हो जाता है। इसलिए साधुओं को कुत्सित संसर्गों का त्याग करना चाहिए। उन कुत्सित (निन्दनीय) संसर्गों का वर्णन करते हैं।

चंडो चवलो मंदो तह साहू पुट्ठिमंस पडिसेवी।
गारव कसायबहुला दुरासओ होदि सो समणो॥ ६४॥ (मूला स०)

अर्थ—जो चण्ड स्वभाव का हो विष वृक्ष के समान जिस में दूसरों के प्राण हरण करने वाली क्रूर प्रकृति हो जो अत्यन्त चंचल स्वभाव वाला हो जिसके चित्त में स्थिरता न हो। जिसके पेट मे कोई बात टिक नहीं सकती हो जो चारित्र के पालन में आलसी हो, तथा जो पीठ पीछे निन्दा करनेवाला हो चुगलखोर हो अभिमान से भरा हो अपने को सब से महान् समझ कर दूसरे की अवहेलना करता हो जिसकी प्रकृति क्रोध मय हो जो बात बात पर क्रोधित हो जाता हो जो दुराराध हो-ऐसे साधु या अन्यजन का संसर्ग त्याग करने योग्य है।

हे मुने! जो साधु रोगी दुर्बल व्याधि पीड़ित आदि साधुओं का वैयावृत्यादि द्वारा उपकार नहीं करता है जो पांच प्रकार के विनय से विमुख है, अर्थात् अविनीत—उद्दण्ड है जो कठोर वाणी का प्रयोग करता करता है जिसका आचरण निन्दनीय है दिगम्बर मुद्रादि का धारक होने पर जिसमें वैराग्य नहीं है राग भाव का उत्कर्ष है-ऐसे साधु का सम्यक सर्वथा त्याग करने योग्य है।

जो कुटिल स्वभाव का है दूसरे को संताप देने वाला है पर दोष का प्रकाश करने में आनन्द मानता है मारण उच्चाटन

वशीकरण मन्त्र यन्त्र तन्त्र का प्रयोग करनेवाला है, दूसरे को धोखा देने वाले इन्द्र जाल कोकशास्त्र वात्सायनादि शास्त्रों में प्रीति रखता है इन दुर्गुणों से युक्त चिरदीक्षित साधु भी सर्प के समान त्याग देने योग्य है। हे मुन ! ये दुर्गुण पाप श्रमण में पाये जाते हैं। क्योंकि वह गुरु के अ कुश रहित अकेला रहकर अनेक दुर्ग णों का निवास स्थान बन जाता है और पाप-श्रमण की संज्ञा पाता है।

पाप-श्रमण का लक्षण

आयरियकुलं मुचा विहरदि समणो य जादुएगागी।
ण य गेण्हदि उवदेशं पावस्स मणोत्ति वुच्चदि दु ॥ ६८ ॥ (मूला स)

अर्थ—जो मुनि आचार्य संघ को छोड़कर अपनी इच्छानुसार भ्रमण करता है मनमाना उपदेश देता है या स्वच्छन्दता पूर्ण वचनालाप करता है भला बुरा सोचा करता है किसी के हितकर उपदेश को नहीं सुनता है किसी की शिक्षा की परवाह नहीं करता है। ऐसा बिना नकेल के बैल के समान अथवा बिना अ कुश के मदोन्मत्त हस्ती के समान स्वच्छन्द प्रवृत्ति करनेवाला संघभ्रष्ट एकलविहारी साधु पाप-श्रमण माना गया है।

जो दुर्वृत्ति साधु अपने गुरु की आज्ञा की अवहेलना कर अपनी उद्दण्डता से उनके अ कुश की परवाह न कर आचार्य बनने की लालसा से मदमस्त हाथी के समान इधर उधर विचरने लगता है तथा एक दो अपने समान साथियों को इकट्ठा कर आचार्य बन बैठता है-वह विवेक हीन साधु पाप-श्रमण है। वह पापमय प्रवृत्ति करके अपना नाश तो करता ही है और उनकी संगति करने वाले सधर्मियों तथा श्रावकों को भी उन्मार्ग में लगाता है। जैसे आम का वृक्ष नीम के सम्पर्क में आकर कडुवे फल देता है। उसी प्रकार संवेग भाव (संसार से भीति) रहित धर्मानुरागहीन शिथिलाचारी साधु के कर्तव्यों से विमुख दुराशय साधु का संसर्ग मत करो। उसकी संगति आत्मा को श्रद्धा और चारित्र से च्युत कर देती है।

नगर के मध्यभाग से निकले हुए नाले समान दुर्जनसाधु के वचन कूडे कर्कट के समान निकला करते हैं। जैसे नाले में बहकर आया हुआ मलमूत्र कूडा कर्कट दुर्गन्ध को फैलाता है वैसे ही दुर्जन साधु आगम विरुद्ध वचनों का उच्चारण कर समाज में अधर्म और दुराचार का विस्तार करता है। ऐसे साधु से सदा डरते रहना चाहिए। क्योंकि उसके वचन भुजङ्ग आत्मा को डसते हैं। उसके विष की प्रभाव अनन्त भव तक बना रहता है अतः वह भुजंग (सर्प) से भी महा भयानक है। यद्यपि उसके वचन घोड़े की लीद समान ऊपर से चिकने चुपड़े होते हैं बगुले के समान सुन्दर प्रतीत होते हैं भुजङ्ग के भोग (शरीर) के समान कोमल मालूम होते हैं किम्पाक फल के समान

आपात रमणीय और मीठे होते हैं किन्तु अन्त में आत्मा के घातक होते हैं। आत्मा को [illegible] कुगन्ध से मलीन करनेवाले होते हैं। विष के समान आत्मा के घातक हैं।

हे मुने ! कोई चिरकाल का दीक्षित होने से श्रेष्ठ नहीं माना गया है। साधु की श्रेष्ठता सच्चे वैराग्य से होती है। बहुत से साधु चिरदीक्षित होने पर भी मोक्षमार्ग से वञ्चित देखे जाते हैं। वैराग्यपरायण तीन दिन का दीक्षित अथवा अन्तमुहूर्त का दीक्षित भी मोक्ष का अधिकारी होता देखा गया है। अतः आत्मा में वैराग्य भावना को दृढ़ बनानेवाले परम विरक्त साधुओं का सत्संग करो। कई साधु ऐसे देखे जाते हैं जिनके उपदेश परम वैराग्य का निरूपण करते हैं परन्तु उनके अन्तःकरण लोभ और मान से गन्दे और मोक्षमार्ग से विमुख होते हैं। इसलिए सहसा किसी साधु को आत्मा के लिए हितकर मत समझो। उसके निकट सम्पर्क में कुछ काल रहो। उसके विचारों और कार्यों का सूक्ष्मदृष्टि से निरीक्षण करो। तब तुम्हें प्रतीत होने लगेगा कि उसका बाह्यरूप घोड़े की लीद के समान सुहावना है और उनका अन्तरंग कितना गन्दा और तुच्छ है। वे ऊपर से बगले के समान सुन्दर दिखाई देंगे और उनके काम अति निन्दनीय और घृणा के योग्य प्रतीत होंगे। इसलिए जिन के संसर्ग में तुमको अपने जीवन को सफल बनाना है अपने वैराग्य भाव को दृढ़ करना है-चारित्र को उन्नत बनाना है-तो उनकी जाँच में असावधानी मत करो।

हे मुने ! देखो कर्मबन्ध के कारण आत्मा के परिणाम हैं। इसलिए अपने आत्मपरिणामों को उज्ज्वल बनाये रखो। जो साधु दिखावे के लिए अपने को उत्तम प्रकट करने के लिए दूसरों के सामने तो अपने मन वचन काय की उत्तमता से प्रवृत्ति करता है और जनता से पृथक् होते ही-एकान्त में-उनकी कुप्रवृत्ति करता है। मन में निन्दनीय और तुच्छ विचारों को जन्म देता है। संकल्प और विकल्प रूपी जल तरंगों में उसकी मनरूप नौका गोते खाने लगती है। अभिमान लोभ और माया भरे महान असत्य वचनों का उच्चारण करता है और काय से जीवरक्षा रहित अज्ञानमय क्रियाएं करता है वह साधु अपना भी विनाश करता है और उसके सम्पर्क में रहने वाले संयमियों और श्रावक श्राविकाओं की भी मिथ्यामार्ग में प्रवृत्ति होने लगती है। इसका कारण भावों की मलीनता ही है। इसलिए प्रतिसमय तुमको अपनी आत्मा का निरीक्षण करते रहना चाहिए। जो साधु विवेक-ज्ञान (भेद ज्ञान) रूपी दीपक लेकर अपने अन्तःकरण में सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्ररूपी माजनी (बुहारी) से मिथ्यात्व असंयम व कषाय रूपी कूड़े कचरे को साफ करता रहता है उसकी आत्मा अल्पकाल में परम पवित्र बन जाती है और उसके द्वारा ही संसार के जीवों का कल्याण होता है। वह शीघ्र मुक्ति-पथ का अधिकारी होता है और उसके संसर्ग से अन्य जन भी मुक्तिपथ के पथिक बनते हैं। इसलिए तुमको मिथ्यात्व असंयम और कषाय का सर्वथा त्याग कर अपनी आत्मा का प्रतिक्षण निरीक्षण करते रहना चाहिए।

क्योंकि आत्मा के परिणामों के निमित्त को पाकर योग द्वारा प्राप्त हुए कार्माण वर्गणा के पुद्गल कर्मरूप परिणमन करते हैं।

जो आत्मा ज्ञानरूप परिणत होता है। जिसको भेद विज्ञान जागृत हो गया है वह आत्मा निरन्तर आत्मा का निरीक्षण करता रहता है इस लिए वह कर्म के बन्धन से बद्ध नहीं होता है। अर्थात् उसके कर्मों का बन्धन नहीं होता है। अतः चारित्र को ज्ञान दर्शन पूर्वक कहा है।

हे मुने ! जो साधु मिथ्यात्व असंयम व कषाय को हृदय में स्थान नहीं देता है उसके ज्ञान व चारित्र की वृद्धि होती है। उसका चित्त एकाग्रता को प्राप्त होता है और चित्त की एकाग्रता को ही ध्यान कहते हैं। उसका शान्त-चित्त स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त होता है। वह आगम का वाचन पृच्छना चिंतन स्मरण करता है। तथा वाचन-चिंतनादि से उपलब्ध हुए तत्त्व को आगम के रहस्य को उपदेश द्वारा जनता में प्रकट करता है। इस प्रकार प्रवृत्ति करनेवाला महात्मा संसार समुद्र से शीघ्र पार होता है और उसके सम्पर्क में रहने वाले पुण्यवान पुरुष भी संसार सागर से निकलने का साधन सन्मार्ग रूपी नौका प्राप्त करलेते हैं।

हे मुने ! ज्ञान सन्मार्ग का प्रदर्शक है और तपश्चरण आत्मा को शुद्ध करनेवाला है। तपश्चरण में भी स्वाध्याय सब से मुख्य है। क्योंकि आत्मा को तपश्चरण सरीखे कठोर कार्य मे स्थिर रखने वाला विवेकज्ञान है और वह ज्ञान स्वाध्याय से सूत्र (आगम) का अभ्यास मनन चिन्तन से उपलब्ध होता है। कहा भी है—

सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि जहा पमाददोसेण॥ ८० ॥ (मूला० स०)

अर्थ—डोरे में पिरोई हुई सूई प्रमाद से गिर जाने पर भी नष्ट गुम नहीं सकती-अर्थात् कूडे कचरे में गिरी हुई सूक्ष्म सूई सूत्र (डोरे) के साथ होने से पुनः मिल जाती है-वैसे ही आत्मा के प्रतिकूल अनेक कारणों के उपस्थित होने पर तपश्चरणादि कठोर क्लेशजनक आचरण से आत्मा में चंचलता आजाने पर उसको सन्मार्ग में स्थिर करने वाला सूत्र (आगम) का स्वाध्याय है। जो कोमल प्रकृतिवाला मनुष्य दुष्कर वृक्षमूलादि योग अथवा मासोपवास कायक्लेशादि तप करने में असमर्थ है वह यदि शुद्ध चित्त से कषायादि का त्याग करके निरन्तर आगम के स्वाध्याय में तल्लीन रहता है तो कर्मों का बहुत शीघ्र क्षय करलेता है।

हे मुने ! शास्त्रस्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि करने के लिए तुमको निद्रापर विजय प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि निद्रा मनुष्य को अचेत (विवेकहीन) बना देती है। निद्रा में साधु विवेक शून्य होकर अनेक दोषों का सेवन करता है। निद्रा और आहार बढ़ाने से बढ़ते और घटाने से घटते हैं। जो निद्रा के वश रहता है-उसको प्रमाद व आलस्य घेरे रहता है उसका मन न तो स्वाध्याय में लगता है और न ध्यान में लगता है। इसलिए शास्त्रज्ञान प्राप्त करने के लिए और चित्त को एकाग्र करने के लिए निद्रा-विजयी बनो। निद्रा-विजयी साधु जीवाजीवादि तत्त्वों का नयप्रमाण से सूक्ष्मज्ञान प्राप्त करता है। कर्मों के बन्धन और मोचन के कारणों को जानकर ध्यान द्वारा कर्म-बन्धन

की गुत्थियों को सलझाता है। जैसे लक्ष्यवेधी मनुष्य धनुष पर सीधा बाण रखकर अपने दोनों नेत्रों को अर्धनिमीलित (आखें मूंदकर) बाण को लक्ष्य से मिलाता है इसी प्रकार प्रमाद रहित साधु शुभध्यान के लिए अर्धनिमीलित नेत्र होकर अपने चित्त को एकाग्र करके आत्मा में लगाता है।

हे मुने! संसार और भोगों से विरक्त होकर तुम ज्ञानावरणादि कर्मों का आत्मा के प्रदेशों के साथ सम्बन्ध का आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्मों के विश्लेषण के उपायों का तथा जीव और पुद्गलादि अजीव पदार्थों तथा उन पर्यायों के भेद प्रभेदों का चिन्तन करो।

हे साधो! इस जीव ने अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए द्रव्यपरिवर्तन क्षेत्रपरिवर्तन कालपरिवर्तन भव परिवर्तन और भावपरिवर्तन अनेक बार किये हैं। किन्तु श्रीजिनेन्द्रदेव कथित धर्म का आश्रय इस को नहीं मिला है। यदि एक बार भी धर्म का अंकुर आत्मा में उदित हो जाता तो उसको इतने असह्य दुःख न भोगने पड़ते। अब काललब्धि आदि के योग से यह सुअवसर उपलब्ध हुआ है। यदि इसको तपश्चरण और ध्यान के बिना खो दिया तो फिर पछताने के सिवा कुछ भी हाथ में न रहेगा। इत्यादि प्रकार से नित्य प्रतिसमय चिन्तन करो।

देखो ये संसारी अज्ञानवश मोहाग्नि से झुलस रहे हैं अत्यन्त असह्य दुःख का अनुभव करते हुए भी विषय भोग से अधिकाधिक सम्बन्ध करते हैं। और अनन्त संसार से निकलने के द्वार को मोहान्ध होकर खो रहे हैं। संसार में धीर वीर साधु ही हैं जो अनेक उपसर्ग परीषहों को सहकर इस असार संसार से विरक्त होकर आत्म-कल्याण के मार्ग में दत्तचित्त है। हे मुने! यह शुभ-संयोग तुमको बड़े सौभाग्य से मिला है अतः तुम शुभध्यान में सदा रत रहकर कर्मों के जाल को तोड़कर अपनी निजनिधि को प्राप्त करो।

हे मुने! यदि तुम ध्यान में रत होना चाहते हो तो आरंभ और लोभादि कषाय का परित्याग करो। जैसे नेत्र सूक्ष्मतम कचरे को भी नहीं सह सकता उसको बाहर निकलने पर ही उसे चैन मिलता है। जैसे समुद्र अपने भीतर तृणादि कचरे को स्थान नहीं देता है, ऊपर निकाल फैंकता है। इसी प्रकार ध्यान भी आरम्भ और लोभादि कषाय को अपने निकट नहीं आने देता है। अर्थात् आरम्भ और कषाय के सद्भाव में ध्यान की सिद्धि असम्भव है। जब आत्मा निष्कषाय होता है उसके अंतःकरण में कषाय की मलीनता नहीं रहती है-तब ही ध्यान की सिद्धि होती है।

हे मुने! यदि तुम को संसार के दुःखों से छुड़ाने वाले चारित्र का आराधन करना है तो आत्मा में कषाय को उत्पन्न मत होने दो। क्योंकि कषाय के अभाव को ही चारित्र कहते हैं। जो कषाय के वशीभूत हो वह असयमी है। जिस समय कषाय उपशान्त रहती है-अर्थात् कषाय का उदय नहीं होता है उस समय आत्मा-संयमी होता है।

हे साधो ! शिष्यादि में मोह उत्पन्न करना दुर्गति का कारण है। क्योंकि उससे मिथ्यात्व असंयम कषाय रागद्वेषादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। कारणों से दोष पैदा होते हैं और कारणों के अभाव से दोषों का अभाव होता है।

पच्चयभूदा दोसा पच्चय भावेण णत्थि उप्पत्ती।
पच्चभावे दोसा णस्सति निरामया जहा बीयं ॥ ६३ ॥ (मूला स०)

अर्थ—कर्म बन्ध के कारणभूत शिष्यादि सम्बन्धी मोह से रागद्वेषादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। रागद्वेषादि के कारणभूत मोह के अभाव से उन दोषों का प्रादुर्भाव नहीं होता है। इसलिये कारणभूत शिष्यादि सम्बन्धी मोह के अभाव से मिथ्यात्व असंयम कषाय रागद्वेषादि दोष स्वयं नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि आश्रय के अभाव से दोष निर्मूल होकर नष्ट हो जाते हैं। जैसे बीज में अंकुर की उत्पत्ति पृथ्वी जल पवन-सूर्यकिरणों के संयोग से होता है। यदि पृथ्वी जल-पवनादि का संयोग न मिले तो बीज अंकुर को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है। जिन कारणों के सद्भाव से जो दोष होते हैं उन कारणों का अभाव होने पर उनके फल (कार्य) स्वरूप उन दोषों की उत्पत्ति नहीं होती है।

अतएव हे साधुओ ! परिग्रह के कारणभूत क्रोध मान माया लोभ हैं। क्योंकि लोभादि के होने पर ही परिग्रहादि होते हैं और लोभादि का विनाश होजाने पर परिग्रहादि नहीं होते हैं। इसलिए सब साधुओं को लोभादि छोड़ना चाहिए जिससे परिग्रह की इच्छा उत्पन्न ही न हो।

हे साधो ! इस संसार में जीव जो नरकादि पर्यायों को प्राप्त करते हैं उसका मूलकारण राग द्वेष और मोह है। राग द्वेष व मोह के वशीभूत होकर ही जीव नरकादि कुयोनियों में भटकता है। संसार में रागद्वेष मोह ही महाशत्रु है। इसलिए वैराग्य ज्ञान द्वारा पदार्थों से मोह को हटाओ। परमविरक्ति धारण करो। वही शिव सुख को देने वाली है।

अत्थस्स जीवियस्स य जिब्भे अत्याणकारण जीवा।
मरदि य मारावेदि य अणतसो सव्वकाल तु ॥ ६६ ॥
जिब्भो वत्थणिमित्त जीवो दुक्ख अणादि ससारे।
भत्तो अणतसो तो जिब्भो वत्थे जयह दार्णि ॥ ६७ ॥

अर्थ—यह जीव इस संसार में अर्थ के निमित्त-धन घर भूमि आदि के लिये अपने जीवन के लिए-आत्म रक्षा के लिए, जिह्वा इन्द्रिय के विषय की प्राप्ति के लिए तथा उपस्थ इन्द्रिय के विषय के लिए-काम सेवन के लिए अपने प्राणों का बलिदान करता है, स्वय अन्य प्राणियों के प्राणों का हरण करता है तथा दूसरों से हरण करवाता है।

इन चारों में भी रसनेन्द्रिय और मैथुन इन्द्रिय अति बलवान हैं। इनके निमित्त इस जीव ने अनन्त बार इस संसार में घोर दुःख सहे हैं। इसलिए इन दोनों इन्द्रियो पर पूर्ण विजय प्राप्त करो।

भावार्थ—यह अज्ञानी जीव सांसारिक विषयों में सुख समझकर उनकी रक्षा के लिए अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता है। कभी धन घर गाय भैंस क्षेत्रादि भूमि की प्राप्ति व रक्षा के लिए चौर शत्रु आदि से लड़ता है। रणचण्डी के चरणों में अपने प्राणों की बलि चढ़ाता है। कभी अनेक निरपराध व दीन क्षीण प्राणियों के प्राण लेता है। अपने जीवन की रक्षा के लिए अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करता है। अन्यायमार्ग का अनुसरण करता है। असहाय दीन जीवों पर अत्याचार करता है। जीवों के आहार संज्ञा इतनी तीव्र होती है कि जिसके वशीभूत हुआ प्रत्येक जीव रात दिन आहार की खोज में लगा रहता है। छोटे जन्तु से लेकर बड़े से बड़ा प्राणी पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए क्या २ अनर्थ नहीं करता ? एक जन्तु दूसरे जन्तु का भक्षण करता है। मनुष्य भी भोजन की लालसा के वशीभूत होकर भक्ष्य अभक्ष्य का विचार नहीं करता है। मैथुन इन्द्रिय के वश जीव अन्धा सा हो जाता है। विवेकी मनुष्य भी कामातुर होकर कुल जाति व संयमादि को भूल जाता है।

हे मुने ! तुम स्पर्शनेन्द्रिय को जीतने के लिए पूर्ण सावधान रहो। काठ की या मिट्टी की स्त्री (पुतली) चित्राम की स्त्री व स्त्री की (तस्वीर) से भी भयभीत रहो। यह पुतली और स्त्री की तस्वीर भी तुम्हें ब्रह्मचर्य से पतित कर सकती है। क्योंकि इनको देखने से भी चित्त में क्षोभ संभव है। वही कहा है—

कट्ठेदव्व णिच्च कट्ठत्यम्सवि तहित्थिरूवस्स ।
हवदिय चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जीवस्स ॥ ९९ ॥
घिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलत अग्गिसमा ।
तो महिलेय ढुक्का णट्ठ पुरिसा सिव गया इयरे ॥ १०० ॥ मूला०

अर्थ—ब्रह्मचर्यव्रत को सुरक्षित रखने का अभिलाषी संयमी काठ व मिट्टी की बनी हुई स्त्री तथा चित्र लिखित स्त्री से भी डरता

रह। क्योंकि वह भी साधु क चित्त में चचलता व उद्व ग विकार उत्पन्न कर देती है। चित्त में विकार उत्पन्न होने पर ब्रह्मचय का रहना असंभव है। क्योंकि घी स भरे हुए घट क समान पुरुष है और जाज्वल्यमान अग्नि के समान स्त्री का रूप है। अग्नि क समीप में रहने वाले घट की जसी अ स्था होती है वही हालत स्त्री क साथ संसग करने वाले सयमी की होती है।

स्त्री के फोटो और चित्राम मे भी जब पुरुष के मन को चोभित करन का शक्ति है तब साक्षात स्त्री का क्या कहना ? इसलिए हे साधो! यदि तुम अपनी रक्षा चा ते हो सयम को स्थिर और ब्रह्मचयव्रत का निर्दोष रखना चाहते हो तो स्त्री को सप क समान समझो। जो सयमी स्त्री क स पक म आये हैं उनके सा वार्तालाप हास्यादि किया है-उनका सयम-जीवन नष्ट होगया है। और जो उनका दूर स त्या करते हैं उनक साथ बात चीत तो रही पूर्ण-दृष्टि स भी जो उनको नहीं देखते हैं। व ही पुरुष मोक्ष माग पर थिर रहे हैं और शवसुख क अधिकारी बने हैं। सालम

मायाए बहिणाए धूआए मूए बुड्ढ इत्थाए।
नीहद व शिच्च इत्थारूव शिरावेक्खा ॥ १ १ ॥ मूला

अर्थ—चाहे वह स्त्री माता हो बहिन हो पुत्री हो गूगी हो या बाला वृद्धा क्यों न हो स्त्री के शरीर स सदा डरना चाहिए। क्योंकि अग्नि कैसी ही क्यों न हो वह अपना स्वभाव नहीं छोडती। जैसे चन्दन की अग्नि भी शरीर को तत्काल भस्मसात करने मे समर्थ होती है वैसे ही स्त्री मात्र का सम्पर्क ब्रह्मचय का घात करनेवाला है।

हे मुन ! तुम ब्रह्मचर्य म दृढ हो तु हारा अन्त करण पवित्र ह। तुम्हारे चित्त में वैराग्य भावना लहरा रही है। तुमन विषयों को भुजग क भोग (शरीर) क समान समझकर निर्विकार अवस्था धारण की है। लेकिन ससार में निमित्त बड़ा बलवान होता है। देखो! आखों म जल भरने का कोई स्थान नहीं ह तथापि अत्यन्त शोक व दुःख के प्राप्त होते ही आखों से आसुओं की धारा बहन लगती है। ग्राम्यशूकरी (शूकडी) के स्तनो म द ध नहीं रहता है किन्तु उनके बच्चों के मुह लगाते ही उनके प्रेम से शूकडी के स्तनों में दूध उत्पन्न हो जाता है। संयोग पाकर शरीर क परमाणु जल और दूध रूप परिणत हो जाते हैं। बाह्यनिमित्त मे अचिन्त्य शक्ति है बाह्यनिमित्त को पाकर चित्त म विकार भाव उत्पन्न हो सकता है। अतएव स्त्री क अवयवों को कभी मत देखो। जिस स्त्री के हाथ पाँव भी छिन्न भिन्न हो गये हों कानो स बहरी और नाक से नकटी हो कोढ से जिसका शरीर झरता हो अत्यन्त विद्रूप हो यदि वह भी वस्त्रादि रहित नंगी हो तो उस की तरफ मत झाको। सत्ता में बैठे हुए कर्म-शत्रु निमित्त पाते ही उदय मे आकर तुम पर विजय प्राप्त करलेंगे। क्योंकि स्त्री आत्मा के धैर्यादि गुण का नाश करके नरकादि दुर्गति मे लेजानेवाली है।

"परिभवफलवल्लीं दु खदावानलालीं
विषमजलधिवेला श्वभ्रसौधप्रतोलीम् ।
मदनभुजगदंष्ट्रां मोहतन्द्रामवित्रीं,
परिहर परिखामैर्धैर्यमालम्ब्य नारीम् ॥"

अर्थ—हे मुने ! तू धैर्य का अवलम्बन लेकर स्त्री के सम्पर्क को चित्त से भी निकाल दे । अर्थात् स्त्री के आकार का चित्त में भी चिन्तन मत कर । क्योंकि यह स्त्री तिरस्कार रूपी फल को उत्पन्न करने वाली बेल (लता) है । दु ख रूप दावानल की परम्परा को बढ़ाने वाली है । विषय रूप समुद्र का ल र है । नरक रूपी महल का बड़ा द्वार है । काल रूपी सर्प की दाढ़ है । मोह रूपी नींद की जन्मदात्री है । ऐसा जानकर ब्रह्मचर्य का पालन करने में पूर्ण सावधान रहने की आवश्यकता है । ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में आचार्यों ने विभिन्न दृष्टियों से विचार किया है ।

ब्रह्मचर्य के भेद

मणबंभचेर वचिबंभचेर तह काय बंभचेरं च ।
अहवा हु बंभचेरं दव्वं भावं ति दुवियप्पं ॥ १०३ ॥मूला०

अर्थ—ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का है । १ मानसिक ब्रह्मचर्य २ वाचनिक ब्रह्मचर्य और कायिक ब्रह्मचर्य । अथवा द्रव्य ब्रह्मचर्य और भाव ब्रह्मचर्य इस प्रकार ब्रह्मचर्य के दो भेद हैं ।

भावार्थ—मन में स्त्री आदि के सम्बन्ध से विकार भाव के न रहने से तथा स्त्री के रूप का उसके अवयवों का शृंगार रस पूर्ण शास्त्रों का चिन्तन या मनन न करने से चित्त में क्षोभ नहीं होता है । मांस मज्जा रुधिर वात पित्त कफ, लार विष्टा, मूत्रादि के पात्र, अत्यन्त घृणित स्त्री के अङ्गोपाङ्गों पर दृष्टि पड़ जानेपर उनके असली स्वभाव का विचार करने से मानसिक ब्रह्मचर्य की पालना होती है । काम विकार उत्पन्न करने वाले शृंगार रस के पोषक नाटक काव्य आदि के न पढ़ने से कामाग्नि प्रज्वलित करने वाली कथा कहानी न करने तथा वैराग्य व विषय-विरक्ति उत्पन्न करने वाले शान्तरस पोषक वचनों के उच्चारण करने से वाचनिक ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है । कामोद्दीपन करनेवाले गरिष्ठ आहार का त्याग करने से शरीर के संस्कार का त्याग करने से, परम वैराग्य की मूर्ति गुरु आदि महात्माओं के निकट

रहने से एकाकी भ्रमण न करने से एकान्त में माता व बहिन तथा परम विरक्त वृद्धा आर्यिका आदि से भी वार्तालापादि का सर्वथा त्याग करने से कायिक ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है।

वचन से व काय से ब्रह्मचर्य का पालन करना द्रव्य ब्रह्मचर्य है। मन से भावब्रह्मचर्य का धारण करना भावब्रह्मचर्य है। भावब्रह्मचर्य से रहित केवल द्रव्य ब्रह्मचर्य से आत्मा की सद्गति नहीं होती। अतः विषय रूपी वन में रमण करनेवाले मन रूपी मस्त हाथी को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। जब तक मनरूपी मस्त हस्ती विषय वाटिकामें क्रीडा करता फिरता है तब तक संयमभाव उत्पन्न नहीं होता। इसलिए उस वैराग्य रूपी साकल से विवेक-ज्ञान रूपी आलान (बन्धन स्तम्भ) के साथ बांधो। अन्यथा संयम की आशा करना व्यर्थ है।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधु को निम्नोक्त दोषों से बचना आवश्यक है—

पढम विउलाहारं विदियं कायसोहणं।
तदियं गंधमल्लाइं चउत्थं गीयवाइयं ॥ १०५ ॥
तह सयणसोधणं पि य इत्थिससग्गं पि अत्थसंगहणं।
पुव्वरदि सरणमिंदिय विसयरदी पणिदरससेवा ॥ १०६ ॥
दसविहमब्बंभमिणं संसारं महादुहावहं।
परिहरइ जो महप्पा सो दढ बंभव्वदो होदि ॥ १०७ ॥ (मूला स)

अर्थ—ब्रह्मचर्य की रक्षा करने के लिए निम्नोक्त विषय का परित्याग करो। १-प्रचुरमात्रा में भोजन मत करो। २-जलस्नान तैलमर्दन उबटन आदि रागवर्धक कारणों से शरीर का संस्कार मत करो। ३-इत्र लवेंडर सेंट आदि सुगन्धित द्रव्यों का शरीर से संयोग मत होने दो। ४-गीतवादित्रादि के सुनने का तथा सुरीले गान का परित्याग करो। ५-रुई आदि के गद्दे पलंग आदि आराम देनेवाली शय्या पर शयन मत करो तथा काम को उत्तेजित करनेवाले क्रीडागृह-चित्रशालादि को मत देखो। ६-रागरंग में निपुण कटाक्षनिरीक्षण एवं शृंगार रसप्रिय स्त्रियों के संसर्ग का त्याग करो। ७-रुपये पैसे का तथा वस्त्राभरणादि का ग्रहण मत करो और न उनको छूओ। ८-पूर्व संयम में भोगे हुए भोगों का स्मरण चिन्तन मत करो। ९-काम के निमित्त कारण इन्द्रियों के व सुन्दर व मनोहर रूप रसादि विषयों की अभिलाषा मत करो। १०-पौष्टिक व कामोत्तेजक उत्तेजित करनेवाले पदार्थों के सेवन का त्याग करो। ये दश कारण ब्रह्मचर्य के घातक हैं,तथा संसारमें तीव्र दुःख के कारण हैं। जो महात्मा इनका भले प्रकार त्याग करते हैं उन्हीं के ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है। जो इनका त्याग किये बिना ब्रह्मचर्य का

पालन करने की इच्छा करता है। वह आकाश के कुसुम से सुगन्ध चाहता है। उसका ब्रह्मचर्य बालू की भीत के समान है। ब्रह्मचर्यव्रत को दृढ़ बनाने के लिए उक्त दश त्याग आवश्यक हैं। भाव-ब्रह्मचर्य का धारण व रक्षण उतना ही आवश्यक है जितना कि आयु की रक्षा के लिए शरीर का रक्षण आवश्यक है अथवा शरीर रक्षा के लिए आहार-ग्रहण आवश्यक है। जिस महात्मा ने द्रव्य ब्रह्मचर्य को सुरक्षित बना रखने के लिए उक्त दश प्रतिकूल कारणों का त्याग किया है उसी ने भाव ब्रह्मचर्य की रक्षा कर आत्मा को कर्म बन्धन से मुक्त किया है। क्योंकि ब्रह्मचर्य के होने पर ही चारित्र होता है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से शरीर में चारित्र के पालन करने की तथा आत्मा में ध्यान में स्थिर रहने की सामर्थ्य प्रकट होती है। ब्रह्मचर्य के प्रताप से ज्ञानबल के साथ आत्मा की सोई हुई सब शक्तियां जाग उठती हैं और वह आत्मा सहज ही में कर्म-शत्रुओं को परास्त कर अपने निज (शिव) पद को प्राप्त कर लेता है। सिद्धि प्राप्त करने के लिए दो प्रकार के त्याग आवश्यक हैं। कहा भी है—

चाओ य होइ दुविहो संगच्चाओ कलत्तचाओ य।
उभयच्चायं किच्चा साहू सिद्धिं लहू लहदि ॥ ११५ ॥ (मूला)

अर्थ—यति के दो प्रकार का त्याग होता है। १ परिग्रह का त्याग और २ कलत्र (स्त्री) का त्याग। इन दोनों त्यागों को करके साधु शीघ्र ही सिद्धि को पा लेता है।

भावार्थ—परिग्रह-त्यागी और समस्त स्त्री का त्यागी शील व्रती मुक्ति का अधिकारी होता है। परिग्रहत्याग का ब्रह्मचर्य से भी सम्बन्ध है। जिसके दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग होता है उसके ही ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता होती है। भाव-ब्रह्मचर्य की पूर्ण प्राप्ति के लिए परिग्रह का त्याग अत्यन्त आवश्यक है।

कोहमदमायलोहेहिं परिग्गहे लयइ संसजइ जीवो।
तेणुभयसंगचाओ कायव्वो सव्वसाहूहिं ॥ १०८ ॥ (मूला)

अर्थ—जीव क्रोध से मद से माया से व लोभ से परिग्रह में आसक्त होता है। इसलिए साधुओं को क्रोधादि कषायों का तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का और दोनों प्रकार के अब्रह्मचर्य का त्याग करना चाहिए।

भावार्थ—जिसको आत्मा ग्रहण करता है उसे परिग्रह कहते हैं। वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। किन्तु कषाय के वशीभूत हुआ आत्मा अपने स्वरूप से तो पृथक् होता है और आत्म-स्वरूप से भिन्न पदार्थों में आसक्त होता है। क्रोध के आवेश में होकर क्रोध की शान्ति के लिए बाह्यपदार्थों का आश्रय लेता है। जिसपर क्रोधित हुआ हो उससे वैर निर्यातन करने के लिए शस्त्रादि का ग्रहण करता है। अभिमान

के वश होकर अपने को महान दिखाने के लिए अनेक प्रकार के परिग्रह का संचय करता है। मायाचार को सफल बनाने के लिए अथवा कपटाचार को छिपाने के लिए बाह्य आडम्बर दिखाता है। अथवा मायाचारमे दूसरों को ठगकर परिग्रह का सचय करता है। लोभवश अनेक वस्तुओं का अर्जन करता है। तात्पर्य यह है कि परिग्रह के अर्जन व रक्षण मे कषाय ही कारण होती हैं। परिग्रह के त्याग करनेवाले को प्रथम कषायों का त्याग करना अत्यावश्यक है। जबतक आत्मा मे कषाय जीवित है तबतक परिग्रह का त्याग होना असभव है। अत कषाय-त्याग पूर्वक दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करना चाहिए। परिग्रह का त्याग करने पर ब्रह्मचर्य का आराधन अति सुगम है। इसलिए हे साधो! तुमको सबसे प्रथम कषाय कृश करनी चाहिए। कषाय के मंद होने पर परिग्रह से अरुचि उत्पन्न होती है और परिग्रह से अरुचि आत्मा को ब्रह्मचर्य की ओर प्रवृत्त कराती है। इसलिए परिग्रह त्याग और ब्रह्मचर्य को दृढ करने के लिए सबको कषाय का त्याग करना उचित है। जिस के अन्त करण मे लोभादि कषाय धधक रही है उसकी आत्मा मे ब्रह्मचर्यादि व्रत व दोनों प्रकार के सयम का अकुर नहीं जमता है। वर्धमान कषाय व्रत व संयम के बीज को क्षणभर मे नष्ट कर देती है। अत कषाय का त्याग ही परिग्रह का त्याग और ब्रह्मचर्य का साधक है।

ब्रह्मचर्य में स्थिरता और परिग्रह के त्याग से साधु का अन्त करण सब पदार्थों से विरक्त और मोह रहित हो जाता है शान्त तथा शुभ ध्यान मे तत्पर रहता है उसकी सब क्रियाए निर्दोष होती हैं। उसकी भिक्षाचर्या मे शुद्ध परिणति होती है ध्यान स्वाध्याय में उसको अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है और वह पापक्रियाओं से निवृत्त रहता है।

व्रतों की रक्षा के लिए शील का होना नितान्त आवश्यक है इसलिए यहा शील के भेदों को भी समझा देते हैं।

शील-निरूपण

जाए करण सण्णा इंदियभोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारह सीलसहस्साइं ॥ २ ॥ (मूला शी०)

अर्थ—तीन योग तीन करण चारसज्ञा पाच इन्द्रिय दश पृथ्वीकायादि जीव और दश प्रकार मुनिधर्म इन को परस्पर गुणा करने से अठारह हजार शील के भेद होते हैं।

भावार्थ—योग और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर औदारिकादि सात प्रकार की कायवर्गणाओं में से किसी एक के अवलम्बन से जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द (कम्पन) होता है उसे काययोग कहते हैं। शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई वचनवर्गणा के आश्रय तथा वीर्यान्तराय और अक्षरात्मक मतिज्ञानावरण के क्षयोपशमादि आभ्यन्तर वचनलब्धि के होने पर

वचन उच्चारण करने में प्रवृत्ति करनेवाले के जो आत्म प्रदेशों का परिस्पंद होता है उसे वचनयोग कहते हैं। तथा आभ्यन्तर वीर्यान्तराय व नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम रूप मनोलब्धि के होने पर तथा बाह्य में मनोवर्गणा के आलम्बन से जो आत्मा के प्रदेशों का कम्पन होता है उसे मनोयोग कहते हैं। इस प्रकार तीन योग हैं। यहाँ पर योग से मन वचन काय का शुभ प्रवृत्ति का ग्रहण है।

करण—कृत कारित और अनुमोदना ये तीन करण हैं अथवा मन वचन और काय की अशुभ क्रिया को करण कहते हैं।

संज्ञा—संज्ञानाम अभिलाषा का है। वे चार हैं-१आहारसंज्ञा २ भयसंज्ञा ३ मैथुनसंज्ञा और ४ परिग्रहसंज्ञा।

इन्द्रिय—स्पर्शन रसना घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाच इन्द्रियाँ हैं।

जीवराशि—१ पृथ्वीकायिक २ जलकायिक ३ तेजसकायिक ४ वायुकायिक ५ प्रत्येक वनस्पति कायिक ६ साधारण वनस्पति कायिक ७ दो इन्द्रिय ८ तीन इन्द्रिय ९ चार इन्द्रिय और १० पचेन्द्रिय जीव।

दश मुनिधर्म—१ उत्तम क्षमा २ मार्दव ३ आर्जव ४ सत्य ५ शौच ६ संयम ७ तप, ८ त्याग ९ आकिंचन्य और १० ब्रह्मचर्य ये दश मुनि धर्म हैं।

इन सब को परस्पर गुणा करने से नीचे लिखे अनुसार भंग होते हैं।

$$\frac{3\times3}{9}\ \frac{\times4\times}{36}\ \frac{5}{180}\times\frac{10\times10}{18}=18000$$

इस प्रकार अठारह हजार शील के भेद होते हैं।

भावार्थ—जो श्रेष्ठ मुनीश्वर मन वचन काय से कृत कारित अनुमोदना रूप अशुभ परिणामों से रहित आहारादि संज्ञा से रहित स्पर्शनादि इन्द्रियों से संवृत पृथिवी कायादि जीवों के रक्षक तथा उत्तम क्षमादि दशधर्मों के पालक होते हैं उनके अठारह हजार शील के भेदों का पालन होता है।

अब संयम के भेद रूप चौरासीलाख उत्तर गुणों का खुलासा करते हैं—

पाणिवहमुसावाद अदत्तमेहुणपरिग्गह चेव।
कोहमदमायलोहा भयअरदिरददुगु छा य ॥ ९ ॥

मणवयणकायमगुल मिच्छादसणपमादो य ।
पिसुणत्तणमण्णाण अणिग्गहो इंदियाण य ॥ १० ॥
अदिकमणं वदिकमणं आदिचारो तहेव अणाचारो ।
एदेहिं चदुहि पुणो सावज्जो होइ गुणियव्वो ॥ ११ ॥ (मूला शी)

अथ—१ हिंसा २ असत्य ३ चोरी, ४ अब्रह्म, ५ परिग्रह ६ क्रोध ७ मान ८ माया ९ लोभ १० भय ११ अरति १२ रति, १३ जुगुप्सा १४ मन १५ वचन १६ काय १७ मिथ्यादर्शन १८ प्रमाद १९ पैशून्य २० अज्ञान और २१ इन्द्रियों का अनिग्रह–ये इक्कीस भेद हुए। इनको अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार और अनाचार इन चार भेदों से गुणा करने पर चौरासी भेद होते हैं।

भावार्थ—विषय की अभिलाषा को अतिक्रम कहते हैं। अर्थात् विषयों के त्यागी संयमी के जो विषय-सेवन की मन में इच्छा उत्पन्न होती है वह अतिक्रम दोष कहलाता है। जो संयमी मुनि संघ को छोड़कर विषय के उपकरणों (साधना) का संचय करने लगता है उसके व्यतिक्रम दोष उत्पन्न होता है। जो व्रत में शिथिलता (ढीलापन) होती है व्रत का कुछ अंश से भंग होता है उसे अतिचार कहते हैं। और व्रत के भंग को सर्वथा स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने को व्रत का मूल नाश करने को अनाचार कहते हैं। इन चार दोषों से हिंसादि इक्कीस भेदों को गुणा करने से चौरासी भेद होते हैं।

१ पृथिवीकाय २ अपकाय ३ तेजकाय ४ वायुकाय ५ प्रत्येकवनस्पतिकाय ६ साधारण वनस्पति काय ७ द्वीन्द्रिय ८ त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और १ पंचेन्द्रिय इन दश भेदों को परस्पर में गुणा करने से १ ×१०=१ ० सौ भेद जीवों के होते हैं।

इन सौ भेदों को पूर्वोक्त चौरासी भेदों से गुणा करने पर ८४×१ ०=८४ ० चौरासी सौ भेद होते हैं।

शीलविराधनाके दशभेद हैं१ स्त्रियोंके साथ हास्य वार्तालापादि करना २ पौष्टिक(इन्द्रिय विकार जनक)आहार करना ३ सुगन्धित तैल इत्र आदि से तथा गुलाब चम्पा आदि के पुष्पों से शरीर का संस्कार करना ४ कोमल सुखद शय्या पर सोना कोमल आसनों पर बैठना ५ कटकादि आभूषण धारण करना शरीर को सजाना ६ सुन्दर सुललित रागवर्धक राग रागनियाँ गाना व सारंगी हारमोनियमादि बाजे बजाना व सुनना तथा नृत्य देखना या इन की अभिलाषा रखना ७ रुपये पैसे सोना आदि द्रव्यों से संपर्क रखना ८ कुशील (दुश्चरित्र) मनुष्यों की संगति करना ९ विषयों के पोषण करने के लिए राजादि की सेवा करना १ बिना प्रयोजन रात्रि में घूमना। ये दश कारण शील के घातक आगम में निरूपण किये गये हैं। इन दश भेदों से पूर्वोक्त चौरासी सौ को गुणा करने पर ८४० ×१ =८४० ० चौरासी हजार भेद होते हैं।

१ आकम्पित २ अनुमानित ३ दृष्ट ४ बादर ५ सूक्ष्म ६ प्रच्छन्न ७ शब्दाकुलित ८ बहुजन ९ अव्यक्त और १० तत्सेवी ये आलोचना के दशदोष हैं। इनका विशेष वर्णन तप आचार में कर आये हैं।

पूर्वोक्त चौरासी हजार भेदों का इन दश भेदों से गुणा करने पर ८४००० × १० = ८४०००० आठ लाख चालीस हजार भेद होते हैं।

प्रायश्चित्त के दश भेद

१ आलोचन २ प्रतिक्रमण ३ उभय ४ विवेक ५ व्युत्सर्ग ६ तप ७ छेद ८ मूल ९ परिहार और १० श्रद्धान। इनका विशेष वर्णन भी पहले आचुका है। इन प्रायश्चित्त के दश भेदों को पूर्वोक्त आठ लाख चालीस हजार भेदों से गुणा करने पर ८४०००० × १० = ८४००००० दोषों के चौरासी लाख भेद होते हैं। इन दोषों के विपरीत चौरासी लाख उत्तरगुण हैं।

जैसे—धीर वीर मुनि हिंसा के त्यागी अतिक्रम दोष रहित पृथिवी के आरम्भ से विमुख स्त्री सम्पर्क से दूर आकंपित दोष रहित आलोचना शुद्धिवाले होते हैं। मृषावाद से विरक्त (सत्यमहाव्रती) अति क्रम दोष हीन पृथिवी के आरम्भ से विरक्त स्त्री सम्पर्क से पृथक् आकम्पितदोषरहित आलोचनशुद्धि वाले होते हैं। इसी प्रकार अदत्तादान विरत आदि में भी अतिक्रमदोषरहित आदि लगालेना चाहिए। अतिक्रमदोष रहित का जब हिंसादि पांचो पापों के त्यागी के साथ सम्बन्ध हो जावे तब अतिक्रम के स्थान में व्यतिक्रम को लगाकर पूर्ववत् सब पाठ को ज्यों का त्यों पढ़ना चाहिए। जब व्यतिक्रम का सम्बन्ध पांचों हिंसादि विरतों के साथ पूर्ण हो जावे तब व्यतिक्रम को हटाकर उसके स्थान में अतिचार पद को जोड़कर पूर्व की तरह सब पाठ ज्यो का त्यों रखना चाहिए। जब अतिचार का भी सम्बन्ध उक्त पांचों हिंसादि विरतों के साथ पूर्ण हो जावे तब अतिचार को निकालकर उसके स्थान अनाचार पद जोड़ देना चाहिए। जब अनाचार का सम्बन्ध भी पांचों हिंसादि विरतों के साथ सम्पूर्ण हो जावे तब उसके आगे के भंग सम्बन्धी पृथिवीकाय आरम्भ-त्यागी को हटाकर उसके स्थान में जलकायारम्भ त्यागी इस पद का सम्बन्ध कर लेना चाहिए। उक्त प्रकार पूर्व भंग का सम्बन्ध अन्तिम भंग तक हो जाने पर उसको निकाल कर उसके आगे के भंग का सम्बन्ध करते चले जाना चाहिए। यह क्रम तब तक करते रहना चाहिए जब तक अन्तिम भंग समाप्त न हो जावे।

अब शील और उत्तर गुणों का विशद ज्ञान होने के लिए निम्नोक्त पाँच विकल्पों का प्रतिपादन करते हैं —

सीलगुणाणं संखा पत्थारो अक्खसंकमो चेव।
णट्ठं तह उद्दिट्ठं पचवि वत्थूणि णेयाणि ॥ १६ ॥ (मू शी)

अर्थ—शील तथा गुणों के भेदों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए संख्या प्रस्तार अक्ष-संक्रम (अक्षों का परिवर्तन) नष्ट और उद्दिष्ट ये पाँच प्रकार हैं।

भेदों की गणना को संख्या कहते हैं। भेदों की संख्या निकालने अथवा रखने के क्रम को प्रस्तार कहते हैं। प्रथम भेद से दूसरे भेद पर पहुंचने के क्रम को अक्षसंक्रम कहते हैं। संख्या का ज्ञान होने पर भेदों के निकालने को नष्ट कहते हैं। भेदों को जानकर संख्या निकालने को उद्दिष्ट कहते हैं।

शील व गुणों की संख्या निकालने का नियम

सव्वे वि पुव्वभंगा उवरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु ।
मेलतेत्तिय कमसो गुणिदे उप्पजदे संखा ॥ २ ॥ (मूला शी)

अर्थ—शील व गुणों के सब पूर्व भंग ऊपर के प्रत्येक भंग में मिलते हैं। अतएव इनको क्रमसे गुणा करलेने पर संख्या निकलती है। जैसे—प्रथम भंग योग के प्रमाण तीन को ऊपर के भंग करण के प्रमाण तीन से गुणा करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक योग का सम्बन्ध प्रत्येक करण के साथ पाया जाता है। इसलिए तीन करण से गुणा करने पर नव संख्या उत्पन्न हुई। इसको ऊपर के भंग संज्ञा के प्रमाण चार से गुणा करना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक योग और प्रत्येक करण का सम्बन्ध प्रत्येक संज्ञा के साथ पाया जाता है। अतः नव को चार से गुणा करने पर छत्तीस (३६) संख्या हुई। इसको ऊपर के भंग इन्द्रिय के प्रमाण पांच से गुणा करना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक योग करण और संज्ञा का सम्बन्ध प्रत्येक इन्द्रिय के साथ है। अतः छत्तीस को पांच से गुणा करने पर एकसौ अस्सी (१८०) संख्या हुई। इसको ऊपर के भंग पृथिवीकायादि जीवों के प्रमाण दश से गुणा करना चाहिए क्योंकि योग करण संज्ञा और इन्द्रियों के प्रत्येक भेद का सम्बन्ध प्रत्येक पृथिवीकायादि जीव के साथ है। अतः एकसौ अस्सी को दश से गुणा करने पर अठारह सौ (१८००) हुए। इनको आगे के भंग उत्तम क्षमादि मुनिधर्म के प्रमाण दश से गुणा करने पर कुल शीलों की संख्या अठारह हजार होती है। क्योंकि पूर्व के प्रत्येक भंग के भेदों का सम्बन्ध प्रत्येक उत्तम क्षमादि मुनिधर्म के साथ है। अतः सम्पूर्ण शील व्रत के भेदों की संख्या १८००० होती है।

प्रस्तार का उत्पत्ति क्रम

पढम सीलपमाणं कमेण णिक्खिविय उवरिमाणं च ।
पिंड पडि एक्केक्कं णिक्खित्ते होइ पत्थारो ॥ २१ ॥ (मूला० शी)

अथ—प्रथम शील के प्रमाण का क्रमसे (विरलनरूप) निक्षेपण करके उसके विरलनरूप के प्रति अर्थात् एक एक रूप के प्रति ऊपर के पिंडरूप शील प्रमाण का निक्षेपण करना चाहिए। इस क्रम से निक्षेपण करने पर प्रस्तार उत्पन्न होता है।

जैसे—प्रथम शील योग' का प्रमाण तीन है। उसका विरलन कर के अर्थात् विखेर करके क्रमसे १ १ १ इस प्रकार निक्षेपण करके इसके ऊपर आगे के शील करण के प्रमाण चार के पिंड को प्रत्येक एक के अ क ऊपर $\frac{३}{१}$ $\frac{३}{१}$ $\frac{३}{१}$ इस प्रकार निक्षेपण करना चाहिए। इसके अनन्तर 'करण क प्रमाण को परस्पर जोड ने पर नव (९) होते हैं। इन ९ को प्रथम समझकर इनका विरलन कर (विखेरकर) एक एक अ क को नव बार १ १ १ १ १ १ १ १ १ इस प्रकार लिख कर आगे शील संज्ञा के प्रमाण चार के पिंड को प्रत्येक एक अ क के ऊपर $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ निक्षेपण करना चाहिए। पश्चात प्रत्येक संज्ञा के पिण्ड को जोडने पर छत्तीस (३६) होते हैं। छत्तीस को प्रथम समझकर विरलनकर एक एक अ क को छत्तीस जगह रखना चाहिए। और उन प्रत्येक छत्तीस एकों पर आगे के शील इन्द्रिय के प्रमाण पाँच का निक्षेपण कर उनको जोडना चाहिए। जोडने पर एक सौ अस्सी संख्या होती है उनको भी पूर्व की भांति विरलनकर एक एक अ क को एक सौ अस्सी जगह रखना चाहिए। तथा उनके ऊपर आगे के शील जीव राशि प्रमाण दश के पिंड को प्रत्येक एक के ऊपर स्थापन करना चाहिए। तत्पश्चात् पहले की तरह उनको जोडने से अठारह सौ संख्या होती है। उस संख्या का विरलन कर एक एक अलग रखकर आगे के शील मुनिधर्म के प्रमाण दश के पिंड को प्रत्येक एक के ऊपर रखना चाहिए। पूर्व की तरह उनको जोडने से अठारह हजार संख्या प्रमाण शील के भेद होते हैं। इस प्रकार भेद निकालने के क्रम को प्रस्तार कहते हैं। इस क्रम से यह ज्ञात हो जाता है कि पूर्व पूर्व के शील के प्रत्येक भेद उत्तर के समस्त शील के भेदों के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

इस प्रकार सम प्रस्तार का निरूपण करके अब विषम प्रस्तार का निरूपण करते हैं—

णिक्खित्तु विदियमेत्तं पढमं तस्सुवरि विदियमेक्केक्कं।
पिंडं पडि णिक्खित्ते तहेव सेसावि कादव्वा ॥ २२ ॥ (मूला शी०)

अथ—द्वितीय शील का जितना प्रमाण उतनी बार प्रथम शील के प्रमाण के पिंड को रख कर उसके ऊपर एक एक पिंड के प्रति द्वितीय शील क प्रमाण को एक एक करक रखना चाहिए। और आगे क भंगों के लिए इसी क्रम से स्थापन करना चाहिए।

जसे—द्वितीयशील 'करण' का प्रमाण तीन है। इसलिए तीन जगह प्रथम शील योग के प्रमाण तीन के पिंड को

३ ३ ३ इस प्रकार रखकर उस प्रत्येक पिंड के ऊपर द्वितीय शील करण के प्रमाण को एक एक करके $\frac{१}{३}\ \frac{१}{३}\ \frac{१}{३}$ इस प्रकार रखना चाहिए। इनको जोड़ने से नव (९) होते हैं। इन ९ को प्रथम समझकर आगे के संज्ञा-शील का प्रमाण चार है अत नौ के पिण्ड को चार जगह रखकर उस प्रत्येक पिण्ड के ऊपर संज्ञा के प्रमाण को एक एक करके $\frac{१}{९}\ \frac{१}{९}\ \frac{१}{९}\ \frac{१}{९}$ रखना चाहिए पश्चात् इनको जोड़ने पर छत्तीस होते हैं। इन छत्तीस को प्रथम मानकर इसके आगे के 'इन्द्रिय' शील का प्रमाण पाच है इसलिए छत्तीस के पिंड को पाच जगह रखकर उस प्रत्येक पिंड के ऊपर इन्द्रिय प्रमाण पाच को एक एक करके स्थापन कर उनको जोड़ लेने पर एकसौ अस्सी (१८०) होते हैं। इन को प्रथम समझ कर इसके आगे का शील जीवराशि का प्रमाण दश है इसलिए दश बार एकसौअस्सी को रखना चाहिए और प्रत्येक एकसौ अस्सी के पिंड पर दश प्रमाण को एक एक करके स्थापन करना चाहिए। पश्चात् प्रत्येक पिंड को जोड़ने से अठारह सौ होते हैं। इनको भी प्रथम मानने से इसके आगे का शील मुनिधर्म है उसका प्रमाण दश है। इसलिए दश जगह अठारह सौ के पिंड को रखकर प्रत्येक पिंड के ऊपर दश के प्रमाण को एक एक करके रखना चाहिए। तत्पश्चात् प्रत्येक पिंड को जोड़ने से अठारह हजार शील के भेद होते हैं। इस प्रकार द्वितीय विषम प्रस्तार का क्रम समझना चाहिए। प्रथम समप्रस्तार एक एक के प्रति पिंड का निक्षेपण करने से होता है और पिंड के प्रति एक का निक्षेपण करने से द्वितीय विषम प्रस्तार होता है।

अक्षसंक्रमण (अक्षपरिवर्तन) का नियम

पढमक्खे अंतगदे आदिगदे संकमेदि विदियक्खो।
दोण्णिवि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो ॥ २३ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—योग की गुप्ति रूप प्रथम अक्ष क्रम से घूमते हुए जब अंत तक पहुच कर फिर मनोगुप्तिरूप आदि स्थान पर आजाता है तब द्वितीय करण का स्थान मनकरण को छोड़कर वचनकरण पर आता है। इसी प्रकार जब द्वितीय करण स्थान भी क्रम से घूमता हुआ अन्त तक पहुच कर जब आदि मनकरण स्थान पर आता है तब तीसरा संज्ञास्थान बदलता है। अर्थात् आहार संज्ञा को छोड़कर भय संज्ञा पर आता है। जब संज्ञा स्थान भी पूर्व की भाँति क्रमश भ्रमण करता हुआ अंत तक आकर वापिस आदिस्थान (आहार संज्ञा) पर आता है तब चौथा इन्द्रिय स्थान बदलता है। अर्थात् स्पर्शन को छोड़कर रसना पर आता है। इसी प्रकार इन्द्रिय स्थान भी जब क्रमश घूमता हुआ अन्त तक पहुँचकर आदि स्थान (स्पर्शन) पर आता है तब पाचवाँ जीवराशिस्थान बदलता है। अर्थात् पृथिवीकाय स्थान को छोड़कर जलकाय स्थान पर आता है। इसी प्रकार जब जीवराशि स्थान पर भी अन्त तक पहुच कर आदि स्थान स्पर्शन पर आता है तब छठा स्थान मुनिधर्म बदलता है। इस प्रकार अक्ष के परिवर्तन होने का क्रम समझना चाहिए।

नष्ट निकालने की विधि

मगमाणेहि विभत्त सेम लक्खितु सक्खिवे रूव ।
लक्खिवज्ज त सुद्धे एव मव्वत्थ कायव्व ॥ २४ ॥ (मू शी)

अर्थ—जिस सख्यावाला शील का भग जानना हो उतनी सख्या रखकर उसमें क्रम से शील के प्रमाण का भाग देना चाहिए। भाग देने पर जो रूप अर्थात शेष रहे उतनी सख्या का अक्षस्थान समझना चाहिए। यदि शेष कुछ भी न रहे अर्थात् शेष शून्य आवे तो अन्त का अक्षस्थान समझना चाहिए और लब्ध में एक नहीं मिलाना चाहिए। जो संख्या लब्ध आवे उसमें रूप (एक) मिलाकर आगे वाले शील के प्रमाण का भाग देना चाहिए। इसी प्रकार अन्त तक करते जाना चाहिए।

जैसे—दोहजार अस्सी सख्या का कौनसा भंग है ? स प्रकार पूछन पर बताई हुई २०८ संख्या को रखकर उसमें प्रथम शील योग के प्रमाण तीन का भाग देने से लब्ध छहसौ तिरानवे ६६३ आय और शेष एक आया इसलिए योग अक्ष का प्रथम स्थान मनो योग हुआ। लब्ध ६६३ मे एक मिलाकर आगे के शील करण के प्रमाण तीन का भाग देने पर दोसौ इकतीस लब्ध आये और शेष एक रहा। इसलिए करण अक्ष का प्रथम स्थान मनकरण हुआ और लब्ध में एक मिलाना चाहिए। अत दोसौ बत्तीस में आगेके शील संज्ञा के प्रमाण चार का भाग देने पर लब्ध अठावन आय और शेष शून्य रहा इसलिए लब्ध मे एक नहीं मिलाना और संज्ञा का अन्त स्थान परिग्रह संज्ञा समझना चाहिए। उक्त अठावन सख्या म आगे के शील इन्द्रिय के प्रमाण पाच का भाग देने पर ग्यारह लब्ध आये और शेष तीन रहे। इसलिए इन्द्रिय का तीसरा स्थान घ्राण समझना चाहिए। ग्यारह में एक मिलाकर ऊपर के शील जीवराशि के प्रमाण दश का भाग देने पर लब्ध एक आया, उसमें एक मिलाना चाहिए। शेष दो रहे इसलिए जीवराशि का दूसरा अपकाय स्थान समझना चाहिए। तथा दो में आगे के शील मुनिधर्म के प्रमाण दश का भाग नहीं जाता है। अतः मुनिधर्म का दूसरा स्थान मार्दव समझना चाहिए।

दो हजार संख्या वाला भंग मनो गुप्ति पालक मन करण का त्यागी परिग्रह संज्ञा रहित, घ्राणइन्द्रिय-विरक्त, अपकाय सयमी और मार्दव धर्म पालक हुआ है।

उद्दिष्ट का विधान

सठाविदूण रूव उवरीदो सगुणित्त सगमाणे ।
अवणिज्ज अणंकिदय कुज्जा पढमंति जावेव ॥ २५ ॥ (मूला० शी)

अर्थ—रूप (एक) का स्थापन करके उसको ऊपर के शील का जितना प्रमाण है उससे गुणा करना चाहिए तथा उसमें जो अनंकित हो उसका परित्याग करना चाहिए। इसी प्रकार अन्त तक करने से उद्दिष्ट का प्रमाण निकलता है।

भावार्थ—शील के भङ्ग को स्थापन कर संख्या निकालने को उद्दिष्ट कहते हैं। उसकी रीति निम्नोक्त प्रकार है।

जैसे—मनोगुप्ति पालक मनकरण का त्यागी घ्राणेन्द्रिय विरक्त परिग्रह संज्ञा रहित अपूकायारम्भत्यागी और मार्दव धर्म का पालक यह शील का भंग कितनी संख्या वाला है? इस प्रकार किसी के प्रश्न करने पर प्रथम एक का अङ्क स्थापन करके ऊपर के शील मुनि धर्म के प्रमाण दश से उस एकको गुणा करना चाहिए। गुणनफल दश हुए। उनमें से अनङ्कित आर्जव शौच सत्य संयमादि आठ धर्म हैं क्योंकि पूछेगये भंग में मार्दव धर्मका ग्रहण है अतः शेष आर्जवादि धर्म आठ हैं उनको दशमें से घटाने से दो रहे। उनको ऊपर के शील जीवराशि के प्रमाण दश से गुणा करने पर बीस होते हैं। उनमें अनङ्कित तेज कायादि आठ हैं उनको बीस में से घटाने पर शेष बारह रहे। उनको आगे के शील स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों के साथ गुणा करने पर साठ होते हैं। उनमें से अनङ्कित चक्षु इन्द्रिय और श्रोत्र इन्द्रिय दो घटाने से अठावन रहे। उनको आगे के शील संज्ञा प्रमाण चार से गुणा करने पर दोसौ बत्तीस होते हैं। संज्ञा में अनङ्कित कोई नहीं हैं क्योंकि प्रश्न में परिग्रह संज्ञा का ग्रहण किया गया है। अतः दोसौ बत्तीस को आगे के शील करण प्रमाण तीन से गुणा करने पर छहसौ छयानवे होते हैं। उनमें से अनङ्कित वचनकरण और कायकरण (दो) को घटाने से शेष छहसौ चौरानवे रहे। उनको आगे के शील योग गुप्ति प्रमाण तीन से गुणा करने पर दो हजार बियासी होते हैं। उनमें अनङ्कित वचन योग और काययोग को घटाने से शेष दो हजार अस्सी प्रमाण रहता है। यह दो हजार अस्सी शील की संख्या उक्त प्रश्न का उत्तर है। इसी प्रकार सर्वत्र भंगों से संख्या निकाल लेना चाहिए।

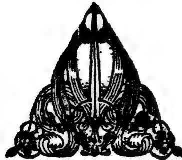
इस प्रकार शील व व्रतों के भेदों को जान कर उनके पालन का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए और साथ ही मूलगुणों के पालन में भी पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए। यह मुनि-मार्ग बड़ा कठिन है। कहीं जरा भी चूका और गिरा। चाहे कोई कितना ही तपस्वी हो यदि वह मूलगुणों की विराधनी करता है तो सच्चा साधु नहीं। मूलाचार में स्पष्ट लिखा है—

मूलं छित्ता समणो जो गिण्हादी य बाहिर जोगं।
बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति ॥

जो साधु अहिंसा, सत्य आदि मूलगुणों का विनाश करके मासोपवास वृक्षमूल आतपन योग आदि उत्तरगुणों का आचरण करता है उसके वे दुर्धर कायक्लेशादि सब योग जिसकी जड़ कट गई ऐसे वृक्ष के पत्र पुष्पादि के समान-निरर्थक हैं। अर्थात् जैसे वृक्ष की जड़

कट जाने पर उसके पत्ते फूल आदि किसी काम के नहीं रहते सब सूख कर बेकार हो जाते हैं उसी प्रकार जिस साधु के अहिंसा, सत्य आदि अठाईस मूलगुण ही नहीं हैं उनमें भी अनाचार दोष आता है उसके दुधर तप आदि सब बाह्य योग बेकार हैं। मूलगुणों के बिना उनका कोई फल नहीं मिल सकता। इसलिए सयमी को अपने प्रत्येक कर्तव्य पर पूरा ध्यान रखना चाहिए। आहारशुद्धि उपकरणशुद्धि शय्याशुद्धि वसतिका शुद्धि आदि शुद्धियों में किसी की भी उपेक्षा करने पर साधु गृहस्थ से भी बुरा बन जाता है। इसलिए अपने सम्पूर्ण कर्तव्य को अच्छी तरह समझकर उसका यथोचित पालन करना चाहिए।

यहाँ तक श्री आचार्य सूर्यसागरजी महाराज विरचित
संयम-प्रकाश नामक ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में द्वादशानु
प्रेक्षा, अनगार भावना आदि अनेक
विषयों का प्रकाश करने वाली
चतुर्थ किरण समाप्त
हुई



श्री १ ८ दिगम्बर जैनाचार्य—

श्री सूर्यसागरजी महाराज विरचित

संयम-प्रकाश

पूवार्द्ध-पचम किरण

(मुनिधर्म)

संयम—प्रकाश

पूर्वार्द्ध—पंचम किरण

बृहत्-समाधि-अधिकार

❀ मंगलाचरण ❀

सन्मति प्रणिपत्याहं समाधिमरणाश्रय—
मधिकारमिमं वक्ष्ये मोक्षश्रीप्राप्तिकारणम् ॥

इस अध्याय में समाधिमरण का विस्तृत वर्णन किया जायगा। समाधि का अर्थ है अपने आपमें तल्लीन होना। समाधि ध्यान और योग ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। मृत्यु के समय शरीर कुटुम्ब धन गृहादि परपदार्थों से हटकर आत्मस्थ होना एवं धीरता और शांति के साथ मृत्यु का आलिंगन करना समाधिमरण कहलाता है। समाधिमरण का प्राप्त होना सचमुच ही बहुत दुर्लभ है।

जिस आत्मा में अशुभ परिणामों की संतति बनी रहती है उसको समाधि की प्राप्ति कैसे हो सकती है? अतः समाधि प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम अशुभ भाव उत्पन्न करने वाले बाह्य निमित्तों को त्याग कर शुभ भाव या शुद्ध भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न करना आवश्यक है। जब तक मानसिक विकार आत्मा को मलिन करते रहें तब तक समाधि (चित्त शान्ति) की आशा करना व्यर्थ है। इसलिए चित्त में अशान्ति उत्पन्न करने वाले कारणों का त्याग कर शुभ और शुद्ध परिणामों को जाग्रत करने वाले उपायों का आश्रय लेना उचित है। यदि एक बार भी सम्यक्त्व सहित समाधिमरण हो जावे तो वह आत्मा अवश्य ही कभी न कभी मुक्ति पद का अधिकारी होता है। वज्रवृषभनाराच संहनन आदि सकल साधन संयुक्त कोई जीव तो समाधिमरण के प्रभाव से उसी भव में मोक्ष को प्राप्त होता है और कोई दो तीन या सात आठ भव बाद मोक्ष की प्राप्ति करता है। अतः सर्व संयमियों को समाधि के अनुकूल साधना की ओर अग्रसर होते हुए सदा समाधिमरण के लिए तत्पर रहना चाहिए क्योंकि मृत्यु के आनेका कोई निश्चित समय नहीं है।

आयुबंध का नियम

कर्मभूमि में जन्मा हुआ मनुष्य व तिर्यंच परभव की आयु का बंध भुज्यमान आयु के आठ अपकर्ष काल में करता है। अर्थात् वर्तमान आयु के बराबर तीन हिस्सों में से दो हिस्से बीत जाने पर तीसरे भाग के पहले समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त तक पहला अपकर्ष काल है। इस अपकर्ष काल में परभव संबंधी आयु का बंध हो सकता है। यदि इस समय न हो तो फिर उस बचे हुए एक हिस्से के फिर तीन भाग करना चाहिए उन तीन भागों में पहले के दो भाग बीत जाने पर तीसरे भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त तक दूसरा अपकर्ष काल कहलाता है इस काल में भी परभव संबंधी आयु का बंध हो सकता है। यदि इसमें भी नहीं हुआ तो इसी तरह तीसरा चौथा पाँचवाँ छटा सातवाँ और आठवाँ अपकर्ष काल होता है इनमें से किसी में आयु का बंध हो सकता है। यदि इनमें भी न हुआ तो आयु के अन्तिम अन्तमुहूर्त में होगा। उदाहरणतया किसी कर्मभूमि के मनुष्य की भुज्यमान आयु छह हजार पाँच सौ इकसठ वर्ष की है। इसके तीन भागों में से दो भाग (तियालीस सौ चौहत्तर वर्ष) बीत जाने पर जब शेष एक भाग (इक्कीस सौ सत्यासी वर्ष) रह जाता है तब इस एक भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त तक का काल प्रथम अपकर्ष काल कहलाता है। इस अपकर्ष काल में परभव सम्बन्धी आयु का बंध होता है। यदि इस काल में आयु का बंध न हो तो उस एक तृतीय भाग (इक्कीस सौ सत्यासी वर्ष) में से दो भाग (चौदह सौ अठावन वर्ष) बीत जाने पर जो शेष एक तृतीय भाग (सात सौ उन्तीस वर्ष) रहता है उसके प्रारंभ के अन्तर्मुहूर्त तक का काल दूसरा अपकर्ष काल कहा जाता है। उस काल में परभव सम्बन्धी आयु का बंध होता है। यदि इस काल में भी आयु का बंध न हो तो उस अवशिष्ट एक तृतीय भाग (सात सौ उन्तीस वर्ष) में से दो भाग बीत जाने पर जो एक भाग (दो सौ तियालीस वर्ष) शेष रहता है उसके प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त का काल अपकर्ष काल कहलाता है। यह तीसरा अपकर्ष काल हुआ। उसमें परभव सम्बन्धी आयु का बंध होता है। यदि इसमें भी आयु का बंध न हो तो शेष भाग (दो सौ तियालीस वर्ष) के प्रथम अन्तर्मुहूर्त में आयु का बंध करने वाला चौथा अपकर्ष काल है उसमें परभव सम्बन्धी आयु का बंध होता है। यदि इसमें भी आयु का बंध न हो तो पाँचवें छटे सातवें अथवा आठवें अपकर्ष काल में आयु का बंध होता है। यदि आठों में से किसी भी अपकर्ष काल में आयु का बंध न हुआ हो तो भुज्यमान आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त (आयु की अन्तिम आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल से पूर्व के अन्तर्मुहूर्त) में आयु का अवश्य बंध होता है।

इस प्रकार कर्मभूमिज मनुष्य व तिर्यंचों के परभव सम्बन्धी आयु के बंध होने का नियम कहा गया है। किन्तु भोगभूमि में जन्मे हुए के लिए तथा देव नारकियों के परभव सम्बन्धी आयु-बंध के विषय में कुछ विशेषता है। वह निम्न प्रकार है—

भोग-भूमिज मनुष्य व तिर्यंचो के परभव आयु का बंध भुज्यमान आयु के अन्तिम नौ महिनो में होने वाले आठ अपकर्षों के काल में

होता है। अर्थात उनकी आयु के जब नौ महीने शेष रहते हैं तब पूर्व की भांति आठ अपकर्ष होते हैं। नौ महिने में से दो भाग बीत जाने पर जब तृतीय भाग (तीन महीने) शेष रहता है तब उसके प्रथम समय से लेकर अन्तमुहूर्त पर्यन्त का प्रथम अपकर्ष काल होता है। उसमें परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। जब उसमें आयु का बन्ध नहीं होता है तब शेष एक तृतीय भाग (तीन महिने) में से दो भाग (दो महिने) बीत जाने पर अवशिष्ट तृतीय भाग (एक मास) रहजाने पर उसको प्रथम अन्तमुहूर्त्त का दूसरा अपकर्ष काल होता है। उसमें आयु का बन्ध होता है। यदि उसमें भी आयु का बन्ध न हुआ तो तीसरे चौथे पांचवे छटे सातवे या आठवें में आयु का बन्ध होता है। यदि इनमें भी न हुआ हो तो पूर्व की भांति भुज्यमान आयु के अन्तिम अन्तमुहूर्त्त मे तो अवश्य ही होता है।

देव तथा नारकियों के परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध भुज्यमान आयु के अन्तिम छह महिने शेष रहने पर होता है। अर्थात शेष छह महिनों में पूर्व की भांति आठ अपकर्षण होते हैं। उनमें परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। और यदि उन आठ अपकर्षों के काल मे भी आयु का बन्ध न हो तो पूर्व की तरह आयु के शेष अन्तमुहूर्त्त मे तो अवश्य ही आयु का बन्ध होता है। यहां यह भी याद रखना चाहिए कि यदि पहले के किसी अपकर्ष काल में आयु का बन्ध हो गया हो तो उस के आगे के अपकर्ष कालों में बंध होता रहेगा। आयु बंध के इस उपर्युक्त नियम से यह फलितार्थ निकलता है कि कोई भी यह नहीं कहसकता कि उसका परभव की आयुका बंध कब होगा? इसलिए प्रत्येक समय मनुष्य को अपने भाव ठीक रखना चाहिये।

समाधि युक्त मरण का स्वरूप

मरण के वेत्ताओं ने इसके अनेक भेद बतलाये हैं। मरण का सामान्य अर्थ पर्याय का छोड़ना है। यह अर्थ सम्पूर्ण जीवों के साथ सम्बन्धित होता है। केवली भगवान हो या छद्मस्थ जीव हो सब प्राप्त शरीर को छोड़ते हैं इसलिए उन सबका मरण कहा जाता है। किन्तु केवली और छद्मस्थ के मरण मे इतनी विशेषता है कि केवली पूर्व शरीर का त्याग कर पुनः नूतन शरीर का ग्रहण नहीं करते हैं। अतः उनका फिर मरण नहीं होता है। वे अजर अमर कहे जाते हैं। और छद्मस्थ जीव पहले के शरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण करता है और पुनः मरण करता है। इसलिए मरण पुनः पुनः जन्म-मरण का निमित्त होता है। संसार में जितने भी दुःख हैं, उनमें सब से अधिक दुःख मरण का है। अनेक रोगों से पीडित व भयानक उपसर्गों से व्यथित छोटे से छोटा जन्तु भी मरण के नाम से कांपता है मरण के दुःख से घबराता है। इसलिए इस महान दुःख से उद्धार पाने का एक मात्र उपाय समाधिमरण ही है। यही इस दुःख को समूल नाश करने वाली परमौषधि है।

जिन महापुरुषों ने अपने जीवन मे विषय वासनाओ म मुख मोडा है कषाय को मन्द करने का अभ्याम किया है तथा उन का शुभ रूप परिणमन किया है-वे महात्मा महाव्रत का पूर्णतया पालन कर अन्त में कषायो पर विजय करते हैं। उसका न्द्रिय फल समाधि मरण उनको ही मिलता है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। यहाँ प्रसगानुसार मरण के भेदो का वर्णन करते हैं। मरण के भगवती आराधना में १७ भेद बतलाये हैं —

मरण के भेद

मरणाणि सत्तरस दसिदाणितित्थकरहिं जिणवयणे।
तत्थ वि य पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि॥ २५ ॥ (भग आ)

अर्थ —उत्पन्न हुई पर्याय के नाश को मरण कहते हैं। अर्थात् देव नारक तिर्यच और मनुष्य पर्याय का नष्ट होना ही मरण शब्द का अर्थ है। अथवा प्राणो के त्याग करने को मरण कहते हैं। क्योंकि मृङ् धातु का अर्थ प्राण त्याग करना है। प्राण धारण करते रहने को जीवन और प्राण त्याग को मरण कहते हैं। प्राण दो प्रकार के हैं-भावप्राण और द्रव्यप्राण। ज्ञान दर्शन चारित्र भावप्राण हैं। यह सिद्धों के भी पाया जाता है इसलिए उसकी अपेक्षा से यहाँ मरण नहीं लिया गया है। द्रव्यप्राण (इन्द्रिय बल आयु और उच्छ्वास) के विनाश को मरण कहा है। आयु के उदय होने पर जीव जीता है और भुज्यमान आयु का विनाश होने पर मरता है।

यह मरण १७ प्रकार का है—(१) आवीचि मरण (२) तद्भव मरण (३) अवधि मरण (४) आद्यन्तमरण (५) बालमरण (६) पंडितमरण (७) अवसन्नमरण (८) बालपंडितमरण (९) सशल्यमरण (१०) पलायमरण (११) वशार्त्तमरण (१२) विप्राणमरण (१३) गृध्रपृष्ठमरण (१४) भक्तप्रत्याख्यान मरण (१५) प्रायोपगमन मरण (१६) इंगिनी मरण (१७) केवलिमरण।

इन सत्रह प्रकार के मरणों में से पांच प्रकार के मरण ही विशेष उल्लेखनीय हैं। अत आगम मे उन्हीं का विशेष वर्णन है। शेष बारह प्रकार के मरणो का वर्णन तो गौण रूप से है।

यहां इन सत्रह प्रकार के मरणो का सक्षेप से स्वरूप दिखाते हैं।

आवीचिमरण

(१) आवीचिमरण—जीव के प्रतिक्षण होने वाले मरण को आवीचि मरण कहते हैं। आवीचि का अर्थ है तरंग लहर। जिस

तरह लहर एक दूसरे के बाद आती है और (प्रतिसमय) उनकी परम्परा समाप्त नहीं होती इसी तरह यह जीव भी प्रतिक्षण मरता रहता है। प्रतिसमय आयुकर्म का निषेक उदय में आकर झड़ता रहता है कभी यह प्रक्रिया समाप्त नहीं होती। इस आवीचिमरण का समूह ही महामरण है। भव्य जीवों की अपेक्षा यह आवीचिमरण अनादि सान्त है। क्योंकि भव्य जीव को जब मोक्ष प्राप्त हो जाता है, तब यह मरण नष्ट हो जाता है। इसलिये इसको सान्त कहते हैं। मोक्ष के होने के पूर्व अनादि काल से भव्यजीव के प्रतिसमय यह मरण होता रहता है इसलिये इसको अनादि भी कहते हैं। अतः यह मरण भव्य की अपेक्षा से अनादि सान्त होता है। अभव्यों की अपेक्षा तो यह आवीचिमरण अनादि अनन्त है। क्योंकि उनके यह मरण अनादि से है और सदा रहेगा इसलिए अनादि अनन्त है। भव की अपेक्षा से अथवा क्षेत्र की अपेक्षा से यह (आवीचिमरण) सादि कहा जाता है।

(१) आवीचि मरण के भेद

आवीचि मरण प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा से चार प्रकार का होता है।

(१) प्रकृति आवीचिमरण—एक आत्मा के एक भव में एक ही आयुकर्म की प्रकृति का उदय आता है। इसलिए एक आयु की प्रकृति के क्षय होने से आत्मा का मरण होता है। इसे प्रकृति आवीचिमरण कहते हैं।

( ) स्थिति आवीचिमरण—आत्मा के कषायरूप परिमाणों से बंध को प्राप्त हुए आयु के पुद्गलों में स्निग्धता उत्पन्न होती है इसलिये वे पुद्गल आत्मा के प्रदेशों के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। स्निग्धता के उपादान कारण तो पुद्गल कर्म ही हैं किन्तु आत्मा के कषायभाव से पुद्गल कर्म में स्निग्धता प्रकट होती है अतः कषाय भाव स्निग्धता के निमित्त कारण होते हैं। जितने समय तक पुद्गलकर्म आत्मा के साथ सम्बद्ध रहते हैं उसको स्थिति कहते हैं। यह आयुनामक पुद्गल कर्म की स्थिति एक से लेकर बढ़ती हुई देशोन तेतीस सागर के जितने समय होते हैं उतने भेदवाली होती है। उत्कृष्टस्थिति तेतीस सागर की और जघन्य अन्तमुहूर्त्त परिमाण वाली होती है। इन आयुकर्म की स्थितियों की तरंगों के समान क्रम रचना है। इनका क्रमसे क्षय होने के कारण आत्मा के मरण को स्थिति आवीचिमरण कहते हैं।

(३) अनुभव आवीचिमरण—कर्मपुद्गलों का जो रस (फल) अनुभव गोचर होता है उसको अनुभव कहते हैं। यह अनुभव पुद्गल कर्मों में षड्गुणी हानि वृद्धि रूप समुद्र की तरंगों के क्रम से स्थित रहता है उसके क्षय होने को अनुभव आवीचिमरण कहते हैं।

(४) प्रदेश-आवीचिमरण—आयुकर्म के पुद्गल प्रदेश जघन्य निषेक से लेकर एक दो तीन आदि वृद्धि क्रमेण तरंग के समान स्थित हैं उनके विनाश होने को प्रदेश आवीचिमरण कहते हैं। इस प्रकार आवीचिमरण नामक प्रथम भेद का वर्णन किया।

(२) तद्भवमरण

तद्भवमरण—भुज्यमान आयु का अंतिम समय में नाश होने को तद्भवमरण कहते हैं। अर्थात् वर्तमान पर्याय का नाश होकर उत्तर पर्याय की प्राप्ति को तद्भवमरण कहते हैं। यह मरण इस जीव ने अनन्त बार किया है और जब तक रत्नत्रय की आराधना कर सिद्ध अवस्था प्राप्त न कर लेगा तब तक यह मरण होता रहेगा।

(३) अवधि मरण

अवधिमरण—का वर्तमान पर्याय के समान ही भविष्य पर्याय मे भी मरण का होना अवधिमरण है। इस अवधिमरण के दो भेद हैं-सर्वावधिमरण और देशावधिमरण।

(१) सर्वावधिमरण—जैसा आयुकर्म प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेशों से वर्तमान काल में उदय आरहा है वैसा ही प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेशवाला आयुकर्म फिर बंध को प्राप्त होकर उदय में आवे उसको सर्वावधि मरण कहते हैं।

(२) देशावधिमरण—जैसा आयुकर्म वर्तमान काल मे उदय को प्राप्त हो रहा है उसकी कुछ सदृशता को लिए हुए आयु कर्म फिर बन्ध को प्राप्त होकर उदय में आवे उस देशावधिमरण कहते हैं।

इसका आशय यह है कि वर्तमान आयु का कुछ अंश अथवा सर्वांश में सादृश्य जिसमें पाया जाता है उस अवधि (मर्यादा) से युक्त मरण को अवधिमरण कहते हैं। वर्तमान आयु का सम्पूर्ण सादृश्य जिस भावी आयु में पाया जाता है उस मर्यादित मरण को सर्वावधि मरण और जिस भावी आयु मे वर्तमान आयु का एक अंश सादृश्य रहता हो उस मर्यादित मरण को देशावधि मरण कहते हैं।

(४) आद्यंत मरण

आद्यंत मरण—वर्तमान काल के मरण का सादृश्य जिस भावी मरण में नहीं पाया जाता है उसको आद्यंत मरण कहते हैं। यहा पर आदि शब्द से प्रथम मरण लेना चाहिए। उसका अन्त (नाश-अभाव) जिस मरण में पाया जाता है अर्थात् जो सर्वथा विसदृश मरण होता है उसको आद्यंत मरण कहते हैं।

(५) बाल मरण

बालमरण—बाल नाम अज्ञानी जीव का है। अज्ञानी जीव का जो मरण होता है उसे बाल मरण कहते हैं। बाल (अज्ञानी) जीव पाच प्रकार के होते हैं-(१) अ यक्तबाल (२) व्यवहारबाल (३) ज्ञानबाल, (४) दर्शनबाल (५) चारित्रबाल।

१ अ यक्तबाल—यहा अव्यक्त शब्द का अथ छोटा बच्चा है। जो धम अर्थ काम पुरुषार्थ सम्बन्धी कार्यों को न समझता है और न उनका आचरण करने की शारीरिक शक्ति रखता है उसको अव्यक्त बाल कहते हैं।

२ यवहार बाल—जिसको लौकिक यवहार तथा शास्त्रीय ज्ञान नहीं है अथवा जो बालक है उसको यवहार बाल कहते हैं।

३ दशन बाल—जो तत्त्वार्थ के श्रद्धान से रहित मिथ्यादृष्टि है उसे दशन बाल कहते हैं।

४ ज्ञान बाल—जिसे वस्तु का य ार्थ ज्ञान नहीं है उसको ज्ञान बाल कहते हैं।

५ चारित्र बाल—जो चारित्र क आचरण स रहित है उसे चारित्र बाल कहते हैं।

इन प च प्रकार के मरण को बाल मरण कहते हैं। ऐसा बाल मरण इस जीव ने भूतकाल में अन तबार किया है, और अनन्त जीव इस मरण को करते रहते हैं।

यहाँ प्रकरण म दशन बाल का ही ग्रहण है। अन्य बालों का यहाँ ग्रहण करणा आवश्यक नहीं है क्योंकि सम्यग्दशन सहित अ य चार प्रकार क बाल दशन पडित कहे जाते हैं। अत उनका मरण सम्यग्दशन सहित होने से उस मरण को पण्डितमरण माना है। अर्थात् सम्यग्दशन युक्त मरण सद्गति का कारण होता है और सम्यग्दशन रहित मरण दुर्गति के दु खों का जनक होता है।

दशन बाल मरण के संक्षेप से दो भेद हैं— १ इच्छाप्रवृत्तमरण और २ अनिच्छा प्रवृत्तमरण।

१ इच्छाप्रवृत्तमरण—जो प्राणी अग्नि में जलकर धूएं से श्वास का निरोधकर विषभक्षण कर जल में डूब कर, पवत से गिरकर गले में फासी लगाकर अथवा शस्त्राघात से अत्यन्त शीत व उष्ण के पड़ने से भूख से प्यास से जिह्वा के छेदन-उत्पाटन (उखाड़ने) स प्रकृति विरुद्ध आहार करने से इत्यादि कारणों से इच्छा पूवक मृत्यु को प्राप्त होते हैं उस मरण को इच्छाप्रवृत्त बालमरण कहते हैं।

२ अनिच्छाप्रवृत्तबालमरण- जाने की इच्छा रखते हुए मिथ्यादृष्टि का जो काल में या अकाल में मरण होता है उसको अनिच्छाप्रवृत्तबालमरण कहते हैं। जो दुर्गति में गमन करने वाले हैं इसलिए जो विषयों में आसक्त रहते हैं जिनका अन्तःकरण अज्ञान अन्धकार से आच्छन्न है जो ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त हैं उनके उक्त बालमरण होता है। इस मरण से जीव तीव्र पाप का उपार्जन कर दुर्गति में दुःखों का अनुभव करते हैं और जन्म जरा मरण के क्लेशों को बहुत काल तक सहते हैं।

पण्डित मरण—

पण्डित मरण के चार भेद हैं— १ व्यवहारपण्डित २ सम्यक्त्वपण्डित ३ ज्ञान पण्डित और ४ चारित्र पण्डित।

१ व्यवहार पण्डित —जो केवल लोक व्यवहार वेदज्ञान तथा शास्त्रज्ञान में निष्णात होता है उसको व्यवहार पण्डित कहते हैं। अथवा—

जो अनेक लौकिक शास्त्रों में निपुण हो तथा शुश्रूषा श्रवण मनन धारणादि बुद्धि के गुणों से युक्त हो उसको व्यवहार पंडित कहते हैं।

२ दर्शन पण्डित—जिसको क्षायिक, क्षायोपशमिक अथवा औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है उसको दर्शन पण्डित कहते हैं।

३ ज्ञान पण्डित—मतिज्ञानादि पांच प्रकार के सम्यग्ज्ञानों में से यथासंभव किसी ज्ञान से युक्त जीव को ज्ञान पण्डित कहते हैं।

४ चारित्र पण्डित—सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात इन पांच चारित्रों में से किसी भी चारित्र में प्रवृत्ति करने वाले संयमी को चारित्र पण्डित कहते हैं। इन चार प्रकार के पण्डितों में से यहां ज्ञान पण्डित दर्शन पण्डित और चारित्र पण्डित का ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि व्यवहार पण्डित मिथ्यादृष्टि होता है। इसलिए उसका मरण बालमरण माना गया है। केवल सम्यग्दृष्टि का मरण ही पण्डित मरण कहा गया है।

नरक में भवनवासी देवों के स्थानों में तथा स्वर्गवासी और ज्योतिषी देवों के विमानों में व्यन्तर देवों के निवास स्थानों में एवं द्वीप व समुद्रों में दर्शन पण्डित मरण होता है तथा ज्ञानपण्डित मरण उपर्युक्त स्थानों में तथा मनुष्य लोक में होता है, किन्तु मनःपर्ययज्ञानी तथा केवल ज्ञानी का ज्ञान पण्डित मरण मनुष्य लोक में ही होता है। चारित्रपण्डित मरण भी मनुष्य लोक में ही होता है।

(७) अवसन्न मरण

मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) का पालन करनेवाले संयमियों के संघ का परित्याग करनेवाले संघभ्रष्ट साधु को अवसन्न कहते हैं। उसका जो मरण है वह अवसन्न मरण कहलाता है।

यहां पर अवसन्न शब्द का ग्रहण करने से पार्श्वस्थ स्वच्छन्द कुशील और संसक्त इन चार प्रकार के भ्रष्ट साधुओं का भी ग्रहण होता है।

"पासत्थो सच्छंदो कुसील संसत्त होंति ओसण्णा।
जं सिद्धिपच्छिदादो ओहीणा साहु सत्थादो"॥ १॥ (भग. टीका गाथा २५)

अर्थ—पार्श्वस्थ स्वच्छन्द कुशील संसक्त और अवसन्न ये पांच प्रकार के भ्रष्ट (पतित) साधु हैं। ये रत्नत्रय से हीन हैं और साधुओं के संघ से बहिष्कृत होते हैं।

ये साधु वस्त्रादि ऐश्वर्य से प्रेम रखते हैं। रस (जिह्वा की लम्पटता) में आसक्त होते हैं। सदा सुखों की अभिलाषा रखते एवं दुःख से डरते हैं। लोभादि कषाय के वशीभूत होते हैं। उनके आहारादि की तीव्र संज्ञा होती है। वे पाप जनक मन्त्रतन्त्रादि शास्त्रों का अभ्यास करते हैं। तेरह प्रकार की क्रियाओं के आचरण में प्रमादी होते हैं। गृहस्थ की वैयावृत्य (सेवा) करते हैं। मूलगुणों से हीन होते हैं। समिति और गुप्ति के पालन करने का उद्योग नहीं करते अर्थात् उनके समिति व गुप्ति नहीं होती है। वैराग्य भावना व संसार से भीरुता भी नहीं होती है। वे उत्तम क्षमादि दशधर्म में बुद्धि नहीं लगाते। उनका चारित्र सदोष होता है। इस प्रकार के साधु को अवसन्न कहते हैं।

ऐसे साधु सहस्रों भवों में भ्रमण करते रहते हैं। बार बार दुःखों को भोगते हैं।

(८) बाल पण्डित मरण

सम्यग्दर्शन के धारक संयतासंयत (अणुव्रती) श्रावक को बालपण्डित कहते हैं। इसके मरण को बालपण्डितमरण कहा है। क्योंकि श्रावक बाल और पण्डित इन दोनों धर्मों से युक्त होता है। बाल तो इसलिए कहा जाता है कि इसके केवल एक देश से ही हिंसादि पापों का त्याग होता है सम्पूर्ण रूप से हिंसादि का त्याग नहीं होता है। अतः चारित्र की अपेक्षा तो बाल है और पण्डित इसलिए है कि उसके सम्यग्दर्शन का सद्भाव है। अतएव इसको बाल पण्डित कहते हैं। यह बालपण्डितमरण गर्भज पर्याप्त तिर्यंच व मनुष्यों के होता है। देव तथा

नारकियों के नहीं होता क्योंकि उनके सम्यग्दर्शन तो होता है लेकिन देशसंयम नहीं होता। इसलिए उनके दर्शन पण्डित मरण हो सकता है।

(९) सशल्यमरण

शल्य दो प्रकार का है—१ द्रव्यशल्य और २ भावशल्य। मिथ्यादर्शन माया और निदान रूप भावों को भावशल्य कहते हैं और इन भावों की उत्पत्ति के कारण द्रव्यकर्म को द्रव्यशल्य कहते हैं। इस प्रकार शल्य के दो भेद होते हैं अतः सशल्य मरण के भी दो भेद हैं। द्रव्यशल्यसहित मरण और भावशल्यसहित मरण। पृथ्वी जल अग्नि वायु और वनस्पतिकाय इन पांच स्थावर जीवों के मरण को तथा द्वीन्द्रियादि असंज्ञी पर्यन्त त्रस जीवों के मरण को द्रव्यशल्यसहित मरण कहते हैं। संज्ञी पचेन्द्रिय जीव के ही भावशल्य सहित मरण होता है।

शंका—क्या असंज्ञी पर्यन्त (संज्ञी को छोडकर शेष) सब जीवों के भाव शल्य (माया मिथ्यात्व और निदान) नहीं होता है?

समाधान—माया मिथ्यात्व और निदान ये तीन सम्यक्त्व के अतीचार माने गये हैं। सम्यक्त्व संज्ञी के अतिरिक्त स्थावरादि असंज्ञीपर्यन्त जीवों के नहीं होता है। यह कथन व्यवहार सम्यग्दर्शन की अपेक्षा है।

छल-कपट करके सन्मार्ग को छिपाना व असन्मार्ग को सन्मार्ग प्रकट करने के लिए दंभ करना मायाशल्य है।

मोक्ष मार्ग को दूषण लगाना या उसका विनाश करना सन्मार्ग का निरूपण न कर उन्मार्ग (विपरीतमार्ग) की प्ररूपणा करना मोक्षमार्ग पर स्थित जीवों को सन्मार्ग से डिगाना यह सब मिथ्यादर्शन शल्य है।

आगामी काल में मुझे अमुक भोगादि सामग्री प्राप्त हो इस प्रकार मन में चिन्तन करने को निदानशल्य कहते हैं। यह निदान तीन प्रकार का है १ प्रशस्तनिदान २ अप्रशस्तनिदान और ३ भोगनिदान।

१ प्रशस्त निदान—पूर्ण संयम का पालन करने के लिए दूसरे जन्म में पुरुष आदि होने की वाञ्छा करना प्रशस्त निदान है।

२ अप्रशस्तनिदान—मान कषाय के वश होकर आगामी भव में उत्तम कुल सुन्दर रूपादि की आकांक्षा करना अप्रशस्त निदान है।

३ इस व्रत संयम व शील के पालन करने से मुझे इस भव में अमुक भोग सामग्री प्राप्त हो, इस प्रकार की अभिलाषा करने को भोग निदान कहते हैं।

असंयतसम्यग्दृष्टि के तथा संयतासंयत (अणुव्रती श्रावक) के निदानशल्य मरण होता है। पार्श्वस्थादि भ्रष्ट साधु चिरकाल विहार करके बिना आलोचन किये ही उसी अवस्था में जो मरण करता है उसके माया शल्य मरण होता है। यह मरण संयमी, अणुव्रती श्रावक तथा अविरतसम्यग्दृष्टि के भी होता है।

(१०) बलाय (पलाय) मरण

विनय वैयावृत्त्य तथा देववन्दनादि नित्य नैमित्तिक क्रिया करने में आलस्य (प्रमाद) करने वाला इनमें आदर भाव न रखने वाला व्रतों के आचरण करने मे प्रमादी समिति और गुप्ति के पालन करने में अपनी शक्ति को छिपाने वाला धर्म के स्वरूप का विचार करते समय निद्रा वश हो जाने वाला ध्यान नमस्कारादि कार्यों से दूर भगने वाले अर्थात् उसमें उपयोग न देने वाले का जो मरण है उसे बलाय पलाय) मरण कहते हैं। सम्यक्त्वपंडित ज्ञानपंडित और चारित्रपंडित के यह बलाय मरण भी संभव हो सकता है।

जो पहले स्वशल्य मरण और अवसन्न मरण कह आये हैं वे दोनों प्रकार के मरण करने वालों के नियम से बलाय मरण है। त । इनके अतिरिक्त जीवों का भी बलाय मरण होता है। क्योंकि जो जीव नि शल्य (शल्यरहित) है और संवेगभाव से युक्त है किन्तु संस्तर (शय्या) पर पड़े हुए अर्थात् मरणोन्मुख हुए उसके शुभ भावों का पलायन हो रहा है उसके शुभ भाव नहीं ठहरते हैं। अत सशल्य और अवसन्न मरण करन वालों से भिन्न जीवों के भी बलाय (पलाय) मरण होता है।

(११) वशार्त्त मरण (आर्त्तवश मरण)

आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान में प्रवृत्त हुए जीव के वशार्त्तमरण होता है। इसके चार भेद होते हैं—१ इन्द्रियवशार्त्त मरण २ वेदनावशार्त्त-मरण ३ कषाय-वशार्त्त-मरण ४ नोकषायवशार्त्त-मरण।

१ इन्द्रियवशार्त्त-मरण—स्पर्श रस गन्धादि पांच इन्द्रिय विषयों के भेद से इस मरण के भी पांच भेद हो जाते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय वशार्त्तमरण रसनेन्द्रिय-वशार्त्तमरण आदि।

तत वितत घन और सुषिर (मृदङ्ग वीणादि) वाद्य जनित मनोज्ञ शब्दों में राग और अमनोज्ञ (अप्रिय) शब्दों में द्वेषयुक्त होकर मरण करने को श्रोत्रेन्द्रिय वशार्त्तमरण कहते हैं। खाद्य स्वाद्य लेह्य व पेय ऐसे चार प्रकार के आहार में यदि वह इष्ट हो तो उसमें आसक्ति सहित और यदि वह अनिष्ट हो तो द्वेष सहित होकर मरण करने को रसनेन्द्रिय-वशार्त्तमरण कहते हैं। चन्दन पुष्पादि पदार्थों के

लुभाव गध में प्रेम और अरुचिकर असुहावने में द्वेष युक्त होकर मरण करने को घ्राणेन्द्रिय वशार्त्तमरण कहते हैं। तथा सुंदर रूप व आकार में रागभाव और असुन्दर रूप व आकार में द्वेषभाव युक्त होकर मरण करने को नेत्रेन्द्रिय वशार्त्तमरण और स्पर्शवाले पदार्थों के सुन्दर सुहावने स्पर्श में प्रीति और असुहावने स्पर्श में अप्रीति करने को स्पर्शनेन्द्रिय वशार्त्तमरण कहते हैं। इसी तरह मन के लिए भी समझना चाहिए। इन सबको इन्द्रियानिन्द्रियवशार्त्त मरण के नाम से कहते हैं।

वेदनावशार्त्त मरण—इस मरण के दो भेद हैं-सातवेदनावशार्त्त मरण और असातवेदनावशार्त्त मरण।

जो जीव शरीर और मन सम्बन्धी सुख में उपयोग सहित मरता है उसके सातवेदनावशार्त्त मरण होता है और जो शारीरिक तथा मानसिक दुःख में उपयोग रखते हुए मरता है उसके असातवशार्त्त मरण होता है।

३ कषायवशार्त्त मरण—कषाय के चार भेद हैं अतः कषाय की अपेक्षा इस मरण के भी चार भेद होते हैं। अपने ऊपर दूसरे पर अथवा स्व पर दोनों पर उत्पन्न हुए क्रोध से जो मरण करता है उसे क्रोध वशार्त्त मरण कहते हैं। मानवशार्त्त मरण के आठ भेद होते हैं कुल रूप बल शास्त्रज्ञान प्रभुत्व लाभ प्रज्ञा और तपस्या से अपने को उत्कृष्ट समझते हुए प्राणी का अभिमानवश जो मरण होता है उसे मानवशार्त्त मरण कहते हैं। उक्त आठ मदों से युक्त मरण को पृथक २ कहते हैं।

मैं जगत प्रसिद्ध विशाल व उच्चकुल में उत्पन्न हुआ हूँ ऐसे मानते हुए प्राणी का जो मरण होता है वह कुलमानवशार्त्त मरण है। मेरी पाचों इन्द्रियां सुन्दर हैं तथा सम्पूर्ण शरीर के अवयव सुडौल और मनोज्ञ हैं मैं तेजस्वी हूँ नवयुवक हूँ मेरा रूप सम्पूर्ण मनुष्यों के मन को मोहने वाला है इस प्रकार के भाव रखते हुए जीव का जो मरण होता है उसे रूपमानवशार्त्तमरण कहते हैं। मैं वृक्ष पर्वतादि का उखाड़ फेंकने में समर्थ हूँ मैं युद्ध शूर हूँ तथा मेरे पास मित्रों का बल है इस प्रकार बल का अभिमान करते हुए जीव का जो मरण होता है उसे बलमानवशार्त्त मरण कहते हैं। मेरा परिवार बहुत है मेरी आज्ञा को सब मानते हैं इस प्रकार अपनी प्रभुता (ऐश्वर्य) में उन्मत्त पुरुष का जो मरण होता है उसको प्रभुता (ऐश्वर्य) मानवशार्त्त मरण कहते हैं। मैं लौकिकशास्त्र व्यवहार वेद सिद्धान्तशास्त्रादि का ज्ञाता हूँ इस प्रकार शास्त्र ज्ञान के अभिमानी के मरण को शास्त्रज्ञानाभिमानवशार्त्त मरण कहते हैं। मेरी अतिनिर्मल व तीक्ष्ण बुद्धि सब शास्त्रों में प्रवेश करती है मेरे तर्कज्ञान के आगे दूसरे की तर्क बुद्धि नहीं चलती है-इत्यादि प्रकार से अपनी बुद्धि के अभिमानी के मरण को प्रज्ञामानवशार्त्त मरण कहते हैं। मैं जिस व्यापार में हाथ डालता हूँ उसमें मुझे लाभ ही लाभ होता है ऐसे लाभ सम्बन्धी मान का विचार करते हुए मनुष्य के मरण को लाभमानवशार्त्त मरण कहते हैं। मैं दुर्धर तपश्चर करने वाला हूँ तपस्या में मेरे समान अन्य कोई नहीं है इस प्रकार चिन्तन करते हुए जीव का जो मरण होता है वह तपमानवशार्त्त मरण कहलाता है।

माया के ~ हैं—१ निकृति ~पधि ३ सातिप्रयोग ४ प्रणिधि और ५ प्रतिकुंचन। १ धन की तथा अन्य किसी विषय की अभिलाषा करने वाले ~ ुष्य द्वारा जाल फंसाने को निकृति नाम की माया कहते हैं। २ अपने असली भाव को छिपाकर धर्म के बहाने से चोरी आदि दुष्कृत्य में प्रवृत्ति करने को उपाध नामक माया कहते हैं ३ धन के विषय में झूठा झगड़ा करना किसी की धरोहर रखी हो उसको कम देना या सब का सब हजम कर जाना किसी को झूठा दूषण लगाना या झूठी प्रशंसा के पुल बांधना ~ सातिप्रयोगमाया है। ४ कम मूल्य की सदृश वस्तु को बहुमूल्यवाली वस्तु में मिलाना हीनाधिक नाप व तोल के उपकरण रखना असली में नकली चीज की मिलावट करना अथवा असली कहकर नकली चोज देना यह प्रणिधि नाम की माया है। गुरु के सम्मुख आलोचना करते हुए दोषों को भले प्रकार प्रकट करन उनको छिपाना यह प्रतिकुंचन नाम की माया है।

लोभवशात्तमरण—~ ~ड्डी पुस्तक कमडलु आदि ~ उपकरणों में भोजन पान में क्षेत्र में शरीर में और निवासस्थान में इच्छा या मूर्छा (ममत्व) रखने वाले का जो मरण होता है उसको लोभवशात्त मरण कहते हैं।

नो कषायव ~त्त मरण—हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री वेद पुरुष वेद तथा नपुंसक वेद से आक्रांत मनुष्य का जो मरण होता है उस ना~षायवशात्त मरण कहते हैं

नोकषाय क वश आत्तमरण करनेवाला जीव मनुष्य और तिर्यच योनि में उत्पन्न होता है। असुरजाति के देवों में (कंदर्प और किल्विषिक नोचदेवों में) जन्म लेता है। मिथ्यादृष्टि के यही बालमरण होता है। ~शनपण्डित अविरतसम्यग्दृष्टि तथा संयतासंयत (अनुव्रती श्रावक) भी वशात्तमरण करते हैं उनका यह मरण बालपण्डितमरण या ~शनपण्डित मरण समझना चाहिए।

(१२) विप्पाणस (विप्राण) मरण

विप्पाणस (विप्राण) मरण और गृध्रपृष्ठमरण इन दोनों मरणों की शास्त्रों में न तो अनुज्ञा (अनुमति) मिलती है और न निषेध ही मिलता है।

जिस समय दुष्काल (दुर्भिक्ष) पड़ा हो जिसको पार करना कठिन है ऐसे भयानक बीहड़ जंगल में पहुंच गये हों पूर्वकाल के प्राणघातक शत्रु से भय उपस्थित हुआ हो दुष्ट राजा से भय प्राप्त हुआ हो या चोर का भय उपस्थित होगया हो अथवा सिंहादि प्राण सहारक तिर्यंचकृत उपसर्ग उपस्थित होगया हो और इनके द्वारा उत्पन्न हुए क्लेशों को सहन का सामर्थ्य न हो अथवा ब्रह्मचर्य व्रत के नाश अथवा अन्य चारित्र के घात के पुष्ट कारण प्राप्त हो गये हों ऐसे समय में संसार से संविग्न पाप से भयभीत संयमी कर्म के

तीव्र उदय को उपस्थित हुआ जान कर जब वह उससे बचने का उपाय नहीं देखता है और उन क्लेशादि को सहन करने की क्षमता अपने में नहीं पाता है पापमय कोई प्रतिक्रिया नहीं करना चाहता है तथा आत्मा के घातक मरण से डरता है तब वह उपर्युक्त कारणों के उपस्थित होने पर क्या मेरा कुशल होगा ? ऐसा विचार करता है–यदि मैं उपसर्ग भय से त्रास को प्राप्त होकर संयम से भ्रष्ट हो जाऊंगा तथा उपसर्ग वेदना को सहन न कर सकने से सम्यग्दर्शन से भी पतित हो जाऊंगा तो मेरा आराधन किया हुआ रत्नत्रय हाथ से निकल जावेगा। जब उसको चारित्र व सम्यग्दर्शन के विनाश की संभावना का दृढ निश्चय हो जाता है तब वह मायाचार रहित हुआ दर्शन व चारित्र में विशुद्धि धारण कर धैर्य का अवलम्बन करता है ज्ञान का आश्रय लेता है निदान रहित हुआ अर्हन्त भगवान् की साक्षी से अपने दोषों की आलोचना करके आत्मशुद्धि करता है शुभलेश्या से अपने श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है—उस मरण को विप्पणास (विप्राण) मरण कहते हैं।

(१३) गृध्रपृष्ठ मरण

ऊपर लिखे हुए कारणों के उपस्थित होने पर शस्त्र ग्रहण करके जो प्राणों का विसर्जन करता है उसे गृध्रपृष्ठमरण कहते हैं।

(१४) भक्तप्रत्याख्यान, (१५) इंगिनी और (१६) प्रायोपगमनमरण

भक्तप्रत्याख्यान मरण (१५) इंगिनीमरण और (१६) प्रायोपगमनमरण ये तीन उत्तम मरण हैं। ये महात्माओं के ही संभव है। इनका स्वरूप आगे कहेंगे।

केवलीमरण

केवलीमरण—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागादि भावकर्म का विनाश पूर्वक जो सदा के लिए औदारिकादिशरीरों के सम्बन्ध का त्यागकर अनन्तचतुष्टय की प्राप्तिकर नित्यनिरंजन अक्षय अनन्त शिव पद को प्राप्त करते हैं उन केवली भगवान के शरीर त्याग करने को केवली मरण कहते हैं।

इस प्रकार संक्षेप से सत्रह प्रकार के मरणों का विवेचन किया। उन सत्रह मरणों को भी संक्षिप्त करने से पांच मरण होते हैं। पांच मरणों के विशेष विवेचन करने की शास्त्रकार ने प्रतिज्ञा की थी अतः उनका निरूपण करते हैं।

पंडितपंडितादि पंच मरण का विशेष वर्णन

श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में उक्त पांच मरणों का वर्णन करते हुए लिखते हैं —

पडिदपडिदमरणं पडिदय बालपडिद चेव ।
बालमरण चउत्थ पचमय बालबाल च ॥ २६ ॥ (भग आ)

अथ—१ पडितपडितमरण २ पंडितमरण ३ बालपंडित मरण ४ बालमरण और ५ बालबालमरण ये पाच मरण हैं।

शंका—यहा पर आपने मरणों के पाच भेद ही कहे हैं। वे किस अपेक्षा से कहे गये हैं। यदि भव (मनुष्यादि) पर्याय के विनाश होने को मरण माना जाय तो पर्याये अनेक हैं तो मरण भी अनेक हुए।

यदि प्राणियों के प्राणों का जो वियोग होता है उसे मरण मानें तो भी मरण के पाच भेद सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि सामान्य रूप से प्राण वियोग की अपेक्षा से तो एक भेद ही होता है और विशेष की अपेक्षा लीजावे तो प्राण दश हैं उनके वियोग रूप मरण के भी दश भेद सिद्ध होते हैं।

यदि उदय में आये हुए कर्मों के खिरने को मरण कहा जावे तो कर्म प्रत्येक समय में खिरते हैं उनको पाच तरह के कैसे कहते हैं ?

सामाधान—गुण भेद की अपेक्षा से जीवों को भी पाच प्रकार के मानकर तत्सम्बन्धी मरण के भी पाच भेद कहे गये हैं।

उक्त पाच प्रकार के मरणों को कई आचार्यों ने यथाक्रम से प्रशस्ततम प्रशस्ततर ईषत्प्रशस्त अविशिष्ट और अविशिष्टतर इन नामों से भी कहा है।

* (१) पण्डितपडितमरण—जिनका ज्ञान दर्शन चारित्र और तप में अतिशय सहित पाण्डित्य है अर्थात् जो केवल ज्ञान के धारक हैं क्षायिक सम्यग्दृष्टि व यथाख्यात चारित्र और उत्कृष्ट तपश्चरण के आराधक हैं उन केवली भगवान् के शरीर त्याग करने को पण्डित पण्डितमरण कहते हैं।

( ) पण्डितमरण—जिनका ज्ञान चारित्रादि परम प्रकर्षता को प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे प्रमत्तसयतादि छठे गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थानवर्ती साधुओं का जो मरण होता है उसे पण्डितमरण कहा है।

---

* (१) पण्डित शब्द उत्तम तप, उत्तम सम्यक्त्व उत्तम ज्ञान और उत्तम चारित्र इन चार अर्थों में व्यवहृत होता है।

(३) बाल पण्डित—संयतासंयत (पंचम गुणस्थान वर्त्ती श्रावक) को बालपण्डित कहते हैं। रत्नत्रय में परिणत होने वाली पज्ञा (बुद्धि) जिसको प्राप्त होगई है उसे यहां पण्डित माना है। इसलिए श्रावक बालपण्डित कहा गया है। क्योंकि इसमें एक देश रत्नत्रय का आराधन करने और महाव्रत रूप सर्वदेश रत्नत्रय का पालन न करने के कारण बालपना और पण्डितपना दोनों धर्म पाये जाते हैं अतः यह बाल और पण्डित उभय रूप है। इस का मरण बालपण्डितमरण माना गया है।

(४) बालमरण—असंयत सम्यग्दृष्टि बालमरण करता है। क्योंकि उसके सम्यग्दर्शन और ज्ञान होने पर भी चारित्र नहीं पाया जाता है।

(५) बालबालमरण—मिथ्यादृष्टि को बालबाल कहते हैं। क्योंकि इसके सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-चारित्रादि कुछ भी नहीं होता है। इसलिए यह अतिशय बाल है। इसके मरण को बालबाल मरण कहते हैं।

इन पांच प्रकार के मरणों में से आदि के तीन मरण सद्गति देने वाले हैं अतः जिनेन्द्रदेव ने इनकी प्रशंसा की है। वही कहा है —

पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति॥ १ ॥ (भग० आ० टीका गाथा २६)

अर्थ—पंडितपंडितमरण, पण्डितमरण और बालपंडितमरण इन तीनों की जिनेन्द्रदेव नित्य प्रशंसा करते हैं।

पंडितपण्डितमरण के स्वामी केवली भगवान हैं।

अब पंडित मरण किसके होता है ? ऐसी उत्पन्न हुई शंका का समाधान करते हैं—

पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स॥ २६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—१ प्रायोपगमनमरण २ इंगिनीमरण और ३ भक्तप्रतिज्ञामरण ये तीन भेद पंडितमरण के हैं। ये तीनों आगमोक्त चारित्र का पालन करनेवाले मुनीश्वर के होते हैं।

(१) प्रायोपगमन मरण—जो साधु रोगादि से पीडित होने पर भी अपना वैयावृत्य दूसरे से नहीं करवाता है और न आप भी करता है जीवन पर्यन्त आहारादि का त्याग करके एक स्थान में सूखे काठ की तरह व मृतककाय समान स्थिर रहता है तथा मन-वचन-काय की क्रिया रहित हुआ परम विशुद्धि से पर्याय का त्याग करता है उसके प्रायोपगमन मरण होता है। यह मरण संसार का उच्छेद करने में समर्थ संस्थान और संहननवाले के होता है। इस मरण को प्रायोग्यगमन मरण तथा पादोपगमन मरण भी कहते हैं।

(२) इंगिनी मरण—निज अभिप्राय को इंगित कहते हैं। जो अपने अभिप्राय के अनुकूल अपना वैयावृत्य आप ही करते हैं, दूसरे से अपना वैयावृत्य नहीं करवाते हैं रोगादि अवस्था में भी उठने बैठने शयन करने आदि क्रियाओं में दूसरे की सहायता नहीं लेते हैं सम्पूर्ण आहारादि का त्याग कर एकाकी वन में शरीर का त्याग करते हैं, उनके मरण को इंगिनी मरण कहते हैं।

(३) भक्त प्रतिज्ञा (प्रत्याख्यान) मरण—जो साधु अपनी शुश्रूषा आप भी करते हैं और दूसरों से भी करवाते हैं, आगमोक्त चारित्र का पालन करते हुए अनुक्रम से आहार का त्याग करते हैं तथा कषाय को कृश करते हैं उनके भक्तप्रतिज्ञा अर्थात् भक्त-प्रत्याख्यान मरण होता है। बाल पंडित का वर्णन पहले कर ही चुके हैं। इस तरह प्रारम्भ के तीन मरण ही श्रेष्ठ हैं। बालमरण चारित्रहीन सम्यग्दृष्टि के होता है। यद्यपि यह उक्त तीन मरणों की अपेक्षा हीन है किन्तु इसके स्वामी के तत्त्वश्रद्धान होता है इसलिए यह बालबाल मरण की अपेक्षा श्रेष्ठ है। किन्तु संयम का सर्वथा अभाव होने से प्रशंसनीय नहीं कहा है। मिथ्यादृष्टि के मरण को बालबाल मरण कहा है। यह मरण संसार के सब एकेन्द्रिय से लेकर मिथ्यादृष्टि समस्त पंचेन्द्रियों का होता रहता है। इस जीवने अनन्त बार यह मरण किया है। आचार्य शिवकोटि कहते हैं—

सुविहियमिमं पवयणं असद्दहन्तेणिमेण जीवेण।
बालमरणाणि तीदे मदाणि काले अणंताणि ॥ ४२ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करने वाले पूर्वापर विरोध रहित तथा प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों से अबाधित जिनेन्द्रदेव कथित आगम का श्रद्धान न करके इस जीवने पहले अनन्त बार बालबालमरण किये हैं। पर पंडितमरण का एकबार भी सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ। यदि एक बार भी पंडितमरण हो जाता तो अधिक से अधिक सात आठ भव धारण करने के पश्चात् यह आत्मा इस जन्म मरण के दुःख से सदा के लिए छूट जाता। अतः ऐसा अवसर प्राप्त होने पर अपने आपको या दूसरों को यों समझाना चाहिए की हे आत्मन्! बड़ी कठिनता से महान पुण्य कर्म उदय से यह अनुपम स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ है। इसलिए परमागम की श्रद्धा में दृढ रहो और अपने चारित्र को निर्मल बनाओ। जिन अतिचारों का पूर्व वर्णन कर आये हैं उनमें से एक भी अतिचार अन्त समय में मत लगने दो। क्योंकि

मनुष्य जन्म का पाना और अनुकूल साधनों का योग पाकर सयम का आराधन करना उत्तम कार्यों में शिरोमणि है। इस संयम के लिए उत्कृष्ट सासारिक सुख क स्वामी सर्वार्थसिद्धि के देव भी तरसते हैं। वह सयमरत्न तुमने प्राप्त कर लिया है। क्या इसे साधारण पुण्य वाले पुरुष प्राप्त कर सकते हैं ? सुन्दर शरीर विपुल धन सम्पत्ति देवदुलभ ऐश्वय मनोनुकूल इष्टभोग–विलासत था आहारादि सामग्री तो तुमने इस अपार ससार में न जाने कितनी बार उपलब्ध करली हैं उससे क्या शान्ति मिली है ? मोहवश यह आत्मा आहार भोगादि से मिथ्या सुख शान्ति मान लेता है। सुख शान्ति प्राप्त करने का माग तो सम्यग्दशन ज्ञान व चारित्र हैं। इसलिए हे मुने ! मरण समय में इन सुख दाता सम्यक्त्वादि का त्याग मत करो। यदि तुमने इनका त्याग किया तो अनन्त काल पयन्त ससार में भ्रमण करना पडेगा। अतएव इस समय सम्यक्त्व की रक्षा करते हुए सयम का निरतिचार पालन कर आत्मा को इस ससार के रोमाचकारी दु खों से मुक्त करने के लिए पडितमरण स शरीर का त्याग करो।

पडितमरण का फल केवल ज्ञान प्राप्त करना है। यदि ससार की अवधि अभी कुछ शेष रही तो पडितमरण करनेवाला सयमी कल्पवासी देवों मे जन्म लेता है और वहा पर दिव्य स्वर्गीय सुख सामग्री का अनुभव कर निकट भविष्य में निर्वाण पद का अधिकारी होता है। इसलिए स समय काय और कषाय को कृश करना ही तुम्हारा परम कत्तव्य है।

ऊपर जो पाच प्रकार के मरण बताये हैं उनमें स पडितपडितमरण बालपडितमरण बालमरण और बालबालमरण को छोडकर केवल पडितमरण का यहा ग्रहण होता है क्योकि इस पचम काल के साधुओं के पडितपडितमरण नहीं होसकता है। केवली भगवान् औदारिक शरीर का त्यागकर निर्वाण के लिए गमन करते हैं उनके यह मरण माना गया है और शेष तीन सयमहीन मनुष्यों के होते हैं। अत वर्त्तमान सयमियों के एक पडित मरण ही उपादेय माना गया है। इसलिए उसीका निरूपण यहा करना है।

पडित मरण के तीन भेद

इसके तीन भेद पहले बतलाये गये हैं। उनमे से प्रायोपगमन मरण और इगिनीमरण का विवेचन आगे करेंगे। यहा पर केवल भक्त प्रतिज्ञा (भक्तप्रत्याख्यान) मरण का निरूपण करना है। क्योंकि प्राय मुनि इसीका आश्रय लेते हैं। यही कहा है

पुव्व ता वण्णेसिं भत्तपइण्णा हमत्थमरणेसु ।
उस्सण्णा सा चेव हु सेमाण वण्णणा पच्छा । ६४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—पडितमरण क प्रायोपगमन इगिनी व भक्तप्रत्याख्यान ये तीन भेद हैं। उनमें से प्रथम भक्तप्रत्याख्यान मरण का वणन

करने हैं क्योंकि साधुओं के बहुलता से यहां मरण पाया जाता है। इसके पश्चात शेष दो मरणों का वर्णन करेंगे। भक्तप्रत्याख्यान का स्वरूप संक्षेप से पहले वर्णन कर आये हैं। अब उसका विशेष विवेचन करने के लिए उसके भेद दिखाते हैं।

भक्त प्रत्याख्यान नामक पंडित मरण के भेद और उनका स्वरूप

दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं ।
सविचारमणागाढे मरणे सपरक्कमस्स हवे ॥ ६५ ॥ (भग० आ०)

अर्थ— भक्तप्रत्याख्यान मरण के दो भेद हैं-(१) सविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण और (२) अविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण।

(१) सविचारभक्तप्रत्याख्यान—जो साधु उत्साह बल से युक्त है तथा जिसका मृत्यु काल सहसा (अकस्मात) उपस्थित नहीं हुआ है जो विधिपूर्वक अन्य संघ में जाने की इच्छा रखता है उसके मरण को सविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

(२) अविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण—जो सामर्थ्य से हीन है और जिसका मृत्यु समय अचानक उपस्थित होगया है उस पराक्रम रहित साधु के मरण को अविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

सविचार भक्त प्रत्याख्यान के ४० प्रकरणों के नाम व स्वरूप

उक्त दो भेदों में से प्रथम भेद सविचार भक्तप्रत्याख्यानमरण का विवेचन निम्नोक्त चालीस अधिकारों से किया गया है। इनके नाम ये हैं।

(१) अर्ह (२) लिंग (३) शिक्षा (४) विनय (५) समाधि (६) अनियतविहार (७) परिणाम (८) उपधित्याग (९) श्रिति (१०) भावना (११) सल्लेखना (१२) दिशा (१३) क्षामणा, (१४) अनुशिष्टि (१५) परगणचर्या (१६) मार्गणा (१७) सुस्थित (१८) उपसम्पदा (१९) परीक्षा (२०) प्रतिलेख (२१) आपृच्छा (२२) प्रतीच्छन (२३) आलोचना (२४) गुणदोष (२५) शय्या (२६) संस्तर (२७) नियापक (२८) प्रकाशन (२९) हानि (३०) प्रत्याख्यान (३१) क्षामण, (३२) क्षमण (३३) अनुशिष्टि (३४) सारणा (३५) कवच (३६) समता (३७) ध्यान, (३८) लेश्या, (३९) फल और ४० शरीरत्याग। इनका प्रथम सामान्य अर्थ लिखते हैं।

(१) अर्ह—अमुक पुरुष भक्तप्रत्याख्यान के योग्य और अमुक योग्य नहीं है। इस प्रकार पुरुष की योग्यता के वर्णन करने अधिकार को अर्हाधिकार कहते हैं।

( ) लिंगाधिकार—शिक्षा विनय समाधि आदि क्रियाएँ भक्तप्रत्याख्यान की सामग्री हैं उसका साधन लिंग है। अमुक लिंग (चिह्न) का धारण करने वाला भक्तप्रत्याख्यान कर सकता है और अमुक का नहीं सका वर्णन करनेवाला लिंगाधिकार है।

(३) शिक्षा—बिना ज्ञान के विनयादि का पालन नहीं होता है इसलिए ज्ञानोपार्जन (श्रुताभ्यास) करना आवश्यक है। सका ा वेचन करने वाला शिक्षा अधिकार है।

(४) विनय—ज्ञानादि की वासना विनय से प्राप्त होती है इसका वर्णन इस अधिकार मे किया गया है।

(५) समाधि— मन को एकाग्र करने को समाधि कहते हैं। अशुभोपयोग से हटाकर मन को शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोग में लगाना समाधि है। इसका वर्णन इस अधिकार मे किया गया है।

(६) अनियत विहार—पूर्व में नियत नहीं किये गये ऐसे अनेक नगर ग्रामादि में विहार का वर्णन करने वाला यह अधिकार है।

(७) परिणाम—साधु के कर्त्तव्य कर्मों का वर्णन करनेवाले अधिकार को परिणाम (कर्त्तव्य विचार) अधिकार कहते हैं।

(८) उपधित्याग—परिग्रह के त्याग का वर्णन करने वाला यह उपधित्याग अधिकार है।

(९) श्रिति—शुभपरिणामो की उत्तरोत्तर वृद्धि करना इसका निरूपक श्रिति अधिकार है।

(१) भावना—उत्तरोत्तर भावना को रूप लगाने का अभ्यास करने का विवेचक भावनाधिकार है।

(११) सल्लेखना—शरीर और कषायों को कृश करना सल्लेखना है इसका वर्णन इस अधिकार में किया गया है।

(१) दिशा—दिशा नाम एलाचार्य का है। सघ के नायक आचार्य ने यावज्जीव आचार्य पद का त्याग करके उस पद पर अपने समान गुणवाले जिस शिष्य को स्थापित किया है उसे एलाचार्य कहते हैं। उसके स्वरूप व उपदेश का वर्णन करने वाले अधिकार को दिशा अधिकार कहते हैं।

(१३) क्षमणा—परस्पर क्षमा याचना का वर्णन करने वाला क्षमापणा अधिकार है।

(१४) अनुशिष्टि—आचाय सघस्थित मुनियों के प्रति तथा आचाय पद पर स्थापित अपने शिष्य के प्रति दिये हुए उपदेश का वर्णन करन वाला अनुशिष्टि अधिकार है।

(१५) परगणचर्या—अपने सघ को छोड़कर अन्य सघ में गमन का वर्णन करनेवाला परगणचर्या अधिकार है।

(१६) मार्गणा—रत्नत्रय की शुद्धि त था समाधिमरण करवाने में समथ आचाय का अन्वेषण (तलाश) करने का वर्णन इस अधिकार म किया गया है।

(१७) सुस्थित – परोपकार करन म तथा आत्म-प्रयोजन (आचार्यपद के योग्य काय) साधन करने में प्रवीण आचाय का वर्णन समें किया गया है

(१८) उपसम्पदा—आचाय के पादमूल मे गमन करने का वर्णन उपसम्पदा अधिकार में है।

(१९) परीक्षा—वैयावृत्त्य करनवाले मुनि की आहारादि सम्बधी लालसा को तथा उसके उत्साह की परीक्षा करने का वर्णन इसम किया गया है।

(२) प्रतिलख—आराधना को निर्विघ्न साधना करन क लिए उसके अनुकूल राज्य देश नगर ग्रामादि का तथा उनके अधिकारी आदि के शोधन का निरूपण करनवाला यह अधिकार है।

(२१) आपृच्छा—यह साधु हमार सघ म ग्रहण करन योग्य है या नहीं है ? इस प्रकार संघ से प्रश्न करने का वर्णन इसमें किया गया है।

(२२) प्रतीच्छन— प्रतिचारक मुनियो की सम्मति लेकर आराधना करने के लिए आये हुए मुनि का ग्रहण करने का वर्णन समें होता है।

(२३) आलोचना—गुरू के निकट अपने दोषोंका निवेदन करने का विवेचन इसमें है।

(२४) गुणदोष—आलोचना के गुण व दोषों की निरूपण करने वाले अधिकार को गुणदोषअधिकार कहा है।

(२५) शय्या—आराधक क योग्य वसतिका का निरूपण करनेवाला यह शय्या नाम का अधिकार है।

(२६) संस्तर—मुनि के योग्य संस्तर का वर्णन इसमें किया गया है।

(२७) निर्यापक—आराधक के समाधिमरण में सहायता करनेवाले आचार्यादि को निर्यापक कहते हैं। इसका वर्णन इस अधिकार मे किया गया है।

(२८) प्रकाशन—चरम (अन्तिम) आहार को दिखाना इसका वर्णन करनेवाला यह प्रकाशन अधिकार है

(२६) हानि—क्रम से आहार का त्याग करने का विधान करने वाला हानि नाम का अधिकार है।

(३) प्रत्याख्यान—जलादि पेय पदार्थों के अतिरिक्त तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने का वर्णन करने वाला प्रत्याख्यान अधिकार है।

(३१) क्षामण—आचार्यादि निर्यापकों से आराधक की क्षमायाचना का वर्णन इसमें किया गया है।

(३२) क्षमण—अन्य सब साधु आदि के अपराधों को क्षमा करने का वर्णन करनेवाला क्षमणाधिकार है।

(३३) अनुशिष्टि—सस्तर में स्थित साधु के प्रति निर्यापकाचार्य को शिक्षा देने का निरूपण इस अधिकार में किया गया है। न १४ पर भी अनुशिष्टि नामक भेद ऊपर लिख आये हैं। भगवती आराधना में भी दोनों स्थानों पर यही नाम आया है। नं० १४ पर लिखा है—अणुसिट्टि—सूत्रानुसारेण शासनम्। और यहा न ३३ पर है-अणुसट्टी-अनुशासन शिक्षणं निर्यापकस्याचार्यस्य।

(३४) सारणा—दु ख की वेदना से मोह को प्राप्त हुए अथवा अचेत हुए साधु को सचेत करने का निरूपण सारणाधिकार में किया है।

(३५) कवच—जैसे सैंकड़ों बाणों का निवारण कवच (बख्तर) से होता है वैसे ही निर्यापकाचार्य के धर्मोपदेश से सस्तर स्थित साधु के प्राप्त दु ख का निवारण होता है इसका विवेचन करनेवाला यह कवचाधिकार है।

(३६) समता—जीवन मरण लाभ अलाभ सयोग वियोग सुख दु खादि में राग द्वेष न करना समताधिकार में वर्णित है।

(३७) ध्यान—एकाग्रचित्त का निरोध करना ध्यान है। इसमें ध्यान का वर्णन है।

(३८) लेश्या—कषाय से मिश्रित योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। लेश्याधिकार में लेश्या का स्वरूप प्रतिपादन किया है।

(३६) फल—आराधना से सिद्ध होने वाले कार्य को फल कहते हैं। इसमें आराधनाजनित प्रयोजन का वर्णन किया गया है।

(४) देहत्याग—आराधक के शरीर का त्याग इसमें वर्णित है।

इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यान मरण में चालीस अधिकार हैं उनके सामान्य स्वरूप का वर्णन किया गया है। अब उनका विशेष वर्णन करते है।

अर्हाधिकार

कैसा साधु आराधना करने योग्य है यह दिखलाते हैं —

वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य सामण्णजोगहाणिकरी ।
उवसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छिया जस्स ॥ ७१ ॥
आणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स ।
दुब्भिक्खे वा गाढे अडवीए विप्पणट्ठो वा ॥ ७२ ॥
चक्खु व दुब्बल जस्स होज्ज सोद व दुब्बल जस्स ।
जघाबलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदु वा ॥ ७३ ॥
अण्णम्मि चावि एदारिसम्मि आगाढकारणे जादे ।
अरिहो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदो वा ॥ ७४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—संयम का विनाश करनेवाला दु साध्य रोग जिसके शरीर में उत्पन्न होगया हो ऐसा साधु या गृहस्थ भक्त प्रत्याख्यान करने योग्य है। अर्थात् जिस संयमी या अणुव्रती श्रावक के शरीर में ऐसी व्याधि उत्पन्न हो जाये जिसको मिटाने के लिए उसे संयम का त्याग करना पड़े और जिस व्याधि की शान्ति दुष्कर प्रतीत हो ऐसी व्याधि से पीड़ित संयमी या देश संयमी या अव्रतसम्यग्दृष्टि को भक्त प्रत्याख्यान के योग्य माना है। जीवों के रूप शरीरादि बल अवस्था आदि का नाश करनेवाली वृद्धावस्था इतनी बढ़ जावे कि मुनि तप आदि क्रिया मे असमर्थ हो जावे। तब वह भक्तप्रत्याख्यान के योग्य माना गया है। क्योंकि वृद्धावस्था में शरीर बल घट जाता है तब साधक कायक्लेशादि तपश्चरण में प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। जो अत्यन्त वृद्धावस्था से युक्त हो जाता है उसका ध्यान स्थिर नहीं रहता है। अर्थात् उसका यथार्थ वस्तु ज्ञान निश्चल नहीं होता है। इसलिए ध्यान योग का विनाश करनेवाली वृद्धावस्था जिसको प्राप्त हो जाती है वह भक्त प्रत्याख्यान मरण के योग्य मानागया है। जब देवकृत मनुष्यकृत तिर्यंचकृत अथवा अचेतनकृत ऐसा भयानक उपद्रव उपस्थित हो जावे जिस को

निवारण करना अशक्य हो और उस उपद्रव से उत्पन्न हुई पीड़ा का प्रतीकार असमव प्रतीत हो, तब मुनि भक्त प्रत्याख्यान को अंगीकार करते हैं।

जब अनुकूल बन्धुगण स्नेहवश या अपने भरणपोषण के लोभ से प्रेरित हुए सयमी के सयम धन का विनाश करने मे तत्पर हों अथवा जब देव मनुष्य व तिर्यंचों में से कोई उसके सयम को छुडाने के लिए उद्यत हो तब वह सयमी भक्तप्रत्याख्यान के लिए योग्य कहा गया है।

उल्कापात के समान समस्त देशनिवासियों को अनुभव होनेवाले महा भयानक दुर्भिक्ष पडने पर साधक भक्तप्रत्याख्यान करते हैं। क्योंकि दुष्काल में निर्दोष आहार का मिलना असभव हो जाता है। उसमें चारित्र का नाश होना सभव है। अत अपने चारित्र की रक्षा के लिए साधक भक्तप्रत्याख्यान कर सल्लेखना करते हैं।

जब मुनि मार्गभ्रष्ट हो कर ऐसे महाभयानक बीहड वन में पहुच जाते हैं जिसमे क्रूर हिंसक जन्तु भर पडे रहते हैं तथा जिस से उद्धार पाने का कोई भी साधन नहीं देखते हैं तब वे दिग्मूढ हुए अपने जीवन को विनाशोन्मुख पाते हैं उस समय वे भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य होते हैं।

जब साधक के नेत्र सूक्ष्म जन्तुओं के अवलोकन करने का बल खो देते हैं एव कानों में शब्द ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं रहता है अथवा पावों में विहार करने की (जाने आने की) शक्ति नष्ट हो जाती है तब वह भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य होते हैं।

इसी प्रकार के अन्य प्रतिकार रहित स्थिती के उपस्थित होने पर मुनि अथवा गृहस्थ भक्तप्रत्याख्यान के योग्य माने जाते हैं। अर्थात् उनके सयम या देशसयम के रक्षण का उपाय जब कोई दिखाई नहीं देता है सब तरह से हताश हो जाते हैं तब अन्ततो गत्वा इस भक्त प्रत्याख्यान का आश्रय लेते हैं।

भक्तप्रत्याख्यान के लिए योग्य कौन हो सकता है ? इस प्रश्न का समाधान कर अब भक्तप्रत्याख्यान के लिए कौन अयोग्य है ? इस प्रश्न का समाधान करते हैं।

उस्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णमणिदचारं वा।
णिज्जावया य सुलहा दुब्भिक्खभयं च जदि णत्थि ॥ ७५ ॥
तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो।
सो मरणं पच्छितो होदि हु सामण्णणिव्विण्णो ॥ ७६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जिसके सुख पूर्वक (निबाध) चारित्र का पालन हो रहा है तथा व्रतादि में भी अतिचार लगने की कोई संभावना नहीं वह भक्तप्रत्याख्यान के लिए अयोग्य माना गया है। समाधिमरण सहायक नियापक आचार्य जब सुलभ हो और दुर्भिक्षादि का भय भी उपस्थित न हो ऐसे समय में साधु को भक्तप्रत्याख्यान कर समाधिमरण नहीं करना चाहिए।

इसका आशय यह है कि संयम के विराधी रूप की गाथा में निर्दिष्ट दुर्भिक्षादि कारणों में से कोई भी कारण उपस्थित न हुआ हो तो साधु भक्तप्रत्याख्यान के अयोग्य माना गया है।

जिसका चारित्र निर्विघ्न पल रहा है तथा नियापकाचार्य जिसे सुलभ हैं जिसको दुर्भिक्षादि का भय भी उपस्थित नहीं है यदि वह साधु मरण की अभिलाषा करता है तो समझना चाहिए कि वह संयम से उदासीन होगया है उसको चारित्र से अरुचि उत्पन्न होगई है अन्यथा वह बिना आपत्तिजनक कारणों के प्राप्त हुए मरने के लिए क्यों प्रयत्न करता है ?

यदि कोई साधु यह विचारे कि इस समय मुझे समाधिमरण करवानेवाले नियापक आचार्य सुलभ हैं और आगे दुर्भिक्षादि के भय की पूर्ण संभावना है उस समय निर्यापकादि समाधिमरण के सहायक साधु मुझे न मिलेंगे यदि मैं इस समय समाधि मरण न करूंगा तो मेरा संयम रत्न लुट जावेगा और भविष्य में पण्डितसमाधिमरण न कर सकूंगा-ऐसा जिसको भय हो वह मुनि भक्तप्रत्याख्यान के योग्य है ऐसा समझना चाहिए।

इस भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण को अव्रतसम्यग्दृष्टि अनुव्रती श्रावक व मुनि तीनों कर सकते हैं।

भावार्थ—हे आत्मन् ? तुमने अनन्तवार जन्ममरण किये हैं। जो जन्म धारण करता है वह मृत्यु की ओर गमन करता है। जन्म और मरण का अविनाभाव सम्बन्ध है। तुमको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे जन्म-मृत्यु के जाल से बच जाओ। वह प्रयत्न समाधि मरण है। आयु का क्षय होने पर समस्त प्राणियों का मरण निश्चित है। किन्तु सम्यग्ज्ञानी के मरण में और अज्ञानी के मरण में इतना ही अन्तर है कि सम्यग्ज्ञानी मरण करता हुआ मरण सन्तान का उच्छेद करता है और अज्ञानी मरण सन्तान की वृद्धि करता है। क्योंकि काय से मोह और कषाय की तीव्रता के कारण जन्म मरण रूप संसार की वृद्धि होती है और कायसे निर्मोहिता धारण करने से और कषाय के अभाव में उक्त संसार का क्षय होता है। काय से ममत्व का अभाव तथा कषाय कृश करने का नाम ही समाधि है। इस समाधि को प्राप्त करने के लिए भक्तप्रत्याख्यान करना आवश्यक है।

अब यहां पर यह दिखाते हैं कि भक्तप्रत्याख्यान (आहार त्याग) करने वाले के कौनसा लिंग (भेष) होना चाहिये ?

उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव।
अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥ ७७ ॥ (भग आ०)

अर्थ—जिसके उत्कृष्ट लिंग (दिगम्बर भेष) है अर्थात् जिसने दिगम्बर मुनि-दीक्षा धारण की है उसके तो भक्त-प्रत्याख्यान के समय भी दिगम्बर भेष रहता है किन्तु जिसने क्षुल्लकादि गृहस्थ भेष धारण कर रखा है वह भी अन्तिम समय में नग्न भेष धारण कर सकता है।

भावार्थ—समाधिमरण के अवसर में भक्तप्रत्याख्यान (आहार के त्याग) कर समाधि युक्त मरण का इच्छुक जब संस्तर में स्थित होता है तब मुनि तो उस समय भी पूर्व की भांति नग्न लिंग ही रखता है परन्तु जिसने पूर्व में मुनि अवस्था नहीं धारण की है किन्तु गृहस्थ अवस्था को ही धारण किये हुये है—ऐसे क्षुल्लक ऐलक व इसके नीचे की अवस्था के जो धारक हैं वे जब भक्तप्रत्याख्यान करते हैं तब नग्नभेष धारण कर लेते हैं।

प्रश्न—क्या प्रत्येक पुरुष भक्तप्रत्याख्यान के समय नग्नभेष धारण कर सकता है ?

उत्तर—नहीं प्रत्येक पुरुष नग्नभेष धारण करने के योग्य नहीं होता है। जिसमें नग्नता की योग्यता है वही पुरुष इस भेष को धारण कर सकता है। जो संसार भोगों से विरक्त होगया है और अपने मनुष्य भव को संयम पालन करते हुए सफल बनाना चाहता है वही परम विरक्त मन्दकषायी नग्नता के योग्य कहागया है।

प्रश्न—जो संसार से उदासीन है जिसकी भावना वैराग्यपूर्ण है जो संसार के दुःखों से उद्विग्न है—वह मन्दकषायी तो चाहे कभी भी दिगम्बर भेष को क्या धारण कर सकता है ?

उत्तर—हां जो उक्त गुणों से भूषित है वह पुरुष नग्नभेष धारण कर सकता है। परन्तु उसके पुरुष चिह्न में निम्नोक्त दोष न हो तभी वह नग्न भेष का अधिकारी माना गया है। जिसके पुरुषचिह्न का अग्रभाग चर्म रहित (उघाडा) न हो पुरुषचिह्न अतिदीर्घ (लम्बा) न हो। बार बार चैतन्य न होता हो ऊपर उठता न हो तथा अण्डकोश बड़े न हो। वही दिगम्बर भेष को धारण कर सकता है। जिसमें इन दोषों में से एक भी दोष हो वह मुनिभेष धारण नहीं कर सकता है फिर भी वह समाधि मरण के समय भक्तप्रत्याख्यान कर जब संस्तर में स्थित होता है तब नग्नता जरूर धारण कर सकता है अन्य समय में नग्नता धारण करने का आगम में सर्वथा निषेध है। आगम से विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले को मिथ्यादृष्टि कहा है—

सुत्तादो त सम्म दरसिज्जत जग्ग स सद्दहदि ।
सो चेव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदापहुदि ॥ ३३ ॥ (भग०)

अर्थ — किसी मनुष्य ने अज्ञान से अथवा किसी के उपदेश से उल्टा श्रद्धान कर लिया हो और जब कोई आगम प्रमाण देकर उस सम्यक् प्रकार वस्तु-स्वरूप दिखावे और वह उसकी अवहेलना कर सत्य-तत्त्व का श्रद्धान न करे अपनी अवस्तुतत्त्व की श्रद्धा को न छोड़े और पूर्व की भांति मिथ्या-प्रवृत्ति ही करता रहे तो वह मनुष्य मिथ्यादृष्टि माना जाता है । इसलिए प्रत्येक को उक्त प्रमाण भूत आगम की आज्ञा का पालन करना चाहिए । जो आगम के विपरीत अपनी मन कल्पित प्ररूपणा करता है आगम से अमान्य मुनिभेष को धारण करता है उसके सम्पर्क मे भी रहना उचित नहीं है मिथ्यादृष्टि के सम्पर्क में रहने वाला उसकी प्रशंसा करने वाला उसकी कुप्रवृत्ति में सहायता देनेवाला भी मिथ्यादृष्टि होता है ।

प्रश्न — भक्तप्रत्याख्यान के समय जब गृहस्थ भी दिगम्बर भेष धारण कर सकता है तो फिर आर्यिका के लिए क्या विधान है ? क्या वह सवस्त्र ही समाधिमरण करती है ? या वह भी सब परिग्रह का त्यागकर दिगम्बर मुद्रा धारण कर सकती है ?

उत्तर — आर्यिका समस्त परिग्रह का त्यागकर एक साड़ी मात्र परिग्रह रखती है । उसमें उसको ममत्व नहीं होता अतः उसके उपचार से महाव्रत माना गया है । क्योंकि आगम में उसके लिए साड़ी धारण करने की आज्ञा है । किन्तु जब उसका मृत्युकाल आगया हो और वह भक्तप्रत्याख्यान करके संस्तर मे स्थित हो तो योग्य स्थान में उस समय सब अनुकूलता होने पर वस्त्र का भी त्याग कर देती है । वह वसतिका के अन्दर ही रहती है और अपना समाधिमरण (पंडितमरण) करती है ।

अन्य क्षुल्लिकादि श्राविकाएं भी मृत्यु समय योग्य स्थान के सब अनुकूल साधना के होने पर घर के भीतर दिगम्बर भेष धारण कर सकती हैं । इनके लिए दोनों मार्ग हैं । जो श्राविका महान ऐश्वर्यवाली तथा लज्जावती है और जिसके कुटुम्बीजन मिथ्यादृष्टि हैं उसके लिए दिगम्बर भेष में समाधिमरण करने का निषेध है । यथा—

इत्थीवि य ज लिंग दिट्ठ उस्सग्गियं व इदरं वा ।
त तह होदि हु लिंग परित्तमुवधि करेंतीए ॥ ८१ ॥ (भग०)

अर्थ—स्त्री के भी समाधिमरण के समय उत्सर्ग लिंग (मुनिसमानभेष) तथा सवस्त्र लिंग दोनों ही आगम में वर्णन किये गये

हैं। आर्यिका मृत्युकाल उपस्थित होने पर योग्यस्थान में वसतिका के अन्दर रहकर मुनिवत् दिगम्बर भेष धारण करती हैं और श्राविकाएं अपने परिग्रह को अल्प करती हुई अन्त समय में योग्यस्थान मिलने पर घर में ही नग्नता धारण कर सन्यास मरण कर सकती हैं। तथा अनुकूलस्थानादि न मिलने पर अन्य सब परिग्रह का त्यागकर वस्त्रमात्र धारण किये हुए उसमें ममत्व का त्याग कर भक्तप्रत्याख्यान पूर्वक पंडित मरण करती हैं।

प्रश्न—जिनागम में उत्सर्गलिंग और अपवादलिंग ये दो लिंग माने हैं। दिगम्बर मुद्रा धारण करना उत्सर्गलिंग है तथा सवस्त्र आर्यिकादि के भेष को अपवादलिंग कहते हैं। क्या भयानक वन में या उपसर्ग ... र या दुर्भिक्षादि के उपस्थित होने पर मुनि वस्त्र धारण कर सकते हैं?

उत्तर—मुनि के उत्सर्ग लिंग ही माना गया है और वह दिगम्बर मुद्रा धारण करने पर ही हो सकता है। जो अपवादलिंग है वह मुनि के लिए नहीं है। आर्यिका तथा क्षुल्लकादि श्रावक के भेष को अपवाद लिंग कहते हैं। मुनित्व का अपवाद (निन्दा) करनेवाले लिंग को अपवाद लिंग कहते हैं। मुनि किसी भी परिस्थिति में वस्त्र धारण नहीं कर सकते। जो वस्त्र धारण कर लेते हैं वह मुनिपद में नहीं माना गया है। क्योंकि साधु के २८ मूलगुण माने गये हैं। उसमें नग्नता मुख्य गुण है। नग्न ... अन्य सब महाव्रतादि गुण व्यर्थ माने हैं। मुनि के उत्सर्गलिंग ही होता है और उसकी चार विशेषताये हैं उनमें नग्नता को प्रथम स्थान दिया गया है। यथा —

> अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
> एसो हु लिंग कप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥ ८ ॥ (भग)

अर्थ—मुनित्व का उद्योतक जो चिह्न है उसे उत्सर्ग लिंग कहते हैं। उसके चार प्रकार हैं—१ अचेलता (वस्त्र का अभाव-नग्नता) २ केश लोच ३ शरीर के सस्कार का त्याग और ४ प्रतिलेखन।

भावार्थ—जो मुनित्व को प्रकट करनेवाली उक्त चार बातें हैं जिनको देखकर व्यवहार में मुनि को पहचाना जाता है उनमें सबसे प्रधान नग्नता है। जिस व्यक्ति में नग्नता नहीं है और शेष तीन बातें विद्यमान हैं तो वह साधु नहीं माना गया है। इसलिए साधुपद के लिए नग्नता अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना आत्म-शुद्धि नहीं होती और वह शिवमार्ग (रत्नत्रय) का पूर्णरूप से आराधक नहीं समझा जाता। नग्नत्व में महान् गुण निहित हैं। उनका वर्णन मूलगुणों के निरूपण में कर आये हैं। जिसके पास कोपीन (लगोटी) मात्र परिग्रह

है और इसके अतिरिक्त जिसने सब परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर दिया है उसकी भी आत्म-शुद्धि तब ही होती है जब कि वह उस मोह के कारणभूत कोपीन को भी त्याग देता है। यथा —

अववादियलिंगकदो विसयासत्तिं अगूहमाणो य।
णिंदणगरहणजुत्तो सुज्झदि उवधिं परिहरंतो ॥८७॥ (भग०)

अर्थ—कोपीन (लगोटी) आदि वस्त्र का धारण करनेवाले ऐलक आदि अपनी शक्ति को न छिपाकर अन्य सब परिग्रह का त्याग कर देते हैं और वे सोचते हैं कि समस्त परिग्रह का त्याग करना ही मोक्ष का मार्ग है। इसके त्याग बिना पूर्ण आत्म-शुद्धि नहीं होती है। परन्तु क्या करें? हमारी आत्मा में इतना बल उत्पन्न नहीं हुआ है कि सब परिग्रह का त्याग कर यथाजात रूप धारण करलें। इस प्रकार मन में पश्चात्ताप करते हुए अपनी निंदा करते हैं और गुरुजनों के निकट अपनी अशक्ति प्रकट करते हैं। आत्मगर्हा व निन्दा करने वाले वे मुमुक्षु अपने कर्मों की निर्जरा करते हुए क्रमसे सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर आत्मशुद्धि करलेते हैं।

प्रश्न—जो अव्रतसम्यग्दृष्टि और अणुव्रती श्रावक भक्तप्रत्याख्यान विधि से समाधि मरण करना चाहता है क्या उसको नग्ना वस्था धारण करना आवश्यक है?

उत्तर—हाँ जिसका मृत्युसमय निकट आगया हो अपनी आत्मा के उद्धार के लिए जो पंडितमरण करना चाहता हो तो उसको संसार के सब पदार्थों का त्याग कर एवं विधिपूर्वक भक्तप्रत्याख्यान (आहार-त्याग) कर अन्त समय में वस्त्र-त्यागपूर्वक दिगम्बर मुद्रा धारण करना चाहिए। किन्तु यदि वह अत्यन्त लज्जाशील हो या परम वैभवशाली हो या जिसके कुटुम्ब परिवार में मिथ्यादृष्टियों का प्राबल्य हो तो उस नग्नता धारण न करना चाहिए। उसको कम से कम वस्त्र धारण कर उसमें भी ममत्व का त्याग कर शान्ति से धर्म्यध्यान पूर्वक देह का त्याग करना चाहिए। आचार्यों ने उस मरण को भी पंडित मरण माना है।

स्वाध्याय के सातगुण

पण्डितमरण के अभिलाषी मनुष्य को शास्त्र का निरंतर स्वाध्याय करना चाहिए। क्योंकि जिनागम का स्वाध्याय करने वाले के आत्महित व परहित करने की बुद्धि आदि सात गुण प्रकट होते हैं। वे आत्महितादि गुण ये हैं —

आदहिदपइण्णा भावसंवरो णवणवो न संवेगो ।
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्त च ॥१००॥(अग०)

अर्थ—१ जिनागम का अभ्यास करने वाले के आत्महित का ज्ञान होता है। २ पापकर्मों का संवर होता है। ३ नवीन नवीन संवेगभाव उत्पन्न होता है। ४ मोक्ष मार्ग में स्थिरता आती है। ५ तपस्या की वृद्धि होती है। ६ गुप्तिपालन में तत्परता आती है। और ७ इतर भव्यजीवों को उपदेश करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। ये सात गुण जिनागम के स्वाध्याय करने वाले की आत्मा में प्रकट होते हैं। इन सातों का संक्षेप स्वरूप यह है —

१ आत्महितज्ञान—संसार के सब अज्ञ प्राणी इन्द्रियजन्य विषय सुख को ही अपना उद्देश्य समझते हैं। वे यह नहीं समझते कि इन्द्रिय सुख सुखाभास है। यदि वह वास्तव में सुख होता तो इसके सेवन करने से आत्मा को अशान्ति और ग्लानि का अनुभव क्यों होता ? सुख तो उसे कहते हैं जिसका अनुभव करने से आत्मा को आह्लाद और शान्ति की प्राप्ति हो। किन्तु इन्द्रियजन्य विषयसुख में यह बात नहीं पाई जाती है। यह सुख आत्मा में रागान्धता उत्पन्न कर कर्मबन्ध करता है। तथा इसकी प्राप्ति के लिए आत्मा को अनेक प्रकार के कुकृत्य करने पड़ते हैं। इससे व्याकुलता की वृद्धि होती है। यह पराधीन है। जिनागम के अभ्यास से विषयों से उदासीनता उत्पन्न होती है और सच्चे सुख के साधनभूत रत्नत्रय के आराधन में रुचि पैदा होती है। अत जिनागम का स्वाध्याय करने से आत्महित बुद्धि नाम का गुण प्रादुर्भूत होता है।

२ भावसंवर—पापजनक विचारों का त्याग करने को भावसंवर कहते हैं। आगम का अध्ययन करने से पाप व पुण्य के कारणों का ज्ञान होता है। ज्ञानी जीव पापजनक अशुभ भावों को छोड़ता है और शुभ व शुद्ध भावों में परिणति करता है। अर्थात् मन वचन काय से ऐसी क्रियाएँ करता है जिनमें पुण्य बन्ध होता है या कर्मों का संवर और निर्जरा होती है। बिना जाने अज्ञानी जीव जिन क्रियाओं से पाप कर्मों का बन्ध करता रहता है ज्ञानी जीव परिणाम की विशुद्धि से उन्हीं क्रियाओं से कर्म की निर्जरा करता है। यह भावों की विशुद्धि जिनागम के अभ्यास से ही होती है।

३ नवीन-नवीन-संवेगभाव—जिनागम में संसार का सत्य स्वरूप का वर्णन किया है। इस आत्मा ने इस संसार में कैसे२ दुख किस २ गति में भोगे हैं उनका बोध होने से आत्मा संसार से भयभीत होता रहता है इसलिए जिनागमन का अभ्यास संवेग-भाव को उत्पन्न करके श्रद्धा को दृढ़ बनाता है। जो संयमी नित्य स्वाध्याय नहीं करता है उस पर किसी प्रकार संकट आने पर वह श्रद्धा से च्युत हो

जाता है। जो नित्य जिनवाणी का मनन करता है उसके चित्त में दृढ़ता रहती है और वह आपत्ति आने पर ज्ञानबल से उसको सह लेता है। उसका आत्मा श्रद्धान से भ्रष्ट नहीं होता है।

मोक्षमार्ग में स्थिरता—जिनवाणी मोक्ष का तथा मोक्ष के मार्ग (सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र) का स्वरूप और महत्त्व का निरूपण करती है। रत्नत्रय आत्मा का स्वरूप है और जिसका जो स्वरूप है वही उसके कल्याण का करनेवाला होता है। श्रीवृषभादि तीर्थंकरों ने तथा अन्य महापुरुषों ने रत्नत्रय का आराधन कर शिव सुख प्राप्त किया है। अनेक भयानक उपसर्गों के आने पर भी उन महात्माओं ने मोक्षमार्ग के आराधन में थोड़ा भी शिथिलता नहीं की है। वे मेरु के समान अडोल निष्कम्प रह कर सदा के लिए सुखी हुए हैं। इसलिए सुख की अभिलाषा करनेवाले को मोक्षमार्ग पर स्थिर रहना चाहिये ऐसा ज्ञान जिनागम के अभ्यास से होता है।

५ तपवृद्धि—जिनागम के वेत्ता ही जीवादि पदार्थों के स्वरूप को भले प्रकार जानकर भेदज्ञान प्राप्त करते हैं। शरीर और आत्मा को भिन्न समझकर उसको शरीर से पृथक् करने के लिए कर्मों का क्षय करनेवाले बाह्य और आभ्यन्तर तप का आचरण करते हैं। तत्त्वज्ञान के प्रभाव से तपस्या में आत्मा की प्रवृत्ति बढती जाती है स्वाध्याय स्वयं अन्तरंग तप है। अतः जिनागम के स्वाध्याय से तप में प्रवृत्ति होती है और निरन्तर उसकी वृद्धि होती रहती है।

६ गुप्ति के पालन में तत्परता—मन वचन और काय को शुद्धोपयोग में लगाने को गुप्ति कहते हैं। इसके पालन करने में तत्पर रहने के लिए सुगम उपाय स्वाध्याय है। स्वाध्याय करनेवाले के अनायास मन वचन काय का निरोध होता है। मन वचन काय के निरोध करने का इससे सरल कोई दूसरा उपाय नहीं है। स्वाध्याय करनेवाले का चित्त जब जीवादि तत्त्वों के स्वरूप का विचार व मनन करने में लगता है तब उसके मन वचन और काय तीनों विषय कषायादि से निवृत्त होकर शुद्ध स्वरूप में प्रवृत्त होते हैं। उस समय आत्मा अशुभोपयोग से निवृत्त होकर शुद्धोपयोग में प्रवृत्त होता है। अतः स्वाध्याय से गुप्ति के पालन में तत्परता होती है। गुप्ति के पालन से कर्मों का संवर और निर्जरण होता रहता है।

(७) परोपदेश सामर्थ्य—जिसने जिनागम का अभ्यास किया है वही इतर अन्य प्राणियों को उपदेश दे सकता है। संसार को कल्याण का मार्ग दिखाना साधारण पुरुषक्रम नहीं है। संसार के उद्धार करने की उत्कट इच्छा होने से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। तीर्थंकर उन्हें भले सुख का मार्ग दिखाता है। वह प्रमाण और नय से जीवादि तत्त्वों का स्वरूप समझकर उनको कल्याणमार्ग में लगाता है। इसलिए जो जीवों को उपदेश देना चाहता है उसको निरन्तर आगम का मनन चिन्तन करते रहना चाहिए। जो आत्महित और परहित की इच्छा रखता है उसे रात दिन जिनागम का अभ्यास करना आवश्यक है। जिसको जिनागम का रहस्य ज्ञान नहीं है उसे आत्महित का ज्ञान

नहीं होता है। किसको हित कहते हैं ? और उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है ? इसको वह नहीं जान पाता है। ज्ञान बिना उसके सब कृत्य कर्मबन्ध के कारण होते हैं। वह अनेक प्रकार के कठिन दुर्धर तप करता है वह भी उसके कर्मबन्ध को बढाने वाले होते हैं। इसका कारण यह है कि उसके ज्ञाननेत्र नहीं हैं। वह विपरीत मार्ग द्वारा पापकर्म रूप भयानक वन की ओर बढ़ता जाता है और वहां वह अनेक आपदाओं में फंस जाता है। इन सब बुराइयों का कारण अज्ञान है। यथा —

आदहिदमयाणतो मुज्झदि मूढो समादियदि कम्म।
कम्मणिमित्त जीवो परीदि भवसायरमणत ॥ १ २ ॥ (भग०)

अर्थ—आत्मा का हित क्या है ? इसको न जानने वाला अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थों में मोहित होजाता है और मोह के कारण कर्मों का बन्ध करता है। इन कर्मों के कारण वह अनन्त ससार सागर में भ्रमण करता है

ज्ञानी जीव आत्मा के हित को समझता है। वह ज्ञान नेत्र से देखता है कि यह मार्ग आत्मा का हितकर है और यह अहितकर है। हितकर मार्ग में प्रवृत्ति करता है और अहितकर कुमार्ग से निवृत्त होता है। इसलिए प्रत्य आत्मा को हितकारी मार्ग जानने के लिए निरन्तर जिनागम का अभ्यास करना चाहिए।

ज्यों ज्यों जिनागम में अधिक प्रवेश होता है त्यों त्यों तत्त्वज्ञानामृत का रसास्वादन विशेष होता जाता है। जैसे आम्रफल में रस भरा रहता है वैसे ही जिनागम के शब्दों मे तत्त्वामृत भरा हुआ है उसका मनन चिन्तन करने से उसका रसास्वादन होता है। उस रस का आस्वादन करने से आत्मा को परम आह्लाद का अनुभव होता है और उसकी धर्म में विशेष प्रवृत्ति होती है।

आगम का वेत्ता मुनि निश्चय और व्यवहार धर्म को यथावत समझता है। आत्मा का उत्थान करने वाले और अधःपतन करने वाले कार्यों को भलीभांति जानता है। वह कोई काम ऐसा नहीं करता जिसके द्वारा मुनि धर्म को अपवाद का सामना करना पडे। आगम के अभ्यासी सयमी का प्रत्येक कृत्य ज्ञानपूर्वक होता है। उसकी प्रवृत्तिरूप क्रिया भी निर्जरा का कारण होती है। अज्ञानी जिन कार्यों से महान कर्मबन्ध करता है उन्हीं कार्यों को करता हुआ ज्ञानी कर्मों का क्षय करता है कहा है —

ज अण्णाणी कम्म खवदि भवसय सहस्स कोडीहि।
त णाणी तिहि गुत्तो खवदि अतोमुहुत्त ण ॥ १ ८ ॥

छट्ठमट्ठमदसमदुवालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही ।
तत्तो बहुगुणतरिया होज्ज हु जिमियस्स णाणिस्स ॥ १६ ॥ (भग०)

अर्थ—अज्ञानी (जिनागम के ज्ञान से शून्य) लाखों करोड़ों भवों में जिन कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं होता है उन कर्मों को जिनागम का वेत्ता तीन गुप्तियों का पालन करता हुआ मुनि अन्तमुहूर्त में नष्ट कर देता है। तथा अज्ञानी मनुष्य बेला तेला चोला पंचोला पाक्षिक मासिकादि अनेक उपवासों का आचरण करके आत्मा में जो विशुद्धि उत्पन्न करता है ज्ञानी पुरुष भोजन को ग्रहण करता हुआ भी उससे बहुत अधिक आत्मा की विशुद्धि कर लेता है।

इसका आशय यह है कि अज्ञानी जितना भी कार्य करता है वह वस्तु के स्वरूप को न समझ कर करता है। जैसे हाथी स्नान करने के पश्चात् अपने शरीर पर धूल डालकर उसे मलीन बना लेता है वैसे ही अज्ञानी जीव व्रत उपवासादि कायक्लेश तप करता है अथवा अन्य धार्मिक क्रियाओं का आचरण करता है पर वह विवेकहीन उनका यथार्थ स्वरूप न समझने के कारण विपरीत श्रद्धान व प्रतिकूल आचरण करता है अतः मिथ्या-श्रद्धान और विपरीत चारित्र के कारण उसके सब कृत्य पापबन्ध के हेतु होते हैं। तत्त्वज्ञान के बिना उसका मन रूपी मस्त हाथी विषय और कषाय के उपवन में दौड़ लगाता है। संकल्प विकल्प के जाल में फंसा हुआ उसका अन्तःकरण संसार के बन्धन को दृढ़ करता है।

अज्ञानी जीव दुख से डरकर सुख की प्राप्ति के लिए दौड़ धूप तो करता है किन्तु वह अविनाशी आत्मीय सहजानन्द को न समझने के कारण उस पर विश्वास नहीं करता है। इन्द्रिय जन्य सुख को आत्मा का हितकर मानता है और उसकी प्राप्ति के लिए लौकिक अथवा पुण्य रूप प्रयत्न करता है। वह यह नहीं समझता है कि पुण्य और पाप आत्मा को बन्धन में डालने वाले हैं। बेड़ी सोने की हो या लोहे की दोनों मनुष्य को पराधीन बनाने वाली हैं। पुण्योपार्जन करने से स्वर्गादि की सम्पत्ति अथवा यहाँ पर चक्रवर्ती आदि विभूति भी मिल जावे तथापि आत्मा को जन्म मरण के दुःख से छुटकारा नहीं मिलता है। वह पुण्योपार्जित सुख की सामग्री अज्ञानी आत्मा को अधिक अधिक मोहान्ध बना देती है और परम्परा दुःख जनक रागादि भावों को जन्म देती है जिससे यह आत्मा अपने स्वरूप को न पाकर अनगिनत भवों में दुःख को भोगता है।

अज्ञानी आत्मा दुष्कर तपश्चरण का आचरण कर इस लोक में चमत्कार उत्पन्न करनेवाली ऋद्धियों और विभूतियों की आकांक्षा करता है। वह चारित्र के चिन्तामणि समान फल को कौड़ियों में बेचता है। वह यह नहीं समझता कि चाँवल की खेती करने वाले को तुष (भूसा) की कामना नहीं होती है। कृषक धान्य के लिए खेती का परिश्रम उठाता है भूसे के लिए नहीं। वह तो अनायास ही मिल जाता है।

इसी प्रकार ज्ञानी धर्म का पालन आत्मीय सुख की प्राप्ति के लिए करता है। उसे स्वर्गादि के सुख भी आनुषंगिक रूप से मिलजाते हैं। उनका अनुभव करता हुआ भी उन सुखों को उपादेय नहीं समझता है और उसका लक्ष्य मोक्षपद-प्राप्ति का बना रहता है। वह इन्द्रिय भोगों को भोगता है देवांगनाओं के मध्य मनोहर क्रीडाएं करता है मन को लुभाने वाले अप्सराओं के लावण्य व सौन्दर्य का नेत्र पात्र से पान करता है उनके कोकिलसम कण्ठ से निकले मंजुल मधुर गान का रसास्वादन करता है नन्दनवन में अप्सराओं के साथ रमण करता है फिर भी उन सुखों में उसकी आसक्ति नहीं है। वह अपने परतन्त्र आत्मा के असामर्थ्य का अनुभव कर सोने के पींजरे में पडे हुए तोते के समान दुःखी रहता है। मिष्ट फल का आस्वादन करता हुआ भी परतन्त्रता से दुःखित हो बाहर निकल भागने का इधर उधर मार्ग ढूंढा करता है वह संसार से निकलने के लिए छटपटाता रहता है।

अज्ञानी जीव धन सम्पत्ति स्त्री पुत्र भवन उपवन आदि सामग्री को सुख देनेवाली समझकर उनकी प्राप्ति के लिए तथा प्राप्त होने पर उनकी रक्षा करने में ही लगा रहता है। दैववशात् उनका वियोग हो जाने पर अत्यन्त दुःखित होजाता है। किन्तु ज्ञानी जीव धन सम्पत्ति स्त्री पुत्रादि की प्राप्ति को कर्म को देन मानता है। इन पदार्थों को कर्म की दी हुई धरोहर समझता है। जब उनका वियोग हो जाता है तब दुःख नहीं होता वह सच्चे साहूकार की तरह कर्म की रखी हुई धरोहर को उसे सहर्ष सौंपना ही अपना कर्त्तव्य समझता है। वह विचारता है कि कर्म ने ही इतने समय के लिए मुझे सौंपी थी और अब उसने उसकी वस्तु वापस लेली। इसमें विषाद क्या? दूसरे की चीज पर अपना अधिकार कर लेना महान् अन्याय है। अन्याय करने वाला नरक निगोदादि बन्दीगृह में डाला जाता है—ऐसा विचार कर ज्ञानी सदा सुखी रहता है। उसको अज्ञानी के समान वस्तु के संयोग से सुख तथा वस्तु के वियोग से दुःख नहीं होता है।

इस प्रकार के तत्त्वज्ञान से ज्ञानी संसार के कार्यों को करता हुआ भी कमल पत्र के समान निर्लेप रहता है। अतएव ज्ञानी के भोग भी निर्जरा के कारण होते हैं और अज्ञानी की धार्मिक क्रिया भी अविवेक पूर्ण होने से बन्ध की कारण होती हैं।

इसलिए हे आत्मन् यदि संसार के दुःखों से मानसिक संतापों से इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग जन्य क्लेशों से बचना चाहते हो तथा सच्चे आनन्दामृत का रसास्वादन करना चाहते हो तो तत्त्वज्ञान सम्पादन करो। वह तत्त्वज्ञान जिनागम का सतत अभ्यास करने से उपलब्ध होता है।

शंका—जिनागम का अभ्यास करने से ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है तो ग्यारह अंग और अभिन्नदश पूर्व के पाठी मुनि को तो जरूर ही तत्त्व ज्ञान हो जाना चाहिए था। लेकिन उतने अधिक आगम के अभ्यास से भी तत्त्वज्ञान नहीं होता है और तुषमाष भिन्न ज्ञान

रखने वाले शिवभूति मुनि के समान अल्पज्ञ भी तत्त्वज्ञान (भेदविज्ञान) प्राप्त कर अपना कल्याण करलेते हैं इसलिए आगम के अभ्यास स तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है-यह कैसे सिद्ध हुआ ?

समाधान—किसी समय एक शिवभूति नाम के मुनि थे। उन्हें शास्त्र के एकाक्षर का भी ज्ञान नहीं था। किसी को उन्होंने उडद की दाल से उसके तुषों का अलग करते हुए देखा। इसीसे उनने यह जानलिया कि जैसे दाल तुष से भिन्न है इसी तरह शरीरादि जड पदार्थों से आत्मा भिन्न है। किसी काल में किसी किसी भव्य को जिनागम के अभ्यास के बिना तत्त्वज्ञान हो जावे और वह उस पर स्थिर रहकर अपने आत्मा का कल्याण करले तो वह सब के लिए राज मार्ग नहीं हो सकता है। जैसे किसी नगर के राजा का स्वर्गवास होगया और वहां के निवासियों या राजवर्ग के मनुष्यों ने निश्चय किया कि जो पुरुष सबसे प्रथम नगर में प्रवेश करेगा उसीको इस नगर का अधिपति पद दिया जावेगा। धन की अभिलाषा से इधर उधर भटकता हुआ कोई दरिद्र उस नगर में अचानक प्रविष्ट हुआ और उसे राज्यप्राप्त होगया तो क्या राज्य प्राप्ति का वह मार्ग राजमार्ग माना जा सकता है? राज्य के अभिलाषी क्या उसके मार्ग का अनुसरण कर अपने अभीष्ट की सिद्धि कर सकते ? कभी नहीं कर सकते। अथवा किसी मनुष्य को जंगल मे भ्रमण करते हुए दैववश व। स्वर्णनिधि प्राप्त होगई तो सबको उसी प्रकार स्वर्ण का खजाना प्राप्त हो जावेगा ? उसको प्राप्त करने का तो वाणिज्य व्यवसाय कृषि आदि ही मार्ग हो सकता है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान प्राप्त का साधन जिनागम का अभ्यास ही हो सकता है। जो संयमी या श्रावक शिवभूति मुनि के दृष्टान्त को सम्मुख रखकर जिनागम का अभ्यास न कर पशु समान तत्त्वज्ञान रहित होकर अपना काल विकथा आलस्यादि प्रमाद में विताते हैं वे अपना तो अहित करते ही हैं और अपने स पर्क म रहने वाले अन्य भोले प्राणियों का भी महान अहित करते हैं अतएव प्रत्येक मनुष्य को अपना तथा परका हित सम्पादन करन क लिए निरन्तर स्वाध्याय करना उचित है। स्वाध्याय करने से आत्मा को शान्ति मिलती है विषय भोग से उदासी नता आती है धर्म में अनुराग बढता है। संसार से भय और शरीर से वैराग्य होता है तत्त्वज्ञान जागृत होता है कषाय मन्द होती है और चित्त की एकाग्रता होती है। चित्त की एकाग्रता के कारण ध्यान की सिद्धि होती है। और ध्यान से कर्म का क्षय होकर मोक्षपद प्राप्त होता है।

इस प्रकार जिनागम के स्वाध्याय करने से तत्त्वज्ञान की जागृति का वर्णन करके अब विनय का वर्णन करते हैं क्योंकि ज्ञान का फल विनय है। जिस ज्ञानवान् को विनय गुण नहीं प्राप्त हुआ उसका तत्त्वज्ञान फलशून्य वृक्ष के समान अनादरणीय होता है।

विनय की महिमा

'विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् '

ज्ञान की प्राप्ति विनय को जन्म देती है और विनयवान् आत्मा गुणों का पात्र (आधार) बनता है। तत्त्वज्ञान की सफलता

विनीत भाव धारण करने से ही होती है। जिसका आत्मा अविनीत है उसका सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र तप और व्यवहार शुद्ध नहीं होता है। क्योंकि अविनय उसमें मलीनता उत्पन्न करता है। अविनय नाम कठोरता का है। कठोर-हृदय पाषाण के समान मानागया है। जैसे पाषाण पर डाला हुआ उत्तम बीज भी बेकार हो जाता है उसमें समय पर सिंचन किया हुआ जल बह जाता है उसको आर्द्र व कोमल नहीं बना सकता है, अतः उसमें अकुर का उदय नहीं होता। उसी प्रकार विनय हीन मनुष्य में गुरु के उपदेश सत्संगति आदि के निमित्त से सदाचारादि गुण उत्पन्न नहीं होते हैं। सचतो यह है कि विनय रहित मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति ही नहीं होती है क्योंकि अविनीत शिष्य पर गुरु का प्रेम नहीं होता विनयवान् शिष्य को गुरु अपने से अधिक विद्वान् बनाने का उद्योग करता है। हृदय खोलकर शास्त्रों के रहस्य का उद्घाटन करता है। और अविनीत शिष्य को अपने निकट भी नहीं बैठने देता है। इसलिए विनयशील शिष्य ही ज्ञानादि गुणों का भंडार होता है और वह सब का प्रिय होता है। उसके सहज में सब मित्र बन जाते हैं और उसको सुखी बनाने में प्रयत्नशील होते हैं। अविनीत के बिना कारण सब शत्रु हो जाते हैं। और उसके उत्कर्ष को कोई नहीं चाहते हैं।

विनय के भेद और उनका स्वरूप

विनय पांच प्रकार का है— १ दर्शनविनय २ ज्ञानविनय ३ चारित्रविनय ४ तपविनय और ५ उपचारविनय।

१ दर्शनविनय—सम्यक्त्व के शंका कांक्षा विचिकित्सा मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा और स्तुति इन पांच अतिचारों का त्याग करना सम्यग्दर्शन के निःशङ्कितादि आठ गुणों को धारण करना सम्यग्दर्शन का विनय कहलाता है।

(२) ज्ञानविनय-सम्यग्ज्ञान को धारण करना ज्ञान विनय है। ज्ञान विनय के ८ भेद हैं उनका क्रमशः यह स्वरूप है— १ योग्यकाल में आगम (सूत्र) का अध्ययन करना कालविनय है। २ आगम व आगम के कर्त्ता की महिमा का वर्णन करना भक्ति विनय है। ३ जबतक यह ग्रन्थ पूर्ण नहीं होगा तब तक अमुक वस्तु का भोजन नहीं करूंगा अथवा इतने उपवास करूंगा इत्यादि तपस्या करने को उपधानविनय कहते हैं। इससे कर्म का नाश होता है और ज्ञान की जागृति होती है। ४ पवित्र होकर हाथ जोड़ एकाग्रचित्त से अध्ययन करने को बहुमान विनय कहते हैं। ५ किसी गुरु से शास्त्रों का अध्ययन करके भी उसको गुरु न बताना अथवा उसके स्थान में किसी अन्य व्यक्ति को गुरु प्रकट करना निह्नव कहलाता है। इस निह्नव का न होना ही अनिह्नव नाम का विनय है। गणधरादि द्वारा निर्मित आगम का शुद्ध उच्चारण करना व्यंजन (शब्द) शुद्धि नाम का विनय है। ७ आगम का यथार्थ शास्त्रों के अर्थ का इस प्रकार प्रतिपादन करना जिससे श्रोताओं के ठीक ठीक समझ में आजावे उसे अर्थशुद्धि नामका विनय कहते हैं। ८ आगम के शब्दरूप पाठ का तथा अर्थ का शुद्ध निरूपण

करने को तदुभय (व्यंजन व अर्थ) शुद्धि नाम का विनय कहते हैं। इन आठ प्रकार के ज्ञान के साधनों से आठ कर्मों का व्यपनयन (निराकरण) होता है। इसलिए इनको विनय नाम से कहा है। इस प्रकार ज्ञानविनय के आठ भेदों का वर्णन हुआ।

(३) चारित्रविनय—चारित्र धारण करना चारित्रविनय है। पांचव्रतों की जो पच्चीस भावनाएँ हैं (तत्स्थैर्यार्थं भावना पञ्च२ जो इस तत्त्वार्थ सूत्र में निरूपण की गई हैं) उनके चिन्तन करनेको चारित्र विनय कहते हैं। अथवा इष्ट अनिष्ट शब्द रूपादि विषयों में रागद्वेष न करके तथा क्रोधादि चार कषाय इष्ट अनिष्ट हास्यरति अरति आदि नव कषायों का निग्रह करना चारित्र विनय कहलाता है।

(४) तपविनय—संयमपालन में उद्यमशील होना दीनता रहित होकर क्षुधादि परिषहों का सहना तपस्या में अनुराग रखना सामायिक, प्रतिक्रमण चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक का हीनाधिकता रहित पालन करना तपविनय कहलाता है।

(५) उपचारविनय—गुरु आदि पूज्य पुरुषों का मन वचन काय से प्रत्यक्ष व परोक्ष आदर सत्कार भक्ति करने को उपचार विनय कहते हैं।

इस प्रकार संक्षेप से विनय का वर्णन किया है। इसका विशेष विशद वर्णन 'विनयाचार' में कर आये हैं। वहां से जान लेना चाहिए।

मनको वश में करने की आवश्यकता

जिनलिंग के धारक समाधिमरण के इच्छुक ने ज्ञानाभ्यास से विनय गुण उत्पन्न कर लिया है उसको अपना मन भी वश में करना चाहिए। क्योंकि जिसका मन चञ्चल है वह अपने प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकता है। उसका चारित्र तप आदि का आराधन निरर्थक होता है।

चालणिगय व उदयं सामण्णं गलइ अणिहुदमणस्स।
कायेण य वायाए जदि वि जधुत्तं चरदि भिक्खू ॥१३३॥ (भग०)

अर्थ—जो संयमी शरीर से शास्त्रोक्त क्रियाओं को करता है, तथा वचन से आगमोक्तप्ररूपण करता है तथापि यदि उसका

चित्त काय और वचन के द्वारा किये गये सम्यक आचरण में स्थिर नहीं है एवं विषयों में भ्रमण करता रहता है उस साधुका साधुत्व (सयम) चालनी में गिराये गये पानी के समान निकल जाता है। अर्थात् उसके आत्मा में चारित्र चलनी के पानी के समान नहीं टिकता है।

जब तक मनमें चपलता है। बाहर विषयों की तरफ भटकने की आदत नहीं छूटती है तबतक वह अन्धे बहरे व गूंगे के समान है। जैसे अन्धा बहिरा व गूगा वस्तुके स मुख रहते हुए भी उसको देखता सुनता नहीं है तथा वचन द्वारा कह नहीं सकता वैसे ही अन्य विषयों में लगा हुआ मन सन्मुख स्थित रूपादि का ज्ञान नहीं करता है। मन मन्दोन्मत्त हस्ती के समान है। उसको रोकने के लिए स्वाध्याय रूप शृंखला ही एक मुख्य उपाय है। जिसने स्वाध्याय से मन को स्थिर करने का अभ्यास किया है उसीको चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है। तथा वही उसे अपने आत्मा में लगा सकता है।

शंका—मनको रोकने का उपाय करने पर भी वह अतिशीघ्र इधर उधर क्यों दौड़ जाया करता है? विषयों से हटाने का विचार करते हैं तो भी इन वस्तुओं में पुन पुन चला जाता है इसका क्या कारण है?

समाधान—जिन पदार्थों मे अधिक अनुराग होता है उनमे मन की प्रवृत्ति होती है। जैसे जसे बाह्य पदार्थों से अनुराग घटता है वैसे वैसे उनसे मन निवृत्त होकर आत्मा में स्थिर होने लगता है। मनको स्थिर रखने के निमित्त ही सब परिग्रह के त्यागी साधुओं को भी सावधान रहने का उपदेश दिया है और यहा तक कहा है कि उनको गृहस्थों के सपर्क से बचना चाहिए। इसीलिए निरतर विहार करने का भी उनको आदेश है। निरन्तर विहार का वर्णन हम पहले कर आये हैं। इसलिए यहा विशेष वर्णन न करके उससे होने वाले लाभ का संक्षेप में निरूपण करते हैं।

निरतर विहार की उपयोगिता

सतत विहार करनेवाले मुनि के तीर्थंकरों के गर्भ जन्म कल्याण के क्षेत्रों के अवलोकन करने से उनकी तपस्या करने की पवित्र भूमि के स्पर्श करने से केवल और मोक्ष कल्याण के परम पवित्र तीर्थों की यात्रा करने से सम्यग्दर्शन में विशुद्धि उत्पन्न होती है।

अनियत विहारी मुनि उज्ज्वल चारित्र के आराधक होते हैं उनको देखकर दूसरे शिथिल चारित्र वाले साधु भी अपने चारित्र को निर्मल बनाते हैं। उनकी समारभीरुता व उत्कट तपस्या को देखकर अन्य मुनि भी ससार से उद्विग्न हो तपश्चरण में लीन हो जाते हैं। उत्तम लेश्या के धारक मुनीश्वरों के निर्मल शान्त स्वभाव को देखकर इतर मुनि भी अपने परिणामों को निर्मल बनाते हैं। तात्पर्य यह है कि सतत विहार करने से साधुओं का परस्पर सहयोग होता है और उनमें जो कमी होती है उसे एक दूसरे को देखकर वे निकालने का प्रयत्न

करते हैं। नियतस्थान पर निवास करने स मुनियों का परस्पर सम्मेलन नहीं होसकता और वे एक दूसरे से कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते हैं। तथा अनेक देश नगर ग्रामादि के धम प्रिय मनुष्य धम के माग से वंचित रहते हैं। सतत विहार करनेवाले मुनि नाना देश के लोगों को धम का स्वरूप दिखाकर उन्हें धम के माग पर लगाते हैं और धर्मात्माओं को धममाग पर दृढ करते हैं।

नानादेशों में विहार करन स मुनि में क्षुधा तृषा चर्या शीत उष्णादि परिषहों के सहन करने की शक्ति बढ़ती है। अनक दे ों का परिज्ञान होता है। वहा क धमाचरणादि का परिस्थिति का परिचय होता है। भिन्न २ प्रकृति के मनुष्यों के साथ धमचचा करन से तत्त्व ज्ञान में प्रौढ़ता आती है और तत्त्वविवेचन करन का वाक्चातुय प्राप्त होता है। अनेक देशों की भिन्न २ भाषाओं का परिज्ञान होता है।

अनियत विहारी के वसतिका मे पुस्तकादि उपकरण में ग्राम नगर देशादि में तथा श्रावकों में मोह उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए निरन्तर विहार साधु के आचरण व ज्ञानादि को निमल करन वाला है।

यह याद रखन की बात है कि देशान्तर म भ्रमण करने मात्र से अनियतविहारी नहीं होता है किन्तु श्रावक लोगों मे ममत्व रहित होन स ही अनियतविहार की सफलता मानी गई है। जो साधु यह श्रावक मेरे भक्त हैं मैं इनका स्वामी हूँ इस प्रकार मोह भाव रखता है वह आगमानुकूल देशान्तर मे पयटन करता हुआ भी अपन आत्मा को भक्त-प्रत्याख्यान समाधिमरण करने के योग्य नहीं बना सकता है।

उक्त प्रकार निरन्तर विहार कर ा हुआ साधु व आचाय समाधि मरण के अवसर का आगमन समझकर भक्तप्रत्याख्यान करने में तत्पर होता है।

समाधिमरण के लिए तत्परता

आचाय जब अपनी आयु को अल्प शेष रही जान लेते हैं तब अथवा ऊपर बताये हुए प्राणघातक व्याधि दुर्भिक्षादि कारण उपस्थित होन पर समाधिमरण के लिए तत्पर होते हुए समस्त सघ का परित्याग करने के लिए उद्यत होते हैं उस समय वे विचारते हैं कि

अणुपालिदो य दीहो परियाओ वायणा य मे दिण्णा।
खिप्पादिदा य सिस्सा सेय खलु अप्पणो कादु ॥ १५४ ॥ (भग आ०)

अथ—मैंने आगमोक्त विधि से चिरकाल पयन्त दशन ज्ञान चारित्र एवं तपरूप पर्याय की रक्षा की। मैंने शिष्यों को अध्य

यन भी कराया। अनेक शिष्यों को भगवती दीक्षा भी दी। अब शिष्य भी योग्य व समर्थ होगये हैं। अत अब मुझे अपना हित करना चाहिए। इस प्रकार आचार्य के परिणाम उत्पन्न होते हैं और यह श्रेष्ठ भी है। क्योंकि —

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुठ्ठु कादव्वं॥ (भग टीका १५४)

अर्थात्—जिससे आत्मा का हित होता है वही कार्य करना चाहिए यदि आत्महित करते हुए परहित करने का सामर्थ्य हो तो परहित भी अवश्य करना योग्य है। किन्तु जब पराहित में लग रहने पर आत्मा का अहित होता हो उस समय परहित की उपेक्षा करके आत्मा का हित करना ही उचित है। इस प्रकार भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की आज्ञा है। अत सब के नायक आचार्य अन्त समय अपने आत्मा में परम निराकुलता उत्पन्न करने के लिए शिष्यों के शासन कार्य का परित्याग कर देते हैं।

तथा सामान्यसाधु भी प्राणघातकव्याधि दुर्भिक्षादि के उपस्थित होने अथवा आयु के अन्तिम समय का निश्चय होने पर अपने आत्महित में तत्पर होता है। आगम में कहा है —

एवं विचारयित्ता सदि माहप्पे य आउगे अमदि।
अणिगूहिदबलविरियो कुणदि मदिं भत्तवोसरणे॥ १५८॥ (भग०)

अर्थ—अपने आत्महित का विचार कर स्मरण शक्ति के रहते हुए आयु के अन्तिम समय में अपने बल व वीर्य को न छिपाकर साधु भक्तप्रत्याख्यान (समाधि मरण) करने का विचार करता है।

वह सोचता है कि जब तक मेरी स्मरण शक्ति बनी हुई है शारीरिक शक्ति क्षीण नहीं हुई है वचन उच्चारण करने में भी कुछ त्रुटि नहीं उत्पन्न हुई है और आत्महित का विचार करने का बल जब तक नष्ट नहीं हुआ है, चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियों की शक्ति भी जब तक नहीं घटी है तब तक ही मुझे अपना आत्महित कर लेना चाहिए। क्योंकि स्मृति भ्रष्ट होजाने पर रत्नत्रय का आचरण कैसे हो सकेगा? तथा शारीरिक शक्ति का क्षय होने पर आतपनादि योगों का अनशनादि तपश्चरण का और ईर्यासमिति आदि चारित्र का पालन कैसे कर सकूंगा? शक्ति के अभाव से चारित्र के पालन में अरुचि उत्पन्न हो जाने पर मेरा संयम रत्न लुट जावेगा चक्षु व श्रोत्र के आश्रित संयम का पालन होता है और जब ये उत्तर देंगे तब मेरा जीवन का सार संयम नष्ट हो जावेगा। अत इन सब के अनुकूल रहते मुझे आत्म

कल्याण के लिए भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण का आचरण करलेना उचित है। वह यह भी सोचता है कि इस समय मेरे शुभोदय से समाधिमरण के सहायक निर्यापक आचार्य तथा निर्यापक (वैयावृत्त्य करने वाले) साधु आदि भी सुलभ हैं। निर्यापकाचाय ऋद्धिगारव रसगारव और सात गारव रहित होना चाहिए सो मुझे इस समय सुप्राप्य है। ऋद्धि प्रिय आचार्य असयमी को भी निर्यापक पद पर स्थापित कर देते हैं। ये तीनों ही दोष निर्यापक में नहीं होना चाहिए क्योंकि असयमी निर्यापक साधु को समाधि मरण में क्या मदद दे सकता है ? जो स्वय असयम से नहीं डरता है वह असयम के कारणों का और असंयमाचार का परिहार कैसे कर सकता है ? और इसी तरह जो रस (आहारादि) तथा सात (सुख) गारव युक्त होता है उससे क्लेशों का सहन कैसे होसकता है ? जो अपने शरीरादि के कष्ट का सहन करने की शक्ति नहीं रखता वह आराधक के वय वृत्य के क्लेश को कसे सह सकता है ? किन्तु इस समय तो दर्शन ज्ञान और चारित्र का सुन्दर आचरण करने वाले निर्यापक का सयोग मिलरहा है। अतएव मुझे विद्वानों से मान्य भक्तप्रत्याख्यान का आचरण करके शरीर का त्याग करना आवश्यक है।

इस प्रकार के विचारों से मुनि के शान्ति पूवक शरीर त्याग करने की दृढ़ता हो जाती है यदि असातावेदनीय कम के तीव्र उन्य से उसके शरीर में तीव्र वेदना भी उपस्थित हो जाय तो उक्त प्रकार स परिणामों में दृढ़ता आजाने से उसको दु ख नहीं होता है क्योंकि जीने की आशा उसके चित्त में लेशमात्र भी नहीं है वह तो शान्ति धारणकर मरण करने में उद्यमी हो रहा है, अत उसके परिणामों में निमलता बनी रहती है।

समाधिमरण करन में तत्पर हुआ साधु पिच्छी और कमण्डलु क सिवा सब का परित्यादेग कर ता है। ज्ञान की साधनभूत पुस्तक भी उस समय परिग्रह मानी गई है। वह उसका भी त्याग कर देता है।

समाधिमरण में शुद्धियों की आवश्यकता और उनके भेद

समाधि मरण में अग्रसर होने के लिए शुद्धियों की नितान्त आवश्यकता है और वे शुद्धियाँ पाच होती हैं। यथा —

आलोयणाए सेज्जासथारुवहीण भत्तपाणस्स।
वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पचहा होइ ॥ १६६ ॥ (भग० आ०)

अथ — आलोचना शुद्धि, शय्या सस्तर शुद्धि उपकरण शुद्धि भोजनपान शुद्धि और वैयावृत्त्य शुद्धि इस प्रकार शुद्धियाँ के पाच

भेद हैं। जिस साधु ने पंडितमरण करने का दृढ निश्चय कर लिया है उसको उक्त पांच प्रकार की शुद्धियों को धारण कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। इन पांचों शुद्धियों का संक्षिप्त स्वरूप यह है।

(१) आलोचनाशुद्धि—मायाचार रहित और असत्यभाषण रहित गुरु के निकट अपने अपराधों को प्रकट करना आलोचना शुद्धि कहलाती है। जो साधु अपने व्रताचरण में लगे हुए दोषों को निष्कपट भाव से प्रकट नहीं करता उसका आत्मा मलीन रहता है इस मलीनता को दूर करने के लिए गुरु के समीप अपने दोषों को ज्यों के त्यों प्रकट कर देना चाहिए। दोषों को प्रकट कर देने पर आत्मा स्वच्छ हो जाता है।

( ) शय्या संस्तर शुद्धि—शय्या (वसतिका) और संस्तर में उद्गम उत्पादनादि दोषों को नहीं लगाना तथा यह शय्या व संस्तर मेरा है ऐसा ममत्व न रखना शय्या संस्तर शुद्धि है। उद्गम उत्पादनादि दोषों का स्वरूप एषणाशुद्धि के प्रकरण में कह आये हैं वहां से जान लेना चाहिए। जो शय्या-संस्तर में ममता रखता है वह परिग्रही माना जाता है उसमें ममत्व का त्याग करने से ही परिग्रह का अभाव होता है जो कि आत्मा को शुद्ध बनाने में मुख्य कारण होता है।

(३) उपकरणशुद्धि—पिच्छी कमंडलु भी उद्गमादि दोष रहित तथा ममेदं इस ममत्व संकल्प से रहित होना चाहिए। जो उपकरण उद्गम उत्पादनादि दोष से युक्त होते हैं वे हिंसादि पापों के जनक होते हैं तथा उनमें ममत्व रहने से वे परिग्रह माने गये हैं इसलिए निर्दोष उपकरण में भी मोह का त्याग करना आवश्यक है नहीं तो आत्मा में विशुद्धि नहीं आती।

(४) भक्तपानशुद्धि—अधःकर्म उद्गम उत्पादना उद्दिष्टादि दोष सहित भोजन और पान का ग्रहण न करने से भोजन पान शुद्धि होती है। निर्दोष भोजनपान में भी मोह रहने से वह भी परिग्रह रूप हो जाते हैं इसलिए निर्दोष और मोहरहित शास्त्र विधि के अनुकूल आहार जलादि का ग्रहण करने से भक्तपान शुद्धि होती है।

(५) वैयावृत्यकरणशुद्धि—संयमी की सेवा (वैयावृत्य) जिस रीति से की जाती है उस पद्धति का ज्ञान वैयावृत्य शुद्धि मानी गई है। जिसको मुनि के योग्य वैयावृत्य का ज्ञान नहीं है उसके वैयावृत्य शुद्धि का अभाव है।

दूसरी तरह से शुद्धियों के भेद।

दर्शनशुद्धि ज्ञानशुद्धि चारित्रशुद्धि विनयशुद्धि और आवासशुद्धि इस तरह भी शुद्धियों के पांच भेद माने गये हैं। इन शुद्धियों के धारण करने से अशुभ योगादि भावदोषों का निरास होता है। इन भावदोषों के निवारण करने से परिग्रह का परिहार होता

है। इन शुद्धियों का संक्षेप स्वरूप यह है।

(१) दर्शनशुद्धि—निश्शङ्कित आदि गुणों का आत्मा में प्रकट होना ही दर्शनशुद्धि है। इस के प्रकट हो जाने से शंका कांक्षादि अशुभ परिणाम का नाश हो जाता है।

(२) ज्ञानशुद्धि—आगम का योग्य काल में अध्ययन करना जिससे विद्या का अध्ययन किया है उस गुरु का व शास्त्र का नाम न छिपाना इत्यादि आठ प्रकार की ज्ञान शुद्धि है। इस शुद्धि के उत्पन्न होने पर सूत्रों का अकाल में अध्ययनादि क्रियाओं से जो ज्ञानावरण कर्म का आस्रव होता था उसका अभाव हो जाता है।

(३) चारित्रशुद्धि—अहिंसादि पांच व्रतों की पच्चीस भावनाओं का उत्तम रीति से पालन करने से चारित्र शुद्धि होती है। इन भावनाओं का परित्याग करने से अन्तःकरण में मलिनता आती है और इससे अशुभपरिणाम उत्पन्न होते हैं। ये अशुभ परिणाम ही आभ्यन्तर परिग्रह हैं इसलिए उन अशुभ परिणामों का परित्याग करना ही चारित्रशुद्धि मानी गई है।

(४) विनयशुद्धि—यश सन्मान आदि लौकिक फल की अभिलाषा का त्याग कर पूजनीयों का विनय करना विनयशुद्धि है। इस विनय शुद्धि का आचरण करने से मानादिकषाय का अभाव हो जाता है।

(५) आवश्यकशुद्धि—पापजनक मन वचन काय की प्रवृत्ति का त्याग करना जिनेन्द्र के गुणों में भक्ति रखना वर्धमान आचार्यादि के गुणों का अनुसरण करना किये हुए अपराधों की निन्दा करना मन से अपराधों का त्याग करना काय की निःसारता आदि का चिन्तन करना ये सब आवश्यक शुद्धि है। इस शुद्धि के होने पर अशुभ (पापजनक) मन वचन काय की प्रवृत्ति का, जिनेन्द्र गुण में अप्रीति का आगम के महत्व में अनादर का आचार्यादि पूज्य पुरुषों के गुणों में अरुचि का अपराधों की अग्लानि का त्याग रहित परिणाम का संसार की सारता और शरीर की ममता का त्याग होता है। शुद्धियों की तरह संन्यासमरण धारण करनेवाले को पांच प्रकार का विवेक भी धारण करना चाहिए। इस लिए प्रसंगानुसार यहां विवेकों का वर्णन भी कर देते हैं।

पांच प्रकार का विवेक

इन्दियकसायउवधीण भत्तपाणस्स चावि देहस्स।
एस विवेगो भणिदो पंचविधो दव्वभावगदो ॥ १६८ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—१ इन्द्रियविवेक २ कषायविवेक, ३ उपधिविवेक ४ भक्तपानविवेक ५ देहविवेक, इस प्रकार विवेक के पांच भेद हैं।

(१) इन्द्रियविवेक—रूपादि विषयों में चक्षुआदि इन्द्रियों की जो राग द्वेष रूप प्रवृत्ति होती है उसको रोकना इन्द्रिय विवेक है। इसके दो भेद हैं —द्रव्य इन्द्रिय विवेक और भाव इन्द्रिय-विवेक। मैं उसके कठोर कुचों को देखता हूँ मैं उसके नितम्ब या रोमपंक्ति का अवलोकन करता हूँ उसके अत्यन्त पुष्ट जघन का स्पर्श करता हूं उसके मधुर गान को सुनता हूं उसके मुखकमल की सुगन्ध को सूंघता हूँ उसके बिम्ब समान ओष्ठ का रसास्वादन करता हूँ—इस प्रकार के विषयों में अनुराग उत्पन्न करने वाले वचनों का उच्चारण न करना द्रव्य इन्द्रिय विवेक है। अचानक चक्षु आदि इन्द्रियों की रूपादि विषयों में प्रवृत्ति हो जाने पर जो ज्ञान होता है उसमें रागद्वेष का मिश्रण न करना अर्थात् चक्षु आदि के द्वारा जाने हुए भले बुरे रूपादि विषयों में राग व द्वेषरूप परिणाम उत्पन्न न करना भाव इन्द्रिय विवेक है।

(२) कषायविवेक—क्रोधादि के विषयभूत पदार्थ में क्रोधादि न करने को कषाय विवेक कहते हैं। कषाय विवेक दो प्रकार का है। १ काय जनित और २ वचनजनित। भौंहें सुकोड़ना लालनेत्र करना होठ डसना शस्त्र हाथ में लेना इत्यादि काय द्वारा कषाय न करना कायजनित क्रोधकषायविवेक कहलाता है। मैं तुझे जान से मारडालूगा पीटूंगा तुझे सूली पर चढा दूंगा इत्यादि कषाय युक्त वचन न बोलना यह वचन जनित क्रोधकषायविवेक होता है। दूसरे के तिरस्कारादि करने पर भी अपने मन में क्रोध रूप परिणाम न होना भाव से क्रोध कषाय विवेक होता है। इसी तरह मानकषाय विवेक भी काय से और वचन से होता है। शरीर के अवयवों का अकड़ाना सिर को ऊंचा उठाकर चलना ऊंचे आसन पर बैठना इत्यादि अभिमान प्रकट करने वाली क्रियाओं को न करना कायजनित मानकषायविवेक होता है। मुझसे अधिक कौन आगम का वेत्ता है कौन सच्चारित्र है? मुझ से उत्कृष्ट तपस्वी कौन है? इत्यादि अभिमान भरे वचन उच्चारण न करने को वचनजनित मानकषाय विवेक कहते है। मैं ज्ञान चारित्र व तप में सबसे महान् हूँ इस प्रकार का मन में विचार न करने को भाव से मानकषाय विवेक कहते हैं। मायाविवेक भी दो प्रकार का है—किसी व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध में बोलता हुआ भी मानो किसी अन्य व्यक्ति के लिए बोल रहा है—इस तरह के वचनों का त्याग करना अथवा मायाचार के उपदेश का त्याग करना या मैं माया न करूंगा न करवाऊंगा और न माया करते हुए की अनुमोदना करूंगा यह सब वचनजनित मायाकषाय विवेक कहलाता है। शरीर से करना कुछ और लोगों को दिखाना कुछ इसका त्याग करने को काय जनित मायाकषाय विवेक कहा जाता है। लोभविवेक—द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। जिस पदार्थ का लोभ है उसको लेने के लिए हाथ फैलाना द्रव्य के स्थान को सुरक्षित रखना उस वस्तु को लेने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को हाथ के इशारे या सिर हिलाकर मना करना इत्यादि लोभ विषयक क्रियाओं के त्याग से कायसे लोभकषाय का विवेक होता है। यह वस्तु मेरी है इस धन ग्रामादि का मैं स्वामी हूँ— इत्यादि वचन न बोलने को वचनजनित लोभकषाय का विवेक कहते हैं। किसी वस्तु में ममत्वरूप परिणाम न करने को मनोजनित लोभ कषाय विवेक कहते हैं।

(३) उपधि विवेक—शरीर से पुस्तकादि उपकरणों का ग्रहण न करना न अन्य जगह उनको स्थापन करना और न कहीं पर

रक्षा कर उनकी रक्षा करना यह कायजनित उपधिविवेक होता है। इन ज्ञानोपकरणों का मैंने त्याग किया इस प्रकार वचनों का उच्चारण करना यह वचन जनित उपधि विवेक होता है।

(४) भक्तपान-विवेक—भोजन और पान करने की वस्तुओं के खाने पीने का त्याग करना कायद्वारा होने वाला भक्त-पान का विवेक होता है। अमुक भोजन व पान का मैं त्याग करता हूं ऐसे वचन को वचन द्वारा होनेवाला भक्त पान का विवेक कहा जाता है।

(५) देह-विवेक—यह देह विवेक भी शरीर और वचन के द्वारा होता है।

शंका—संसारी जीवों के शरीर मे विवेक (पृथक् होना) कैसे हो सकता है ?

समाधान—अपने शरीर से अपने शरीर सम्बन्धी उपद्रव का निवारण न करना अर्थात् अपने किसी शरीर के हस्त पादादि अवयव में जहरीला फोडा उत्पन्न हो जाने पर उसका निवारण अपने शरीर से न करना यह शरीर द्वारा होने वाला अपने शरीर का विवेक कहलाता है। अथवा अपने शरीर पर उपद्रव करने वाले मनुष्य तिर्यंच या देव को तुम उपद्रव मत करो इस प्रकार के हस्त संकेत से अर्थात् हाथ हिलाकर जो मना नहीं करता है शरीर को सताने वाले डांस मच्छर बिच्छू सर्पादि को जो अपने हाथ से नहीं हटाता है पिच्छी आदि उपकरण से या लकडी आदि से दूर नहीं करता है तथा छत्र पिच्छिका चटाई आवरण आदि से शरीर की रक्षा नहीं करता है, उसके शरीर द्वारा होने वाला देह का विवेक होता है।

मेरे शरीर को पीडा मत दो मेरी रक्षा करो ऐसे वचनों का उच्चारण न करना यह शरीर अचेतन है, मुझ से भिन्न है ऐसे वचन बोलना वचन द्वारा होने वाला देह का विवेक होता है।

विवेक के दूसरे प्रकार से छह भेद

अहवा सरीरसेज्जा संथारुवहीण भत्तपाणस्स।
वेज्जावच्चकराण य होइ विवेगो तहा चेव ॥ १६९ ॥ (भग०)

अर्थ—शरीरविवेक, शय्याविवेक, संस्तारविवेक, उपधिविवेक, भक्तपानविवेक और वैयावृत्त्य करने वालों का विवेक इस प्रकार भी विवेक का वर्णन किया गया है।

विवेक के उक्त छह भेदों में से शरीरविवेक उपधिविवेक और भक्तपानविवेक का वर्णन तो ऊपर हो ही चुका है। शेष शय्याविवेक संस्तरविवेक और वैयावृत्त्य विवेक इन तीनों का स्वरूप दिखलाते हैं।

शय्याविवेक—पहले जिस वसतिका में रहते थे उसमें नहीं ठहरना यह शय्या का विवेक कायजनित होता है। मैं इस वसतिका का त्याग करता हूँ ऐसे वचनों स वसतिका के त्याग करने को वचनजनित शय्या का विवेक कहते हैं।

संस्तरविवेक—पहले जिस संस्तर पर बैठते या सोते थे उस पर न सोना व न बैठना इसको कायजनित संस्तर विवेक कहते हैं। मैं इस संस्तर का त्याग करता हूँ ऐसे वचन बोलकर संस्तर का त्याग करना वचनजनित संस्तरविवेक कहलाता है।

वैयावृत्त्यविवेक—जो शिष्यादि वैयावृत्त्य करने वाले हैं उनको शरीर से अलग कर देना उनके साथ न रहना यह कायजनित वैयावृत्त्यविवेक कहलाता है। तुम लोग मेरा वैयावृत्त्य मत करो मैंने तुम्हारा त्याग कर दिया है इस प्रकार वचन बोलकर वैयावृत्त्य करने वालों का त्याग करना वह वचन जनित वैयावृत्त्य विवेक कहा जाता है। किन्तु यह सब विवेक भाव जनित ही होना चाहिए नहीं तो सब कुछ निष्फल है। सम्पूर्ण शरीरादि पदार्थों से अनुराग का त्याग करना अथवा उनके साथ मम त्व भाव न रखना ही भावविवेक होता है। भावविवेक ही सल्लेखना की जान है। सल्लेखना के लिए उद्यमी साधु सदा आत्मा के स्वरूप को पुद्गलादि से भिन्न अनुभव करता हुआ पुद्गल की पर्यायों से मोह का त्याग करता है तथा उनके साथ शरीर का सम्पर्क भी नहीं रखता है। तथा शरीर में आहारादि से भी राग सम्बन्ध का त्याग करता है और समता भाव को स्वीकार करता है। सब परपदार्थों से अपने को भिन्न अनुभव करता हुआ वह अपने रत्नत्रय की वृद्धि में ही दत्तचित रहता है। उसको अपने शरीर से भी नितान्त उपेक्षा हो जाती है। वह विचारता है कि यह शरीर निःसार है महान् अशुचि पदार्थों का घर है यह आत्मा के परिणामों को मलीन कर उसको कर्मबन्धन में डालता है यह जरामरण से युक्त है नित्य दुःख देने वाला है। इस प्रकार चिन्तन कर शरीर से निःस्पृह होता है और आत्मा को सुखी बनाने वाले सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप आत्मा के भावों को उत्तरोत्तर अति उज्ज्वल करता है।

आचार्य पद का त्याग

जब संघ का नायक आचार्य सल्लेखना करने के लिए उद्यत होता है तब अपना आचार्यपद त्याग देता है और आचार्य पद के भार का वहन करने में समर्थ जो साधु होता है उस मुनि आर्यिका श्रावक और श्राविका चतुर्विध संघ के मध्य बिठलाकर सब संघ को सूचित करता है कि इतने समयतक मैंने संघ की सेवा की है अब मैं आत्मा कल्याण करने लिए संघ से अपना सम्बन्ध छोड़ता हूँ और इस पद पर चारित्र क्रम के ज्ञाता उत्तमशील स्वभाव वाले व्यवहार निपुण आगम के रहस्य के वेत्ता, इस साधु को स्थापित करता हूँ। आज से यह तुम्हारे

आचाय है। यह अपना व तुम्हारा उद्धार करने में त पर रहेंगे। अत आप लोगों को इनकी आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करना चाहिए। इस प्रकार कहकर सघ का भार उस आचाय पर रखकर परमशुभ परिणामों से सब से पृथक् हो जाते हैं और अपन आत्मा को निमल करन में दत्तचित्त हो जाते हैं। वे अपने आत्मा को शुभ भावनाओं स सस्कृत करते और कुभावनाओं का सवथा परिहार करते हैं। वे कुभावनाए विद्वानों ने पाच प्रकार की बतलाई हैं। यथा —

कादर्पी कैल्विषी प्राज्ञैराभियोग्यासुरी तथा
सामोही पचमी हेया सक्लिष्टा भावना ध्रुवम् ॥ (भग० आ० संस्कृत १८१)

अथ—विद्वाना ने कादर्पी कैल्विषी आभियोग्या आसुरी और सामोही ये पाच भावनाएँ सदा त्याज्य मानी हैं। अर्थात इनका आत्मा में एक क्षण भर के लिए भी रहना दृढ कम बध का कारण है। इन भावनाओं का स्वरूप पहले लिख आये हैं, इसलिए यहा नहीं लिखा गया है।

साधु को उक्त पाच कुभावनाओं का परित्याग कर पाच शुभ भावनाओं मे प्रवृत्ति करना चाहिए।

पाच शुभ भावनाए

तवभावणा य सुदसत्तभावणेगत्तभावणे चेव ।
धिदिबलविभावणाविय असकिलिट्ठावि पचविहा ॥ १८७ ॥ (भग०)

अथ— १ तपभावना २ श्रुतभावना ३ सत्त्व (अभीरुत्व) भावना ४ एकत्वभावना और ५ धृतिबल भावना ये पाच प्रकार की उत्कृष्ट भावनाएँ आत्मा को सद्गति में लेजाने वाली हैं। इनका सक्षिप्त स्वरूप यह है —

(१) तपभावना—छह प्रकार के बाह्य और छह प्रकार के अन्तरग तपों का अभ्यास करना तपभावना है। बार बार अनशनादि तप करने से पाचों इन्द्रिया वश में होती हैं। इन्द्रियों का निग्रह होने स समाधिमरण के अभिलाषी आचाय के समाधि के कारणभूत रत्नत्रय का आराधन होता है।

आशय यह है कि तपस्या से इन्द्रियों का दमन होता है और दमन को प्राप्त हुई इन्द्रियाँ मन में क्रम विकार उत्पन्न करने में

समथ नहीं होती हैं। जब शरीर कृश होजाता है और इन्द्रिया प्रशान्त हो जाती हैं तब स्त्री के साथ कामक्रीड़ा आलिंगनादि क्रियाओं में आदर भाव नहीं होता है यह सुप्रसिद्ध है।

शका—अनशन (उपवास) आदि तपश्चरण में प्रवृत्त हुए पुरुष को आहार के दर्शन से उसका विचार करने से सुनने से भोजन करने की इच्छा उत्पन्न होती है अत तपोभावना से इन्द्रिया विषय से विरक्त होती हैं यह कहना अयोग्य है।

समाधान— आत्मा जब तक वस्तु का त्याग नहीं करता है तब तक उसका चित्त उस वस्तु की ओर दौड़ता है और जब उसका त्याग करता है अर्थात् उस से अनुराग हटा लेता है तब चित्त की प्रवृत्ति उतने समय के लिए उस वस्तु से हट जाती है। क्योंकि पदार्थ को ग्रहण करने की इच्छा अनुराग से होती है अनुराग के अभाव में उपेक्षाभाव उत्पन्न होता है और उपेक्षा के कारण आत्मा उपेक्षित पदार्थ से विरक्त होता है अत तपोभावना से आत्मा में राग द्वेष का अभाव होता है और रागद्वेष के अभाव से कर्म का बन्ध नहीं होता किन्तु संवर और निर्जरा होती है।

जो तपो भावना से रहित है उसमें क्या दोष उत्पन्न होता है इसे दिखाते हैं।

पुव्वमकारिदजोग्गो समाधिकामो तहा मरणकाले।
ण भवदि परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ॥ १६१ ॥
जोग्गमकारिज्जंतो अस्सो दुहभाविदा चिरकाल।
रणभूमिए वाहिज्जमाणओ कुणदि जह कज्ज ॥ १६२ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—समाधिमरण करने के अभिलाषी जिस मनुष्य ने पहले क्षुधा तृषादि परीषह सहन करने का अभ्यास नहीं किया है वह आहारादि का लम्पटी मरण समय में क्षुधादि की परिषहों को सहन करने में असमर्थ होता है। उसका चित्त विषयों से पराङ्मुख (विरक्त) नहीं होसकता है। जिस घोड़े को पहले शब्दों का संकेत नहीं सिखाया गया है उछलने कूदने, घूमने आदि चालों की शिक्षा नहीं दी गई है जो चिरकाल तक सुख से पाला गया है जिसने शीत घाम आदि की बाधा को नहीं सहा है वह घोड़ा रणाङ्गण में किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं होता। वह युद्धस्थल से या तो भाग जाता है या अपने और अपने स्वामी (अश्वारोही) योद्धा के भी प्राण खोदेता है। वैसे ही जिस साधु ने अनशनादि तप करके इन्द्रियों को वश में करने की शक्ति नहीं प्राप्त की है वह मरण समय में क्षुधादि परीषह को सहने

मे समता नहीं रखता है। उसका मन आहारादि विषयों म आसक्त रहता है अत वह समाधि (रागद्वेष के अभाव) को प्राप्त नहीं कर सकता है। अत मुनि को चाहिए कि वह चारित्र का सार जो समाधिमरण है उसको प्राप्त करने के लिए तपस्या का अभ्यास करता रहे। वह अभ्यास उसको अन्त समय म महान सहायक सिद्ध होगा।

(२) श्रुतभावना—आगम का अभ्यास करने स वस्तु के स्वरूप का प्रतिभास होता है जीव और अजीव का भेद विज्ञान होता है। भेद विज्ञान होने से सम्यग्दर्शन (शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव) होता है। आगम के अभ्यास स चारित्र का महत्त्व प्रतीत होता है और उसमें प्रवृत्ति होती है साम्यभाव भी प्राप्त होती है कर्म की निर्जरा के साधनभूत तपश्चरण में अनुराग उत्पन्न होता है और सयम की ओर आत्मा का परिणमन होता है।

शका—आगम के अभ्यास से तो आत्मा में ज्ञान की वृद्धि होती है उससे सम्यग्दर्शन चारित्र तप सयम की प्राप्ति कैसे हो सकती है? जैसे क्रोध का सेवन करने वाला क्रोधी बन जाता है मायावी नहीं बनता। इसी प्रकार ज्ञान का सेवन करने वाला ज्ञानी हो सकता है किन्तु सम्यग्दृष्टि तपस्वी और संयमी नहीं हो सकता है। आपने आगम के अभ्यास स सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती है ऐसा कैसे कहा है?

समाधान—जो वस्तु जिसके बिना नहीं होती है और उसके होने पर ही होती है वह उससे उत्पन्न हुई कही जाती है। जैसे जो कृतक (किसी से उत्पन्न हुआ) होता है वह अनित्य होता है। ऐसी व्याप्ति है। उसी प्रकार जिसको आगम का ज्ञान है उसी के सम्यग्दर्शन तप और सयम होते हैं। जिसको आगम का ज्ञान नहीं है उसके सम्यग्दर्शन तप और सयम नहीं हो सकते हैं। ऐसा कहने में कोई दोष नहीं आता है।

शका—आगम के ज्ञान से सम्यग्दर्शन तो उत्पन्न हो सकता है किन्तु तप सयम उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि हो तो असयत सम्यग्दृष्टि के भी सयम तप आदि मानने पड़ेंगे और यदि उसके सयम तथा तप आदि मान लिया जाय तो उसको असंयत कैसे कहा जावेगा? इसलिए मानना पड़ेगा कि असयत सम्यग्दृष्टि के सयम व तप नहीं हैं। तो फिर आगमज्ञान के अभ्यास से तप संयम की उत्पत्ति का उपयुक्त कथन असत्य सिद्ध हुआ।

समाधान—जिनागम के अभ्यास से तप सयमादि उत्पन्न होते हैं इस कथन का आशय यह है कि यदि तप और सयम होंगे तो आगम के ज्ञाता के ही हो सकते हैं। आगम के ज्ञान बिना तप सयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ऐसी व्याप्ति समझनी चाहिए। आगम के ज्ञाता के अवश्य तप सयम होते हैं ऐसी व्याप्ति नहीं बनाई है।

आशय यह है कि जिसको सम्यग्दर्शन की तथा तप और संयम की प्राप्ति करना है उसे आगम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। आगम के ज्ञान से काललब्धि आदि का योग मिलने पर सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है और निरन्तर आगम का अनुशीलन करने से तप व संयम में आदर भाव उत्पन्न होता है उससे कर्मों की निर्जरा होता है। चारित्र मोहनीय के तीव्र कर्म (अप्रत्याख्यानादि) की निर्जरा होने पर तप व संयम की प्राप्ति होती है अर्थात चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम सहित आगम ज्ञान से ही तप संयम होते हैं।

जो ज्ञानी है आगम का मर्म समझने वाला है उसका नित्य अभ्यास करने वाला है वह क्षुधादि पीड़ाओं के उपस्थित होने पर भी मार्ग से विचलित नहीं होता है। आगम के निरन्तर अभ्यास से उसकी बुद्धि निर्मल रहती है। उस का ज्ञान ऊहापोह के सामर्थ्य से युक्त होता है। ऊहापोह के अभ्यास से उसका जिनागम के विषय में संस्कार एवं स्मृति ज्ञान दृढ़ होता है और वह संकट के समय भी बना रहता है जितनी मनुष्य की प्रवृत्तियां होती हैं वे सब संस्कार के आश्रित होती हैं अतः तप संयम की प्रवृत्ति में भी आगम का संस्कार उपयोगी होता है। इस प्रकार ज्ञान के सामर्थ्य का वर्णन किया।

(३) सत्व (अभीकत्व) भावना—जिस मनुष्य में आत्मबल है वह भयानक उपद्रवों के उपस्थित होने पर भी भयभीत नहीं होता है। उसको चलायमान करने का सामर्थ्य देवों में भी नहीं होता औरों की कौन कहे ? आगम में कहा है —

देवेहिं भेसिदो वि हु कयावराधो भीमरूवेहिं।
तो सत्तभावणाए वहइ भरं णिभओ सयलं ॥ १९६ ॥
बहुसो वि जुद्धभावणाए ण भडो मुज्झदि रणम्मि।
तह सत्तभावणाए ण मुज्झदि मुणी वि वोसग्गे ॥ १९७ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—सत्वभावना (निर्भयता) का अभ्यास जिस साधुने किया है वह व्याघ्र सिंह सर्पादि रूपों को धारण करने वाले देवों से सताया गया भयभीत किया गया भी सामने आये हुए सब कष्टों का आलिंगन करता हुआ संयम के समस्त भार को धारण करता रहता है। वह समझता है कि यह उपसर्ग मेरा प्राण हरण कर सकते हैं किन्तु उन प्राणों से मेरे आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है मैं तो अजर अमर हूँ शरीर ही का तो नाश होता है और वह तो कर्मजन्य है। मेरा धन तो रत्नत्रय है। यदि मैंने इन उपद्रवों से भयभीत होकर संयम का परित्याग कर दिया तो फिर कर्म-शत्रुओं का नाश करना अशक्य हो जावेगा। कर्मों का विनाश न होने से आत्मा को समय २ पर महती पीड़ाएं भोगनी पड़ेगी। अतः भय सब अनर्थों का मूल कारण है। ऐसा निश्चय कर भय से विचलित नहीं होता है। जिस वीर योद्धा ने अनेक

संग्रामों का अनुभव किया है वह रणभूमि में जाकर भयभीत नहीं होता किन्तु उत्साह पूर्वक अपनी रणकुशलता को दिखाने के लिए उद्यत होता है। वैसे ही जिस साधु ने निर्भीकता का अभ्यास किया है वह भयानक उपद्रवों के उपस्थित होने पर भी अपने संयम से विचलित नहीं होता है बल्कि अपने को संबोधित करते हुए यों कहता है कि हे आत्मन्! तुमने संसार के दुःखों से भयभीत होकर उन दुःखों का समूलनाश करने के लिए यह वीर भेष धारण किया है। अनादि काल से दुःख देने वाले मोहादि शत्रुओं को तुमने पहचान लिया है और उनका मूलोच्छेद करने के लिए संयम शस्त्र हाथ में लिया है। वे मोहादि शत्रु तुमको अनेक प्रकार से धोखा देकर तुम्हारे हाथ से संयम शस्त्र छीनना चाहते हैं। रणकुशल योद्धा शत्रु की चालबाजियों में नहीं आता है। वह सदा सावधान रहता है। इसी प्रकार तुमको भी सदा चौकन्ना रहना चाहिए। ये अनेक प्रकार के भय संयम को लूटने वाले मोहनीय कर्म के सुभट हैं। इनसे सचेत रहो। यह तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ करने में समर्थ नहीं हैं। तुम चिदानन्द चैतन्य स्वरूप हो। तुम्हारा धन रत्नत्रय है। उसका नाश करने की शक्ति किसी में भी नहीं है। सिंह व्याघ्र सर्पादि जितने भी भयानक पदार्थ हैं वे इस पुद्गलमय शरीर का विनाश कर सकते हैं। पर यह शरीर तुम्हारा नहीं है। अतः इन आगन्तुक भयानक उपद्रवों से यदि भयभीत होकर विचलित हो गये तो तुम्हारा रत्नत्रय धर्म नष्ट हो जावेगा। फिर इसका पाना अति दुष्कर है।

हे आत्मन्! थोड़ा विचार कर। तूने पृथ्वी शरीर धारण किया उस समय खोदने जलाने हल के द्वारा विदीर्ण करने कूटने फोड़ने पीसने चूर्ण करने आदि की भयंकर बाधाएं तूने सही हैं।

जब तूने जल पर्याय धारण की तब प्रखर सूर्य की किरणों से तथा दहकती हुई अग्नि की ज्वालाओं से तेरा शरीर अत्यन्त जलता रहा। पर्वत की दरारों गुफाओं और शिखरों से अतिवेग से नीचे शिलाओं पर गिरने से महा दुःख का अनुभव तुझे हुआ था। लवण क्षार और खट्टे पदार्थों के साथ तेरा संयोग किया गया था उस समय भयानक वेदना तूने सही थी। धगधगायमान अग्नि के ऊपर डालने से तुझे अतिशय दुःख भोगना पड़ा था। वृक्षों पर गिरकर नीचे कठिन भूमि पर गिरने से तैरते हुए मनुष्य आदि प्राणियों के पावों और हाथों के आघातों से विशाल वक्षस्थल की चोट से विशालकाय हाथी मगर मच्छ आदि जीवों के उछलने कूदने तैरने सूंड से जलका मथने आदि क्रियाओं से तेरे शरीर का मर्दन व विनाश किया गया उस समय के दुःखों का वर्णन वचनागोचर है। ऐसे दुःख भी तूने अनेक बार सहे हैं।

जल पर्याय को छोड़ कर जब तूने वायुरूप शरीर धारण किया तब पहाड़ों वृक्षों कंटीली झाड़ियों से टकराकर तथा अग्नि के संयोग से जल कर पंखे आदि के आघात से प्राणियों के कठिन शरीर के आघात से शरीर की गर्मी के स्पर्श से जलते हुए वन की ऊंची ज्वालाओं तथा सदा काल-समान अग्नि को उगलने वाले ज्वाली मुखी पर्वतों में गिरने से तूने रोमांचकारी दुःखों को अनन्त बार सहन किया है।

जब वायु के शरीर को छोड़कर तू अग्नि के शरीर में गया अर्थात् अग्नि रूप शरीर धारण किया तब अनेक प्रकार की धूल से

भस्म से बालूरेत से तेरा शरीर नष्ट किया गया। जूतों से रौंदा गया। मूसल समान जलधारा डालकर तेरा नाश किया। काष्ट पत्थर आदि से ठोककर तेरा चूर्ण किया गया। मिट्टी के ढेलो और पत्थरों के नीचे दबाकर तेरा कचूमर निकाला गया। वायु के प्रबल धक्के खाकर तू दुःख से विह्वल होकर प्राण रहित हुआ।

जब अग्नि के शरीर को छोड़कर तूने वनस्पति का शरीर धारण किया तब तू कभी फल हुआ कभी पुष्प हुआ कभी पत्र या कोमल अंकुर रूप शरीर धारण किया। उस समय तुझे मनुष्यों ने व पशु पक्षियों ने तोड़ा छिन्न भिन्न किया खाया मर्दन किया दांतों से कुतर कुतर कर तेरे टुकड़े किये गये। चाकू छुरी आदि से छेदन भेदन किया। शिलाओं पर नमक मिर्च मसाला मिलाकर तुझे पीसा। अग्नि पर भूंजा। कड़ाही में घी तेल में तला गया। छोटे पौधे बेल लतादि अवस्था में जड़ से उखाड़ा गया। मध्य भाग छेदन कर अन्यत्र रोपा गया। पशुओं और मनुष्यों के पावों से रौंदा गया। अग्नि में जलाया गया। जल के प्रवाह में बह गया या बहाया गया। वन दाह से भस्म हुआ। अति शीत में जल गया। इत्यादि वचनातीत दुःखों का सहन कर अनन्त बार मरण किया।

जब तू स्थावर पर्याय से निकल इन्द्रिय आदि त्रस पर्याय में आया तब तूने कुंथुआ केंचुआ दीमक कीड़े मकोड़े आदि विकल त्रय का शरीर धारण किया। तब अति वेग से चलने वाले रथ गाड़ी आदि वाहनों के नीचे दबकर तथा गधे घोड़े बैल आदि पशुओं के कठिन खुरों से चोट से कुचले गए। जल प्रवाह में वन की अग्नि में वृक्ष पत्थर आदि के शरीर पर गिरने से मनुष्यों के पैरों द्वारा कुचलने से विरोधी प्राणियों के द्वारा खाये जाने से अत्यन्त दुःख पूर्वक प्राणों का विसर्जन किया।

जब विकलत्रय (द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चौइन्द्रिय) शरीर को छोड़कर गधा घोड़ा ऊंट बैल आदि पंचेन्द्रिय पशु का जन्म धारण किया तब मनुष्यों ने तुझ पर शक्ति से अधिक बोझ लादा और स्वयं सवार होकर तुझे भारी क्लेश दिया। जब भार से दबा हुआ तू चल न सका अथवा धीरे २ चलने लगा तब मार डंडों के तुझे बेहाल कर दिया। चाबुकों की चोट से तथा लकड़ी में लगी हुई लोहे की तीखी कीलों से तेरे शरीर का लोहू लुहान कर दिया। तुझको समय पर घास पानी नहीं दिया। तेरी नाक को छेदकर नाक में नकेल डाल दी गई। गर्दन में रस्सी बांध कर खूंटे पर बांध दिया। या मकान में बन्द कर दिया। शीत की और घाम की अत्यन्त शीतल वायु और ज्येष्ठ मास की अग्नि समान गर्म लू की भयानक वेदना के साथ भूख और प्यास की पीड़ा से तुझे बहुत दुःख हुआ। नाक कान छेदना शरीर को गर्म लोहे से दागना विदारण करना कसाई आदि मांस भक्षी नर पिशाचों के द्वारा कुल्हाड़ी तलवार आदि तीक्ष्ण शस्त्रों से काटे जाना, जीते जी यंत्र पर चढ़ाकर चमड़ा उखेड़ना आदि रोमांचकारी क्रियाओं से तूने महान् यातनाएँ सही हैं।

गाडा रथ आदि से जुतकर जब तू चाबुक आदि की मार के भय से बड़े जोर से दौड़ रहा था तब अचानक खड्डे आदि में गिरकर पाँव टूट गया या बीमारी के कारण तेरा शरीर क्षीण हो गया अथवा हल गाड़ी आदि में अधिक जोतने और खाने को पूरा न देने से काम करने लायक न रहा लाठी चाबुक आर आदि की चोट से पीठ आदि में जख्म होकर कीड़े पड़ गये और तेरे स्वामियों ने तुझे घर से निकाल कर जंगल में छोड़ दिया जहां चारा घास पानी न मिलने के कारण अशक्त होगया और कौवे चील गिद्ध आदि पक्षी तुझे नोच नोच कर खाने लगे। जंगली क्रूर प्राणी कुत्ते स्याल आदि तेरा शरीर कुतर कुतर कर भक्षण करने लगे उस समय उस दुःखको निवारण करने का कोई उपाय नहीं था। तू भागकर एक कदम भी चल नहीं सकता था। उन असह्य दुःख में तेरी आँखों में अश्रुओं की अखंड धारा बहती थी पर कोई दयादिखलाने वाला न था। वह अति भीषण असह्य था।

फिर जब दुष्कर्मों का उपशम हुआ तब तुझे दुर्लभ मनुष्य जन्म मिला। उसमें भी इन्द्रिय विकल दारिद्र्य के दुःख से पीड़ित अथवा असाध्य रोग से ग्रस्त हुआ। उस समय भी मन्द दुःखी रहा। उस समय जिसको तू प्रिय समझता था और जिसकी प्राप्ति के लिए छटपटाता था उस पदार्थ की प्राप्ति नहीं हुई किन्तु उसमें विपरीत अप्रिय दुःख देने वाले अनिष्ट पदार्थों का संयोग मिला। दूसरों की गुलामी करना पड़ा। रात दिन सेवा में लगे रहना पड़ा तो भी खाने पीने को भी पूरा न मिल सका। शरीर ढकने को उचितवस्त्र भी न मिला। शत्रुओं के तिरस्कार का सामना पड़ा। रातदिन परिश्रम करने पर भी जीविका की चिन्ता लगी रही। जीविका के लिए महा पाप किये निन्दा करने योग्य काम किये परन्तु कहीं पर सफलता नहीं मिली। रातदिन पशु समान दुष्कर कार्यों में जुटा रहा। लेकिन वहां पर सुख के बदले में भयानक दुःखों का सामना करना पड़ा।

सफ कदाचित् कुछ शुभकर्म के उदय से तूने देवों में जन्म लिया किन्तु नीच जाति का देव हुआ। तब "यहां से अलग हो, दूर हटो यहां से शीघ्र चले आओ प्रभु के आने का समय होगया है उनके प्रस्थान की सूचना करने वाला नगारा बजाओ अरे! यह ध्वज हाथ में लेकर सीधा खड़ा हो अरे दीन इन देवियों की सेवा टहल कर यहां ठहर स्वामी की इच्छा के अनुकूल वाहन बनकर उनकी सेवाकर। क्या तू भूल गया कि तू विपुलपुण्यधन के स्वामी इन्द्रमहाराज का दास है जो इस तरह चुपचाप खड़ा है आगे आगे क्यों नहीं दौड़ता है?" इस प्रकार अधिकारी देवों के कठोर असुहावने वचन सुनकर तू अनेक बार खेद खिन्न हुआ है। इन्द्र की अप्सराओं के अनुपम रूप लावण्य हाव भाव देखकर हाय ऐसी देवांगनाए मुझे कब मिलेगी? ऐसी अभिलाषा तेरे मनमें उत्पन्न होकर दरिद्र के मनोरथ के समान सब निष्फल होने के कारण जो दुःख तुझे हुआ है वह शब्द से नहीं कहा जा सकता। मृत्युकाल के छहमासपूर्व माला के मुर्झाने से मृत्युकाल निकट आया हुआ जानकर तूने स्वर्ग के दिव्य वैभव के वियोग जन्य महान दुःख को सहा है।

जब तू कर्मयोग से नारकी हुआ उस समय जो छेदादि जन्य दुःख तूने भोगे हैं उनका स्मरण मात्र ही आत्मा को विह्वल

बना रहता है। वहां की पृथ्वी का रूप महाभयानक है जिसको देखने से मनमें घबराहट उत्पन्न होता है। उसका रस हलाहलविष से भी अतिकटु है। जिसकी दुर्गन्ध ऐसी बनी हुई है कि सातवीं पृथ्वी की मिट्टी का परमाणु यदि यहां कोई लेकर ले आय तो उसकी दुर्गन्ध से उनचास मील के दूर तक के पंचेन्द्रिय जीव मरण को प्राप्त हो जावें। वहां की पृथ्वी के स्पर्श करने से उत्पन्न हुआ दुःख हजारों बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने से होने वाले दुःख से भी अधिक होता है।

वहां पर नारकी परस्पर तलवार छुरी आदि शस्त्रों से एक दूसरे पर वार करते हैं, कूटते हैं, करोंत से चीरते हैं। भाड़ में भूजते और उबलते हुए कड़ाही के तेल में तलते हैं। शूली पर चढ़ाते हैं। घानी में कूटकर कचूमर निकालते हैं। घाणी में पेलते हैं। चक्की में पीस डालते हैं। आग में झोंक देते हैं। शरीर के अणु प्रमाण टुकड़े कर देते हैं। गिद्ध व्याघ्र सिंहादि वाला विक्रिया के धारक नारक जीव शरीर को खा जाते हैं। इत्यादि अनेक प्रकार के दुःख नरक में सागरों पर्यन्त भोगे हैं।

तूने पहले भी [illegible] दुःख उठाये [illegible] पड़ा तथा उपसर्ग जन्य दुःख कुछ भी नहीं हैं। उपर्युक्त दुःख अनन्त बार तू भोग चुका है अब इस क्षणमात्र दुःख के सहन में क्यों कायरता धारण करता है। यदि तू कायरता धारण करेगा तो भी उपसर्ग रोग आदि से उत्पन्न होता दुःख तुझको भोगना ही पड़ेगा और आर्त रौद्र परिणामों के कारण महान अशुभ कर्मों का बंध करेगा। और जब उनका उदय आवेगा तब नरकादि में असह्य दुःख भोगना पड़ेगा। [illegible] कायरता का परित्याग कर तूने वीर भेष धारण किया है इसलिए धैर्य पूर्वक आगत दुःखों को सहन कर। रणांगण में प्रविष्ट हुआ वीर शत्रु के आघातों से नहीं डरता है। तूने भी कर्म शत्रुओं से युद्ध करने के लिए इस वीर भेष को धारण किया है। यदि तू [illegible] कर्म शत्रु के [illegible] उपसर्गों का सामना करता रहेगा तो ये स्वयं पराजित हो जावेंगे और सदा के लिए [illegible]। फिर ये कभी तेरी तरफ झांक भी न सकेंगे। यह सब उपसर्ग इस शरीर का बिगाड़ कर सकते हैं। शरीर तो तेरा शत्रु है तुझे [illegible] बंधित रखने वाला है। अब अच्छा अवसर आया है तू शान्ति धारण कर। यदि तूने शान्ति धारण करली रागद्वेष भाव उत्पन्न नहीं किया तो यह शत्रुभूत शरीर समूल नष्ट हो जायगा और फिर कभी तेरे साथ इसका संयोग न होगा। अत एव निर्भय होकर उपसर्गादि को शान्ति से सहन करने के लिए मनको सुदृढ़ बनाले। मन को उपसर्ग आदि से विचलित मत होने दे। अपने मनको मेरु के समान अडोल और अकम्प बनाले।

इस प्रकार से इन भावनाओं का आश्रय लेने वाला साधु मोह युक्त नहीं होता। जैसे बहुत बार युद्ध का अभ्यासी वीर पुरुष युद्ध में कायरता धारण नहीं करता है। इसी भाव को दृढ़ करने के लिए चौथी एकत्व भावना को कहते हैं।

एकत्वभावना

एयस्स भावणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा।
मज्जन वेरग्गमणो फासदि अणुत्तरं धम्मं ॥ २०॥ (भग० आ०)

अर्थ—मैं अकेला हूं। मेरा कोई नहीं है न मैं किसी का हूँ इस प्रकार शरीरादिक अन्य द्रव्यों का चिन्तन करना एकत्व भावना है। इसका अभ्यास करने से आत्मा इन्द्रिय सुख के भोगने में आसक्त नहीं होता है। शिष्यादि वर्ग में तथा शरीर में प्रीति नहीं करता है। एकत्व भावना का पुनः पुनः मनन चिन्तन करते रहने से सब पदार्थों में राग भाव की निवृत्ति और वैराग्य भाव की परिणति होती है तथा चारित्र धर्म की आराधना होती है। एकत्व भावना के काल में इस प्रकार विचार करना चाहिए हे आत्मन् ! तू अनन्त काल से जन्म-जरा मरण के दुःखों का अनुभव कर रहा है। क्या तेरे दुःख को किसी ने बांटा है? अकेले ही तूने जन्म मरणादिक दुःख भोग हैं। जो दुःखों का नाश करने में सहायक होता है उसको तू स्वजन समझता है और जो दुःख के समय सहायता नहीं करता है उसे परजन मानते हैं। स्वजन में प्रीति और परजन में अप्रीति करने लगते हो। लेकिन यह कल्पना मिथ्या है। वास्तव में सुख की उत्पत्ति और दुःख का निवारण सातावेदनीय कर्म के उदय से होता है और दुःख को उत्पन्न करने वाला असाता वेदनीय कर्म का उदय है। यदि तेरे असातावेदनीय कर्म का उदय है और साता वेदनीय कर्म का उदय नहीं है तो संसार में तुझे सुखी बनाने में कोई समर्थ नहीं हो सकता है। जिन्हें तू स्वजन समझ रहा है वे दुःख के निमित्त बन जाते हैं। और जब सातावेदनीय कर्म का उदय तथा असातावेदनीय का उदय नहीं होता है उस समय जिनको तू परजन समझ रहा है वे भी दुःख उत्पन्न करने में समर्थ न होकर कभी २ सुख उत्पन्न करने वाले बन जाते हैं। इसलिए थोड़ा ज्ञान दृष्टि से विचार कर देख। जिनको तू स्वजन समझ कर राग करता है और परजन समझकर द्वेष करते हैं यह तेरा भ्रान्त ज्ञान है (मिथ्या ज्ञान) है। और इसी मिथ्या ज्ञान द्वारा यह जीव अनन्त काल से दुःखी हो रहा है। अतः अब तुझको सम्यग्ज्ञान धारण कर विचारना चाहिए कि मैं अकेला ही जन्म मरण के दुःखों का कर्ता और भोक्ता हूं। मैंने शरीरादिक को अपना समझकर मोह भाव से कर्मों का बन्ध किया है और उनका उदय होने पर दुःखादि मैंने अकेले ही भोगे हैं। वास्तव में शरीरादि से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा चिन्तन करते रहना ही एकत्व भावना है।

इस एकत्व भावना के अभ्यास करने से मनुष्य कामभोग में शिष्यादि समुदाय में शरीर में और सुख में आसक्त नहीं होता। स्पर्शादि इन्द्रियों से जिन पदार्थों का उपभोग किया जाता है उनको कामभोग कहते हैं। लोग स्त्री आदि पदार्थों को सुख के साधन मान लेते हैं। परन्तु एकत्व भावना का अभ्यासी उनमें राग नहीं करता है। अज्ञानी मनुष्य बाह्य पदार्थों का संयोग होने पर मन में सुख की कल्पना करता है। परन्तु इन बाह्य पदार्थों से उत्तरोत्तर लोभ की वृद्धि होती है असन्तोष बढ़ जाता है मन में व्याकुलता उत्पन्न होता है इसलिए इनका परित्याग करने से ही निराकुलता व सन्तोष सुख बढ़ता है।

यह शरीर भी तेरा कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि यह कर्म से उत्पन्न हुआ है और शुभाशुभ कर्म के उदय के अनुसार सुख दुःख में निमित्त होता है। यह तो बेचारा अकिंचित्कर है। अज्ञानी आत्मा बाह्य जीव व अजीव पदार्थों में यह मेरा उपकार करने वाला अथवा यह अनुपकार करने वाला है ऐसा मिथ्या संकल्प करके उनमें राग द्वेष करता है और रागद्वेष के कारण कर्मों के जाल में फंसकर घोर संसार भ्रमण के दुःखों को भोगता है। इसलिए हे आत्मन्! इन बाह्य पदार्थों में जो राग द्वेष बुद्धि हो रही है उसे दूर हटाओ। तुम्हारे साथ इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। तुम्हारी जाति चैतन्य है और ये अचेतन स्वरूप हैं। जो शिष्यादि चेतन पदार्थ हैं उनका सम्बन्ध इस शरीर से है। तुम शुद्ध आत्म स्वरूप हो इसलिए इन शरीर धारक अशुद्ध आत्माओं से तुम्हारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है इस प्रकार विचार करो। इनसे वैराग्य भाव उत्पन्न करने के लिए तथा उसकी वृद्धि करने के लिए इस (एकत्व) भावना का निरन्तर अभ्यास करो। इसका अभ्यास करने से बाह्य पदार्थों से विरक्ति और आत्म-गुणों से अनुरक्ति होती है। उससे आत्मा में स्थिरता उत्पन्न होती है और आत्मा में स्थिर रहने को ही चारित्र कहते हैं। यह चारित्र ही सम्पूर्ण कर्मों का मूलोच्छेद करनेवाला है। अतः यदि तुमको मोक्ष महल के प्रधान सोपान पर दृढ़ता से पात्र रखना है तो उसका मुख्य कारण एकत्व भावना है। यह अज्ञान व मोह का त्याग करवाकर शिव सुख को देनेवाली है और त्याग के इच्छुक मुनियों को परमप्यारी है। अतः इसका निरन्तर अभ्यास करते रहो।

पाँचवा धृतिबल भावना—

णिदिघणिदबद्धकच्छो जोधेइ अणाइलो तमन्वाहयो।
विन्भिावणाए सूरो सपुण्णमणोरहो होइ ॥ २०३ ॥ (भग आ०)

अर्थ—जिसने धैर्य से कमर बाँधली है उस साधु के चित्त में क्षोभ उत्पन्न नहीं होता है और वह परीषह और उपसर्गों की सेना से निर्बाध हुआ उसके साथ युद्ध करता है और धृति भावना के बल से उसका घात करता है।

भावार्थ—जो साधु साहस बल से युक्त है जिसके हृदय में धीरता है वह कठिन से कठिन परीषह और देव मनुष्य, तिर्यचादि कृत उपसर्गों से चचलचित्त नहीं होता है। उनके मन-सुमेरु को उग्र से उग्र क्षुधादि परीषह दुष्ट देवों द्वारा दीगई विभीषिका मनुष्यों के शस्त्र-प्रहार तथा सिंहादि हिंसक प्राणियों के द्वारा दीगई बाधाएं चलायमान नहीं करसकता हैं। चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले कारणों के उपस्थित होने पर जिसका चित्त निर्विकार एवं क्षोभ रहित होता है उसे ही धैर्यशाली माना है। कहा है कि—

"विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।"

अर्थात् विकार का कारण उपस्थित होने पर भी जिसके मन में विकार उत्पन्न नहीं होता वही धीर वीर कहलाता है। धीरता ही सब सिद्धियों की जननी है।

हे आत्मन्! इस धैर्यबल के प्रभाव से ही अत्यन्त कोमलाङ्ग सरसों भी जिनको काँटे समान चुभती थी ऐसे सुकुमाल मुनिराज बच्चों सहित स्यालनी द्वारा नोंच नोंचकर खाये जाने पर भी टस से मस नहीं हुए उनके रोम तक में विकार नहीं हुआ। पाचों पाडवों को अग्नि से संतप्त लोहे के आभूषण पहनाये गये गज कुमार मुनि के मस्तक पर अंगीठी जलाई गई परन्तु उनके चित्त में रंचमात्र क्षोभ नहीं हुआ। वे अपने आत्महित में लगे रहे। यह सब धैर्य का माहात्म्य है। इसलिए तुम भी यदि आत्मकल्याण की कामना रखते हो अपने कार्य की निर्विघ्न सिद्धि चाहते हो तथा परम्परा सुख की अभिलाषा रखते हो तो धैर्य धारण करो। धीर वीर पुरुष के सामने शस्त्र पुष्पहार के समान, और विष अमृत समान हो जाता है। असातावेदनीय कर्म से उत्पन्न हुई रोगादि वेदना भी उनके चित्त को दुःखी नहीं बना सकती है। अज्ञानी व मोही जीव धैर्यहीन होकर अल्प कष्ट को महान् कष्ट और न्यूनतम रोगादि पीडा को महती पीडा समझकर रोता और विलाप करता है और धैर्य का धारक वीर पुरुष उसकी परवाह न कर अधीरता का परित्याग कर शान्ति का अनुभव करता है। वह सोचता है कि मैंने नरकादि दुर्गतियों में असहाय होकर महान् हृदय विदारक दुःखों को सहा है। यह दुःख क्या हैं? इस समय तो मेरे आचार्य परिचारक साधु आदि अनेक सहायक हैं। मुझे सन्मार्ग का उपदेश देने वाले हैं। मेरे कल्याण की कामना रखकर मुझे कुमार्ग से निवृत्त कर रहे हैं। यदि इस समय भी धैर्य हीन हुआ तो मेरे समान अज्ञानी और कायर कौन होगा! अतः इस सुयोग्य अवसर पर मुझे धैर्य का अवलम्बन लेकर शरीर से ममता हटाकर आत्महित के कार्य से विचलित नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार पाच भावनाओं का संक्षेप से वर्णन किया है। इन भावनाओं का संस्कार जिसके अन्तःकरण में अंकुरित हो गया है वह साधु सल्लेखना का आराधन सुगमता से करता है। भावना का अभ्यासी साधु बारह प्रकार के तपश्चरण द्वारा सल्लेखना का प्रारम्भ करता है।

सल्लेखना के भेद

सल्लेखना य दुविहा अब्भंतरिया य बाहिरा चेव।
अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे ॥ २०६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—सल्लेखना के दो भेद हैं। १ आभ्यन्तर सल्लेखना और २ बाह्यसल्लेखना। क्रोधादि कषायों को कृश करने (घटाने) को आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं और तपस्या द्वारा काय के कृश करने को बाह्यसल्लेखना कहते हैं।

भा्वा —क्रोधादिभावों को म करने के लि दृढ प्रयत्न करना तथा अनशनादि तपश्चरण द्वारा शरीर व न्द्रियों के दर्प को ना ला स लखन है। सल्लेखना आ यतर और बाह्य के भ से प्रकार का होता है। आत्मा के कर्मजन्य वैभाविक भावों को क्षीण करना अथवा कषायों के तीव्र होने ह भी ज्ञान व भावना के बल से आत्मा में रागद्वेषादि रूप अथवा क्रोधादि रूप परिणति न होने देना अ तर सल्लेखना है।

सका आशय यह है कि तीव्र कषाय के उदय होने पर आ म क्रोध के वश हो जाता है उसकी ज्ञान शक्ति उस समय अनुपयोगी सिद्ध होती है किन्तु साधु ने ऊपर लिखे अशुभ और आ मा की ययादि गुणों से अलकृत एव त भावना तथा एक वार भावना से संस्कृत कर लिया है वह विपरीत सयोगों के मिलने पर भी क्रोधादि कषायों का दमन करने का पूर्ण प्रयत्न करता है और वह ज्ञान तथा भावना के बल से कषायों को कम करने में कृतकार्य होता है। सी को आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं। या २ कषाय निग्रह न का ल आ मा में शुद्धिगत ह ता जाता है तथा उसके आत्मा में क्रोधादि भावों का सम न होती चली जाती है। क्रोधादि को मन्द करने का जो उद्योग है उसी को आ यन्तर सल्लेखना कहते हैं।

कषायों को म ना करने में प्रवृत्त हुआ आ मा तब तक पूर्णरूप से सफल नहीं होता है जब तक इन्द्रिय और शरीर को अपने वश में नहीं कर लेता है। अत उसको अपना पूर्ण तरह काबू के न के लिए उनके बल को क्षीण करना आवश्यक होता है। क्योंकि क्रोधादि कषायों का प्रादुर्भाव शरीर और विषयों के सम्बन्ध से होता है। अत आभ्यन्तर सल्लेखना की प्राप्ति करने के लिए शरीर और इन्द्रिय से मोह का त्याग कर उनको कृश करना होता है। नियमानुसार शरीर इन्द्रिय के बल का नाश करने के प्रयत्न को सल्लेखना कहते हैं। शास्त्र में कहा है —

म न्दे रस पणाद गिज्जुहिना पसलुक्खण ।

अगणन्तरेणुवधाणेण सल्लिहइ य अप्पय कमसो ॥ २ ७ ॥ (भग आ)

अर्थ— इन्द्रियों के बल की वृद्धि करनेवाले पौष्टिक आहार का परित्याग कर अवग्रह (आखड़ी नियम) द्वारा रुक्ष आहार ग्रहण करता हुआ साधक अपने शरीर को कृश करता है।

भावार्थ—सल्लेखना का आराधक साधु सब प्रकार का त्यागकर अपने शरीर से भी मोहरहित हुआ इन्द्रिय और शरीर के दर्प को दूर करने के लिए पुष्टिकारक जितने भी आहार हैं उनका त्याग करता है। रुक्ष आहार में भी अवग्रह करता है। अर्थात् अनशन अवमौदर्यादि तपश्चरण का आचरण करता हुआ रुक्ष आहार का भी नियमपूर्वक परित्याग करता है।

अनशन तप साधु कभी अनशन (उपवास) करता है। उस दिन चारों प्रकार के आहार का त्याग कर अनशन व्रत ग्रहण करता है। इसको चतुर्थ कहते हैं। चतुर्थ चार बार भोजन त्याग को कहते हैं। एक बार धारणा के दिन का एक बार पारणा के दिन का दोबार उपवास के दिन का भोजन का त्याग इसमें होता है अतः इसे चतुर्थ कहते हैं। षष्ठ बेले (दो दिन का उपवास) को अष्टम तेले और दशम चौले को कहते हैं। इसी प्रकार आगे के उपवास में भी समझ लेना चाहिए।

अनशन तप के दो भेद हैं—१ काल की अवधि वाला अनशन तप और यावज्जीव अनशन तप। शास्त्र में कहा है —

अद्धामणं सव्वाणसणं दुविहं तु अणसणं भणियं।
विहरतस्स य अद्धामणं इत्तरं य चरिमंते ॥ २ ६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—अनशन तप के दो भेद हैं—१ अद्धानशन और २ सर्वानशन। दीक्षा ग्रहण करके साधु जब तक सन्न्यास ग्रहण नहीं करता है तबतक काल की मर्यादा से जो अनशन व्रत ग्रहण करता है अथवा व्रतों में लगे हुए दोषों के प्रतीकार के लिए जो अनशन किया जाता है उसे अद्धानशन कहते हैं। सन्न्यास के समय (समाधिमरण के अन्तिम अवसर में) जो यावज्जीव चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है उसे सर्वानशन कहते हैं।

भावार्थ—अद्धा शब्द का अर्थ काल है यहां पर चतुर्थ षष्ठ आदि से लेकर छह मास पर्यन्त का काल अद्धा शब्द से लिया गया है। अर्थात् चतुर्थ (एक उपवास) से लेकर छह मास तक के उपवास को अद्धानशन कहते हैं। अद्धानशन को मुनि दीक्षाधारण करने के समय से लेकर जब तक सन्न्यास ग्रहण नहीं करता है तब तक अपनी इच्छा एवं आवश्यकतानुसार व्रतादि में उत्पन्न हुए दोषों की निवृत्ति के प्रायश्चित रूप धारण करता है। इस प्रकार काल की मर्यादा पूर्वक धारण किये जाने वाले उपवास को अद्धानशन कहते हैं। सन्न्यास के समय चारों प्रकार के आहार का त्याग करना सर्वानशन तप कहलाता है।

अवमौदर्यतप—किसी समय मुनि अवमौदर्य तप करते हैं। जिसकी जितनी खुराक हो उस खुराक से कम भोजन करने को अवमौदर्य कहते हैं। पुरुषों का अधिक से अधिक भोजन (खुराक) बत्तीस ग्रास माना गया है और महिलाओं का भोजन अठाईस ग्रास कहा गया है। एक ग्रास एक हजार चावलों का माना गया है। अर्थात् एक हजार चावलों का जितना बड़ा पिंड होता है उतना बड़ा एक ग्रास का परिमाण होता है। उससे कम एक चावल के दाने तक के आहार को अवमौदर्य कहते हैं। यथा —

"ग्रासोऽग्रावि सहस्रतन्दुलमितो द्वात्रिंशदेतेऽशनम् ।
पुंसो वैस्रसिक स्त्रिया विबुधास्तद्वानिरौचित्यत ॥
ग्रास यावदथैकसिक्थमवमौदौर्य तपस्त्वरे—
द्धर्मावश्यकयोगधातुसमता निद्राजयाद्याप्तये ॥" (भग० आ० टीका २११)

अर्थात—प्राचीन शास्त्रों में ग्राम एक हजार चौवल प्रमाण कहा गया है। पुरुषों के उक्त प्रमाण वाले ग्रास बत्तीस होसकते हैं और स्त्रियों के अठाईस अथात् पुरुष के लिए अधिक से अधिक बत्तीस ग्रास प्रमाण भोजन और स्त्रियों के अठाईस ग्रास प्रमाण भोजन होता है। इससे अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। साधु का यह अधिक से अधिक आहार है। इसका आशय यह है कि अपने आहार में से एक ग्रास दो ग्रास आदि की कमी करते हुए एक ग्रास या एक चावल के आहार तक पहुच जाना अवमौदर्य तप होता है। आवश्यक क्रियाओं में क्षमा भाव अथात उत्साह उत्पन्न होने के लिए योग साधन के लिए स्वाध्याय सिद्धि के लिए वात पित्त कफ की विषमता को दूर करने के लिए और निद्रापर विजय प्राप्त करने के लिए साधु इस तप का आचरण करते हैं। यथा —

निद्राजय समाधान स्वाध्याय संयम परं ।
हृषीकनिर्जय साधोरवमौदर्यतो गुणा ॥ २ ॥ (संस्कृत० भग०)

रसपरित्याग—सल्लेखना का आराधक छह रस परित्याग नाम का तप भी करता है। दूध दधि घृत तैल गुड इन सब रसों का अथवा इन में से कभी किसी रस का और कभी किसी रस का त्याग करता है। अथवा पुष्प पत्र शाक नमक आदि के त्याग करने को भी रस त्याग माना गया है।

सल्लेखना का आराधक साधु भोजन में स्वाद की अपेक्षा नहीं रखता अपितु रूखा सूखा जैसा भोजन मिल जाता है वैसा ही कर लेता है। शास्त्रों में कहा है —

अशन नीरस शुद्ध शुष्कमस्वादु शीतलम् ।
भुञ्जते समभावेन साधवो निर्जितेन्द्रिया ॥ २१५ ॥ (संस्कृत० भग० आ०)

अर्थ—जिन्होंने इन्द्रियों को वश में कर लिया है ऐसे संयमी नीरस रूखा सूखा स्वादहीन ठंडा लवण घृत दुग्धादि से रहित शुद्ध भात चना रोटी आदि अन्न का भोजन करते हैं।

वृत्तिपरिसंख्यान तप—किसी समय सल्लेखना का आराधक वृत्तिपरिसंख्यान तप का आचरण करता है। अनेक प्रकारके अभिग्रह (अखड़ी नियम व प्रतिज्ञा) करने को वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं। वृत्तिपरिसंख्यान तप का सेवन करने वाला संयमी नियम करता है कि आज मैं एक या दो मुहल्ला में भोजन के लिए जाऊंगा और वहां आहार मिल गया तो ग्रहण करूंगा अन्यथा आज मेरे भोजन का त्याग है। आज मैं एक पोल या गुवाड़ी में ही जाऊंगा और वहां आहार की विधि मिलेगी तो ठीक है अन्यथा आहार का त्याग है। आज मैं अमुक मुहल्ले में जाऊंगा और उसके प्रारंभ के घर में आहार की योग्य विधि मिलेगी तो आहार ग्रहण करूंगा अन्यथा आज आहार का त्याग है। एक बार भोजन जो परोसा जायगा वही लूंगा दुबारा परोसा हुआ भोजन ग्रहण न करूंगा। आज पड़िगाहन में एक आदमी होगा या दो होंगे तो आहार करूंगा। आज मैं इतने ग्रास ही भोजन करूंगा। अन्न पिंडरूप (ग्रास रूप) जो भोजन होगा उसीका ग्रहण करूंगा रबड़ी दूध आदि द्रव पदार्थ का सेवन न करूंगा। आज द्रवरूप पदार्थ का ही ग्रहण करूंगा। आज उसी पदार्थ का योग मिलेगा तो भोजन लूंगा जो न तो केवल द्रवरूप होगा और न केवल पिंडरूप चना कढ़ी आदि। आज चना चवला मसूर मूंग आदि धान्य अन्न का ही आहार लूंगा। आज मैं केवल जलमात्र पाऊंगा। अमुक वस्तु हाथ में लिए हुए पड़िगाहेंगे तो आहार लूंगा अन्यथा आज मेरे आहार ग्रहण करने का त्याग है। आज शाक के साथ मूंग या कुलथी मिले भात आदि मिश्रित होंगे तो मैं आहार लूंगा अन्यथा आहार का त्याग है। थालीके मध्य में भात रख कर उसके चारों ओर शाक रखी होगी तो आहार लूंगा। आज मध्य में अन्न रखा हो और उसके एक तरफ दाल शाक आदि रखे गये होंगे तो आहार लूंगा। चटनी आदि से संयुक्त भात रोटी आदि होगी तो आज आहार ग्रहण करूंगा। केवल शुद्ध जल से युक्त भात होगा तो आज ग्रहण करूंगा। हाथ में चिपकने वाला कोई अन्न मिलेगा तो लूंगा। आज हाथ में नहीं चिपकने वाला अन्न मिलेगा तो लूंगा। आज धुले चावल आदि का आहार लूंगा। अथवा बिना धुले खड़े चांवल होंगे तो आहार ग्रहण करूंगा। इत्यादि अनेक प्रकार की प्रतिज्ञा लेकर साधु गोचरी को निकलते हैं। की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार विधियुक्त यदि आहार मिलता है तो ग्रहण करते हैं अन्यथा उस दिन अनशन करते हैं। इसको वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं।

पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए।
इच्चेवमादिविविधा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा ॥ २२१॥ (भग० आ०)

अर्थ—सुवर्ण के पात्र में चांदी के भाजन में कांसे के बर्तन में या मिट्टी के पात्र में परोसा गया भोजन ही आज ग्रहण करूंगा।

आज मैं श्रावक के हाथ से आहार लूंगा। वह श्रावक यदि राजी होगी या वृद्धा होगा या अलंकार रहित होगा या ब्राह्मणी होगी या वैश्य वर्ण की होगी या राजपुत्री होगी तो उनके हाथ से आहार लूंगा अन्यथा नहीं। इत्यादि पात्र दाता भोज्यवस्तु गृहादि के विचार से अपनी शारीरिक मानसिक शक्ति की पूरी जांच कर जो प्रतिज्ञा की जाती है उसे वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं।

कायक्लेशतप—कभी मुनि अपनी आत्मीयशक्ति को विकसित करने लिए शरीर से ममत्व त्याग कर अनेक प्रकार के कायक्लेशकारी तपों का आचरण करते हैं। कायक्लेशतप करने वाला संयमी अपनी शक्ति को लक्ष्य में रखकर तपश्चरण करता है। जिस तप के आचरण करने से उत्तरोत्तर तप में अनुराग और उत्साह की वृद्धि होती रहे उतना तप कर्मों की निर्जरा करनेवाला माना गया है। कायक्लेश तप कई प्रकार का होता है।

कोई कायक्लेश गमन से होता है। जिस समय ज्येष्ठ वैशाख मास की कड़ी धूप हो उस समय पूर्वाह्ण में (सूर्य के सम्मुख) पश्चिम दिशा में गमन करना मध्याह्न के समय प्रचण्ड सूर्य की प्रखर किरणों से संतप्त भूतल पर गमन करना पश्चिमदिशा से (सूर्य के सम्मुख) पूर्व दिशा में गमन करना सूर्य को पीठ पीछे करके गमन करना एक ग्राम में पहुंच कर बिना विश्राम लिए दूसरे ग्राम की ओर गमन करना एक ग्राम को जाकर वहां से बिना विश्राम लिए वापस लौट आना यह सब गमन निमित्तक कायक्लेश तप है।

कोई कायक्लेश तप स्थान (खड़े रहने) के विषयक होता है—पर्याप्त स्तम्भ या भीत के सहारे खड़े रहना पहले के स्थान से दूसरे स्थान में जाकर वहां पर एक पहर एक दिन आदि काल का नियम लेकर खड़े रहना अपने स्थान पर ही निश्चल होकर खड़े रहना कायोत्सर्ग करना अपने समान अन्तर में पांव रखकर भूमि पर खड़े रहना एक पांव से खड़े रहना आकाश में उड़ते समय गृध्र पक्षी के जैसे पंख फैलते हैं वैसे दोनों बाहु फैलाकर खड़े रहना पांव के अग्रभाग के बल खड़े रहना पांव के अंगूठे के बल खड़े रहना इत्यादि अनेक प्रकार से काल की मर्यादा पूर्वक खड़े रहना स्थान-कायक्लेश तप कहा जाता है।

अनेक आसन मांडकर तपश्चरण करने को आसन कायक्लेश तप कहते हैं। एक पहर दोपहर आदि का प्रमाण कर पालथी मांडकर बैठे रहना पर्यंकासन कायक्लेश तप है। नितम्ब भाग (चूतड़) के पांव लगाकर बैठना समपर्यंकासन कायक्लेश तप है। गाय के दोहते समय एड़ियों को उठाकर पांव के अग्रभाग (पंजों) के बल जैसा बैठते हैं वैसा बैठना गोदोहासन कायक्लेश तप है। भूमि को नहीं छूते हुए दोनों पांवों को मिलाकर और शरीर के ऊपर के भाग को सिकोड़कर बैठना उत्कुटिकासन कायक्लेश तप है। मगर के मुख समान दोनों पांवों की आकृति बनाकर बैठना मगरमुखासन कायक्लेश तप है। जैसे हाथी सूंड को फैलाता है वैसे एक पांव को फैलाकर बैठना अथवा एक हाथ को फैलाकर बैठना हस्तिशुण्डासन कायक्लेश तप है। दोनों जंघाओं को सिकोड़ कर गौ जिस प्रकार बैठती है वैसे बैठना

को गवासन कायक्लेश तप कहते हैं। दोनों जांघों पर दोनों पांव रखकर बैठना अथवा दोनों पिंडलियों को दूर अन्तर पर स्थापन करना वीरासन कायक्लेश तप कहा जाता है। इस प्रकार अनेक आसन लगाकर ध्यान करने को आसननिमित्तक कायक्लेश तप कहते हैं।

अब शयन में जो कायक्लेश तप होता है उसे कहते हैं। दण्ड समान शरीर को लम्बा करके सोना दण्डायतशयन कायक्लेशतप है। खड़े खड़े सोना ऊर्ध्वभूशयन कायक्लेशतप है। अवयवों को मुकोड़ कर सोना लगुडशयन कायक्लेश तप कहते है। मुखको ऊँचा रखकर चित सोने को उत्तानशयन कायक्लेशतप कहते हैं। मुखको नीचे रखकर औंधा सोने को अवमस्तकशयन कायक्लेश तप कहते हैं। बाई या दाहनी करवट से किसी करवट से सोना एकपार्श्वशयन कायक्लेश तप माना गया है। मृतक के समान बिना हिलेचले चेष्टा रहित सोने को मृतकशयन कायक्लेश तप कहा जाता है। बाहर निरावरण प्रदेश में (खुले मैदान में) सोने को अभ्रावकाशशयन कायक्लेश तप कहते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार के शयन हैं उनमें से अपनी शक्ति व सुविधा के अनुसार जिस प्रकार सोये हो वैसे ही नियत समय तक सोते रहना शयन का परिवर्तन (बदला बदली) न करने से शयन निमित्तक कायक्लेश तप होता है। अब अन्य कायक्लेशों को कहते हैं।

थूकने की आवश्यकता होने पर भी नहीं थूकना शरीर में खुजली की बाधा उत्पन्न होने पर भी शरीर को नहीं खुजलाना सूखे तृण के ऊपर काठ के पाट पर पत्थर की शिला पर तथा भूमि पर शयन करना केशों का लोच करना (उखाड़ना) रात्रि में न सोना जागरण करना स्नान नहीं करना दांतों को नहीं मांजना आतप शीत गर्मी तथा जलवृष्टि आदि की बाधा सहना शरीर को क्लेश पहुचाने वाले अनेक साधनों को जुटाकर शरीर सम्बन्धी कष्टों को शान्ति से सहन करना कायक्लेश तप कहा गया है।

विविक्त शय्यासन तप—जो प्रासुक हो जिस वसतिका में राग तथा द्वेष भाव को उत्पन्न करने वाले मनोज्ञ व अमनोज्ञरूप रस गंध स्पर्श और शब्द न पाये जाते तथा जहा पर स्वाध्याय और ध्यान में विघ्न उपस्थित न होता हो उस वसतिका को विविक्त कहते हैं। वही वसतिका मुनि के योग्य मानी गई है। ऐसी वसतिका में सोने या रहने को विविक्त शय्यासन तप कहते हैं।

इस विविक्त शय्यासन में स्त्रियां नपुन्सकों असामर्यों और पशुओं का संचार नहीं होना चाहिए। इनसे उनके ध्यानाध्ययन में बाधा उपस्थित होती है और अपने कर्तव्य कर्म को निर्विघ्न रूप से नहीं कर सकते। अतः साधुवर्गों के लिए एकांत और पवित्र स्थान की अनिवार्य आवश्यकता है इसीलिए विविक्त शय्यासन को एक तप का स्थान दिया गया है।

वसतिका के बारे में यह ख्याल रखना भी नितान्त आवश्यक है कि वह उद्गम उत्पादना व एषणा दोषों से रहित हो अन्यथा वह स्थान अथवा रहने योग्य नहीं है। उद्गम उत्पादन और एषणा दोषों से भयंकर एक दोष और है जिसका नाम अधः कर्म है। अधः कर्म अर्थात् सब में नीचा कर्म (कार्य)।

(१) आधाकर्म दोष—यह सब दोषों से महान् दोष है। इस दोष से मुनि के महाव्रतों का नाश होता है। वृक्षों को काट कर लाना ईंटों को पकाना पृथ्वी खोदना नीव आदि को पत्थर मिट्टी आदि से भरना पृथ्वी को कूटना कीचड़ करना, खंभे तैयार करना अग्नि से लोहे को तपाना व घनों से कूटना करौत से काठ चीरना बसोंले से छीलना फरसे से छेदन करना इत्यादि नाना प्रकार की क्रियाओं से छह काय के जीवों को पीड़ा देकर वसतिका स्वयं बनाई हो या दूसरे से बनवाई हो अथवा बनाने वाले का अनुमोदन किया गया हो तो वह आधाकर्म दोष है। यह महादोष है। इसका सेवन करने से मुनिपना नष्ट होता है।

उद्गम दोष

(१) उद्देश दोष—जितने भी दीन अनाथ कंगाल या भेष धारी हैं उन सब के लिए बनाई गई धर्मशाला आदि हो या पाखंडी साधुओं के लिए बनवाये गये मठ वगैरह अथवा बौद्ध साधुओं के लिए या निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए बनवाये गये आश्रमादि हो वे सब उद्दिशिक वसति कहलाते हैं। अर्थात् किसी पाखंडी आदि के उद्देश से बनवाई गई वसति में रहने से उद्देश दोष होता है।

(२) अध्याधि दोष—गृहस्थ अपने उपभोग के लिए मकान बनवाता हो तब पत्थर ईंट चूना आदि अधिक मंगवाकर साधुओं के लिए भी एक दो कमरे बनवाले और उसमें मुनि ठहरें तो अध्यधि दोष होता है।

(३) पूतिदोष—गृहस्थ ने अपने लिए मकान बनवाने के निमित्त बहुत से पत्थर ईंट काष्ठ आदि एकत्र कर रखे हों उनमें थोड़े से पत्थर ईंट काष्ठ मुनि की वसतिका के निमित्त मिलावे तो पूति दोष होता है।

(४) मिश्रदोष—पाखंडियों या गृहस्थों के ठहरने के लिए मकान बनवाते हुए गृहस्थ के मनमें विचार उत्पन्न हो जावे कि संयमीजनों के ठहरने के लिए भी इसमें वसतिका बनवाऊँ इस उद्देश से पहले इकट्ठी की गई पत्थर चूना आदि सामग्री में थोड़ा पत्थर चूना काठ आदि सामग्री और मिला दे तो मिश्र दोष होता है।

(५) स्थापित दोष—अपने लिए कोई मठ भवनादि बनवाया और पश्चात् विचार किया कि यह संयमियों के लिए ही नियत है ऐसा संकल्प करने से स्थापित दोष होता है।

(६) प्राभृतक दोष—जिस दिन साधु आवेंगे उस दिन इस वसतिका की सफेदी पुताई वगैरह करवावेंगे ऐसा विचार करके मुनिके आने पर वसतिका का संस्कार (धुलाई पुताई आदि) करवाने से प्राभृत दोष होता है। अथवा साधु के आने के काल को लक्ष्य में रखकर वसतिका सँवारने में विलम्ब करना इसको भी प्राभृतक दोष कहते हैं।

(७) प्रादुष्कार दोष—जिस मकान में अन्धकार बहुत है उसमे प्रकाश लाने के लिए (मुनियों के निमित्त) भीत फोड़कर खिड़की या जाली निकालना ऊपर के काठ के तख्ते आदि हटाना दीपक जलाना–यह सब प्रादुष्कार दोष है।

(८) क्रीतदोष—गाय भैंस बैल आदि सचित्त (सजीव) द्रव्य देकर अथवा गुड़, शक्कर घृतादि अचित्त द्रव्य देकर संयमी के लिए वसतिका खरीदना क्रीतदोष है।

(९) भावक्रीतदोष—विद्या मन्त्रादि देकर मुनि के लिए वसतिका खरीदना भावक्रीत दोष है।

(१०) पामिच्छ (प्रामित्र) दोष—भाड़ा या व्याज देकर मुनि के लिए वसतिका लेना वह पामिच्छ (प्रामित्र) दोष है।

(११) परिवृत्त दोष— आपका मकान मुनियों के ठहरने के लिए दो और मेरे मकान में आप रहो इस प्रकार विनिमय (बदला) करके मुनियों के निवास के लिए मकान लेने से परिवृत्त दोष होता है।

(१२) अभिघट दोष–अपने मकान की दीवाल आदि के लिए जो छप्पर स्तम्भ चटाई आदि सामग्री बनवाई थी वह मुनियों की वसतिका के लिए लाना अभिघट दोष है। इस दोष के दो भेद हैं—१ आचरित अभिघट और १ अनाचरित अभिघट दोष जो सामग्री दूर देश से अथवा दूसरे गांव से लाई गई हो तो अनाचरित अभिघट दोष होता है अन्यथा आचरित अभिघट दोष। कहलाता है।

(१३) उद्भिन्न दोष—जो मकान ईंटों से मिट्टी के पिंड से कांटों की बाड़ से या किवाड़ों से ढका हो उस पर से उनको हटाकर वह मकान मुनियो को देना उद्भिन्न दोष होता है।

(१४) मालारोह दोष—निसैनी आदि से चढ़कर आप यहां पधारिये आपका विश्राम करने लिए यह स्थान दिया जाता है ऐसा कहकर संयमियों को दुमंजिला या तीन मंजिल पर मकान देना मालारोह दोष है।

(१५) आछेद्य दोष—राजा मंत्री या अन्य किन्हीं प्रधान पुरुषो का भय दिखला कर दूसरे के स्थान को मुनि के ठहरने के लिए दिलाना वह आछेद्य दोष है।

(१६) अनिसृष्ट दोष—दानकार्य में अनियुक्त वसतिका के स्वामी से अथवा बालक से या परवश हुए स्वामी से जो वसतिका दी जाती है वह अनिसृष्ट दोष से युक्त होता है।

इस प्रकार सोलह उद्गम दोष हैं। ये दोष गृहस्थ के आश्रित हैं। मुनि को इन दोषों में से किसी एक दोष का भी भान हो जावे तो उस वसतिका में मुनि को नहीं ठहरना चाहिए। मालूम हो जाने पर यदि साधु उस दूषित वसतिका में ठहरता है तो वह दोष का भागी होता है।

उत्पादन दोष

अब उत्पादन दोष को कहते हैं। यह दोष साधु के आश्रित है। इस के भी सोलह भेद हैं। इन भेदों का संक्षेप स्वरूप यह है।

(१) धात्री दोष—संसार में धात्री कर्म पांच हैं उनमें से किसी एक के निमित्त से वसतिका की प्राप्ति करना धात्री दोष है। (१) कोई धात्री (धाय) बालक को स्नान कराती है। ( ) कोई बालक को क्रीडा कराती है। (३) कोई बालक को वस्त्र अलङ्कारादि से सजाती है। (४) कोई बालक को खिलाती पिलाती है। (५ कोई बालक को सुलाती है। ऐसी पांच धात्रिया (धाय) होती हैं। जब कोई गृहस्थ अपने बालक को मुनि के निकट लावे तब मुनि बालक के माता पिता को कहे कि बालक को इस प्रकार स्नान कराना चाहिए, इस तरह क्रीडा करवाने से बालक प्रफुल्लित रहता है इस तरह के वस्त्र व अलङ्कारादि से अलंकृत करने से बालक सुन्दर लगता है बालक को अमुक २ पदार्थ का सेवन करवाने से इसकी शारीरिक व मानसिक शक्ति का विकास होता है तथा अमुक रीति से बालक को सुलाना चाहिए—इस प्रकार धात्री कर्म का उपदेश देकर साधु गृहस्थ को अपने ऊपर अनुरक्त करके यदि वसतिका प्राप्त करता है तो उसके धात्री दोष उत्पन्न होता है।

( ) दूतकर्म दोष—अन्य ग्राम नगर या देश में रहने वाले गृहस्थ के पुत्र पुत्री जमाता या अन्य सम्बन्धियों के सन्देश समाचारादि कहकर वसतिका प्राप्त करने से दूतकर्म दोष होता है।

(३) निमित्त दोष—अङ्ग व्यञ्जन लक्षण छिन्न भूमि स्वप्न अन्तरीक्ष और शब्द के भेद से आठ प्रकार का निमित्त ज्ञान होता है। इस निमित्त ज्ञान द्वारा वसतिका प्राप्त करना निमित्त दोष है। अर्थात् शरीर के अङ्ग उपाङ्ग का आकार एवं स्वरूप देखकर तिल मसे आदि व्यञ्जन का अवलोकन कर शरीर में रहने वाले स्वस्ति भृंगार कलश दर्पण भौंरी आदि लक्षणों को जानकर वस्त्र छत्र आसनादि को चूहे काटे आदि से अथवा शस्त्र अग्नि आदि से छिन्न भिन्न देख कर या सुनकर तथा भूमि की रुखाई चिकनाई रङ्ग रूपादि देखकर शुभ या अशुभ स्वप्न को देखकर या सुनकर आकाश में ग्रह नक्षत्रादि की आक्रांत उल्कापात दिशा का रूपादि देखकर एवं चेतन अचेतन के स्वर (शब्द) का श्रवण कर जो भूत भविष्यत् वर्तमान में घटित होने वाले शुभ अशुभ सुख दुःख जय पराजय सुभिक्ष दुर्भिक्षादि को उक्त अष्ट निमित्त ज्ञान से जानकर गृहस्थ को कहना कि पहले ऐसा हुआ था इस समय ऐसा होने वाला है और भविष्य में ऐसा होगा—इस प्रकार निमित्त ज्ञान द्वारा वसतिका प्राप्त करना निमित्त दोष है।

(४) आजीव दोष—अपना जाति कुल ऐश्वर्य आदि द्वारा अपनी महिमा (बड़प्पन) प्रकट करके वसतिका की प्राप्ति करना आजीव दोष है।

(५) वनीपक दोष—कोई गृहस्थ साधु से पूछे कि हे भगवन् ! दीन अनाथ या पाखंडी भेष धारी आदि सबको आहार दान करने से या ठहरने को स्थान देने से पुण्य होता है या नहीं ? इस प्रकार पूछने पर साधु विचारे कि यदि पुण्य नहीं होता है ऐसा कहूंगा तो यह गृहस्थ अप्रसन्न हो जावेगा और वसतिका न देगा ऐसा सोचकर गृहस्थ के अनुकूल उत्तर देकर वसतिका की प्राप्ति करने वाले साधु के वनीपक दोष होता है।

(६) चिकित्सा दोष—आठ प्रकार की चिकित्सा (वैद्य * विद्या) से वसतिका प्राप्त करना वह चिकित्सा दोष है।

(७) क्रोध दोष—क्रोध दिखाकर वसतिका प्राप्त करना क्रोध दोष है।

(८) मान दोष—मैं इतना बड़ा तपस्वी हूं मैं बड़ा विद्वान् हूं मेरी आत्मा में शापानुग्रह शक्ति है-इत्यादि अभिमान दिखाकर वसतिका प्राप्त कर मान दोष है।

(९) माया दोष—छल कपट का प्रयोग करके वसतिका प्राप्त करना माया दोष है।

(१०) लोभ दोष—किसी प्रकार का लोभ दिखाकर वसतिका प्राप्त करना लोभ दोष है।

(११) पूर्वस्तुति दोष—मुनियों के लिए आपका घर ही आश्रय है ऐसी बात हमने दूर दूर देशों में सुनी है इस प्रकार पहले गृहस्थ की स्तुति करके वसतिका प्राप्त करना पूर्व स्तुति दोष है।

(१२) पश्चात् स्तुति दोष—कुछ काल वसतिका में रह कर जाते समय गृहस्थ की प्रशंसा इस अभिप्राय से करना कि भविष्य में जब कभी यहां आवेंगे तो वसतिका की प्राप्ति होगी तो वह पश्चात् स्तुतिदोष मानागया है।

(१३) विद्यादोष—विद्या के प्रयोग से अथवा विद्या का लालच देकर गृहस्थ को वश में कर वसतिका की प्राप्ति करना विद्यादोष है।

* शल्य शालाक्य कायचिकित्सा भूतविद्या कौमारभृत्य अगदतंत्र रसायन और वाजीकरण यह आठ प्रकार की आयुर्वेद चिकित्सा है।

(१४) मन्त्रदोष—मन्त्र का प्रयोग करके या मन्त्र का लोभ देकर वसतिका प्राप्त करना मन्त्र दोष है।

(१५) चूर्ण दोष—नेत्रांजन शरीरसंस्कार चूर्ण वशीकरणादि चूर्ण का लोभ देकर वसतिका प्राप्त करना चूर्ण दोष है।

(१६) मूलकर्म दोष—विरक्तों को अनुरक्त करने का प्रयोग दिखाकर वसतिका प्राप्त करना मूल कर्म दोष है।

ये सोलह दोष पात्र (मुनि) के आश्रित हैं इसलिए साधुओं को इन सब दोषों से रहित वसतिका का सेवन करना चाहिये।

एषणा दोष

अब एषणा दोष को कहते हैं। इसके दश भेद निम्न प्रकार हैं —

(१) शंकित दोष—यह वसतिका साधु के ठहरने योग्य है या नहीं ? इस प्रकार शंका जिस वसतिका में उत्पन्न हो जावे वह शंकित दोष से दूषित मानी गई है।

(२) म्रक्षित दोष—जो वसतिका तत्काल लीपी पोती गई अथवा सींची गई हो जलका पात्र लुढकाकर उसी समय धोई गई हो वह वसतिका म्रक्षित दोष युक्त होती है।

(३) निक्षिप्त दोष—सचित्त पृथ्वी जल हरितकाय बीज या त्रसजीवों के ऊपर पट्टा (तख्ता आदि) फलक (काठका पट्टा रखकर यहां आप शय्या कीजिए ऐसा कहकर जो वसतिका दी गई हो वह निक्षिप्त दोष से दूषित होती है।

(४) पिहित दोष—हरितकाय कांटे सचित्त मिट्टी आदि के आवरण को हटाकर जो वसतिका दीजावे वह पिहित दोष वाली मानी गई है।

(५) साधारण दोष—काष्ठ वस्त्र कांटे आदि को घसीटते हुए अग्रगामी मनुष्य के द्वारा दी जानेवाली वसतिका साधारण दोष वाली कही गई है।

(६) दायकदोष—जो मनुष्य सूतक या पातक (जन्म या मरण की अशुचि) से अशुद्ध हो अथवा पागल हो, या नपुंसक हो भूतप्रेतादि की बाधावाला हो या नग्न हो ऐसे पुरुष से दीगई वसतिका दायक दोष से युक्त मानी गई है।

(७) उन्मिश्र दोष—जो पृथिवी जलादि स्थावरजीवों और चींटी खटमल आदि त्रसजीवों से युक्त वसतिका हो वह उन्मिश्र दोष से दूषित कही गई है।

(८) अपरिणत दोष—जो स्थान किसी के गमनागमन से मर्दित नहीं हुआ है वह घर मकान आदि वसतिका का स्थान अपरिणत दोष युक्त होता है।

(९) लिप्तदोष—जिस मकान में गुड़ शक्कर घृत तैलादि लिप्त हो जिसमें चींटी आदि जीव चिपक जावें—उस वसतिका को लिप्तदोष से संयुक्त समझना चाहिए।

(१०) परित्यजनदोष—जिस वसतिका के अल्प भाग का शय्या व आसन (सोने बैठने) के कार्यों में उपयोग हो और फिर भी उसका बहुत भाग रोकना पड़े तो उसे परित्यजन दोष कहते हैं।

ये दश दोष एषणा के हैं ये जिस वसतिका में पाये जावें उस वसतिका में संयमी को नहीं ठहरना चाहिए।

अंगारादि चार दोष

इन उक्तदोषों के अतिरिक्त १ अंगार २ धूम ३ संयोजना और प्रमाणातिरेक ये चार दोष और हैं।

(१) अंगारदोष—यह वसतिका सर्दी गर्मी वायु आदि उपद्रवों से रहित है। यह न तो अति उष्ण है और न अतिशीत है तथा वायु के उपद्रव से रहित बड़ा सुहावनी और विशाल है–इस प्रकार आसक्ति पूर्वक वसतिका मे निवास करने वाले साधु के अंगार दोष होता है।

(२) धूमदोष—यह वसतिका सर्दी गर्मी तथा वायु आदि के उपद्रवों से युक्त है, इस प्रकार निंदा करता हुआ वसतिका में रहने वाले साधु के धूम दोष होता है।

(३) संयोजनादोष—जो संयमी के काम मे आने वाली वसतिका असंयमी पुरुषों के बाग बगीचे या रहने के निवास स्थान से मिली हुई हो तो वह संयोजना दोष से युक्त कही गई है।

(४) प्रमाणातिरक—जो वसतिका साधु के शयनासन (सोने बैठने) आदि कार्यों के उपयोग में तो अल्प आवे और बहुत सी भूमि ग्रहण कर तो उस साधु को प्रमाणातिरक दोष प्राप्त होता है।

ऊपर विवेचन किये गये छियालीस दोषो स रहित वसतिका में निवास करन वाले मुनि के विविक्त शय्यासन तप होता है। विविक्त शयनासन करने वाले मुनि को उस वसतिका में भी नहीं ठहरना चाहिए जिसके प्रमार्जन में विवेक से काम नहीं लियागया है जो अ धाधुध बिना देखे भाले झाड़ी बुहारी यालीपी पोती गई हो, तथा जिसमें जीवों की उत्पत्ति और कीडे मकोड़े आदि जन्तुओं की अत्यधिकता हो । तथा जिस में राग द्वेष युक्त भेषधारी या असयमियों का शय्या आसन हो– ऐसी वसतिका संयामियों के योग्य नहीं मानी गई है। आगे उक्त प्रकार विविक्त स्थान में शय्यासन करन वाले सयमी के निवास करने के लिए योग्य वसतिकाएँ कौनसी हैं इस दिखाते हैं—

सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुगारदेवकुले ।
अकदप्पब्भारारामघरादीणि य विचित्ताइ ॥ २३१ ॥ (भग० आ)

अर्थ—सूनाघर पवर्तो की गुफाए वृक्षों मूलभाग देशदेशान्तर स आने वाले व्यापारी वगादि के मनुष्यों के लिए ठहरने के मकान देवकुल (देवले–देव देवी के मन्दिर) स्वत बना हुआ शिलागृह—अर्थात् किसी मनुष्य के द्वारा जिसका निर्माण नहीं हुआ हो ऐसा पत्थर की शिलाओं का बना हुआ घर क्रीड़ा करने क लिए आने वाले मनुष्यों के लिए बनाये गये उपवन गृह (बाग बगीचों के घर) मठ आदि ये सब स्थान सयमियों के ठहरने योग्य विविक्त वसतिकाएँ हैं।

इन स्थानों में विश्राम करने वाले साधुओं को किसी प्रकार का दोष नहीं लगता। वे तू तू मैं मैं से तथा यह वसतिका मेरी है यह तेरी है इत्यादि कलह स दूर रहते हैं। ऐसी एकान्त वसतिकाओं में रहन से मन को क्षोभित करने वाले मनुष्यों के रोले नहीं सुनाई देते हैं परिणामों में सक्लेश ता नहीं होती चित्तम व्यग्रता नहीं होती। असयमी मनुष्यों का अनुचित ससर्ग नहीं होने से ध्यान और अध्ययन में व्याघात नहीं होता।

शका—ध्यान और अध्ययन में क्या अन्तर है ? क्योंकि बाह्य विषयों से चित्त की निवृत्ति तो दोनों में समान है।

समाधान—एक विषय में ज्ञान की सन्तान को स्थिर करना ध्यान कहलाता है। पर स्वाध्याय में ऐसा नहीं होता। स्वाध्याय में ज्ञान का अनेक विषयों म सचार होता है। अथात् जब ज्ञान परम्परा एक विषय में कुछ समय तक स्थिर हो जाती है तब तो ध्यान होता है और जब ज्ञान धारा विषय स विषयान्तर एक प्रमयस दूसर प्रमय में शाघ्र बदलती रहती है तब स्वाध्याय होता है।

शंका—कहीं शास्त्रों में स्वाध्याय का शुभ ध्यान कहा है सोक्से ?

समाधान—स्वाध्याय ध्यान का कारण है इसलिए कारण में काय का उपचार करके स्वाध्याय को भी ध्यान कह दिया गया है।

एकान्त वसतिका में निवास करन वाला मुनि बिना क्लेश के सुख पूर्वक अनशनादि बाह्य तप तथा स्वाध्याय ध्यानादि अभ्यन्तर तप में प्रवृत्त हुआ आत्म स्वरूप में लवलीन रहता है। उसके चित्त को तथा इन्द्रियों को आकर्षित करने वाले प्रतिकूल संयोगों का सम्पर्क न होन स चित्त में शान्ति और इन्द्रियों का दमन सुलभता स होता है। एकान्त में रहने के कारण उसके पांच समितियों का पालन सहज म होजाता है। वह मन वचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति रुकजाने से आत्महित के कृत्यों में लवलीन रहता है। उसके स्वाध्याय ध्यानादि में विघ्न करने वाले रागद्वेषादि भाव उत्पन्न नहीं होते हैं। परिणामों में सक्लेश नहीं होने से चित्त में परम विशुद्धि होती है। आत्म स्वभाव में स्थिर रहने स कर्मों क आस्रव का अभाव होकर सवर और निजरा होती है। शास्त्र में कहा है—

जो णिज्जरदि कम्म असवुडो सुमहदावि कालेण।
त सवुडा तवस्सी खवेदि अ तोमुहुत्त ण ॥ २३४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जो साधु बाह्य विषयो म दौडते हुए मन वचन काय को न रोककर मासोपवासादि कायक्लेशकारी उग्रोग्र बाह्य तपस्या के द्वारा बहुत काल में जितने कर्मों की निजरा करता है गुप्ति समिति धम अनुप्रेक्षा तथा परिषहजय में तत्पर रहने वाला साधु उतने कर्मों की निजरा अन्तमुहूर्त में करता है। क्योंकि गुप्ति आदि स जो कर्मों को निजरा होती है वह संवर पूर्वक होती है और समिति गुप्ति आदि रहित केवल बाह्य तपस जो निजरा होती है वह संवर रहित होती है। सवर रहित निर्जरा मोक्ष मे उपयोगी नहीं होती है। क्योंकि संवररहित बाह्य तप से निजरा करन वाला साधु जसी पुरान कर्मों की निजरा करता है वैसे हो नवीन कर्मों का बन्ध भी करता है। और संवर पूवक निजरा करन वाला साधु पुरान कर्मों की निजरा भी करता है और नवीन कर्मों के आस्रव को भी रोकता है। अत आगम में संवर पूवक निजरा को ही महत्त्व दिया गया है। निजरा को संवर पूवक बनाने के लिए साधु को ऐसे तपश्चरण का आचरण करना चाहिए जिससे मन दुष्कृत्यों की ओर प्रवृत्त न हो। जैस इन्द्रियों के विषयों का सवन करना दुष्कर्म है वैसा हो अथवा उससे अधिक दुष्कर्म क्रोधादि कषायों के वश में होना है। इन्द्रियों और मन को वश में रखकर प्रायश्चित्त स्वाध्यायादि तप की निर्बाध सिद्धि करने के लिए अनशनादि तप कियाजाता है। क्रोधादि क आवेश बढ़ जान पर आत्मा प्रायश्चित स्वाध्यायादि तपस्या को करने में असमर्थ हो जाता है इसलिए तप की वृद्धि के साथ क्रोधादि कषायों का उपशम भी होना परमावश्यक है। जिस तपस्वी के क्रोध मान माया या लोभ का आवेश होता है, वह

तपस्या को कलंकित और निष्फल करदेता है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि तपस्या वही श्रेष्ठ मानीगई है जिससे चारित्र के पालन में संयम के आराधन में उत्साह व उमंग उत्तरोत्तर बढ़ता रहे तथा पूर्व के धारण किये व्रत और नियमों का दृढ़ता से पालन होता रहे।

बाह्यतप के गुण

इसके लिए बाह्यतप भी बहुत जरूरी है। बाह्यतप आत्मा को सन्मार्ग में तत्पर करने का अपूर्व साधन है। इस तप से जीवका आलस्य नष्ट होता है तथा सुखिया स्वभाव दूर होता है। कष्ट सहिष्णुता बढ़ती है और परिषह सहन करने की प्रकृति बनती है। शरीर से स्नेह छूटकर वैराग्य भाव मे दृढ़ता आती है और संसार से चित्त उद्विग्न होकर आत्म-धर्म में प्रवृत्त होता है।

यद्यपि संसार से भयभीत हुए बिना तपश्चरण में तत्परता नहीं होती है तथापि बाह्यतप के आचरण करने वाले का आगम के पठन पाठन मनन में संलग्न होना है और निरन्तर ज्ञानामृत का पान करने रहने से आत्मा में पात्रता आजाती है। तब संसार से उद्विग्न होता है और उस संसार की असारता निश्चय होजाती है इसलिए वह तपस्वी संसार के दुखों से घबराकर आत्महितकर धर्म में लग जाता है।

न बाह्य तपों का उपयोग यही है कि अनशन अवमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग इन चार तपों के द्वारा जिह्वा इन्द्रिय का दमन होता है। विविक्त शयनासन और काय क्लेश तपके द्वारा स्पर्शन घ्राण चक्षु और कर्णेंद्रिय का दमन होता है। मनका दमन तो सभी से होता है। एकान्त वसतिका में स्पर्शनादि इन्द्रियों को लुभाने वाले विषयों का अभाव होता है अतः विविक्त वसतिका में निवास करने से स्पर्शनादि इन्द्रियां आत्मा के वश में रहती हैं।

आहारादि का त्याग करने से विषय प्रेम घटता है और रत्नत्रय में स्थिरता बढ़ती है। क्योंकि विषयों में व्याकुल हुआ चित्त रत्नत्रय में स्थिर नहीं रहकर विषय सम्बन्धी अशुभ विचारो-संकल्प विकल्पों के जाल में गोता लगाता रहता है। बाह्य तप के कारण विषयों से उदासीनता बढ़ती है और उत्तम कार्यों (स्वाध्यादि) मे प्रेम बढ़ता है।

बाह्यतप के आचरण से शरीर में कृशता आती है और आत्मशक्ति विकसित होती है। इससे मुनि की जीवित रहने की आशा व तृष्णा का क्षय होता है। विनश्वर शरीर से मोह हटकर आत्मीय गुणों (क्षमादि) में अनुराग उत्पन्न होता है। जो शरीर से मोह रखता है वह मनुष्य बाह्य तप का अनुष्ठान करने से भय खाता है। उसकी आहारादि सम्बन्धी लम्पटता नहीं छूटती है। तथा वह असंयमादि का आचरण करके भी शरीर को सुखी रखने तथा प्राण धारण किये रहने की इच्छा रखता है। और वह रत्नत्रय के आराधन में उपेक्षा धारण

करता है। अत शरीर से मोह का सम्बन्ध शिथिल करने के लिए बाह्यतप का आचरण करना चाहिए। शरीर विषयक मोह के घटने पर आत्म गुणों में प्रेम की वृद्धि होती है संयम पर स्थिर रहने की भावना दृढ होती है तथा विनश्वर शरीर का उत्तम कार्यों में उपयोग करने की सच्ची लगन उसके मन में पैदा होती है।

मरण काल में जो सम्पूर्ण आहार का परित्याग करना पड़ता है उसका अभ्यास बाह्यतप के आचरण करने से ही होता है। जिसने पहले अनशनादि तप का अभ्यास किया है वह समाधि मरण के अवसर पर सुगमता से आहार का त्याग कर सकता है और जिसने अनशनादि बाह्य तप का आराधन नहीं किया है वह सहसा आहार का त्याग करने में कृतकार्य नहीं होता है उसे आहार का त्याग करने से भय उत्पन्न होता है। क्षुधा-तृषा की बाधा सहन करने का अभ्यास न होने से वह एकदम आहार का त्याग करने से व्याकुल चित्त हो जाता है। उसकी आखों के सामने अधेरा सा आ जाता है सिर चक्कर खाने लगता है और उसका मन अशान्त हो जाता है। अत मरण को सुधारने के लिए अनशनादि तप का आचरण बराबर करते रहना चाहिए।

बाह्यतप के आचरण से निम्नलिखित गुण व्यक्त होते हैं —

निद्रागृद्धिमदस्नेहलोभमोहपराजय

ध्यानस्वाध्याययोर्वृद्धि सुखदु खसमानता ॥ २४२ ॥ (स भग आ)

अर्थ—निद्रा आत्मा को ज्ञानोपयोग से रहित जड़ बना देती है। निद्रा के वशीभूत हुआ मुनि सामायिक प्रतिक्रमण,स्वाध्याय ध्यान से पराङ्मुख होता है। निद्रा मनुष्य को मृतक समान बना देती है और दर्शनावरणादि कर्मों का बन्ध करती है। उस पर विजय प्राप्त करने का मुख्य साधन अनशन अवमौदर्यादि बाह्य तप हैं। निद्राविजयी बनने के लिए यथाशक्ति तपस्या करना परमावश्यक है। जो नित्य भरपेट भोजन करता है सरस आहार करता है वह मृदुस्पर्शयुक्त निरुपद्रव सुखप्रद स्थान में निद्रा राक्षसी का ग्रास बनता है। उसको सामायिक स्वाध्याय व ध्यान करते समय निद्रा घेरलेती है। भरसक प्रयत्न करने पर भी वह अपने चित्त को सामायिक स्वाध्यायादि में नहीं लगा सकता है। नींद पर नींद आने लगती है और वह चेतना शून्य होकर अशुभ विचारों के प्रवाह में बहने लगता है अतएव निद्रा का त्याग करने के लिए बाह्यतप का नित्य यथाशक्ति अवश्य आचरण करना चाहिए।

गृद्धि (आहारादि की आसक्ति) संयमी को संयम से ढकेलती है। जिस साधु के मन में आहार की लम्पटता होती है, वह भक्ष्य अभक्ष्य का प्रासुक अप्रासुक का सदोष निर्दोष का विचार नहीं करता है। वह तो अपनी लालसा को शान्त करना चाहता है जो वह

जिह्वा न्द्रिय के वशंगत होकर अपने सयम रत्न को खो देता है। जा तप का अभ्यासी है अनशनादि तप का अनुष्ठान करने वाला है, उसके आहारादि का लालसा नहीं होती है। वह जब शरीर स भी मोह नहीं रखता है तब आहारादि म आसक्ति कैसे कर सकता है ? अत बाह्य तप क आचरण करने वाले क आहारादि की लालसा भी नहीं होती है।

बाह्य तप के द्वारा ही मन्जय अथात् न्द्रियो का दमन होता है। उपवास ऊनोदर रसत्याग आदि यथायोग्य तपस्या को जो सयमी करता रहता है उसकी इन्द्रियाँ दपहीन हो जाती हैं। उनमे विषय सवन की जो उत्सुकता होती है वह उपशान्त हो जाती है। न्द्रियो की प्रकृति है कि जब उनको बल दन वाले अनुकूल विषयों का सम्पक मिलता है तो उनका दप (मद) की वृद्धि होती है और उनक वश म करना कष्ट सा य होता है। किन्तु उपवासादि तप के कारण अनुकूल सामग्री न मिलन स वे शक्तिहीन हो जाती हैं तब उनका मद नष्ट होजाता है और व मन्त्र कीलित सप की भांति मदहीन होकर सयमी के अधीन रहती हैं। इन्द्रियो क दमन करने का निर्दोष व प्रधान साधन तप क अतिरिक्त कोई नहीं है।

स्नेह लोभ आ मोह का पराजय करन क लि अमोघ शस्त्र एक बाह्यतप है। तपस्या करने वाला अपने शरीर स भी स्नेह नहीं करता। उसको जब अपन जीवन का भी लोभ नहीं होता तब शरीर स मोह क्या करगा ? और ऐसी दशा में उसके स्त्री पुत्र व अन्य वस्तुओं म स्नेह लोभ या मोह कैसे हो सकता है? क्योकि जितनी भी बाह्य वस्तुए हैं उनका साक्षात सम्बन्ध शरीर क साथ है। शरीर द्वारा ही उनका परम्परा सम्बन्ध आत्मा क साथ है। जिसन शरीर स स्नेहादि सम्बन्ध तोड दिया है उसक स्त्री पुत्र धन या शिष्यादि वग क साथ स्नेहादि सम्बन्ध स्वत ही टूट गया। अत जो आत्मार्थी तथा मनुष्य अति कठिन मोहादि शत्रुओं स अपना पिण्ड छुडाना चाहते हैं उनको अनशनादि तप का आचरण अवश्य ही करना चाहिए।

ध्यान की सिद्धि व वृद्धि चित्त की एकाग्रता स होती है। चित्त की एकाग्रता सम्पन्न करने के लिए अनशन अवमौदर्यादि बाह्य तप का आचरण परमोपयोगी माना गया है। कारण कि उपवास या ऊनोदर आदि तपस्या के द्वारा अशक्त हुई इन्द्रियाँ अपने विषयों स उदासीन होती हैं। और इन्द्रियों को उदासीन होन स मन भी मुर्झा जाता है। वह विषयो स उदासीन हुआ आत्मीय ध्यानादि कार्यों मे लवलीन होता है। इन्द्रियाँ निरन्तर प्रवृत्त होत हैं मन भी उधर खिंच जाता है। जब इन्द्रियाँ चञ्चलता का परित्याग कर स्थिरता धारण कर लती हैं तब असहाय हुआ मन भी स्वत स्थिर होन लगता है। और चित्त की स्थिरता को ही ध्यान कहते हैं। अत ध्यान की सिद्धि व उसको उत्तरोत्तर वृद्धिगत करन के लिए अनशन अवमौदर्य रसपरित्याग व विविक्तशयनासन का आचरण करना नितान्त आवश्यक है।

स्वाध्याय वृद्धि के लिए भी बाह्य तप नितान्त आवश्यक है। जो बहुत भोजन करने वाला है या पुष्ट और गरिष्ठ रसीले आहार

का सेवन करता है उसे आलस्य घेर लेता है निद्रा आने लगती है और स्वाध्याय से चित्त ऊब जाता है। जिसने उपवास अवमौदर्यादि तप से आलस्य और निद्रा को दूर कर दिया है वह निर्बाध होकर स्वाध्याय में रम सकता है। अतः स्वाध्याय की सिद्धि व वृद्धि के लिए बाह्य तप अपूर्व साधन है।

बाह्य तप का आचरण करने वाले मुनि के सुख दुःख में समभाव होता है। अर्थात् उसके इन्द्रिय जन्य सुख में राग और क्षुधादि वेदना से उत्पन्न हुए दुःख में द्वेष भाव नहीं होता है। अतः वह सुख दुःख में समभाव धारण करने वाला होता है।

तात्पर्य यह है कि बाह्यतप मुनि को बाह्य विषयों से पृथक् करता है और आत्मा के गुणों के विकास करने में प्रवृत्त करता है। संयम का तो निष्कलंक अलंकार तप है। मुक्ति अङ्गना उसी के गले में वर माला डालती है जो तप रूप भूषण से भूषित होता है। क्योंकि संसार के मूल कारण कर्मों का समूल नाश तपश्चरण से ही होता है।

दूसरे मुनि को तपस्या को देखकर नये कोमललाग मुनियों को भी तपस्या में अनुराग उत्पन्न होता है। उनके वैराग्य की वृद्धि होती है शरीर से प्रेम नष्ट होता है संसार में आसक्त हुए रोगीजन भी तपस्वी मुनि के तपश्चरण का अवलोकन कर संसार से भयभीत होते हैं। वे विचारने लगते हैं देखो! यह मुनिराज संसार से भयभीत होकर अपने शरीर से भी कितने विरक्त हैं धन्य है इनको जो ऐसे दुर्धर तपश्चरण का आचरण करते हैं। धिक्कार है हमको जो संसार से निडर होकर शरीर के दास बने हुए हैं हमको अपने कल्याण के अर्थ अवश्य तपश्चरण करना योग्य है। ऐसा चिन्तन कर तपस्या करने में प्रवृत्त होते हैं। जिन धर्म से विमुख प्राणी भी तपस्वी साधुओं के दर्शन कर उनके दुर्धर तप से प्रभावित होते हैं और धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर अपना कल्याण करने में तत्पर हो जाते हैं।

अनशनादि तप के अनुष्ठान से आत्मीय गुणों के विकास के साथ शरीर भी स्वस्थ होता है शरीर का भारीपन मिटता है मेद (चर्बी) की वृद्धि रुकती है वात और कफ की विषमता दूर होती है अपच की बीमारी का नाश होता है आलस्य दूर होकर स्फूर्ति रहती है कार्य करने की क्षमता प्राप्त होती है बुद्धि का विकास होता है।

मुनि का ध्येय सर्वोपरि ज्ञान प्राप्त करना है अपनी बुद्धि और मेधा शक्ति की वृद्धि करना है, विश्व को आश्चर्य चकित करने वाले शास्त्रीय ज्ञान तथा दिव्य ज्ञान को उपलब्ध करने हेतु तपस्या रूप औषधि का सेवन करो। इस तप रूप रसायन का सेवन कर जड़ बुद्धि साधु अलौकिक दिव्य ज्ञान के धारक होगये हैं। द्वादशाङ्ग वाणी का पूर्ण ज्ञान तथा अवधि मनःपर्याय और केवलज्ञान तपश्चरण से ही प्रकट होते हैं। ये ज्ञान शास्त्रों के अभ्यास से नहीं उत्पन्न होते हैं इनका उत्पादक तपश्चरण ही है।

पूर्ण श्रुतज्ञानादि तो तपस्या से होते ही हैं किन्तु जड़-बुद्धि मनुष्य के ज्ञान का विशेष प्रादुर्भाव भी तपस्या के आचरण से हो सकता है। बहुत से अल्प बुद्धि मनुष्यों के ज्ञानावरण का चमत्कारी क्षयोपशम तपश्चरण से हुआ है। यह निःसन्देह है कि तपस्या से अवश्य ही ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम उपशम या क्षय होता है। अतः यदि ज्ञानवान मेधावान विद्यावान् आदि बनना हो तो तप का अभ्यास करना चाहिए। इसीसे तेजस्विता वाग्मिता और विद्वत्ता उत्पन्न होती है।

सल्लेखना के आराधन का फल यह है कि काय और कषाय को कृश करने में उद्यत हुआ संयमी अनशनादि तप की क्रमशः वृद्धि करता है। अर्थात् एक उपवास के बाद दो उपवास (बेला) करता है। तत्पश्चात् तीन उपवास (तेला) चोला आदि अनशन तप को बढ़ाता है। मुनियों के अधिक से अधिक आहार का प्रमाण बत्तीसग्रास कहा है। उसमें एकग्रास दोग्रास तीनग्रास आदि की न्यूनता (कमी) करते हुए अवमौदर्य तप की वृद्धि करता है। एक रसका दो रसों तीन रसों आदि का त्याग क्रमशः करते हुए रसपरित्याग तप को बढ़ाता है। आज मैं एक मुहल्ले में ही आहार के लिए भ्रमण करूंगा अथवा सात घरों में या तीन घरों में ही आहार के लिए प्रवेश करूंगा। आज एकग्रास या दो चार दस बीस या कतिपय ग्रास ही ग्रहण करूंगा। इस प्रकार ग्रास के प्रमाण का नियम कर वृत्तिपरिसंख्यान तप की वृद्धि करता है। दिनमें आतापन योग करके रात्रि में प्रतिमायोग धारण करने का नियम करता हुआ कायक्लेश तप की उन्नति करता है। सूने घर पर्वत की गुफा बनादि में वसतिका में आश्रय लेकर विविक्तशय्यासन तपको वृद्धिगत करता है। इस प्रकार तपों की वृद्धि करते हुए संयमी के थकावट मालूम होती है तब वह उक्त अनशनादि तप का क्रम से न्यून (कम) करता है। बढ़ी हुई तपस्या को शनैः शनैः घटाने को तप की हानि कहते हैं। अथवा सब प्रकार बढ़ते हुए तपश्चरण से रूक्ष व रसहीन आहार का अल्प करते हुए शरीर को कृश करता है।

अथवा सल्लेखना का दूसरा प्रकार यह है कि कषाय और काय कृश करने को उद्यमी संयमी एकदिन अनशन (उपवास) ग्रहण करता है दूसरे दिन वृत्तिपरिसंख्यान तप धारण करता है तीसरे दिन अवमौदर्य तप अंगीकार करता है। अथवा प्रतिदिन आहार में कमी करता हुआ अपने शरीर को और कषाय को घटाता जाता है।

सल्लेखना का आराधन अन्य २ प्रयोगों से

जब सल्लेखना करने वाले संयमी के आयुष्य शेष हो तथा शरीर में योग्य सामर्थ्य विद्यमान हो तब वह अनगार के शास्त्रोक्त बारह प्रतिमायोगों को अंगीकार करता है। उस शक्तिशाली साधु के उन प्रतिमाओं के स्वीकार करने से शरीर व मन में पीड़ा नहीं होती है। वह प्रसन्नता पूर्वक अपने शरीर व कषाय को कृश करने के लिए प्रतिमायोग अङ्गीकार करता है। जो साधु अपने बल की तुलना किये बिना प्रतिमायोग धारण करता है उसके योग का भंग होता है और चित्त में संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं।

प्रतिमायोग

प्रतिमायोग को धारण साधारण शक्तिशाली मुनि नहीं कर सकता है। उनका धारण करने वाला मुनि उत्तम सहनन का धारक होना चाहिए। जो धैर्य और शरीर बल में बलिष्ठ होता है तथा आत्मीय शक्ति से सम्पन्न होता है और परिग्रह पर विजय करने में शूरता रखता है जो धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान को परिपूर्ण करने वाला है जिस देश में वह स्थित है वहां पर बड़ी कठिनता से प्राप्त होने वाले आहार ग्रहण करने का नियम लेता है कि यदि एक मास के भीतर अमुक दुर्लभ आहार मिलेगा तो उसका आहार लूंगा उसके अतिरिक्त एक महान तक अन्य भोजन का त्याग है। इस प्रकार एक मास का प्रतिज्ञा करता है और उस मास के अन्तिम दिन में वह प्रतिमा योग धारण करता है। यह एक प्रतिमा है।

भिक्षु प्रतिमा और उसके ७ भेद

वह संयमी फिर पूर्वोक्त आहार से सौगुने उत्कृष्ट और दुर्लभ भिन्न प्रकार के आहार की दो मास की प्रतिज्ञा लेकर दो मास के अन्तिम दिन में प्रतिमा योग धारण करता है। वह दूसरी भिक्षुप्रतिमा होती है।

पूर्व कथित आहार से सौगुने उत्कृष्ट और दुर्लभ आहार की तीन मास पर्यन्त प्रतिज्ञा धारण करता है। यदि तीन माह के भीतर अमुक भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूंगा अन्यथा सब भोजन का तीन माह तक त्याग है। उस तीन माह के अन्तिम दिन में प्रतिमा योग धारण करता है। उसे तीसरी भिक्षु प्रतिमा कहते हैं। इसी प्रकार उत्तरोत्तर सौ सौगुने उत्कृष्ट और दुर्लभ (कठिनता से मिलने वाले) भोजन की प्रतिज्ञा चार पांच छह व सात माह तक की क्रम से अंगीकार करता है और चार माह पांच माह तथा छह माह और सात माह के अन्तिम दिवसों में प्रतिमा योग स्वीकार करता है यह क्रमश: चौथी पांचवीं छटी और सातवीं भिक्षु प्रतिमा होती है। तत् तत्सम्बन्धी योग को तत् त प्रतिमा योग कहते है। इस प्रकार सात प्रतिमाओं के सम्पन्न होने पर पूर्वोक्त आहार से उत्कृष्ट और दुर्लभ भोजन की सात सात दिन तक की प्रतिज्ञा तीन बार अंगीकार करता है। प्रतिज्ञा के अनुसार भोजन की प्राप्ति होने पर यथाक्रम तीन ग्रास दो ग्रास और एक ग्रास ग्रहण करता है। ये आठवीं नवमीं और दशवीं तीन भिक्षु प्रतिमाएं हैं। इसके अनन्तर रात और दिन प्रतिमा योग से खड़ा रहता है, यह ग्यारहवीं और उसके बाद रात्रि में ध्यान स्थित रहता है यह बारहवीं-प्रतिमा तत्पश्चात् प्रथम अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान प्रादुर्भूत होता है। और पश्चात् सूर्य का उदय होने पर केवल ज्ञान प्रकट होता है। यही कहा है —

' मासिय दुय तिय चउ पणमास छम्मास सत्तमासीय।
तिण्णेव सत्तराइ राइदिय राइपडिमाओ ॥ १ ॥ "

आचाम्ल तप

प्रश्न—सल्लेखना के कारण भूत उक्त जितने तप वर्णन किये गये हैं उनमें सबसे श्रेष्ठ कौन है ?

उत्तर—शरीर को कृश करने के निमित्त भूत जो तप हैं वे अनेक हैं किन्तु उनमें 'आचाम्ल तप सब श्रेष्ठ है।

प्रश्न—आचाम्ल तप की विधि क्या है ?

उत्तर—बेला तेला चोला और पचोला तक के उपवास के अनन्तर पारणे के दिन परिमित और शीघ्र पचने वाला काजी का आहार प्राय साधु किया करते हैं। अर्थात् आत्मा में सक्लेश उत्पन्न न हो इस प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार बेला (दो दिन का उपवास) तेला (तीन दिन का उपवास) चोला (चार दिन का उपवास) और अधिक से अधिक पचोला (पाच दिन का उपवास) करे। जिस दिन पारणा करना हो उस दिन परिमित और लघु (शीघ्र पचने वाला) काजी भोजन करे। इसे आचाम्ल भोजन कहते हैं। कहा भी है —

'समाऽथषष्ठाष्टमकैस्तपोऽधिकैस्ततो विप्रकृष्टैर्दशमैः शमात्मक ।
तथा लघुद्वादशकैश्च सेवने मितम्मुदाऽऽचाम्लमनाविलोलघु ॥''

अर्थात्—आचाम्ल तपस्या का इच्छुक संयमी प्रथम दो दिन का उपवास करे और अपने चित्त में सक्लेश न हो शान्ति का अनुभव होवे तब तीन दिन का उपवास करे। उतने उपवास से भी आत्मा में सक्लेश भाव न हो तो चार दिन का उपवास करे। पश्चात् पाच दिन के उपवास की प्रतिज्ञा करे। प्रत्येक पारणे के दिन परिमित और लघु काजी का भोजन करे।

प्रश्न—इतना विवेचन आपने समाधिमरण के समय जो भक्तप्रत्याख्यान के विषय में किया है उस भक्तप्रत्याख्यान का काल अधिक से अधिक कितना होता है ?

भक्त प्रत्याख्यान का काल

उत्तर—जब आयु बहुत बाकी हो तब भक्तप्रत्याख्यान का काल अधिक से अधिक बारह वर्ष का बताया गया है। अर्थात् आयु के अधिक होते हुए भी किसी ने पहले बतलाये गये समाधिमरण के कारणों में से किसी कारण के उपस्थित होने पर भक्तप्रत्याख्यान प्रारम्भ कर दिया हो तो उसके भक्तप्रत्याख्यान का काल बारह वर्ष तक हो सकता है इससे अधिक नहीं।

भक्तप्रत्याख्यान काल की यापन विधि

प्रश्न—भक्तप्रत्याख्यान के उक्त बारह वष के काल को सयमी किस प्रकार बितावे ?

उत्तर—बारह वष क काल में से प्रथम चार वष सयमी अनेक प्रकार के तपश्चरण में बितावे। उन चार वर्षों में अपने परिणामों को उज्ज्वल रखते हुए नाना प्रकार के कायक्लेश तप का आचरण करे। चार वर्षों के बीत जाने पर अगले चार वर्षों में संयमी दूध दही घृत गुड आदि सम्पूर्ण रसों का त्याग कर रूखा सूखा व स्वल्प भोजन पान स्वीकार करता हुआ अपने शरीर को कृश करता रहे। इस प्रकार करन स उसका शरी तो कृश होता है किन्तु परिणामों में निमलता की वृद्धि होती है। इस तरह आठ वष व्यतीत करता है।

अवशिष्ट चार वर्षों में स पहले दो वर्षों को आचाम्ल (कांजी) भोजन तथा चटनी शाकादि स्वादिष्ट रस व्यंजनादि से रहित भोजन म यतीत करता है। उन दो वर्षों क अनन्तर एक वष केवल आचाम्ल भोजन से बिताता है। अन्तिम एक वष प्रथम छह मास में म यम तपस्या का अनुष्ठान कर शरीर को कृश करता है और अन्तिम छह मास में उत्कृष्टोत्कृष्ट कायक्लेश तपश्चर्या का आचरण कर शरीर को क्षीण करता है। इस तरह वह सयमी अपनी आयु क अन्तिम बारह वर्षों म सल्लेखना का आराधन करता है।

प्रश्न—क्या सल्लेखना करन वाले सयमी को अपन आयु क अन्तिम वष उक्त विधि के अनुसार ही बिताने योग्य हैं अथवा और कोई दूसरा भी प्रकार है ?

उत्तर—उक्त विधि स ही तपश्चरण करने का नियम नहीं है किन्तु द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अनुकूलता और प्रतिकूलता स तपस्या का अनुष्ठान तथा आहारादि का ग्रहण व त्याग करना चाहिए। शास्त्रों में कहा है —

> भत्त खेत्त काल धादु च पडुच तह तव कुज्जा।
> वादो पित्ता सिंभो व जहा खोभमुउवयति ॥ २५५ ॥ (भग आ)

अर्थ—भोजन अनेक तरह का होता है। कोई भोजन ऐसा होता है जिसमें शाक अधिक होती है किसी में दूध या दही या घृतादि अधिक मात्रा में होते हैं। किसी मे जौ चना मूग मोठ कुलथी आदि धान्य का भाग अधिक होता है। कोई भोजन शाक दाल आदि रहित होता है। इत्यादि अनक प्रकार क भोजन होते हैं। क्षेत्र भी अनेक प्रकार के होते हैं-कोई अनूप देश होता है (जिस देश में जल बहुत होता है-जल प्राय अधिक होते हैं उस अनूप देश कहते हैं) कोई देश जाङ्गल होता है (जिसमें वृष्टि कम होती है और नदी आदि नहरों

से कृषि होती है उसे जागल देश कहते हैं), कोई देश साधारण होता है (जिसमें उक्त दोनों लक्षण पाये जाते हैं उसे साधारण देश कहते हैं)।

काल के शीतकाल ग्रीष्मकाल और वर्षाकाल ये भेद होते हैं।

अपने शरीर की प्रकृति को धातु कहते हैं। किसी की शरीर-प्रकृति वात प्रधान होती है किसी की कफ प्रधान और किसी की पित्त प्रधान होती है। अपनी प्रकृति को लक्ष्य में रखकर वात पित्त और कफ की समता रखते हुए योग्य भोजन का सेवन करना चाहिए अनूप देश में वात और कफ वर्धक आहार का सेवन करना ठीक नहीं। जागल देश मे पित्त प्रकुपित करने वाले आहार का ग्रहण अहितकर है। इसी प्रकार शीतकाल ग्रीष्मकाल वर्षाकाल के योग्य भोजन का ग्रहण और उनके अयोग्य भोजन का त्याग करना सयमी का कर्तव्य है।

इस प्रकार द्रव्य (भोजन) क्षेत्र और काल के अनुकूल तपश्चरण और भोजन का ग्रहण करने वाला सयमी अपने भावों की उत्तरोत्तर विशुद्धि करता हुआ सल्लेखना की सिद्धि करने में कृतकार्य होता है।

यह ध्यान मे रखना चाहिए कि यह सब प्रयास तभी सफल है जबकि भावों में उज्ज्वलता वृद्धिगत होती रहे। चाहे सल्लेखना की विधि का किसी भी प्रकार आचरण किया जाय यह अपनी इच्छा पर निर्भर है। परन्तु अपने भावों में मलीनता उदासीनता और सक्लेश न आवे ऐसा ध्यान रखना चाहिए। जितनी भी सल्लेखना की विधियां हैं वे परिणामों में उज्ज्वलता उत्पन्न करने के लिए हैं। इसलिए सयमी को उचित है कि वह एक क्षणमात्र भी आत्मा की विशुद्धि का त्याग न करे। आत्मा की विशुद्धि के बिना जितना भी तप किया जाता है वह सब निरर्थक है क्योंकि उससे आत्मा का हित नहीं होता। जो आत्म हित के उद्देश्य के बिना तप करता है उसे चाहे लोक में आदर सम्मान व पूजा प्रतिष्ठा की प्राप्ति हो जाय पर तुष खण्डनवत् है उसकी यह आकांक्षा उसको अधोगति में ले जाने वाली है। भाव रहित कायक्लेश तप से उसको कदाचित् देवगति भी प्राप्त हो जावे तो भी उसका आतम परिणाम कुगति है। इसलिए आत्मा का (अपना) हित करने की इच्छा रखने वाले को सांसारिक विषयों की अभिलाषाओं के लात मार कर कर्मों की निर्जरा और आत्म-गुणों को प्रकाशमान करने के लिए तपस्या करना चाहिए क्योंकि कर्मों के क्षय होने से आत्म सुख की प्राप्ति अवश्य होती है। वृक्ष के मूल में जल सिंचन करने वाला मनुष्य वृक्ष के हरे भरे पत्तों की शीतल छाया और उसके पुष्पों की मकरन्द का अनुभव करता हुआ उसके मृदु स्निग्ध और दिव्य फलों का अनुभव करता है। वैसे ही कर्मों की सवर पूर्वक निर्जरा करने वाला मोक्षमार्ग का पथिक महात्मा आनुषंगिक रूप से प्राप्त होने वाले नर लोक और देवलोक के सुखों का अनुभव करता हुआ शाश्वत दिव्य अनुपम सुखों को प्राप्त होता है।

कषाय से बचने के उपाय

उक्त प्रकार काय को कृश करने का उपाय दिखाकर अब कषाय को कृश करने के उपायों का वर्णन करते हैं। साधक को विचार करना चाहिए कि काय को कृश करना तभी कार्यकारी होता है जबकि काय के साथ कषाय भी कृश हो जावे। क्योंकि कषाय को कृश (भेद) किये विना केवल काय को कृश करना निष्फल है। ऐसी निष्फलता तिर्यंचादि गति में अनेक वार इस जीव ने की है। उससे क्या लाभ हुआ? अत क्रोधादि कषायों का उपशम करने का भरसक प्रयत्न करना ही आवश्यक है क्योंकि सब दु खों की जनक कषाय ही हैं। ससार में जीव का शत्रु अन्य कोई नहीं यह क्रोधादि कषाय ही सबके शत्रु हैं।

अत क्रोधाग्नि को क्षमा जल से शान्त करो। मान रूपी पर्वत का म दव (विनय) रूपी वज्र से पतन करो। माया की कठोर ग्रन्थि (गाठ का आर्जव (सरलता) रूपी सूचिका (सूई) से भेदन करो। लोभ-समुद्र क प्रवाह को सतोष-सूर्य की प्रखर किरणों से सुखा दो।

प्रज्वलित हुई कषाय रूप अग्नि जीवन का सार तत्त्व जो चारित्र है उसे क्षण भर में भस्म कर देती है। इतना ही नहीं वृद्धि को प्राप्त हुई यह कषाय अग्नि दुर्लभ सम्यक्त्व पीयूष को भी सुखा कर आत्मा को अनन्त संसारी बना देती है। इसलिए इस कषाय को हृदय में थोड़ा सा भी स्थान नहीं देना चाहिए। क्योंकि थोडी सी कषाय अग्नि प्रतिकूल वचन का संयोग रूपी ईंधन और असहनशीलता रूपी अनुकूल वायु का ससर्ग पाकर उग्ररूप धारण करलेता है इसलिए कषाय को उत्तेजित करने वाले बाह्य सयोगों स भी सदा दूर रहना चाहिए। यदि कषाय को उत्तेजना देने वाले बाह्य निमित्त प्राप्त होजाव तो उनसे बचने की चेष्टा करना ही श्रेयस्कर है।

जिस समय क्रोधादि कषायाग्नि अन्त करण म प्रादुर्भूत हो उसी समय हे भगवन् मैं आपकी शिक्षा को शिरोधार्य करता हूँ मेरा यह (कषाय जन्य) पातक मिथ्या (निष्फल) हो मैं आपको नमस्कार करता हूँ इत्यादि वचन रूप जल स उसको शान्त करने की आवश्यकता है। इस कषाय रूप भयानक विषधर के विष को दूर करने का यह गारुड़ा मन्त्र है। जिस आत्मा में इस गारुडी मन्त्र का सद्भाव रहता है उस आत्मा पर कषाय रूपी विष का कुछ भी असर नहीं होता है। अत जहा तक बन सके कषाय के उत्पादक कारणों के सम्पर्क से दूर रहना चाहिए। यदि उनका संयोग बलात्कार से उपस्थित हो जावे तो क्षमा मार्दव आर्जव और सतोष आदि स उनका शमन करना उचित है।

ऊपर लिखे कषाय रोग नाशक नुस्खे (प्रयोग) के सेवन करने वाले को निम्नोक्त अपथ्य से सवथा बचना चाहिये।

हास्य रति अरति शोक भयादि नव नोकषाय और चार संज्ञाएँ (आहार भय मैथुन और परिग्रह की वाञ्छा) हैं। इनसे सदा

दूर रहना चाहिए। क्योंकि हास्य (अट्टहास हसी मजाक) क्रोधादि के विकार को उत्तेजित करता है। रति (विषय प्रेम) और अरति (सत्कार्यों से चित्त की उद्विग्नता) तथा शोक भय ग्लानि और कामक्रीडा के भाव रागद्वेष के जनक हैं। तथा आहारादि संज्ञा भी आत्मा में लोभादि कषायों को अंकुरित करती हैं।

इनके अतिरिक्त ऋद्धि रस और सात इन तीन गारवों का भी त्याग करना आवश्यक है। ऋद्धि में तीव्र अभिलाषा ऋद्धि गारव रसों में तीव्र अभिलाषा रस गारव और सुख की तीव्र अभिलाषा सात गारव है। इनसे भी क्रोधमानादि कषाय रूप विकार भाव उत्पन्न होते हैं। साधुओं को कषाय की शान्ति के लिए इनका भी त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

कषाय को कृश करने में तत्पर हुए संयमी को अशुभ लेश्याओं का भी परित्याग करना चाहिए। कृष्ण नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें हैं। जिस आत्मा में यह उत्पन्न होती हैं उसके चारित्र का विघात कर उसे चारित्रहीन असंयमी बना देती हैं। उनके द्वारा तीव्र अशुभ कर्मों का बन्ध होता है अतः उनका आत्मा से समूल उच्छेद कर देना चाहिए।

इस प्रकार जिस संयमी ने बाह्य सल्लेखना (शरीर को कृश करना) और आभ्यन्तर सल्लेखना (कषाय को कृश करना) इन दोनों सल्लेखनाओं की सिद्धि के लिए पूर्वोक्त बाह्य तप आदि का आचरण किया है संसार का त्याग करने में जिसने अपनी बुद्धि को लगाया है वह संयमी सम्पूर्ण तपों में उत्कृष्ट तप जो धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान हैं उनकी प्राप्ति करने में तत्पर रहता है। अर्थात् ऊपर की सब क्रियाओं का पालन धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान की सिद्धि के लिए ही किया जाता है। क्योंकि उक्त क्रियाएं साधन हैं और धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान साध्य हैं। इस प्रकार सल्लेखना का निरूपण किया।

सल्लेखना के आराधक आचार्य का कर्त्तव्य

सल्लेखना के आराधक (यदि वह स्वयं आचार्य है तो) का क्या कर्तव्य होता है उसका प्रतिपादन करते हैं।

सल्लेखना करने में उद्युक्त हुए आचार्य को गण की हित कामना का पूर्ण ध्यान रखना पड़ता है। अपना आत्म हित करने के लिए सल्लेखना का आराधन जैसा मुख्य कृत्य है वैसा ही आगे के लिए संघ का सुप्रबन्ध करना भी उनका प्रधान कर्तव्य होता है। धर्मतीर्थ का विच्छेद न हो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की अविच्छिन्न परिपाटी चलती रहे, इसके लिए वह आचार्य अपनी आयु का विचार कर अपने शिष्य समूह को तथा अपने स्थान में जिन बालाचार्य को स्थापित किया था उन्हें बुलाकर सौम्य तिथि, करण नक्षत्र और शुभ लग्न मुहूर्त्त देखकर शुभ प्रदेश में संघ का सर्वदा त्याग करते हैं। तथा अपने समान आचार्य गुण से भूषित सम्पूर्ण संघ की रक्षा शिक्षादि

कार्य-सञ्चालन करने में समर्थ बालाचार्य को अपना भार सौंपते हैं। उस समय उनको परिमित शब्दों में छोटा सा उपदेश देते हैं। इसके बाद वह बालाचार्य सम्पूर्ण सङ्घ का आचार्य माना जाता है। उस समय वे पूर्वाचार्य उस बालाचार्य के सामने अपने समस्त सङ्घ को भी सूचित करते हैं -हे मोक्षमार्ग के यात्रियो,तुम्हारा सम्यग्दर्शन,ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय निर्विघ्न चल रहा है उसपर सतत आगे बढते रहो, अत तुम्हारे मार्ग में विघ्न बाधाओंको दूर करने के लिए इस रत्नत्रय धर्म की परिपाटी अविच्छिन्न चलती रहे इसके निमित्त इस बालाचार्य को सार्थवाह-संघपति-आचार्य नियत करता हूँ। आज से यह तुम्हारा आचार्य है। इसकी आज्ञा के अनुकूल चलना तुम्हारा परम कर्त्तव्य है। इसप्रकार समस्त संघ के समक्ष बालाचार्य को आचार्य पद पर नियुक्त करते हैं और आप सम्पूर्ण सङ्घ से अपना सम्बन्ध विच्छेद करते हैं।

तदनन्तर सम्पूर्ण सङ्घ और उस नवीन आचार्य तथा बालमुनि से लेकर वृद्ध मुनि पर्यन्त सम्पूर्ण साधुओं से मन वचन काय द्वारा क्षमा मांगते हैं। मेरा तुम्हारे साथ दीर्घकाल तक सहवास हुआ है मैंने तुम्हारी इच्छा के अनुकूल प्रतिकूल हितकामना से जो शासन किया उसमें तुम्हारे चित्त को दुःखित किया हो तो उस अपराध को अब क्षमा करो। इस तरह पूर्वाचार्य के क्षमा याचना करने के पश्चात् सम्पूर्ण सङ्घ के साधु व नवीन आचार्य संसार के दुःखों से रक्षण करने वाले सबपर प्रेमामृत की वर्षा करने वाले उत्तम क्षमादि दश धर्मों का तथा रत्नत्रय धर्म का स्वयं पालन करने वाले और समस्त सङ्घ को पालन कराने वाले अपने पूर्वाचार्य की प्रथम वन्दना करते हैं पश्चात् पञ्चांगों द्वारा मन वचन और काय से नमस्कार करते हैं। और मन वचन काय से पूर्वाचार्य को क्षमा प्रदान करते हैं तथा आप भी अपने पूर्व कृत अपराधों की क्षमा याचना करते हैं।

शिष्य समूह आचार्य के लिए परिग्रह स्वरूप है

जिस प्रकार स्त्री पुत्रादि परिग्रह हैं वैसे ही सल्लेखना के आराधक आचार्य के शिष्य समूह भी उनके लिए परिग्रह है। अब तक उनका त्याग नहीं किया जाता है आत्मा पर उनकी रक्षा शिक्षादि के प्रबन्ध का बोझ बना पर रहता है। अतः सब जीवादि तत्त्वों के रहस्य के वेत्ता तथा प्रायश्चित्तादि शास्त्रों के अनुभवी आचार्य अपनी आत्मा के कल्याण करने में तत्पर हुए पूर्वाचार्य उस भार को उतार कर अपनी आत्मा को तत्सम्बन्धी रागद्वेषसे मुक्त कर परम आनन्द का अनुभव करते हैं और योग्य प्रायश्चित लेकर अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने में प्रवृत्त होते हैं। कारण कि आचार्य को सङ्घ के शिष्यों के हित के लिए अनेक प्रकार से शासन करना पड़ता है उनको कटु कठोर किन्तु परिणाम में हितकारी वचन भी कहने पड़ते हैं इत्यादि बातों से आचार्य को जो दोष उत्पन्न होता है उसकी निवृत्ति करने के लिए वे उचित प्रायश्चित्त का भी आचरण करते हैं।

सङ्घ का परित्याग करते समय आचार्य का उपदेश

गच्छ (सङ्घ) का परित्याग करते समय आचार्य सङ्घ को जो उपदेश देते हैं वह निम्न प्रकार है :—

हे कल्याण के इच्छुक मुनीश्वरो ! तुमने शान्ति सुख की प्राप्ति के लिए धन धान्य गृह पुत्र कलत्रादि का परित्याग कर जिनेन्द्र सदृश जगत्पूज्य मुनिपद धारण किया है। इसकी शोभा रत्नत्रय रूप भूषण से है। अतः इसकी उत्तरोत्तर निर्मलता प्राप्त करना तुम्हारा मुख्य कर्त्तव्य है। दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना और चारित्राराधना को उन्नत बनाने वाली प्रवृत्ति करने में तुम्हारा सच्चा हित है।

हे सङ्घ नायक ! महानदी जहा से निकलती है वहा पर तो अल्पविस्तारवाली होती है किन्तु आगे बढते ही विस्तृत होती हुई महान् रूप धारण कर समुद्र में मिलती है। वैसे ही तुम भी प्रारम्भ में गुण व शील को अल्प प्रमाण में धारण कर उत्तरोत्तर क्रमश वृद्धि करते हुए गुण और शीलों को विशाल रूप देने का पूर्ण प्रयत्न करो—इसी में तुम्हारा कल्याण है।

तुम मार्जार के शब्द के समान चारित्र तप को मत आचरण करो। जैसे मार्जार (बिल्ली) का शब्द प्रारम्भ में महान् और पश्चात् मन्द होता जाता है वैसे ही प्रारम्भ में अति दुर्धर चारित्र और तप की भावना (अनुष्ठान) में प्रवृत्त होकर पश्चात् उसमे क्रमश मन्दता (क्षीण पना) धारण करना तुम्हें उचित नहीं है। यदि तुमने ऐसा किया तो तुम अपना और सङ्घ का विनाश करोगे। क्योकि जो आलसी अग्नि से जलते हुए अपने घर को भी नहीं बुझा सकता वह दूसरे के घर की रक्षा करने में कैसे समर्थ हो सकता है ? तुमको चारित्र और तप से गिरते हुए देखकर दूसरे उत्कृष्ट तपस्वी और दृढ़ सयमी भी शिथिल होने लगगे। अत हे गणाधिप ! द्रव्य क्षेत्र कालादि को ध्यान में रखते हुए तुम क्रमश चारित्र और तपश्चरण को वृद्धि की ओर ले जाओ। हे सङ्घ की उन्नति के इच्छुक ! तुम ज्ञान दर्शन और चारित्र में अतिचार मत आने दो अतिचारो का स्वरूप निम्नोक्त प्रकार है।

ज्ञान के ८ अतिचार

अस्वाध्याय के काल में गणधरादि कथित सूत्र (आगम) का स्वाध्याय करना क्षेत्र शुद्धि द्रव्य शुद्धि और भाव शुद्धि के बिना स्वाध्याय करना अपने गुरु के नाम को छिपाना आगम के मूल पाठ में तथा उसके अर्थ में अथवा दोनों में अशुद्धि करना अर्थात् अशुद्ध पाठ उच्चारण करना तथा आगम के यथोचित्त अर्थ का प्रकाशन कर उसे हीनाधिक या विपरीत अर्थ समझना या दूसरों को समझाना आगम का आगम के वेत्ताओं का बहुमान न करना—आदर सत्कार न करना—ये ज्ञान के आठ अतिचार हैं।

दर्शन के ५ अतिचार

शङ्का काक्षा, विचिकित्सा अन्य दृष्टि प्रशंसा और संस्तवन ये पाच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। इनका विवेचन दर्शनविनय में हो चुका है।

चारित्र के अतिचार

समिति का व भावनाओं का अभाव होना आदि चारित्र के अतिचार हैं। चारित्र के अतिचारों का वर्णन चारित्राचार के विवेचन के अवसर पर कर आये हैं उन सब अतिचारों का तुम त्याग करो। देखो स्वाम्नाय जैन धर्म पर आरूढ मुनिगण से तथा परपक्षीय तर धर्माम्नायी प्राणियों से कदापि वैर विरोध मत करो। अन्त करण की शान्ति का भङ्ग करने वाले वाद विवाद का भी परित्याग करो। क्योंकि वाद विवाद में प्रवृत्त हुआ पुरुष अपने जय के उपायों और पर के पराजय के उपायों को ही ढूंढता है किन्तु वस्तु के तथ्य स्वरूप को प्रकट कर समाधान करना नहीं चाहता है। इसम क्रोधादि कषायों की जागृति होती है जो कि आत्मा का परम शत्रु है। अत इनसे सदा बचना चाहिए। हा तत्त्वजिज्ञासा से कोई प्रश्न कर तो शान्ति से उसका समाधान करना आवश्यक है।

आचार्य के लिए ध्यान देने योग्य विषय

हे गणधर! सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में जो अपने को और गण-सङ्घ को स्थापित करे, रत्नत्रय को आप धारण कर और गण को धारण कर व वह गणधर कहलाता है। जो इसके अनुकूल प्रवृत्ति न करे वह गणधर पद के योग्य नहीं माना गया है। अत तुम अपने कर्त्तव्य पर आरूढ रहो। बहुत मुनिगण मेरे अधीन हैं इसलिए मैं गणधर (आचार्य) हूँ ऐसा अभिमान तुम्हारे हृदय में कभी नहीं होना चाहिए। किन्तु तुम्हें यह विचार निरन्तर करते रहना चाहिये कि मुझे सङ्घ की सेवा का सौभाग्य मिला है, अत मैं इस सेवा के कर्त्तव्य का पूर्ण रूप स पालन करूं। कर्त्तव्य पालन में तुम्हारा थोड़ा सा प्रमाद अनेक पवित्रात्माओं की महती हानि का कारण होगा, इसलिए तुमको प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए।

जो साधु आहार पिच्छी कमंडलु और वसतिका का शोधन न कर ग्रहण करता है वह मूलस्थान को प्राप्त होता है अर्थात् वह मुनिपद से पतित हो जाता है उसको पुन मुनि दीक्षा लेनी पड़ती है। लेकिन जो साधु उद्गम, उत्पादन एषणादि दोषों से रहित आहार, पिच्छी, कमंडलु और वसतिका को चारित्र की रक्षा के लिए स्वीकार करता है वह उत्तम चारित्र का धारक माना जाता है।

ज्ञानाचारादि पञ्चाचार मे स्थिर रहने वाले तथा उनका निरतिचार स्वय पालन करने वाले और अन्य मुनियों को पालन कराने वाले आचार्यों की जिनागम में उक्त मर्यादा वर्णन की गई है। परन्तु जो लोकानुवर्ती तथा सुखेच्छु हैं उनका आचरण आगम मर्यादा का उल्लघन करने वाला होता है। आगम मे असंयमी जनों के साथ सम्पर्क रखने मिष्ट तथा रसीले भोजन करने कोमल शय्या में शयनासन करने सब ऋतुओं में रमणीय स्थानों में निवास करने आदि में आसक्त रहने वाले साधुओं की यथेच्छप्रवृत्ति का निषेध किया है। उनमें रत

रहने वाले मुनि आचाय पद के सवथा अयोग्य हैं। वे अपने मुनि पद को दूषित करते हैं।

हे आचार्य ! जो साधु आगम निषिद्ध उन्मादि दोषों स दूषित आहार वसतिकादि का उपभोग करता है उसके इन्द्रिय संयम व प्राणी संयम नष्ट हो जाता है। वह दुर्बुद्धि साधु मूलस्थान को प्राप्त होता है। वह केवल नग्न द्रव्यलिंगी है। वह वास्तविक मुनि नहीं है तो फिर वह आचाय कैस हो सकता है ?

जो साधु कुल ग्राम नगर और राज्य से अपना सम्बन्ध त्याग चुका है और फिर भी उनसे ममत्व रखता है—यह मेरा कुल है यह मेरा ग्राम नगर और राज्य है इस प्रकार का सङ्कल्प करता है—वह सयम से शून्य नग्न पुरुष मात्र है। क्योंकि जिस पदाथ में जो ममत्व रखता है वह उसके सयोग में हर्षित और वियोग में दुःखित होता है अत जो रागद्वेष और लोभ में तत्पर रहता है वह असयमी होता है ऐसा ध्रुव सत्य मानना चाहिए।

हे मुनिनायक किसी साधु के अपराधों को किसी दूसर पर प्रकट मत करना। उसने अपने सयम जीवन की बागडोर तुम्हें सौंप रखी है अत वह तुम पर विश्वास रखकर अपने गुप्त स गुप्त दोषों को प्रकाशित कर देता है। तुम्हारा परम कत्तव्य है कि तुम उनको कभी प्रकाशित न करो। तुम सब कार्यों मे सबक प्रति समदर्शी रहो तथा बाल मुनि स लेकर वृद्धि मुनि तक समस्त सङ्घस्थित मुनियों का अपने नेत्र के बाल के समान स रक्षण करो।

हे सङ्घाधिपते जिस देश में कोई राजा न हो अथवा राज विप्लव हो रहा हो या दुष्ट राजा का शासन हो वहा पर कदापि मत रहो। जहा पर धमपरायण श्रावक जन न हो या तुम्हार संयम का विघात होता हो उस देश में विहार मत करो। इस प्रकार सक्षेप से तुम्हें शिक्षा दी गई है। अत अपना तथा सङ्घ का योग क्षेम साधन करते हुए धार्मिक जनता को धम में स्थिर करना और धम के पात्र सरल चित्त मनुष्यों को धम पर लगाना अपना कत्तव्य समझो। आय प्रदेश मे आगमोक्त विधि का पालन करते हुए इस प्रकार निरन्तर विहार करना ही मङ्गलकारी है।

हे मुनियो ! तुमने मुनि पद को धारण किया है। उसके आवश्यक कत्तव्यों का पालन और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओं का पालन करना तुम्हारा आवश्यक कत्तव्य है। क्योंकि ये आवश्यक क्रियाए तप और सयम की आधारभूत होती हैं। जब मुनि सामायिकादि आवश्यक क्रियाओं में तत्पर रहता है उस समय उसके इन्द्रिय सयम और प्राणी-संयम दोनों सयमों का पालन होता है और असयम का परिहार होता है। तथा सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओं स निवृत्त होने के कारण कर्मों का सवर और आत्मीय कार्यों में तल्लीन रहने से कर्मों की निर्जरा होती है इसलिए तप की भी सिद्धि होती है क्योंकि जो कर्मों को तपता है नष्ट करता है उसे तप कहते हैं। ऐसे तप का

स्वरूप आवश्यक क्रियाओं में पाया जाता है। 'तपसा निर्जरा च' तपस्या से कर्मों का संवर और निर्जरा होती है। यह तप का अर्थ आवश्यक क्रियाओं के सद्भाव में पाया जाता है अतः आवश्यक क्रियाओं के पालन करने में कभी प्रमाद मत करो।

देखो! यह मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है किन्तु विनाश के उन्मुख है और निस्सार है। तुमने मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए अति दुर्लभ जिन दीक्षा ग्रहण की है यह बड़े पुण्य के उदय से सुन्दर अनुपम अवसर मिला है। जिन दीक्षा धारण करना संसार में अपूर्व दिव्य लाभ है, अतः इसको सार्थक बनाने के लिए आवश्यक क्रियाओं में सदा सावधान रहो।

हे महात्माओ! जिस समय तुम आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होकर अवकाश पाओ उस समय तुमको अपने संयम चारित्र की रक्षार्थ गोचरी के लिए श्रावकों के गृहों में चर्या करनी पड़े धर्म के पिपासुओं को धर्मोपदेश देना अथवा उनके साथ धर्म सम्बन्धी वार्तालाप करना पड़े उस समय तुमको ईर्या भाषा एषणा आदि पांच समितियों का पालन करना आवश्यक है। ऋद्धि में रसों, में और सुख में तीव्र अनुराग व अभिलाषा नहीं रखना चाहिए। तीन गुप्ति का पालन करने में निरन्तर दत्तचित्त रहना चाहिए। जिनाज्ञा के विरुद्ध अपनी बुद्धि का उपयोग कदापि न करना चाहिए।

हे आत्मा का साधन करने वाले साधुओ! आहारादि चार संज्ञाओं और चार कषायों तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान का परिहार करो। ये आत्मा को गिराने वाले हैं। संयम और तप के विराधक हैं। इनमें से किसी एक के वशीभूत हुआ आत्मा संयम व चारित्र को खो देता है। तथा पांचों इन्द्रियों की दुष्ट प्रवृत्ति को रोको। ये लुटेरे के समान तुम्हारे संयम व व्रत को लूटने वाले हैं अतः इनको जीतो अर्थात् अपने अधीन रखो। वे पुरुष पुंगव धन्य हैं जो शब्दरसादि इन्द्रियों के विषयों से व्याप्त इस लोक में आसक्ति रहित हैं। स्पर्शादि विषय जिनके अन्तःकरण को आकुलित नहीं कर सकते हैं, वे ही सच्चे आत्म-गवेषी हैं। ज्ञान और चारित्र में तल्लीन रहने वाले ऐसे ही महात्मा सङ्घ के आदर के पात्र होते हैं।

हे साधुओ! जो सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र में बड़े हैं वे गुरु कहलाते हैं। अतः आचार्य, उपाध्याय और साधु ये गुरु हैं। आप लोग उनकी सेवा शुश्रूषा करो। सेवा शुश्रूषा करके लाभ कीर्ति और आदर-सत्कार की इच्छा मत रखो। केवल गुणोंमें भक्ति श्रद्धा रखकर सेवा शुश्रूषा करो। जो जिसकी भक्ति करता है उसके गुणों का प्रभाव भक्त श्रद्धालु की आत्मा पर अवश्य अंकित होता है। वह भक्त भी कुछ समय के अनन्तर वैसा ही गुणी हो जाता है। तथा गुरुओं की शुश्रूषा करने से उनके रत्नत्रय के प्रति अनुमोदना होती है। और अनुमोदना से बिना परिश्रम के पुण्य की उत्पत्ति होती है जिससे सब सुयोग्य साधनों की प्राप्ति हो जाती है।

हे मुनियो ! यद्यपि तुम्हारा कर्त्तव्य आवश्यक क्रियाओं का आचरण स्वाध्याय ध्यानादि हैं अर्हन्त और सिद्ध की प्रतिमा का दर्शन तुम्हारे लिए आवश्यक नहीं है जैसा कि गृहस्थ (श्रावक) को आवश्यक है किन्तु उनका सुयोग मिलने पर प्रत्यक्ष में अथवा परोक्ष में कृत्रिम और अकृत्रिम अर्हन्त व सिद्ध-प्रतिमा की भक्ति अवश्य करनी चाहिए। जैसे मित्र तथा शत्रु का चित्र या मूर्ति आत्मा में शीघ्र रागद्वेष भाव ना को जन्म देती है और जैसे मित्र या शत्रु का चित्र या मूर्ति ने तो तुम्हारा उस समय कोई उपकार या अपकार नहीं किया है तो भी उनका गुण स्मरण हो जाने से प्रेम व वैरभाव उदित हो आता है वैसे ही अर्हन्त और सिद्ध की प्रतिमा के दर्शन व भक्ति करने से उनके गुणों के स्मरण होने पर आत्मा के वीतराग भाव की उत्पत्ति या पुष्टि होती है रत्नत्रय के पालने मे तत्परता होती है। उनकी भक्ति संवर और पूर्व बांधे हुए कर्मों की अपूर्व निर्जरा की करने वाली है। इसलिए चैत्यभक्ति अत्यन्त उपयोगी है, उसको नित्य करो।

आचार्यों के लिए आवश्यक विनय और उसके भेद

दर्शन ज्ञान चारित्र तप का और उनके पालक साधु महात्माओं का विनय करो। विलय नयति कर्ममलमिति विनय जो कर्म मल का नाशक है उसे विनय कहते हैं।

दर्शनविनय—शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा आदि आठ मलदोष देव मूढतादि तीन मूढता छह अनायतन और आठ मद इन पच्चीस दोषों का परित्याग कर सम्यग्दर्शन को निर्मल करो। इन पच्चीस दोषों में से जिस शङ्कादि दोष की उत्पत्ति की सम्भावना तुम्हारी आत्मा में हो उसको दूर करो इससे तुम्हारा सम्यग्दर्शन अत्यन्त निर्मल होकर तुम्हें मोक्ष के अतिनिकट पहुचावेगा।

ज्ञानविनय—आगम में सूत्रों के वाचनादि का जो काल कहा गया उसका विवेचन ज्ञानविनयाचार के प्रकरण में कर आये हैं उसके अनुसार योग्य काल मे स्वाध्याय करो। श्रुत का अध्ययन कराने वाले गुरु का नाम मत छिपाओ उनकी भक्ति करो। कुछ तपस्या ग्रहण कर श्रुत का आदर पूर्वक अध्ययन करो। श्रुतज्ञान का शब्दशुद्धि अर्थशुद्धि और उभयशुद्धि के साथ अध्ययन करो। इस तरह विनय पूर्वक अध्ययन किया गया श्रुतज्ञान कर्मों का संवर और निर्जरा करता है। किन्तु विनय रहित अध्ययन किया गया श्रुतज्ञान ज्ञानावरण कर्म का बन्ध करता है।

चारित्रविनय—अनन्त काल से जीव का इन्द्रियों के प्रिय व अप्रिय स्पर्शादि विषयों में रागद्वेष करने का अभ्यास हो रहा है। क्रोधादि कषायों का भाव सब जीवों के उदय है बाह्य निमित्त को पाकर वे प्रकट आ जाती है उनके उदय से चारित्र का घात होता है। मन वचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति से तथा रागद्वेष के आविर्भाव से कर्म आते हैं और चिपटते हैं। पृथ्वी जल अग्नि वायु और वनस्पति

कायिक ये पाच स्थावर जीव और द्वीन्द्रियादि त्रसजीव इन छह क य के जीवों को बाधा पहुचाने वाला गमनागमन करना मिथ्यात्व या असयम में प्रवृति करने वाले वचन बोलना साक्षात् या परम्परा जीवों की पीड़ा पहुचाने वाले भोजन का ग्रहण करना किसी वस्तु को बिना देखे और बिना पिच्छी से पोंछे भूमि पर धरना या उठ ना भूमि को बिना देखे मल मूत्रादि क्रिया करना ये सब क्रियाएँ पाप जनक हैं इनका त्याग करने से चारित्र विनय होता है। ऊपर क ी गई अशुभ क्रियाओ के त्याग के बिना चारित्र नहीं होता है। उक्त क्रियाए आरम्भ जनक है। और आरम्भ करने वाले के चारित्र का अभाव होता है। इसलिए यत्नपूर्वक उन सब क्रियाओं का त्याग करके अपने चारित्र को उज्ज्वल बनाओ।

तपोविनय—अनशन (उपवास) अवमौन्य (ऊनोदर)आदि तप के करने से उत्पन्न शारीरिक व मानसिक कष्ट को सहन कर लेना तपोविनय है। यदि तप के द्वारा आत्मा में सक्लेश भाव उत्पन्न हों तो उससे महान कर्म बन्ध होता है और अल्प निर्जरा होती है। इसलिए उतनी ही तपस्या करना योग्य है जिससे तपश्चरण का उत्साह वृद्धिगत होता रहे।

उपचार विनय—गुरु आदि पूज्य पुरुषो का प्रत्यक्ष व परोक्ष आदर सत्कार नमन वदनादि करना उपचार विनय है। जो गुरु आदि का यथायोग्य विनय करता है उसकी सब प्रशसा करते हैं और उसको उत्तम समझकर बुद्धिमान पूजते हैं और जो विनय नहीं करते हैं उसकी सब लोग निन्दा व अवहेलना करते हैं। जो साधु अपने गुरु आदि पूज्य पुरुषों की मन वचन काय से विनय नहीं करता है अर्थात् जो गुरु आदि की मन से अवज्ञा करता है उनके आसन से उठने पर या बाहर से आने पर नहीं उठता है जाते हुए के पीछे कुछ दूर तक नहीं जाता है उनको हाथ जोड़कर नमस्कार नहीं करता है उनकी स्तुति नहीं करता है उनसे आज्ञा नहीं लेता है उनके सामने आसन पर बैठा रहता है आते हुए सम्मुख नहीं जाता है उनके आगे आगे चलता है उनकी निन्दा करता है कठोर वचन कहता है गाली आदि अपमान जनक वचन बोलता है वह साधु नीच गोत्र कर्म का बन्ध करता है। उसके फलस्वरूप वह ससार में निन्दनीय कुल में जन्म लेता है। अथवा कूकर शूकरादि योनि में उत्पन्न होता है। अविनीत शिष्य को गुरु से रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है। विनीत शिष्य को गुरु प्रेम से शिक्षा देते हैं उसका सम्मान करते हैं इसलिए तुमको विनय में तत्पर रहना चाहिए। अविनय में महान दोष हैं और विनय में महान गुण हैं ऐसा समझकर विनय मे तत्परता धारण करो। और नित्य स्वाध्याय मे अर्थात् जीवादि तत्त्वों के मनन में उनके प्ररूपक शास्त्रों के अध्ययन में लवलीन रहो। निद्रा हास्य क्रीड़ा आलस्य और लौकिक वार्तालाप का त्याग करो। शास्त्र में कहा है —

"णिद्दं ण बहु मण्णेज्ज हास खेड विवज्जए।
जोग्ग समणधम्मस्स जु जे अणलसो सदा ॥ १ ॥"

अथ—निद्रा को बहुमान मत दो अर्थात् अल्प निद्रा लो कारण कि निद्रा आत्मा को चेतना (उपयोग) हीन अज्ञानमय बना देती है और शुभ क्रियाओं से वंचित कर प्रमादी करती है। उतनी नींद लो जिससे दिन भर का स्वाध्यायादि से जन्य श्रम दूर हो जाये। हसी मखोल मत करो। पूज्य पुरुषों (साधुओं) को असयमी जन के समान हसना शोभा नहीं देता है। किसी प्रकार की क्रीड़ा न करो। अर्थात् बालक के समान व्यर्थ के कामों में मन को मत बहलाओ। तुम्हें तो आगम में ही क्रीड़ा करनी चाहिए। तुम आलस्यहीन होकर मुनि धर्म के योग्य कार्यों में अपने चित को लगाते रहो।

हे धर्म धुरन्धरो ! तुम धर्म के प्रवर्त्तक हो अत क्षुधा पिपासा आदि परीषह के प्राप्त होने पर तथा अशिष्ट ग्रामीण पुरुषों के अनुचित भाषण से या दुर्जनों के कटु कठोर गाली आदि सुनकर आत्मा में ग्लानि उत्पन्न कर धर्म का कदापि त्याग न कर देना। कभी २ दुर्जन व क्रूर प्राणी ऐसे मर्मभेदी दुर्वचनों का प्रहार करते हैं कि उनका सहन करना अति कठिन हो जाता है परन्तु वस्तुस्वरूप का चिन्तन कर मनको समझाना चाहिये।

हे मुनिवृन्द ! देखो जो देवेन्द्रों से पूजनीय हैं चार ज्ञान के धारक हैं जिनको उसी पर्याय में मोक्ष की प्राप्ति का पूर्ण निश्चय है ऐसे तीर्थंकर भी अपने बल वीर्य को न छिपाकर तप में पूर्ण उद्योग करते हैं छह २ मास तक के उपवास और आतपन योगादि कायक्लेश तप के करने में सदा तत्पर रहते हैं तो अन्य साधुओं का क्या कहना ? उनको तो अपने महान् कर्मों का क्षय करना है। अत उनको तो इसमें अधिक तत्पर रहना चाहिए।

हे आत्म हित चिन्तको ! तुम्हारी आयु शरीर बल और आरोग्य का विनाश न जाने कब हो जावेगा। इसका काल नियत तो है नहीं। क्योंकि मृत्यु दावानल के समान है न जाने किस समय इस जगत् रूपी वन को भस्म करदे। हमको इसका ज्ञान नहीं कि मृत्यु कब आयगी ? काल की गति अति तीव्र है एक क्षण भर में इस शरीर का विध्वंस कर सकती है। जब तक काल का आगमन नहीं हुआ तब तक इस शरीर से तपस्या करलो काल के निवास करने का कोई क्षेत्र नियत नहीं है। जैसे गाड़ी रथादि भूतल पर ही गमन कर सकते हैं सूर्य चन्द्र ग्रहादि आकाश में ही भ्रमण करते हैं मगर मच्छादि जल में ही गति करते हैं वैसे मृत्यु के गमन प्रदेश निश्चित नहीं है। वह तो जल स्थल और आकाश सर्वत्र अप्रतिहत गति है। ऐसे स्थान भी हैं जहा अग्नि चन्द्र व सूर्य की किरण शीत उष्ण वात और वर्फ का प्रवेश नहीं हो सकता है किन्तु ऐसा कोई स्थान (क्षेत्र) नहीं है। जहा काल का प्रवेश नहीं है वात पित्त कफ शीत वर्षा घाम आदि का प्रतीकार किया जा सकता है किन्तु ससार में काल (मृत्यु) का प्रतीकार करना अशक्य है। रोगों की उत्पत्ति के कारण वात पित्त कफ की विषमता तथा प्रकृति विरुद्ध आहार विहारादि हैं। परन्तु अकाल मृत्यु के तो कारण संसार के सब पदार्थ हैं। अर्थात् किसी भी बाह्य पदार्थ के निमित्त से प्राणियों का मरण हो सकता है।

हे ससार भीरुओ ! काल का कोई समय भी नियत नहीं है। वर्षा शीत और गर्मी का समय नियत है वैसा मृत्यु का कोई समय निश्चित नहीं है। जैसे जनशून्य महा अरण्य में सिंह के मुख मे प्रविष्ट खरगोश की रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं है, वैसे ही काल के मुख में प्रविष्ट हुए इस प्राणी की रक्षा करन वाला इस ससार में कोई नहीं है। मृत्यु के बिना भी अन्य वस्तुओं से भी उसे भय लगा ही रहता है। कभी रोग का भय होता है तो कभी वज्रपातादि से भीति बनी रही है। जैसे वज्र अचानक आकाश स गिर पड़ता है अचानक व्याधि उत्पन्न होकर शरीर को त्रस्त कर देती है वैसे ही मृत्यु अकस्मात् आकर प्राणी को दबोच लेती है।

हे मुनिवृन्द ! बाल और वृद्ध मुनियों से परिपूर्ण इस मुनि सघ का वैयावृत्त्य भक्ति पूवक करो। इस महान् काय में अपनी शक्ति को न छिपाओ। क्योंकि वैयावृत्त्य करना मुनि का परम कर्त्तव्य है। यह अनेक सद्गुणों को उत्पन्न करने वाला है ऐसी जिनेन्द्र देव की आज्ञा है। यह वैयावृत्त्य स्व पर के रत्नत्रय को उद्दीप्त करने वाला है तथा कम की निजरा करने वाला परम तप है। इसलिए वैयावृत्त्य करने में उदासीनता मत धारण करो। प्रतिदिन उत्साह और उमङ्ग से वैयावृत्त्य करने में तत्पर रहो।

यदि मुनि रोगादि स अशक्त हों या वृद्ध हों उनके शयन स्थान बैठने का स्थान, उपकरण-पिच्छी, कमण्डलु, पुस्तकादि का प्रतिलेखन (माजन शोधन) करो। निर्दोष शास्त्रोक्त विधि सहित आहार व औषध की योजना करो। उनके आत्मा के भावों को निमल बनाने के लिए योग्य शास्त्र का स्वाध्याय या उपदेश (व्याख्यान) करो। शक्ति हीन या रोग ग्रस्त मुनियों के मलमूत्र को उठा कर स्वच्छ करो। उन शक्ति हीन साधुओं को उठाकर करवट बदलाओ सुलाओ बैठे करो।

जो मुनि मार्ग के श्रम से थक गये हों उनकी पगचम्पी करो हस्तादि का मदन करो। जिनपर चारों प्रकारों में से किसी प्रकार का उपद्रव हुआ हो दुष्ट पशुओं स पीड़ा हुई हो, जो अनीतिपरायण दुष्ट राजाओं से सताये गये हों नदी के द्वारा या बंदी करने वाले अन्यायी पुरुषों के द्वारा कष्ट पा रहे हों जो हैजा प्लेग आदि महामारी क शिकार हो गये हों, उन मुनियों का कष्ट अपनी विद्यादि के बल से दूर करो। यदि कोई मुनि दुर्भिक्ष के कारण पीड़ा पा रहे हों तो उनको सुभिक्ष देश में लेजा कर उनकी पीड़ा का निवारण करो। अधीर मुनियो को धैय बंधाओ कि हे महात्माओ ! आप किसी बात का भय न करो हम आपको हर तरह सेवा टहल करेंगे आपको किसी प्रकार का क्लेश न होने देंगे। ऐसे कोमल व सान्त्वना के वचन कहकर उनको धीरज बंधाओ। इस प्रकार वैयावृत्त्य करने से मुनि धम की रक्षा होती है धम में उत्साह बढ़ता है और मुनियों का संरक्षण होता है। जिस सङ्घ में वैयावृत्त्य करने में परायण और सेवा चतुर साधु होते हैं, उस सङ्घ के मुनियों की ससार में ख्याति होती है, जनता की उनपर स्वाभाविक भक्ति होती है एव मुनि-धर्म के प्रति रुचि बढ़ती है।

किन्तु हे साधुओ ! वैयावृत्त्य वही प्रशस्त और कल्याण का करने वाला है जो आगम के अनुकूल है। मुनियों को वैयावृत्त्य की जिनेश्वर देव ने जैसी आज्ञा दी है उसके अनुसार किया गया वैयावृत्त्य धर्म की वृद्धि करने वाला होता है। जो साधु अपनी शक्ति को न छिपाकर पूर्ण श्रम से वैयावृत्त्य करता है लेकिन वह भगवान की आज्ञा के प्रतिकूल करता है तो उसको धर्म का घातक धर्महीन माना है।

जो साधु अपने मुनिपद की अवहेलना कर असयमी जनों की पदचम्पी करता है उनके हस्त मस्तकादि अंगों और उपांगों का मर्दन करता है या उनकी औषधि आदि का सन्तोष प्रयत्न करता है वह जिनेन्द्र के शासन का तिरस्कार करने वाला तथा मुनिधर्म की महिमा का विनाश करने वाला है। साधुओं का भी वैयावृत्त्य करते समय आगम विधि पर ध्यान रखना चाहिए। दोष पूर्ण वैयावृत्त्य करने वाला सयमी अपना तथा दूसरे का (जिसकी वैयावृत्त्य कर रहा है उसका) अकल्याण करता है। इसलिए हे साधुओ ! वैयावृत्त्य अवश्य करो यह तुम्हारा प्रधान कर्त्तव्य है किन्तु उचित व जिनेन्द्र देव की आज्ञा के अनुकूल करो।

हे जिनाज्ञापालक मुनयो ! तुमने तो साक्षात् जिनेन्द्र समान लिंग (भेष) धारण कर लिया है अतः यदि तुमने जिनेन्द्र की आज्ञा का पालन न किया तो तुम महा अपराधी सिद्ध होओगे। क्योंकि तुम धर्म के ध्वज हो जिनेन्द्र देव के पश्चात् तुम ही धर्म की धुरा के धारक हो। वैयावृत्त्य करने से मुनिधर्म की रक्षा होती है। अतः धर्म की आराधना होती है। जो साधु वैयावृत्त्य करने में उदासीनता दिखाता है वह जिनाज्ञा का लोपक है। श्रमणधर्म का विराधक है। वह मुनि के आचार का नाशक है। वैयावृत्त्य में उद्योग हीन साधु इतर मुनियों का सहयोग नहीं पाता है। उसको वैयावृत्त्य करने से विमुख हुआ देखकर इतर साधु भी मुनि सघ से पराङ्मुख होजाते हैं। इससे सङ्घ का भङ्ग होता है। सङ्घ में सहायता न करने वाले मुनि का सब लोग त्याग करते हैं। उसपर सङ्कट आने पर इतर साधुजन भी उसकी उपेक्षा करने लगते हैं। उसका महत्त्व गिर जाता है। सब लोग उसका अनादर करने लगते हैं। धर्म की अवहेलना होती है। वह इस उत्तम कर्त्तव्य से वंचित रहने के कारण अपनी आत्मा का भी शत्रु सिद्ध होता है।

हे साधुओ ! स्वाध्याय करना परमोत्तम कार्य है तथापि वैयावृत्त्य करना उससे भी महान् कार्य है। क्योंकि स्वाध्याय करने वाला साधु केवल अपनी आत्मा की उन्नति कर सकता है किन्तु वैयावृत्त्य करने वाला सयमी अपनी व दूसरे की उन्नति करता है। गुण-परिणामादि जिनका कि तृतीय किरण में वर्णन कर आये हैं वैयावृत्त्य करने वाले के आत्मा में स्वतः आकर निवास करते हैं। स्वाध्याय करने वाले पर आई हुई विपत्ति का निवारण वैयावृत्त्य करने वाला ही करता है। स्वाध्यायी भी वैयावृत्त्य करने वाले के मुंह की ओर ताकता है उसकी सहायता की अपेक्षा रखता है। अतएव स्वाध्याय करने वाले से भी श्रेष्ठ वैयावृत्त्य करने वाला महात्मा है।

हे मुनियो ! तुम ब्रह्मचर्यरत्न की रक्षा करने में दत्तचित्त रहो। यद्यपि तुम्हारा आत्मा संवेग वैराग्य से परिपूर्ण है, तथा तुम्हारी दिनचर्या भी ऐसी है जिसका पूर्णतया पालन करते रहने से उसका पोषण होता है तथापि बाह्य सम्पर्क बड़ा बलवान् होता है। वह बलात्कार इस कर्म परतन्त्र आत्मा को अपने उत्तम कर्त्तव्य से विमुख कर देता है। इसलिए तुमको ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए तथा रत्नत्रय भावना में लवलीन रहने के लिए आर्यिकाओं का सम्पर्क न होने देना चाहिए। क्योंकि आर्यिका का संसर्ग अग्नि के समान चित्त में सन्ताप उत्पन्न करने वाला है तथा विष के समान संयम जीवन का विघात करने वाला है। वह अपकीर्ति की कालिमा लगाने वाली कज्जल की कोठरी है। आर्यिका के संसर्ग से संभव होने वाले चित्त-संक्लेश और संयम जीवन का रक्षण तो दुर्धर तपस्वी कर भी सकते हैं किन्तु जनापवाद से उत्पन्न होने वाली अपकीर्ति से बचना असंभव है।

मुनियों को जनापवाद के मार्ग पर ही न जाना चाहिए। शास्त्रों में कहा है —

"काये पातिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपाति यत्।
नरः पतितकायोऽपि यशःकायेन धार्यते ॥ १ ॥"

अर्थात्— यह विनश्वर शरीर तो अवश्य गिरने वाला है नष्ट होने वाला है इसकी रक्षा कैसे हो सकती है? इसकी रक्षा का प्रयत्न करना निष्फल है। इसके द्वारा तो स्थायी रहने वाला यश उपार्जन करना चाहिए। क्योंकि भौतिक शरीर का नाश होने पर भी यश शरीर स्थिर रहता है। इसलिए अपने यश का सदा ध्यान रखना चाहिए। जिसको अपने आत्मीय गुणों की उच्चता का विचार नहीं है वह कभी आत्मोन्नति करने में कटिबद्ध नहीं रह सकता। वह अपने आत्मा को पतन से नहीं बचा सकता है। अतः अपने ब्रह्मचर्य गुण की महत्ता का रक्षण करने के लिए कभी आर्यिका आदि स्त्रियों का सम्पर्क नहीं करना चाहिए।

हे संसार भीरुओ ! तुमने संसार से डर कर एकान्त निवास किया है। अतः इस एकान्त में भी भय का कारण आर्यिका का सम्पर्क है। इससे स्थविर (वृद्ध) अनशनादि तपस्या में निरन्तर उद्यत रहने वाले तपस्वी बहुश्रुत (अनेक शास्त्रों के वेत्ता) और जगत् में माननीय प्रभावशाली साधु भी निन्दा के पात्र होते हैं तो शास्त्र के तत्त्व ज्ञान से शून्य साधारण चारित्र का पालक तरुण (जवान) साधु इस अपवाद (निन्दा) से अपने को किस तरह बचा सकता है ? उसकी निन्दा होना अनिवार्य है। यदि कोई साधु अपने आत्मा को बलवान् व पूर्ण जितेन्द्रिय समझ कर निरर्गल आर्यिकाओं से सम्पर्क बढ़ाता रहे तो उसे अपनी आत्मा का घातक ही समझना चाहिए। क्योंकि कितना भी कठिन जमा हुआ घृत क्यों न हो वह अग्नि का सम्बन्ध पाकर अवश्य पिघल जाता है। आर्यिका का संसर्ग आत्मा को बांधने वाला दृढ बन्धन बन सकता है।

हे संयमियो ! परम वैराग्य की मूर्ति तपस्या में रत शृंगार हीन सयम परायण आर्यिकाओं का ससग भी साधु के ब्रह्मचय व्रत में विघ्न उपस्थित करने वाला माना है तो सयम हीन शृंगार रस मे रची हुई ससार के भोग विलास में रत रहने वाली स्त्रियों का ससर्ग साधुओं के लिए कितना घातक हो सकता है ? इसमें प्रमाण व युक्ति की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

इसलिए हे व्रतियो ! यदि तुमको अपने पुनीत व्रतों की रक्षा करनी है ससार के दु ख से उद्धार करने वाले इस मुनिधम का पालन करना है अपने आत्मा को पाप कालिमा से बचाना है तो तुम किसी भी स्त्री के साथ वार्त्तालाप तक मत करो उसकी तरफ मत देखो। भुजङ्गनी से भी स्त्री को महा भयानक समझो। भुजगनी का विष तो स्पश करने (डसने) से शरीर में असर करता है किन्तु स्त्री तो देखने मात्र से ही शरीर और अन्त करण को तत्काल विपाक्त कर देती है और क्षण भर में सयम से रहित करके अनेक भवों में दु ख का अनुभव कराती है। इसलिए भूलकर भी स्त्री का सम्बन्ध न होने दो। यदि वह तुम्हारे निकट धम भावना से भी आकर बैठे तो तुम उस स्थान से अलग हो जाओ। निमित्त कारण बड़ा बलवान् होता है वह अपना असर किये बिना नहीं रहता है। बहुत दूर पड़े हुए नीबू में इतनी शक्ति होती है कि वह देखने वाले मनुष्य के मुख में पानी उत्पन्न कर देता है। तीव्र शोक अथवा उत्कट सुख के कारणों का समागम होते ही आखों से अश्रुधारा बहने लगती है। ठीक ही है बाह्य निमित्त के सयोग से वस्तु में परिवत्तन हो जाता है। इसी प्रकार स्त्री का सम्पक भी मानसिक विचारों म तत्काल परिवत्तन कर देता है। इसलिए जो तुम अपना हित चाहते हो तो स्त्री का सम्पक न होने दो इसी में तुम्हारा कल्याण है। जो सयमी स्त्री का सम्पक करके भी अपने व्रत को अक्षुण्ण बनाये रखने की सम्भावना करता है वह सप के मुख में हाथ देकर जीने की इच्छा रखता है।

हे व्रतियो ! इसके अतिरिक्त रुपये पैसा आदि पदार्थ जो तुम्हारे व्रत संयम के नाशक हैं उनका भी अवश्य दूर से परिहार करो। उनका स्पश तक न करो। व्रतों की रक्षा उसी सयमी के होती है जो उनमें विघ्न बाधा पहुचाने वाले कारणों से सम्पक नहीं रखता है। व्रत बाधक पदार्थों का सयोग रखने वाला सयमी अपने सयम व्रत से अवश्य गिर जाता है। इसलिए तुम्हें उन सब विपरीत कारणों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए।

हे पवित्र चारित्र के पालको ! सङ्घ में चारित्रहीन साधुओं का सम्पक मत होने दो। पार्श्वस्थ अवसन्न कुशील, संसक्त और मृग चारित्र ये पाच प्रकार के भ्रष्ट साधु हैं। इन पतित साधुओं का दूर से ही परित्याग करो। ससगजा दोष गुणा भवन्ति जिसका संसर्ग होता है उस व्यक्ति के गुण व दोष ससग करने वाले म अवश्य आते हैं। जैसे कस्तूरी के ससग मे वस्त्र में सुगन्ध और लहसन के सगम से दुगन्ध स्वत आती है इसमे अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती है। इसी प्रकार हीनाचारी पुरुषों के समागम से आचार में

हीनता स्वत आजाती है। इसलिए अपने चारित्र का निमल व उन्नत बनाने वाल साधुओं को मलीन व भ्रष्ट चारित्र वाले साधुओं का समागम न करना चाहिए। पाश्वस्थादि साध्वाभासों का स्वरूप पहल वणन कर दिया गया है। वहा से उनका स्वरूप जान कर उनकी सङ्गति का परित्याग करना चाहिए।

पाश्वस्थादि साधुओं की सङ्गति करन वाले साधु का किस तरह पतन होता है—इसके विषय में भगवती आराधना में निम्न प्रकार कहा है—

लज्ज तदो विहिंस पारम णिव्विसङ्कद चेव।
पियधम्मो वि कमेणारुहतओ तम्मओ होइ ॥ ३४० ॥

अर्थ—पाश्वस्थादि साध्वाभासों की सङ्गति करन वाले मुनि को पहले पहल तो लज्जा आती है। उसके यह विचार उत्पन्न होता है कि मुझे इन पतित साधुओं के साथ में देखकर अन्य लोग क्या कहेंगे? पश्चात् मनमें ग्लानि भी होती है कि मैं आत्मा के पतन कराने वाले इस व्रत भङ्ग कारक कुकृत्य को कैसे करू इसमे मेरा महान पतन होगा। तदनन्तर चारित्र मोह के उदय से व्रत भङ्ग कारक काय का प्रारम्भ करता है। व्रत भङ्ग करने के बाद वह साधु नि शङ्क होकर आरम्भ परिग्रहादि पाप कृत्यों में प्रवृत्ति करता है। जो साधु पाश्वस्थादि के ससग होने के पहले धम प्रिय था। धम को प्राणों से भी प्यारा मानता था वही साधु चारित्र हीन साधुओं के सम्पक से क्रमश लज्जा ग्लानि पाप कार्यों में प्रवृत्ति तथा उसमें शङ्का रहित होकर पाश्वस्थादि साध्वाभासो के समान चारित्र हीन बन जाता है।

यद्यपि कोई ससार से भय भीत साधु पाश्वस्थादि के ससग स वचन और काय द्वारा आगम विपरीत कोई काय नहीं करता है तथापि पाश्वस्थादि का समागम उनके प्रति प्रेम की वृद्धि करता है। कारण कि अनादिकाल से इस जीव ने संसार में पतन करने वाले इन्द्रिय सुख को अच्छा मान रखा है और उसी का सतत अनुभव करता रहा है। चारित्र मोहनीय कर्म का मन्द उदय होने पर सद्गुरु के संयोग से उसने संयम ग्रहण किया है किन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाले इन्द्रियों के दास पाश्वस्थादि का संसग पाकर पुन वह सासारिक सुख में झुक जाता है और उनसे स्नेह बढ जाता है। स्नेह के बढने से उनमें विश्वास होने लगता है। पश्चात् वह साधु स्वयं पाश्वस्थादि बन जाता है। जैसे नूतन मिट्टी के पात्र में सुगन्धित पदाथ रखने से वह सुगन्ध मय हो जाता है एवं मिट्टी का तैल भरने पर उसमें वैसी ही दुगन्ध आने लगती है। वैसे ही पार्श्वस्थादि के ससग से उस साधु में पार्श्वस्थादि के गुणों का सक्रमण उत्पन्न हो जाता है। यह उचित ही है जो वस्तु जिसका संसग करती है वह कुछ समय में तन्मय हो जाती है। जैसे कसैला आवला शक्कर के रस का संसग पाकर अपने कसैले स्वभाव को छोड़कर मीठा हो जाता है। और अग्नि के सयोग स शीतल जल अपने स्वभाव का त्याग कर उष्ण हो जाता है। वैसे दुजन मनुष्यों के संसर्ग से सज्जन

प्रकृति का मनुष्य भी दुजन बन जाता है। अतएव हे साधुओ ! रत्नत्रय से पतित आरम्भ परिग्रहादि में आसक्त चारित्र हीन पाश्वस्थादि की सङ्गति न करो। तुम ऐसा न समझो कि हम शुद्ध हैं तो उन (पाश्वस्थादि) का ससग हमारा क्या कर सकता है क्योंकि निमित्तों की प्रबलता कम नही होती।

हे सयमियो ! तुममें से कई साधु ऐसा भी प्रश्न कर सकते हैं कि जो मुनीश्वर अति दृढ संयमी हैं, जिनका चित्त मेरु समान अचल है। यदि वे पाश्वस्थादि के साथ सम्पर्क रखें तो उनको क्या हानि हो सकती है ?

इसका उत्तर यह है कि निमित्त मे अचिन्त्य शक्ति है। प्राचीन काल के अनेक धीर वीर महर्षि भी विपरीत निमित्त को पाकर चारित्र से पतित होगये हैं। श्री माघनन्दी समान महामुनि भी प्रतिकूल निमित्त को पाकर संयम से हाथ धो बैठे थे तो आधुनिक अल्पशक्ति के धारक साधुओं की कहा चली। मान भी लें कि अब भी ऐसी महा मनस्वी तीव्र तपस्वी पर पाश्वस्थादि का ससंग कुछ भी असर नही कर सकता तथापि उनका लोकापवाद तो अवश्यभावी है। साधारण लोग समझने लगते हैं कि पाश्वस्थादि सयम भ्रष्ट साधुओं का सङ्ग करने वाला यह साधु भी संयमहीन प्रतीत होता है अन्यथा यह पाश्वस्थादि के साथ सम्पर्क क्यों रखता।

कुत्सित आचरण वाले व्यक्ति का ससग उग्र तपस्वी निर्मल चारित्र के पालक मुनि को भी दोषी प्रसिद्ध करता है और दुजन के दोष का फल सज्जन को भोगना पड़ता है। जैसे किसी चोर के साथ सम्बन्ध रखने वाला साहूकार भी चोर के अपराध से दोषी माना जाता है। पुलिस चोरी के अभियोग में साहूकार को गिरफ्तार कर लेती है। तथा असयमी (भ्रष्ट सयमी) के साथ रहने से सयमी का भी चारित्र लुट जाता है। जैसे किसी धनिक के साथ लुटेरों के द्वारा निधन मनुष्य भी लुट जाता है। जब मनुष्य दुश्चारित्र मनुष्यों के साथ रम जाता है तब उस सज्जन पुरुषों का साथ नहीं सुहाता है जैसे पित्तज्वर के रोगी को मिश्री मिला दूध भी कडुवा लगता है। इसलिए दुर्जनों का सङ्ग कदापि मत करो। सदा सत्पुरुषों के सङ्ग में ही रहो। देखो सत्पुरुषों के सङ्ग में रहने वाला दुजन भी पूजा जाता है प्रतिष्ठा पाता है। जैसे कि पुष्प माला में पिरोया हुआ सूत का डोरा भी बड़े २ राजा महाराजाओं और देवी देवताओं के गले में शोभा आदर पाता है।

यद्यपि तुम ससार के दुःखों से भयभीत हो और सयम के पालन मे रत हो तथापि तुम को अपने सवेग व सयम गुण की वृद्धि करने के लिए संविग्न और सयमी मुनिराजों के साथ ही रहना चाहिए। देखो सङ्घ की शोभा साधु सख्या से नहीं होती, किन्तु सच्चारित्र से होती है। इसलिए लाखों पासत्थादि (पाश्वस्थादि) चारित्र शून्य साधुओं की अपेक्षा एक सुशील मुनि अति श्रेष्ठ है। क्योंकि कुशील संयम-हीन शिथिलाचारी साधुओं के आश्रय से दर्शन शीलादि का ह्रास होता है और सुशील साधु के निमित्त से सङ्घ में शील दर्शन ज्ञान और चारित्र की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अतः उत्तम शील व सयम के धारक मुनि का ही आश्रय करो। देखो कडुवी तूम्बी में रखा हुआ मिश्री

मिश्रित दुग्ध भी कडुवा हो जाता है। और ईखकी जड़ में सींचा गया खारा जल भी मिष्ट हो जाता है क्योंकि वस्तु को जैसा आश्रय मिलता है वह वैसी ही परिणत होती है। अत तुम भी सत्पुरुषों की ही सङ्गति करो।

तुमको सदा हित मित व प्रिय वचन ही बोलना उचित है। कभी किसी के प्रति अप्रिय तथा अहितकर वचन उच्चारण मत करो। किन्तु ऐसा प्रिय वचन भी न कहो जिससे दूसरे की अवनति या दुर्गुणों की वृद्धि की सम्भावना हो। यदि किसी के हित के लिए अप्रिय वचन बोलना आवश्यक हो तो उसकी उपेक्षा न करो। जीर्ण ज्वर से पीड़ित रोगी के लिए कटुक औषधि ही पथ्य (हितकर) होती है वैसे ही तुम्हारा कटु भाषण भी उसके दुर्गुण का नाश करने वाला होगा। अत दूसरे के उपकार की ओर भी तुम्हारा ध्यान रहना चाहिए।

परम भट्टारक देवाधिदेव तीर्थंकर भी भव्य प्राणियों के कल्याण के लिए धर्मविहार करते हैं। उन्होंने दूसरों के दुःखोद्धार करने की उत्कट भावना से ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया है। स्वपर के आध्यात्मिकोत्थान के लिए कमर कसे रहना महान् पुरुषों का परम कर्तव्य है और परोपकार ही महत्ता का लक्षण है। किसी ने कहा है—

"क्षुद्रा सन्ति सहस्रश स्वभरणव्यापारमात्रोद्यता ।
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेक सतामग्रणी ॥
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोत पतिं वाड़वो ।
जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये ॥ ? ॥"

अ —ऐसे क्षुद्र प्राणी इस ससार में हजारों हैं जो अपने भरण पोषणादि (स्वार्थ सिद्धि) करने मात्र में तत्पर हैं। किन्तु जो परार्थ को ही स्वार्थ मानते हैं ऐसे सत्पुरुषों में अग्रणी (अग्रेसर) पुरुष पुंगव एक आध ही होते हैं। वे ही धन्य हैं। वड़वानल अपने विशाल उदर को भरने के लिए सर्वदा समुद्र का जल पीता है। वह क्षुद्र मानव के समान स्वार्थ परायण है। परन्तु मेघ ग्रीष्म काल के संताप से पीड़ित समस्त संसार के प्राणियों के संताप को मिटाने के लिए ही समुद्र के जल को पीता है। वह जगत् में महान् माना जाता है और उसकी ओर समस्त संसार की आशा भरी दृष्टि लगी रहती है तथा उसके दर्शन मात्र से जगत के जन्तु आनन्द का अनुभव करते हैं। इसलिए हे मुनियो ! तुम्हें सदा स्वपर कल्याण की ओर ध्यान देना चाहिए।

तुम्हारा सब आचरण व वक्तव्य ही ऐसा होना चाहिए जिसका निर्दोष पालन करने से जगत् के प्राणियों का स्वत उपकार हो

जाता हो। तुम्हारे परम वीतरागता का उद्योत करने वाले दिगम्बर भेष के दर्शन मात्र से जीवों के अन्तःकरण में धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। तुम्हारा इन्द्रिय संयम की पराकाष्ठा लोगों को संयम का पाठ सिखाती है। तथा तुम्हारा प्राणी संयम (छह कायक जीवों की रक्षा का व्रत) अखिल विश्व के छोटे बड़े सब जीवों को अभयदान देता है तथा तुम पर अटूट श्रद्धा और भक्ति का सञ्चार कराता है। तुम्हारा दिगम्बर शुद्ध स्वरूप ही सब प्राणियों के प्रतीति का कारण है। तुमने जो अहिंसादि व्रत धारण कर रक्खे हैं उनके कारण तुम्हारे आत्मा में निरन्तर अति निर्मल विचार धारा बहा करता है। दया क्षमा निर्लोभता की पराकाष्ठा तुम में ही नजर आती है। मालिए तुम अपनी पदमर्यादा को कभी मत भूलो।

यदि तुम में भी संयोगवश कोई शैथिल्य आजावे या तुम्हारे व्रतादि में कोई त्रुटि दिखाई दे और गुरु आदि तुमको कटु कठोर शब्दों से सन्मार्ग में प्रवृत्त करने के लिए उद्यत हों तो तुम्हें उनका उपकार मानकर कृतज्ञ होना चाहिए। गुरु आदि ने अपने कल्याण के कार्य स्वाध्याय ध्यानादि में विघ्न करके जो मेरे हित की कामना से यह शिक्षा दी है यह उनका महान अनुग्रह है बड़ा भारी उपकार है शिक्षा को शिरोधार्य करना मेरा परम कर्त्तव्य है- इत्यादि सोचकर तुम्हें परिणाम में हितकर कटु कठोर भाषण का उत्तम औषधि के समान आदर करना उचित है।

हे साधुवर्ग तुम आत्म प्रशंसा कभी मत करो। जो अपने मुह से अपनी प्रशंसा करता है वह अपने यश का नाश करता है। वह सत्पुरुषों की गोष्ठी में तृण के समान लघु (हल्का) माना जाता है। उसका यश नष्ट होता है। जैसे खटाई से दूध फट जाता है वैसे ही आत्म प्रशंसा से यश अपयश का स्थान ग्रहण कर लेता है।

जो अपनी आप प्रशंसा करता है उसके गुणों में लोगों को सन्देह होने लगता है। कस्तूरी की सुगन्ध वचन से प्रकट नहीं की जाती है। वह तो स्वयं फैलकर अपना स्वरूप व गुण प्रकट कर देती है। यदि कस्तूरी का व्यापारी अपनी कस्तूरी की सुगन्ध की प्रशंसा का पुल बांधने लगता है तो लोगों को उसकी कस्तूरी में सन्देह पैदा हो जाता है कि इसकी कस्तूरी नकली मालूम देती है। कोई नपुंसक जैसे स्त्री का भेष धारण कर स्त्री के समान हाव भाव करता है किन्तु वह स्त्री नहीं हो पाता है।

गुणवान सत्पुरुष का स्वभाव होता है कि कोई गुणग्राही सज्जन उसके गुण की प्रशंसा करने लगता है तो उसका मुख नीचे झुक जाता है। वह अपने गुणों का वर्णन अपने मुख से कैसे कर सकता है? जो अपने गुण की स्वयं प्रशंसा नहीं करता है और अपने कार्य द्वारा गुण प्रकाशित करता है वह संसार में भूरि भूरि प्रशंसा का पात्र होता है। विद्वानों ने कहा है —

"यदि सात गुणास्तस्य निकषे मन्ति त स्वयम् ।
न हि कस्तूरिकागन्ध शपथन विभाव्यते ॥ १ ॥"

अथ—किसी व्यक्ति म यदि गुण विद्यमान हैं तो गुणग्राही मनुष्या क परीक्षा रूपी कसौटी पर कसे जाने से वे स्वय ही प्रगट हो जाते हैं। क्योंकि कस्तूरी की गन्ध सागन्ध खान स नहीं मानी जानी किन्तु वह स्वय प्रकाश में आजाती है।

अपन गुणा का वचन द्वारा कथन करना तो उनका नाश करना है और गुणो के अनुकूल प्रवृत्ति करना ही उनको प्रकाशन करना है। इसलिए हे मुनियो! तुम कभी अपने मुह स अपने गुणों का कीतन न करो। तुम्हारा सदाचार में प्रवत्तन ही तुम्हारे गुणों को प्रकाशित करन वाली दुन्दुभ है। यदि गुणहीन पुरुष तुम्हार गुण को न समम पावें तो काई हानि नहीं है। उनके सामने तुम अपन गुणों का कथन करन पर भी महत्ता नहीं पा सकते क्योंकि वे तुम्हार गुणों का महत्व ही नहीं समझने ह। और गुणवानो व गुणज्ञो के मध्य म तुम्हार गुण बिना कहे ही प्रगट हो जावगे। अत किसी भी जगह अपन गुण वचन द्वारा कभी प्रगट मत करो। वचन स अपने गुण प्रगट करन वाला महत्व न पाकर लघुता ही पाता है। कहा है —

निर्गुणा गुणिना मध्य ब्रुवाण स्वगुण नर ।
सगुणोऽप्यति वाक्येन निर्गुणानामिव ब्रुवन् ॥ १ ॥

अथ—गुणहीन मनुष्य भी जैसे गुणहीन मनुष्यों म वचन द्वारा अपने गुणों का वर्णन करता हुआ अनादर पाता है वैसे ही गुणहीन मनुष्य गुणवानों में अपन गुण का बखान करके अपमान पाता है।

इसका आशय यह है कि गुणवान मनुष्य को अपनी प्रशसा अपन आप कभी नहीं करना चाहिए। अपन मुख स अपनी प्रशसा करन वाले की महिमा घटती है और निरादर होता है।

हे मुनियो! तुम अपन सङ्घ के अथवा पर सङ्घ के किसी मुनि की निन्दा मत करो। क्योंकि परनिन्दा ससार वृक्ष को सम्पृक्त करने म जल के समान है। इस प्रकार परनिन्दा परभव में दुःख उत्पन्न करन वाली है। तथा परनिन्दा स इस भव म अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट भोगने पडते हैं। वैर उत्पन्न होता है। दुःख व शोक होता है। परनिन्दा करने वाले को सदा भय बना रहता है उसकी लोक मे लघुता (हलकापन) प्रगट होती है तथा सज्जन पुरुषों का अप्रिय बन जाता है।

प्राय मनुष्य अपने को अच्छा प्रगट करने के लिए दूसरों की निन्दा करता है। किन्तु उसकी यह निन्द्य प्रवृत्ति नितान्त मूर्खता को प्र ाट करता है। क्या कोई रोगी दूसरे को कडुवी औषधि पिलाकर उस रोग से मुक्त हो सकता है। जो पर निन्दा करके अपने गुण का प्रकाश करने का चेष्टा करता है वह मनुष्य अपने को उज्ज्वल बनाने की इच्छा से अपने शरीर के चारों तरफ कज्जल की वृष्टि करता है। अर्थात् जैसे कज्जल को चारों ओर उडाने वाला स्वय अछूता नहीं बचता है उसी प्रकार दूसरों की निन्दा करने वाला स्वय निन्दा का पात्र होता है। तुम सत्पुरुष हो। स पुरुष उसे कहते हैं जो सत्पुरुष का लक्षण धारण करे। शास्त्र कारों ने बताया है कि —

"अप्पो वि परस्स गुणो सप्पुरिस पप्प बहुदरो होदि।
उदए व तेल्लबिंदू किह सो जपिहिदि परदोस ॥"

अर्थ—परकीय स्वल्प गुण भी सत्पुरुष को पाकर विशाल रूप धारण कर लेता है। जैसे जल में गिरी हुई तैल की बूद विशाल काय हो जाती है। अर्थात् जैसे जल के सम्बन्ध को प्राप्त हुई तैल की बूद को जल चारों ओर विस्तृत कर देता है वैसे ही सत्पुरुष छोटे से परकीय गुण की प्रशसा करके उसे महान् बना देता है।

अतएव हे मुनियो ! तुम सदा ऐसा प्रयत्न करो जिसके कारण ससार के समस्त विवेकी मनुष्य तुम्हें धन्य धन्य कहें और मुक्त कण्ठ से कहने लगे कि ये मुनि अखण्ड ब्रह्मचर्य के धारक हैं। ये प्रकाण्ड विद्वान् अनेक शास्त्रों के वेत्ता हैं स्वमत और पर मतों के रहस्य के ज्ञाता हैं। ये किसी भी प्राणी को लेशमात्र दु ख नहीं देते हैं। इनका अनुपम चारित्र गङ्गा नदी के जल के समान निर्मल है। ये अपने गुणों का पूर्ण पालन करते हैं। धन्य है इन महात्माओं को जो ससारी प्राणियों को अपना आदर्श स्वरूप दिखाकर धर्म में जागृति उत्पन्न कर रहे हैं। इस प्रकार का तुम्हारा धवलयश ससार में फैल कर धर्म प्राण जनता को सन्मार्ग में प्रवृत्ति कराने वाला सिद्ध होता है। यही जैन धर्म की उत्तम से उत्तम प्रभावना है। तथा तुम्हारे आत्म कल्याण का मुख्य उपाय है।

इस प्रकार पूर्व आचार्य ने सङ्घ के नवीन आचार्य और सम्पूर्ण मुनिराजों को उपदेश दिया।

इस उपदेश को सुनकर सम्पूर्ण सङ्घ के मुनि समूह ने एक स्वर से कहा–हे स्वामिन् आपके इस मङ्गलमय उपदेश का हम सब हृदय से स्वागत करते हैं। यह अमृतमय कल्याण करने वाली शिक्षा हृदय पटल पर जीवन भर अङ्कित रहेगी तथा मोक्ष मार्ग की यात्रा में दीपक का काम करेगी। इस प्रकार कहकर आत्म हित करने के लिए समस्त सङ्घ से पृथक् होने वाले गुरुदेव के गुणों का स्मरण करके भक्ति से आर्द्रचित्त होकर सम्पूर्ण साधुओं के नेत्रों से आनन्दाश्रु की धारा बहने लगती है और हाथ जोड़कर गुरुदेव के सम्मुख खड़े होकर प्रार्थना

करते हैं—

हे भगवन्! आपके उपकार का वर्णन करने के लिए हमारे शब्द कोश में कोई शब्द नहीं है। हम इसे कभी नहीं भूल सकते। अमुक कार्य करो अमुक कार्य मत करो ऐसी शिक्षा देकर आपने हमको सत्पथ पर लगाया है। ऐसी शिक्षा भाग्यवान् पुरुष ही पाता है। जिसने पूर्व भव में तपस्या की है उसे ही आप समान गुरुदेव का शरण मिलता है। हम जगत् में परम धन्य हैं जिन्हें ऐसा लोह पारस का सा सम्बन्ध उपलब्ध हुआ है। लोह समान अधम हमारे आत्मा ने पारस मणि समान आपके संयोग को पाकर सुवर्णवत् उत्तम बनने की योग्यता प्राप्त की है। आपने संसार सागर के अगाध पापमय जल में डूबते हुए हमको हस्तावलम्बन देकर उबारा है।

हे प्रभो! हमने अज्ञान से, प्रमाद से अथवा राग द्वेषादि विकारों के आवेश में आकर जो आपकी आज्ञा का लोप किया हो परिणाम में हितावह आपके आदेश की अवहेलना कर जो प्रतिकूल प्रवृत्ति की हो, उन सब अपराधों की हम हाथ जोड़ कर क्षमा याचना करते हैं।

हे स्वामिन्! आपने हम हृदय हीनों को सहृदय बनाया है। आपके सदुपदेश ने हमारे अन्तःकरण में विवेक सूर्य का उदय किया है। जिससे हम आत्म हित व अहित को समझने लगे हैं। आपने हमको शास्त्रों का अध्ययन करवाकर सकर्ण और सनेत्र बनाया है। अर्थात् शास्त्रों को पढ़ाकर ज्ञान सूर्य का प्रकाश कर कर्ण और नेत्रों को सफल बनाया है। तथा मोक्ष मार्ग में चलाकर और जीव रक्षा की निमित्त भूत प्रतिलेखनादि क्रियाओं में प्रवृत्ति करवाकर हमारे चरण और हस्त को कृतार्थ किया है। इस प्रकार मनुष्य जीवन को सफल करने वाले सन्मार्ग (मोक्षमार्ग) में लगाकर आपने हमको कृतार्थ किया है।

हे भगवन्! आप सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों के हित कर्त्ता हैं। आप ज्ञान और तप में महान हैं। आप समस्त जगत् के जीवों के स्वामी हैं। आप अब प्रवास करने वाले हैं अथवा सन्यास मरण को अङ्गीकार करने वाले हैं। अतः हमको सब देश शून्य दिखाई दे रहे हैं तथा सब क्षेत्र अन्धकार मय प्रतीत हो रहे हैं। हे स्वामिन्! आप शील से मण्डित और गुणों से भूषित हैं और ज्ञान के भण्डार हैं। आप सब जीवों को दुःख से छुड़ाकर सुख प्रदान करने वाले हैं। अब आप प्रवास करने वाले अथवा समाधिमरण धारण करने वाले हैं। ऐसे समय में हमको सब देश शरण हीन प्रतीत हो रहे हैं।

इस प्रकार वियोग पीड़ित साधुओं के हृदय द्रावक करुणार्द्र वचन को सुनकर वस्तु स्वरूप के ज्ञाता आचार्य समस्त को सान्त्वना देकर आत्महित कारक रत्नत्रय में अतिशय प्रवृत्त करने में उद्युत हुए आराधना के लिए परसङ्घ में गमन करने की अभिलाषा करते हैं।

शङ्का—सङ्घ के आचार्य सन्यास ग्रहण करने के लिए पर सङ्घ में क्यों जाते हैं अपने सङ्घ में ही क्यों नहीं रहते हैं?

समाधान—यदि आचाय अपने सङ्घ में रहकर ही सन्यास ग्रहण करें तो आज्ञा भङ्ग कठोर भाषण कलह विषाद खेद निभयता स्नेह करुणा और ध्यान विघ्न आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। वह इस तरह है —

यदि आचाय सङ्घ में रहें और वृद्ध माधु अयश जनक काय कर बैठें तथा गृहस्थ की ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक क्षुल्लक कलह करने में प्रवृत्त हो जाय तथा समाधि मरण की विधि के अज्ञाता शिष्य मुनि तीव्र स्वभाव वाले हों और आचाय की आज्ञा का उल्लंघन करने लग जावें तो आचाय के चित में अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न हो सकता है।

शङ्का—परसङ्घ में भी शिथिलाचारी वृद्ध मुनि कलहकारी क्षुल्लक गृहस्थ तथा सन्यास विधि के अज्ञाता शिष्य साधु हो सकते हैं। वहा पर भी आचाय के चित में क्षोभ उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रह सकती है।

समाधान—परसङ्घ में जाकर सन्यास मरण विधि का आचरण करने वाले आचाय वहा के साधुओं को आज्ञा नहीं देते हैं। उन साधुओं को आज्ञा देने का कर्तव्य उस सङ्घ के आचाय का है। इसलिए वहा आज्ञा भङ्ग की सम्भावना नहीं है। यदि किसी समय आज्ञा करने का प्रसङ्ग उपस्थित होजावे और साधु या क्षुल्लक आज्ञा न माने तो आचाय के चित में क्षोभ नहीं होता है। आचाय को उसी समय विचार होने लगता है कि मैंने इनपर कोई उपकार तो किया नहीं मेरे आदेश का पालन ये क्यों करने लगे? इस प्रकार चित में समाधान हो जाता है।

स्थविर मुनि कलह में तत्पर क्षुल्लक गृहस्थ तथा मार्गानभिज्ञ शिष्य मुनि को सयम विरुद्ध आचरण करते हुए देखकर आचाय उनके प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग करेगे। और बहुत काल का परिचय होने से वे वृद्ध मुनि क्षुल्लक व शिष्य साधु भी आचार्य के प्रति कठोर वचन उच्चारण करने लग जाय तो आचाय के चित मे अत्यन्त अशान्ति उत्पन्न होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। इसी प्रकार—वृद्ध साधु क्षुल्लक गृहस्थ या छोटे २ साधुओं को परस्पर कलह शोक सतापादि उत्पन्न करते हुए देखकर आचाय के चित में अशान्ति उत्पन्न हो सकती है। अथवा क्षुद्र या महान रोग या भयानक व्याधि से पीडित सङ्घ के शिष्यों को देखकर आचाय के मन में मोह जन्य संताप उत्पन्न हो सकता है तथा उनपर स्नेह का प्रादुर्भाव होने से महान दुःख उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है।

समाधिमरण में तत्पर हुए आचाय को क्षुधा पिपासा आदि की बाधा को शान्ति से सहन करना चाहिए। किन्तु वे अपने सङ्घ में निर्भय हुए आहार जलादि की याचना करने लगगे। अथवा स्वत आहारादि का सेवन करने लगेंगे तथा परित्यक्त भोजन पान के पदार्थों का भी सेवन करने लगेंगे उस समय उनको निवारण करने में कौन समर्थ होगा? अपने सङ्घ में रहने से ऐसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए आचाय का अपने सङ्घ में रहकर समाधि मरण का साधन करना आगम में निषेध किया गया है।

जिनका आचार्य ने बाल्यावस्था से पालन किया है ऐसे बाल मुनियों को वृद्ध मुनियों को और अनाथ आर्यिकाओं को देखकर अब इनसे मेरा अत्यन्त वियोग होगा ऐसा विचार होने से आचार्य के मनमें स्नेह का आविर्भाव हो सकता है। तथा समाधि मरण के लिए उद्यमशील आचार्य को देखकर छोटे २ बाल मुनि ब्रह्मचारी क्षुल्लक आर्यिका आदि वियोग जन्य दुःख से आर्त्तनाद करने लगते हैं। उनकी दुःख भरी रोने की ध्वनि को सुनकर और नेत्रों से बहती हुई अविरल अश्रुधारा को देखकर आचार्य के अन्तःकरण में कारुण्य का उदय हो आता है और उसीसे उनके धर्म्यध्यान या शुक्लध्यान के स्थान मे आर्त्तध्यान उत्पन्न हो सकता है।

उपर्युक्त सब दोष अपने सघ में रहकर समाधिमरण की साधना करनेवाले आचार्य को ही नहीं होतेहैं बल्कि जो आचार्य समान उपाध्याय और प्रवर्त्तक मुनि होते हैं उनके आत्मा में भी इन दोषो की सम्भावना रहती है। अतएव इन दोषों से बचने के लिए आचार्यादि समाधि मरण का साधन करने के लिए परसघ मे प्रवेश करते हैं।

समाधि मरण की साधना के लिए आये हुए आचार्यादि को देखकर परसघ के आचार्य व अन्य साधुवर्ग के मनमें उत्कट आल्हाद उत्पन्न होता है। हमारा अहोभाग्य है जो हम पर प्रेम व अनुग्रह करके अपने सघ का परित्याग कर ये महाभाग हमारे संघ में पधारे हैं ऐसे प्रेम से पूरित चित्त परसघ स्थित मुनिराज आगन्तुक की सेवा करने के लिए तत्परता दिखाते हैं और दत्तचित्त होकर आगन्तुक की परिचर्या करते हैं।

जो आगन्तुक आचार्यादि साधु के समाधिमरण की व्यवस्था करने वाला निर्यापकाचार्य होता है वह शास्त्र का वेत्ता और शुद्ध चारित्र का पालन करने वाला होना चाहिए। तथा उसका प्रधान कर्त्तव्य होता है कि वह आगन्तुक क्षपक (साधु) का पूर्ण आदर-सत्कार करे।

निर्यापकाचार्य आगम का वेत्ता ससार से भयभीत पाप कर्मों से डरने वाला चारित्र का सुचारुता से पालन करने वाला और सन्यास विधि की व्यवस्था करने में निपुण होता है। ऐसे आचार्य के पाद मूल में समाधि मरण का साधक साधु रहकर अपनी आराधना की सिद्धि करता है। जिसमें उक्त गुण नहीं हैं वह निर्यापकाचार्य होने योग्य नहीं माना गया है इसलिए समाधिमरण की सिद्धि के अभिलाषी को अपनी अपूर्व आराधना को सफल करने के लिए निर्यापकाचार्य के स्वभाव गुण आदि की परीक्षा करके उसकी शरण ग्रहण करना उचित है।

निर्यापकाचार्य के अन्वेषण का क्रम

प्रश्न— समाधिमरण का अभिलाषी यति निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करता है, उसका समय प्रमाण क्या है? तथा किस विधि से अन्वेषण करता है वह विधिक्रम क्या है?

उत्तर—समाधिमरण का आकाक्षी आचार्य अथवा अन्य साधु समाधिमरण की साधना क लिए निर्यापकाचाय का अन्वेषण (तलाश) एक वष दो वष तीन वष अधिक स अधिक बारह वर्ष तक करता है। आगम में उसका क्रम विधान निरूपण किया गया है। भगवती आराधना मे कहा है—

एक व दो व तिण्णि य वारसवरिसाणि व अपरिसतो।
जिणवयणमणुण्णाद गवेसदि समाधिकामो दु ॥ ४ २ ॥ भग आ

अथ—समाधिमरण की कामना करने वाला साधु या आचाय जिनागम के रहस्य के वेत्ता निर्यापकाचाय की गवेषणा (तलाश) करता है। उसका काल एक वष दो वष तीन वष उत्कृष्ट बारह वष पय त कहा गया है। अर्थात् निर्यापकाचाय की तलाश करने में साधु खेद रहित होकर बारह वष तक भ्रमण कर सकता है।

भावाथ—आचारवान आद गुणों स मण्डित आचाय हा निर्यापकाचाय समाधिमरण की साधना करवाने में समथ हो सकते हैं। उनको ढूढने के लिए साधु सातसौ योजन पयन्त अथवा इससे भी अधिक दूर क्षेत्र मे विहार करता है। इस विहार काल का परिमाण बारह वष तक का हो सकता है। निर्यापकाचाय को ढूढने में साधु बारह वष तक व्यतीत कर सकता है।

प्रश्न—निर्यापकाचाय की गवेषणा करने के लिये विहार करने वाले साधु का क्रम विधान क्या है ? किस विधि से वह साधु निर्यापकाचाय का अन्वेषण करता है ?

उत्तर—निर्यापकाचाय के अन्वेषण करने के लिए विहार करने वाले की विधि पाच प्रकार की है। १ एक रात्रि प्रतिमा कुशल २ स्वाध्याय कुशल ३ प्रश्न कुशल ४ स्थडिलशायी और ५ आसक्ति रहित ये पाच विधिया हैं।

प्रश्न—एक रात्र प्रतिमा कुशल किसे कहते हैं ?

उत्तर—निर्यापकाचार्य की तलाश में निकलने वाला साधु तीन उपवास करता है और चतुथ रात्रि में ग्राम या नगरादि के बाहर प्रदेश मे अथवा श्मशान में पूव दिशा या उत्तर दिशा में अथवा जिधर जिन प्रतिमा हो उधर मुह करके दोनों पावों के मध्य चार अगुल का अन्तर रखकर खडा हुआ नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि को निश्चल करके शरीर से ममत्व का परित्याग करता है। अर्थात् चित्त को स्थिर कर कायो सग करता है। मनुष्य तिर्यंच दव तथा अचेतन द्वारा किये गये उपसग का शान्ति से सहन करता है। सूर्योदय तक वह मुनि भय स उस स्थान को छोड कर न तो आगे पीछे होता है और न नीचे गिरता है। यह एक रात्रि की प्रतिमा है। इसमें जो कुशल होता है उसे

उसको एक रात्रि प्रतिमा कुशल कहते हैं।

प्रश्न—स्वाध्याय-कुशल किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो साधु स्वाध्याय करके दो कोश चलकर जिस क्षेत्र में आहार मिलने की योग्यता हो ऐसे क्षेत्र की वसतिका में जाकर ठहरता है अथवा यदि मार्ग अधिक हो तो सूत्र पौरुषी या अर्थ पौरुषी के समय मङ्गल करके आगे भोजन के लिए विहार करता है उस साधु को स्वाध्याय कुशल कहते हैं।

प्रश्न—प्रश्न-कुशल किसे कहते हैं ?

उत्तर—मार्ग में पड़ने वाले स्थानों में विहार करते हुए मुनियों आर्यिकाओं बाल वृद्ध युवक श्रावकों को पूछता हुआ साधु निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करता है। उस प्रश्न कुशल कहते हैं।

प्रश्न—स्थण्डिलशायी किसे कहते हैं ?

उत्तर—जहां भिक्षा भोजन उपलब्ध हुआ वहां काय शोधन के लिए (मलादि का त्याग करने के लिए) स्थंडिलभूमि (प्रासुक स्थान) का अन्वेषण करता है रात्रि को स्थंडिल भूमि पर सोता है उस स्थंडिलशायी कहते हैं।

प्रश्न—आसक्ति रहित किसको कहते हैं।

उत्तर—जो साधु निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करने को निकला है वह किसी देश, नगर मनुष्य या भोजनादि में आसक्ति रहित होकर विहार करता हुआ अपने संभोग के योग्य साधुओं के साथ में मिलकर विहार करता है। अथवा एक दो साधु को अपने साथ मिलाकर विहार करता है उस आसक्ति रहित कहते हैं।

प्रश्न—समाधिमरण करने की अभिलाषा से कोई साधु या आचार्य विहार कर रहा है और अकस्मात् वाणीभङ्ग हो जावे, अर्थात् मूकावस्था प्राप्त होजावे या मृत्यु को प्राप्त होजावे तो क्या वह आराधक माना जाता है ?

उत्तर—उसका उद्देश यह था कि गुरु या आचार्य के निकट जाकर अपने सम्पूर्ण दोषों की आलोचना करूंगा, इस अभिप्राय से निकले हुए साधु विहार करते हुए गूंगे होजावें या मृत्यु को प्राप्त होजावें तो वे आराधक ही माने गये हैं।

शङ्का—जिन्होंने गुरु के समीप आलोचना नहीं की है तथा गुरु प्रदत्त प्रायश्चित का भी आचरण नहीं किया है वे साधु या आचार्य आराधक कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—अपराध करके जो साधु आलोचना नहीं करता है वह मायावी होता है और जिसके हृदय में माया शल्य रहती है, उसके रत्नत्रय की निर्मलता नहीं होती है। ऐसा सोचकर जिन्होंने अपने अन्तःकरण में शल्य का उद्धार करने का निश्चय किया है जिनके चित्त में दुःख से परिपूर्ण संसार से भय उत्पन्न हुआ है यह शरीर अपवित्र विनश्वर निःसार और सदा दुःख देने वाला है तथा इन्द्रिय सुख आपात (प्रारम्भ में) रमणीय अतृप्ति जनक और तृष्णा को बढ़ाने वाला है ऐसा विचार कर जो शरीर और इन्द्रिय सुख से विरक्त हुए हैं जिनके मनमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मे अतिउत्कृष्ट श्रद्धा उत्पन्न हुई है तथा जो अपराध निवेदन करने के लिए गुरु के निकट जा रहे हैं ऐसे साधु या आचार्य के वचन शक्ति का विनाश मार्ग में ही होजावे या मरण को प्राप्त होजावे तो वे आलोचना किये बिना भी आलोचना करने के निर्मल भाव होने के कारण रत्नत्रय के आराधक माने गये हैं।

गुरु का अन्वेषण करने के लिए आये हुए साधु या आचार्य को देखकर निर्यापकाचार्य संघ के साधु आदि का क्या कर्त्तव्य कर्म होता है इस दिखाते हैं।

आएस एज्जंतं अब्भुट्ठंति सहसा हु दट्ठूण।
आणा संगह वच्छल्लदाए चरणे य णादुं च ॥ ४१ ॥ (भग आ)

अर्थ—निर्यापकाचार्य संघ के साधु अतिथि साधु को आते हुए देखकर शीघ्र खड़े होजाते हैं। खड़े होजाने से जिनाज्ञा का पालन होता है। आगत अतिथि का स्वागत व संग्रह होता है। वात्सल्य प्रदर्शन होता है। और आगत अतिथि के आचार व्यवहार का ज्ञान होता है।

संघ स्थित मुनि और आगन्तुक मुनि एक दूसरे की प्रतिलेखनादि क्रियाओं की परीक्षा करते हैं। कारण कि आचार्यों के आम्नाय व उपदेश भिन्न भिन्न होते हैं। इसलिए उनके आचार में भेद पाया जाता है। अतएव एक दूसरे की प्रतिलेखनादि आवश्यक क्रियाओं का आचरण देखते हैं। गुप्ति और समिति का पालन सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हैं।

आशय यह है कि अपने संघ को छोड़कर जो साधु अपने चारित्र को उज्ज्वल करने आया है वह भी संघ के मुनियों के स्वभाव उनके संयम पालन व आवश्यक क्रियाओं के आचरणादि की परीक्षा करता है। तथा संघ के साधु भी आगन्तुक के स्वभाव उसके इन्द्रिय विजय रूप संयम और प्राणियों की रक्षा रूप संयम का निरीक्षण करते हैं। यह साधु प्रतिलेखनादि क्रियाओं में किस प्रकार जीव रक्षा

पर ध्यान देत है तथा इसने इन्द्रियों के विषयों पर कितना विजय प्राप्त किया है तथा यह सामायिकादि आवश्यक क्रियाओं का यथा समय प्रमाद रहित होकर आचरण करता है या नहीं ? मन वचन काय की चचलता को रोकने की इसकी शक्ति कैसी है ? इसका गमन, भाषण, भोजनादि आगम के अनुकूल है या नहीं ? इत्यादि बातों की परीक्षा करते हैं। शास्त्रों में कहा है —

वास्तव्यागन्तुका सम्यग्विविधे प्रतिलेखने ।
क्रियाचारित्रबोधाय परीक्षन्ते परस्परम् ॥ ४२२ ॥
आवासयठाणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे ।
सज्झाए य विहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥ ४१२ ॥ (भग आ)

अर्थात्—उस सघ में निवास करने वाले व आगन्तुक मुनि परस्पर आचरण में आने वाली क्रिया व चारित्र का पालन कैसा है इसकी परीक्षा करते हैं। एव आवास स्थान प्रतिलेखन वचन ग्रहण निक्षेप स्वाध्याय विहार और भिक्षा ग्रहण की भी जाच करती है।

अवश्य कर्त्तव्य को आवश्यक कहते हैं। अर्थात सवर और निर्जरा के अभिलाषी साधु सामायिक प्रतिक्रमणादि क्रियाओं का अवश्य आचरण करते हैं। अत उनको आवश्यक कहते हैं। उसका पालन समय पर और विधिपूर्वक करते हैं या नहीं करते ? इसका परस्पर परीक्षण करते हैं। मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक दो नमस्कार बारह आवर्त्त तथा प्रत्येक दिशा की ओर एक एक नमस्कार करने से ४ नमस्कार करना इत्यादि क्रियाओं का पालन ठीक २ रीति से करते हैं या नहीं ? इसका सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हैं। नेत्रों से उपकरणों का शोधन कर पिच्छी से मार्जन करने देख शोध कर व पिच्छिका से मार्जन कर उपकरणादि को उठाना व रखना हितमित प्रिय वचन बोलना नेत्रों से चार हाथ भूमि देखकर गमन करना निर्दोष भिक्षा का ग्रहण करना इत्यादि क्रियाओं में सघ में रहने वाले मुनि और आगन्तुक मुनि परस्पर परीक्षा करते हैं। योग्य काल में और विधि पूर्वक सामायिकादि कर्त्तव्यों का पालन करते हैं या नहीं ? केवल द्रव्य सामायिक में ही प्रवृत्त करते हैं या भाव सामायिकादि में भी प्रवृत्त होते हैं ? मुख से केवल सामायिकादि आवश्यक का पाठ (उच्चारण) करना तथा काय द्वारा सामायिकादि किया करना यह द्रव्य सामायिकादि कहे जाते हैं ? अशुभ मन वचन काय योग का त्याग करना तीर्थकरों के गुणों तथा आचार्य उपाध्यायादि पूज्य पुरुषों के गुणों का स्मरण चिन्तन करना, अपने व्रत में लगे हुए दोषों की गर्हा व निन्दा करना त्याग करने योग्य पदार्थों का त्याग करना शरीर से ममत्व का त्याग करना इत्यादि आवश्यकों के पालन में जो तल्लीनता दिखाई देती है उसे आवश्यक परिणति कहते हैं। इस आवश्यक परिणति की जाच परस्पर वास्तव्य और आगन्तुक साधु ध्यान पूर्वक करते हैं।

प्रतिलेखन परीक्षा

यह साधु प्रतिलेखन क्रिया करने के पूर्व यह प्रतिलेखन (पिच्छिका) योग्य है या नहीं ? इस प्रकार देख भाल करता है या नहीं ? मृदु लघु और सुकुमार प्रतिलेखन (पिच्छिका) से यत्नपूर्वक प्रमाजन करता है या नहीं ? शीघ्र २ माजन करता हुआ दूर के जीवों को नीचे तो नहीं गिरा देता उनको पीड़ा तो नहीं पहुचाता या परस्पर विरोधी जीवों का सम्मिश्रण तो नहीं (सम्बन्ध) करता ? आहार करते हुए आहार करने में प्रवृत्ति करते हुए अर्हों को लकर निकलते हुए अपने निवास स्थान में बठे हुए या मूर्छा को प्राप्त हुए जीवों का तो प्रमाजन नहीं करता है ? अथात् पिच्छिका स उन्हें तितर बितर करके पीड़ा तो नहीं देता है ? इसकी जाच करते हैं।

वचन परीक्षा

यह साधु कठोर वचन परनिन्दा और आत्म प्रशसा कारक वचन आरम्भ व परिग्रह में प्रवृत्ति कराने वाले वचन मिथ्यात्व के पोषक वचन मिथ्याज्ञान के उत्पादक वचन असत्य वचन या गृहस्थों के उच्चारण करने योग्य वचन तो नहीं बोलता है ? जिसको उठाना या रखना हो उस वस्तु का तथा उनके आधार भूत स्थान का (दोनो का) प्रमाजन करके उठाता या रखता है ? या बिना प्रमाजन किये ही उठाता धरता है ? इन बातों का परीक्षण करते हैं।

स्वाध्याय परीक्षा

यह कालादि की अशुद्धि का परिहार करके स्वाध्याय काल में ही सूत्र ग्रन्थों का स्वाध्याय करता है या अस्वाध्याय कालादि में भी सूत्र ग्रन्थो का स्वाध्याय करता है ? अथवा ग्रन्थ का उच्चारण व अर्थ का व्याख्यान किस प्रकार करता है ? इत्यादि स्वाध्याय की जाच करते हैं।

मलमूत्र क्षेपण परीक्षा

मल मूत्रादि के त्याग करने की जाच इस प्रकार करते हैं कि मुनि अपने निवास स्थान से दूर प्रदेश में एक हाथ या इससे अधिक परिमाण युक्त जीव जन्तु रहित जीवों के बिलादि स वर्जित समतल स्थंडिल भूमि (जिसमें किसी का निषेध नहीं हो तथा जो मार्ग में चलते हुए मनुष्यों की दृष्टि के अगोचर हो ऐसे) पर मलमूत्र का त्याग करता है या इसके विपरीत स्थान में करता है ? इस प्रकार संघ के मुनि आगन्तुक साधु की व आगन्तुक मुनि सघ के साधुओं की परस्पर परीक्षा करते हैं–जाच करते हैं।

भिक्षा परीक्षा

भिक्षा की परीक्षा इस प्रकार करते हैं-भ्रामरी करते समय अर्थात् गोचरी में निकला हुआ यह मुनि बिना परीक्षा किये शुद्ध अशुद्ध सब का ग्रहण करता है या नवकोटि से शुद्ध आगमोक्त भिक्षा करता है ?

प्रश्न—समाधिमरण की साधना के लिए आये हुए अतिथि मुनि को सघ के आचार्य अपने सघ में शामिल करते हैं या नहीं ?

उत्तर—आगन्तुक मुनि विनय पूर्वक सघ के आचार्य की वन्दना करके अपने उद्देश्य को प्रकट कर उनसे सघ में सम्मिलित करने की प्रार्थना करता है। तब आचार्य योग्य आचरण वाले उस साधु को तीन दिन तक ठहरने को स्थान देते हैं तथा चटाई आदि देकर सहायता करते हैं। किन्तु उसके साथ सभोग (साधु योग्य आचरण) का सम्बन्ध नहीं रखते हैं। तीन दिन पर्यन्त उसकी पूर्व कथित रीति से परीक्षा करने के लिए योग्य मुनियों को नियत करते हैं। वे मुनि आगत साधु की तीन दिन में आचरणादि की जाच करके आचार्य महाराज से निवेदन करते हैं। उनका वचन सुनकर यदि मुनि आश्रय देने योग्य नहीं होता है तो उसको सघाटक दान (सघ में सम्मिलित) नहीं करते हैं और वसतिका (ठहरने के लिए स्थान) और चटाई आदि की सहायता भी नहीं करते हैं।

आचारहीन साधु को आश्रय देने में हानि

प्रश्न— अयुक्त आचरणवाले आगत साधु को आश्रय देने में क्या हानि होती है ?

उत्तर—जो मुनि उद्गम उत्पादना एव एषणा के दोषों को नहीं बचाता है तथा अपने लगे हुए दोषों की आलोचना नहीं करता है ऐसे मुनि के साथ जो आचार्य रहता है अथवा अन्य मुनियों को उसके साथ रहने की आज्ञा व अनुमति प्रदान करता है वह भी आगत मुनि के समान दोषी माना जाता है। अत उस अयुक्त आचरण वाले आगन्तुक को सघ में स्थानादि नहीं देकर संघ से सर्वथा पृथक् कर देना ही उचित है। क्योंकि उसके ससर्ग से सघ के मुनियों में भी आचार हीनता अथवा आचार में शिथिलता आने की सम्भावना रहती है।

प्रश्न—योग्य आचार का पालक आगत साधु आचार्य की बिना परीक्षा किये ही सघ मे सम्मिलित होता है कि वह भी आचार्य की परीक्षा करता है। यदि परीक्षा किये बिना ही सङ्घ में मिल जाता है तो उसके उत्तम कार्य (समाधिमरण) में विघ्न उपस्थित होने की भी पूर्ण सम्भावना बनी रहती है। यदि आचार्य की परीक्षा करके सङ्घ में सम्मिलित होता है तो उस निर्यापकाचार्य के किन २ गुणों की परीक्षा करनी चाहिए जिससे उसको इष्ट कार्य में सफलता मिले।

उत्तर—समाधिमरण को निर्विघ्न सम्पन्न करने के इच्छुक आगन्तुक मुनि को आचार्य के गुणों की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए जिसमें निम्नोक्त आठ गुण विद्यमान हो वह निर्यापकाचार्य समाधिमरण कार्य का भले प्रकार सम्पादन करने में शक्तिमान् हो सकता है। इन गुणों का वर्णन आचार्य के गुणों का वर्णन करते समय द्वितीय किरण में कर आये हैं फिर भी प्रसङ्गवश यहां भी थोड़ा सा वर्णन किया जाता है।

निर्यापकाचार्य के गुण

१ आचारवान् २ आधारवान् ३ व्यवहारवान् ४ प्रकारक ५ आयापायदर्शनोद्यत ६ उत्पीडक ७ अपरिस्रावी ८ निर्यापक (सुखकारी) इन आठों गुणों से युक्त प्रसिद्ध कीर्ति आचार्य आगत अतिथि के मनोरथ को पूर्ण कर सकता है।

भगवती आराधना में वही कहा है —

आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वीय।
आयावायविदंसी तहेव उप्पीलगो चेव ॥ ४१७ ॥
अप्परिस्साई णिव्वावओ णिज्जावओ पहिदकित्ती।
णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ ॥ ४१८ ॥ (भग आ)

अर्थ—जो महात्मा आचारवान् आधारवान् व्यवहारवान् प्रकर्ता आयापायदर्शनोद्यत उत्पीडक अपरिस्रावी निर्यापक इन आठ गुणों से भूषित होता है वह प्रख्यातकीर्त्ति आचार्य निर्यापक होता है। अर्थात् आचार्य के यह प्रधान आठ गुण हैं। वे जिसमें पूर्ण रूप से पाये जाते हैं वह निर्यापकाचार्य आगन्तुक मुनि के समाधिमरण का निर्वाह करने में समर्थ होता है।

आचारवान आचार्य का स्वरूप

प्रश्न—१ आचारवान किसे कहते हैं ? उसका विशद विवेचन करके स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर—आचार्य का प्रथम गुण आचारवान् है दर्शनाचार ज्ञानाचार चारित्राचार तपआचार और वीर्याचार इन पांच प्रकार के आचार का जो स्वयं पालन करते हैं तथा अन्य शिष्यों को पालन करवाते हैं उन्हें आचारवान् कहते हैं।

इसका आशय यह है कि जो आचाराङ्ग ग्रन्थ के तथा उसके रहस्य के वेत्ता हैं और पांच प्रकार के आचार के पालन में स्वयं

प्रवृत्त करते हैं और दूसरे मुनियो को भी प्रवृत्ति कराते हैं उन्हें आचारवान कहते हैं।

जीव अजीवादि तत्त्वों का निमल श्रद्धान रूप जो परिणाम है उसे दर्शनाचार कहते हैं। पाच प्रकार के स्वाध्याय में दोष वर्जित प्रवृत्ति करन को ज्ञानाचार कहते हैं। हिंसादि से निवृत्ति रूप आत्म-परिणाम को चारित्राचार कहते हैं। चार प्रकार के आहार का त्याग करना भूख से कम भोजन करना दाता गृह आहार वर्त्तन आदि की अटपटी प्रतिज्ञा लेना रसों का त्याग करना कायको कष्ट देना एकान्त स्थान मे निवास करना इत्यादि तपस्या करन को तपआचार कहते हैं। तपश्चरण करने में आत्मा की शक्ति को न छिपाना वीर्याचार कहलाता है ये पाच प्रकार के आचार हैं।

शङ्का—विनय और आचार मे क्या भेद है? क्योंकि सम्यग्दर्शनादि को निमल करना विनय है और उसी को आचार नाम से आपने कह दिया है।

समाधान—सम्यग्दर्शन ज्ञानादि को निमल करने के लिए जो यत्न किया जाता है वह तो विनय है और निमल किये गये सम्यग्दर्शनादि मे यथाशक्ति प्रवृत्ति करना आचार है। इस प्रकार विनय और आचार में भेद है। शास्त्र में कहा है —

"दृग्धीवृत्ततपसा मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ।
यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु॥"

इसका तात्पर्य ऊपर आ गया है।

आचारवान् का अन्य प्रकार से विवेचन

दूसरी तरह भी आचारवान् गुण का विवेचन निम्नोक्त प्रकार है—

दसविह ठिदिकप्पे वा हवेज्ज जो सुदिट्ठो सयायरिओ।
आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउत्तो ॥ ४२० ॥ (भग आ)

अर्थ—अचेलकतादि दश प्रकार का स्थिति कल्प है उसमें जो उत्तमता से स्थिर है। तथा पाच समिति और तीन गुप्ति रूप अष्ट प्रवचन माता का पालक है वह आचार्य आचारवान् गुण युक्त होता है।

स्थिति कल्प के दस भेद

प्रश्न—दश प्रकार के स्थिति कल्प में स्थिर रहने वाले आचार्य को आचारवान् कहा है। वह स्थिति कल्प कौन सा है ?

उत्तर—१ वस्त्रादि परिग्रह का त्याग करना अर्थात् नग्नपना धारण करना २ उद्दिष्ट भोजनादि का त्याग ३ शय्याधर के पिण्डका त्याग ४ राजपिंड त्याग ५ कृतिकर्म ६ मूलोत्तर गुण परिपालन ७ ज्येष्ठत्व ८ प्रतिक्रमण ९ एक निवास और १० पज्ज पर्या अर्थात् वर्षा काल में चातुर्मासिक निवास। इस प्रकार स्थिति कल्प के दश भेद आगम में कहे गये हैं। इनका वर्णन निम्न प्रकार जानना चाहिए।

नग्नत्व स्थिति कल्प

(१) सम्पूर्ण वस्त्रादि परिग्रह के त्याग करने को अथवा नग्नत मात्र को प्रथम स्थिति कल्प कहा है। इसके बिना मुनिपना सम्पन्न नहीं होता है। समस्त वस्त्रादि का परिहार करने से या नग्नता धारण करने से संयम में विशुद्धता आती है। कारण कि वस्त्रादि धारण करने से उनको धोने से जलादि के जीवों का घात होता है। इससे संयम का विनाश अवश्यभावी है। नग्नता धारण करने से इन्द्रियों पर विजय होता है। वस्त्रादि का परित्याग करने से लोभादि कषाय का अभाव सिद्ध होता है तथा ध्यान और स्वाध्याय की निर्विघ्न सिद्धि होती है। परिग्रह का अभाव होने से निर्ग्रन्थता और वीतरागता का पोषण होता है। शरीर में अनादर भाव (अप्रीति) तथा स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है। चित्त में विशुद्धि विशेष उत्पन्न होती है तथा मनोमालिन्य का अभाव तथा अन्तःकरण की निर्विकारता प्रकट होती है। मन्द निर्भीकता रहती है। परिग्रह का त्याग करने से सब जीवों को विश्वास उत्पन्न होता है। प्रक्षालनादि आरम्भ जन्य पाप से निवृत्ति उत्पन्न होती है। शरीर की विभूषा और मूर्छा का अभाव होता है। परिग्रह रूप भार के उतर जाने से आत्मा में लघुता (हलकापन) आती है। तीर्थंकर भगवान् के समान आचरण का सद्भाव सिद्ध होता है। शारीरिक शक्ति और आत्मीय पराक्रम का प्रकाश होता है। ऐसे ही और भी अपारमित गुणों की उपलब्धि होती है। इसलिए इस स्थिति कल्प रूप से भगवान् ने निरूपण किया है।

भगवती आराधना की संस्कृत टीकानुसार इसका वर्णन यह है—वस्त्र पहनने या ओढने से पसीने से जीवों की उत्पत्ति होती है और उनको धोने से उन जीवों की हिंसा होती है अतः वस्त्र का त्याग करने पर उक्त दोष का अभाव होने से संयम में विशुद्धि उत्पन्न होती है। लज्जाजनक शरीर के विकार को रोकने से इन्द्रिय विजय सिद्ध होता है। चौरादि पर क्रोधादि उत्पन्न करने का कारण वस्त्रादि परिग्रह है। उसको सर्वथा अभाव होने से कषाय का अभाव सम्पन्न होता है। वस्त्र फटजाने पर उसको सीने के लिए सूई धागा कपडा आदि प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है उससे ध्यान और स्वाध्याय मे विघ्न बाधा उपस्थित होती है। वस्त्र के त्यागी के ध्यान व स्वाध्याय की निर्विघ्न

सिद्धि होती है। वस्त्रादि में ममत्व होने पर ही मनुष्य उसे पहनता व ओढता है। वायु के कारण शरीर से वस्त्र हट जाने पर पुन उसे हाथ से सभाल कर यथास्थान पर करते हैं। इन बातों से वस्त्र धारक के मूर्छा भाव सिद्ध होता है। दिगम्बर (नग्न) मुनि इस महा दूषण से सदा मुक्त रहते हैं। मनोज्ञ व अमनोज्ञ सब प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग करने से रागद्वेष का अभाव (वीतराग भाव) सिद्ध होता है। नग्न मुनि शीत वात और आतापादि की बाधाओं का सहन करते हैं अत उनके शरीर से निस्पृहता सिद्ध होती है। निग्रन्थों को देशान्तर में गमन करते समय दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं होती है इसलिए उनके स्वतन्त्रपना सिद्ध होता है। विकार भाव को छिपाने के लिए लंगोटी आदि पहनी जाती है। जिसने लगोटी आदि का परित्याग कर दिया है उसके चित्त की निर्विकारता प्रकट होती है। वस्त्रादि परिग्रह रखने वालों को चौरादि से मारण व ताडनादि सम्बन्धी भय लगा रहता है। दिगम्बर (नग्न) मुनि इस भय से सदा विमुक्त रहते हैं। वे सवदा निर्भय होकर विचरते हैं। नग्न मुनि को किसी द्रव्य से प्रयोजन नहीं होता है। जब कि वे शरीर पर लेशमात्र वस्त्र भी नहीं रखते हैं तब वे अन्य वस्तु का ग्रहण कैसे करेंगे ऐसा समझ कर ससार के सब प्राणी उन पर विश्वास करते हैं। चौदह प्रकार के करण रूप परिग्रह के धारक श्वेताम्बर साधुओं के समान दिगम्बर मुनियों को बहुत प्रति लेखन नहीं करना पड़ता है तथा वस्त्रों का प्रक्षालन और बहुत भार का वहन आदि नहीं करना पडता है। कहा कहा है—

'म्लाने क्षालनत कुत कृतजलाद्यारम्भत सयम ।
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यत प्रार्थनम् ॥ १ ॥
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झगिति क्रोध समुत्पद्यते ।
तन्नित्य शुचि रागहृच्छमवता वस्त्र ककुम्मण्डलम् ॥ २ ॥
विकार विदुषा द्वेषो नाविकारानुवर्तन ।
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मष ॥
नैष्किञ्चन्यमहिंसा च कुत सयमिनां भवेत् ।
ये सगाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥"

भावार्थ—शरीर के स्वेद से तथा धूलि आदि के सयोग से वस्त्र मैला हो जाता है। यदि उसे न धोया जावे तो उसमें सम्मूर्छन जीवों की उत्पत्ति होती है। और जल से धोने पर जलादि के जीवों की हिंसा अवश्यंभावी होने से सयम की रक्षा कैसे हो सकती है? तथा

वस्त्र के खो जाने या नष्ट हो जाने पर चित्त में व्याकुलता उत्पन्न होती है। महान् पुरुषों को भी अन्य से वस्त्र की याचना करनी पड़ती है। यदि चोर लुटेरे डाकू एक कौपीन (लंगोटी) को चुरालें या छीनने लगें तो उन पर जल्दी से क्रोध उत्पन्न होता है। वस्त्र के निमित्त से अनेक दोष पैदा होते हैं इसलिए परम शान्त रागद्वेष के विजेता मुनीश्वरों ने दिग्मण्डल को ही स्थायी और पवित्र वस्त्र माना है।

विद्वानों ने इन्द्रिय विकार का सद्भाव होने पर ही नग्नता धारण करना निन्दनीय माना है। किन्तु जिनकी बालक के समान स्वाभाविक निर्विकार वृत्ति है उनकी नग्नता आदरणीय होता है। विवेकी मनुष्य निर्विकार नग्न स्वभाव पर रोष नहीं करते हैं।

जो मनुष्य वृक्षों की छाल तथा चमड़े के वस्त्र की इच्छा रखते हैं। अर्थात् किसी प्रकार के वस्त्र से शरीर ढकते हैं उन संयमियों के आकिंचन्य और अहिंसा का सद्भाव कैसे हो सकता है? क्योंकि वस्त्र के कारण हिंसा और परिग्रह (मूर्छा) उत्पन्न होती है।

उद्दिष्ट भोजनादि त्याग कल्प

( ) उद्दिष्ट भोजनादि का त्याग—अधःकर्म तथा उद्दिष्ट भोजन वसतिका और उपकरण का त्याग करने पर उद्दिष्ट त्याग नामक द्वितीय स्थिति कल्प होता है। भोजनादि में अधःकर्म महान दोष है। इसका स्वरूप पिंड शुद्धि अधिकार में कह आये हैं। साधुओं को उद्देश्य करके बनाया गया आहार जल तथा वसतिका और कमण्डलु आदि उपकरण मुनियों के लिए अग्राह्य माने गये हैं। इसलिए मुनि उद्दिष्ट भोजन उपकरण आदि का त्याग करते हैं और अनुद्दिष्ट निर्दोष आहार जल वसतिका और उपकरणों का ग्रहण करते हैं।

शय्याधर के पिंड का त्याग

(३) शय्याधर गृह-पिंड त्याग—वसतिका का बनवाने वाला तथा उसका संस्कार (लिपाने पोताने तथा मरम्मत) करवाने वाला और आप यहां ठहरिये इस प्रकार वसतिका में ठहरने की आज्ञा देने वाला ये तीनों शय्याधर माने गये हैं। साधु इनके घर का आहार ग्रहण नहीं करते हैं। यदि मुनि इनका आहार ग्रहण करने लगें तो लोक में निन्दा होने की संभावना रहती है। लोग कहने लगते हैं कि मुनि इनकी वसतिका में रहते हैं इसलिए ये धर्म के लोभ से चुपचाप गुप्त रूप से उनके लिए आहार की योजना कर देते हैं। तथा दूसरा दोष यह उत्पन्न होता है कि यदि मुनि शय्याधर का आहार लेने लगें तो जो आहार देने में असमर्थ हैं दारिद्र्य से पीड़ित हैं—वह लोकापवाद के भय से मुनियों को निवास करने के लिए वसतिका नहीं देंगे। कारण कि लोग कहने लगते हैं देखो मुनि इनकी वसतिका में रहते हैं और ये भाग्यहीन उनको आहार नहीं देते हैं। इस प्रकार लोक निन्दा का भय उन्हें वसतिका प्रदान करने से वंचित रखेगा।

शय्याधर का भोजन पान ग्रहण करने से तीसरा दोष यह उत्पन्न होता है कि वसतिका और आहार देने वाले बहुत उपकार के कर्ता दाता के लिए मुनि के चित्त में स्नेह का आविर्भाव होने लगेगा। ये तीन दोष शय्याधर का आहार ग्रहण करने से उत्पन्न होते हैं इसलिए वीतरागी साधु उक्त दोषों से मुक्त रहने के लिए शय्याधर के घर का भोजन ग्रहण नहीं करते हैं।

अन्य कोई आचार्य शय्याधर पिंडत्याग के स्थान में शय्या-गृह-पिंडत्याग ऐसा पाठ मान कर उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि मार्ग में गमन करते हुए मुनि रात्रि के समय जिस घर में शयन करते हैं उसी घर में दूसरे दिन आहार का परिहार करते हैं। उस घर का भोजन ग्रहण नहीं करते हैं।

कोई आचार्य इसका वसतिका सम्बन्धी द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न हुए भोजन का त्याग ऐसा अर्थ करते हैं। अर्थात् वसतिका से सम्बन्ध रखने वाले द्रव्य के निमित्त से जो आहार बना हो उसका ग्रहण मुनि नहीं करते हैं। इस प्रकार व्याख्या करते हैं।

राज पिंड त्याग

(४) राजपिंड त्याग—इक्ष्वाकु आदि राजवंश में उत्पन्न हुए राजा महाराजा के घर का तथा राजा लोगों के समान महर्द्धिक आमात्यादि के घर का आहार मुनि लोगों के लिए वर्जित माना है। इसका कारण निम्नोक्त प्रकार है। राजा महाराजाओं के या उनके समान सम्पन्न वैभव सम्पन्न आमात्यादि के घर में आहार के निमित्त मुनि जावें तो वहां पर स्वच्छन्द विचरने वाले कुत्ते आदि दुष्ट जीवों के द्वारा तथा मुनि के रूप को देखकर बन्धन तुड़ाकर इधर उधर भागते हुए घोड़े आदि के द्वारा मुनि पर उपद्रव होने की संभावना रहती है। तथा राज भवन में निवास करने वाले गर्विष्ट दास दासी आदि मुनि का परिहास करने लगते हैं। और रोक रखी हुई मैथुन संज्ञा से पीड़ित भोग पत्निया (पासवान) तथा पुत्र की कामना रखने वाली वहां की स्त्रियां बलात्कार मुनि को उपभोग की कामना से घर में प्रवेश करवा लेती हैं। इससे मुनि के अनिष्ट की संभावना बनी रहती है। राज भवन में रत्न सुवर्णादि द्रव्य इधर उधर बिखरे पड़े रहते हैं उनको दूसरा कोई चुरा ले तो भी संयमी पर लांछन आता है। लोग कहने लगते हैं कि यहां अमुक मुनि के सिवा अन्य कोई नहीं आया है वे ही चुरा ले गये होंगे। इस प्रकार चोरी का अपवाद होता है। राजा से मुनि का विश्वास करके राज्य का विध्वंस कर देगा इस प्रकार क्रुद्ध हुए आमात्यादि मुनि का वध या बंधन करने में उद्यत होते देखे गये हैं। राजादि के घर में क्षीर आदि की विकृति का सेवन होता है। तथा दरिद्र कुलोत्पन्न साधु के मन में राज भवन के बहु मूल्य रत्नादि को देख कर लोभ कषाय का उदय होने पर उनका अपहरण करने की इच्छा का प्रादुर्भाव हो सकता है। सुन्दर देवांगना समान उत्तम स्त्रियों का अवलोकन होने से मुनि के चित्त में राग का उद्रेक हो सकता है। इन्द्र तुल्य राज भवन की विभूति को देखकर मोह के वशीभूत हुआ मुनि भविष्य में मुझे ऐसी विभूति मिले ऐसा निदान करने में प्रवृत्त हो जाता है। इन दोषों की

संभावना जहा बनी रहती है उनके घर का आहार मुनि के लिए निषिद्ध माना गया है। और जहा उक्त दोषों में से किसी दोष की संभावना न हो और अन्य स्थान में आहार की योग्यता न मिल तो स्वाध्यायादि के विच्छेद का निवारण करने के लिए अर्थात् स्वाध्याय व ध्यान सम्पादन करने क लिए राजा के महलों का भोजन भी निषिद्ध नहीं माना गया है।

कृति कर्म

(५) कृतिकर्म—पाच नमस्कार छह आवश्यक आसिका और निषेधिका इन तेरह प्रकार के कर्त्तव्य कर्म का परिपालन करना कृतिकर्म कहलाता है।

अथवा गुरु का विनय करना तथा महान् पूज्य पुरुषों की शुश्रुषा करना कृतिकर्म है।

मूलोत्तर गुण परिपालन

(६) मूलगुणों और उत्तरगुणों का सुचारु रूप से पालन करना छठा स्थिति कल्प है। इसी को व्रतारोपणयोग्यता नाम का छठा स्थिति कल्प माना है।

जिस सयमी को जीवों का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होगया हो उसीको नियम से मुनियों के व्रत देना यह व्रतारोपण योग्यता नामक स्थित कल्प है।

जिसने पूर्ण निर्ग्रन्थ अवस्था धारण की है तथा उद्दिष्ट आहारादि का तथा राजपिंडग्रहण करने का त्याग किया है और जो गुरु भक्त एव विनय शील है उसको मुनि-व्रत के योग्य माना है।

व्रत प्रदान करने का क्रम निम्न प्रकार है—जिस समय गुरु आसन पर विराजमान हो उस समय आर्यिकाए सम्मुख बैठी हों उनको तथा श्रावक और श्राविकाओं को व्रत दिये जाते हैं। आसन पर बैठे हुए गुरु के वाम भाग में बैठे हुए मुनि को व्रत देते हैं। अर्थात् दीक्षा ग्रहण करते समय साधु को आचार्य के बांये हाथ की ओर बैठना चाहिए।

अहिंसादि का स्वरूप समझ कर हिंसादि पापों से विरक्त होने को व्रत कहते हैं।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरदेव ने रात्रि भोजन त्याग और पच महाव्रतों का उपदेश दिया है। प्रमत्त योग से अर्थात् कषाय

युक्त परिणाम से प्राणियों के प्राणों को पीड़ा पहुंचाने को हिंसा कहते हैं। इसके त्याग करने को प्रथम अहिंसा महाव्रत कहते है। असत्य भाषण से प्राणियों को दुःख होता है तथा अपनी आत्मा के सत्य परिणाम का घात होता है ऐसा समझकर स्व पर की रक्षा करने वाले दयालु मुनि असत्य भाषण का त्याग करते हैं। यह उनका द्वितीय सत्य महाव्रत है। यह मेरा है ऐसा सङ्कल्प जिस वस्तु पर जिसने कर रक्खा है उस वस्तु के स्वामी की बिना आज्ञा ग्रहण करने से उस क्लेश होता है उसके वियोग से वह दारुण दुःख का अनुभव करता है। तथा ग्रहण करने वाले के परिणामों में मालिन्य उत्पन्न होता है इसलिए स्वपर के कल्याण की कामना करने वाले मुनि चोरी का परित्याग करते हैं। यह उनके तृतीय अचौर्य महाव्रत होता है। जैसे सरसों से भरी हुई नाली में अग्नि से तपी हुई लोहे की शलाका (सलाई) डालने से सम्पूर्ण सरसों फुलस जाती हैं इसी प्रकार योनि में पुरुषाङ्ग का प्रवेश होने पर उसमें के सब सम्मूर्च्छन सूक्ष्म जीव नष्ट हो जाते हैं। इस मैथुन से तीव्रराग उत्पन्न होता है। जो कर्म बन्धन का प्रबल कारण है। ऐसा विचार कर दयालु मुनि उसका पूर्ण रूप से त्याग करते हैं। यह उनका चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत है। परिग्रह के निमित्त से षट्काय के जीवों की विराधना होती है। तथा यह ममत्व भाव उत्पन्न करने में मुख्य कारण है इसलिए सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना परिग्रह त्याग नाम का पांचवा महाव्रत होता है।

न महाव्रतों की पालना करने के लिए रात्रि भोजन का त्याग करना छठा व्रत है।

अहिंसा महाव्रत सब जीव मात्र को विषय करता है। अर्थात् सम्पूर्ण जीवों की हिंसा का त्याग करने अथवा उनकी रक्षा करने से अहिंसा महाव्रत सम्पन्न होता है। अचौर्य महाव्रत और परिग्रह त्याग महाव्रत सम्पूर्ण पदार्थों से सम्बन्ध रखता है। अर्थात् वस्तु के स्वामी की आज्ञा बिना किसी भी पर पदार्थ का ग्रहण न करने से अचौर्य महाव्रत तथा सम्पूर्ण भूमि महल मकान धन धान्य वस्त्रादि का त्याग करने से परिग्रह त्याग महाव्रत सिद्ध होता है। तथा शेष सत्य महाव्रत और ब्रह्मचर्य महाव्रत द्रव्यों के एक देश को विषय करते हैं। कारण कि सत्य महाव्रत में सत्य वचन का उच्चारण और असत्य वचन का त्याग किया जाता है और ब्रह्मचर्य व्रत में समस्त स्त्री वर्ग सम्बन्धी विषय सेवन का त्याग मन वचन काय से किया जाता है। अतः ये दोनों समस्त जगत् के पदार्थों के एक भाग से सम्बन्ध रखते हैं।

ज्येष्ठत्व

(७) ज्येष्ठत्व—संयमी मुनि माता-पिता गृहस्थ उपाध्याय तथा आर्यिकाओं से महान् होता है। यद्यपि गृहस्थ अवस्था में माता पिता और गृहस्थ-गुरु पूज्य होते हैं तथापि संयम धारण करने के पश्चात् पुत्र भी माता पिता तथा गृहस्थ-गुरु के पूजनीय हो जाता है। क्योंकि चारित्र में पूज्यता मानी गई है।

एक दिन का दीक्षित मुनि चिरकाल की दीक्षित आर्यिका से महान् होता है पूज्य स्तुत्य और वन्दनीय होता है। इस प्रकार मुनि की श्रेष्ठता द्योतन करने वाला यह सातवा स्थिति कल्प है।

अर्थात् स्त्रिया पुरुषों से लघु मानी गई हैं। इसका हेतु यह है कि वे परमुखापेक्षी होतीं हैं। वे अपना रक्षण आप नहीं कर सकतीं। आत्म-रक्षा में पुरुष का साहाय्य चाहती हैं। पुरुष द्वारा कामना किये जाने पर वे उसका प्रतीकार करने में असमर्थ होती हैं। वे स्वभाव से भीरु होती हैं। उनका हृदय कमजोर होता है। पुरुष में ये बातें प्राय नहीं होती हैं। इसलिए पुरुष महिलाओं से श्रेष्ठ माना गया है।

प्रतिक्रमण

(८) प्रतिक्रमण—नग्नत्व आदि कल्प में स्थित मुनि के व्रतों में जो अतिचार लगते हैं उन दोषों का निवारण करने के लिए मुनि प्रतिक्रमण करते हैं। यह आठवा स्थिति कल्प है।

अर्थात् धारण किये गये व्रतादि में अज्ञान प्रमादादि से जन्य अपराध का निराकरण करने के लिए साधु ऐर्यापथिक रात्रिक दैवसिक पाक्षिक चातुर्मासिक सांवत्सरिक और उत्तमार्थ ये सात प्रकार के प्रतिक्रमण करते हैं। इनका सम्यक् प्रकार आचरण करने को प्रतिक्रमण नामक आठवा स्थिति कल्प माना गया है।

आदि तीर्थंकर श्री ऋषभ देव भगवान् और अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी ने अपराध हों या न हों मुनियों को प्रतिदिन यथासमय प्रतिक्रमण करने का आदेश दिया है। और मध्य के बाईस तीर्थंकरों ने अपराध होने पर ही मुनियों को प्रतिक्रमण करने की आज्ञा दी है। अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के तीर्थ के मुनि भोले और महावीर स्वामी के तीर्थ के मुनि वक्र होते हैं। इसलिए इन दोनों तीर्थंकरों ने अपने तीर्थ के मुनियों को ईर्यापथिक रात्रिक दैवसिकादि प्रतिक्रमण अपराध होने पर या न होने पर यथासमय अवश्य करने का विधान किया है। और अजितनाथ आदि मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों ने अपने तीर्थ के मुनियों को अपराध लगने पर प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया है। कारण कि उनके तीर्थ वर्ती मुनि विचक्षण और स्मरण शील होते हैं। वे अपराध को स्मरण रखकर किसी समय अपने अपराध का शोधन कर लेते हैं इसलिए उन्हें ईर्यापथ से गमन करते हुए अपराध लगने पर उसका निवारण करने के लिए ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण ही कर लेने का आदेश दिया है। रात्रि में अतिचार लगने पर रात्रिक प्रतिक्रमण और दिन में दोष लगने पर दैवसिक प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया है। उनको सब प्रतिक्रमण करना आवश्यक नहीं बतलाया है।

एक मास निवास

(६) एक मास निवास—वसन्तादि छह ऋतुओं में एक एक ऋतु में मुनि एक स्थान पर एक मास तक रह सकते हैं इससे अधिक एक स्थान में निवास करना वर्जित है। क्योंकि एक ही स्थान पर चिरकाल पर्यन्त निवास करने स भोजनादि में उद्गमादि दोषों का परिहार करना अवश्य हो जाता है। वसतिका म मोह हो जाता है। सुखिया स्वभाव हो जाता है। कष्ट सहिष्णुता दूर हो जाती है। आलस्य घर कर लेता है। सुकुमारता की भावना उत्पन्न होती है। बहुत दिन एक जगह रहने से जिन श्रावकों के घर पहले आहार कर चुके हैं फिर भी उन्हीं क घर आहार लेना पड़ता है। इत्यादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए मुनीश्वर चिरकाल पर्यन्त एक ही स्थान पर नहीं ठहरते हैं।

पज्ज

(१०) पज्ज—वर्षाकाल में भ्रमण का त्याग कर चार मास पर्यन्त एक ही स्थान में निवास करन को पर्या नामक दशवा स्थिति कल्प कहा है। वर्षाकाल में चार मास तक मुनि विहार का त्याग करते हैं। तथा एक मील या दो मील आदि क्षेत्र का परिमाण कर उस क्षेत्र के भीतर गोचरी आदि आवश्यक कार्य के लिए गमनागमन करते हैं।

वर्षाकाल में भूमि त्रस और स्थावर जीवों स आकुल (व्याप्त) हो जाती है उस समय यदि एक स्थान न ठहर कर विहार करे तो छह काय के जीवों की विराधना होन स महान असयम होता है जल की वृष्टि तथा शीत वायु के चलने से शरीर को अत्यन्त बाधा पहुचती है। निमोनिया आदि अनक रोगों की उत्पत्ति होना सभव है। मार्ग जलमग्न रहन स मार्ग स्थित कुए बावड़ी में गिर जाने की सभावना रहती है। जल या कीचड में छिपे हुए काटे पत्थर स्थाणु आदि का बाधा होती है। मालम मुनीश्वर एक सौ बीस दिन तक एक स्थान में ही निवास करते हैं। यह उत्सर्ग (सामान्य) नियम है। कारण वश इस हीन या अधिक काल भी माना गया है। आषाढ शुक्ला दशमी स लकर कार्तिक की पूर्णिमा के आगे तीस दिन तक और मुनि एक स्थान पर ठहर सकते हैं। अध्ययन करने क लिए वृष्टि की बहुलता स विहार करन की शक्ति क न होन स किसी साधु की वैयावृत्त्य करन क निमित्त इत्यादि प्रयोजन वश मुनि अधिक समय अर्थात् कार्तिक की पूर्णिमा के बाद तीस दिन अधिक ठहर सकते हैं। उक्त कारणों क बिना अधिक दिन निवास करना आगम विरुद्ध है।

प्लेग हैजा आदि सक्रामक रोगों का प्रकोप होने पर दुर्भिक्ष हो जाने पर देश या गाव पर महान् सङ्कट आजाने पर सङ्घ पर विपत्ति की सभावना होने पर मुनि वर्षाकाल में भी अन्यत्र जा सकते हैं। यदि उक्त परिस्थिति में भी मुनि वहा से विहार न करे तो रत्नत्रय की विराधना हो सकती है अत आषाढ शुक्ला पूर्णिमा के व्यतीत होने पर श्रावण कृष्णा प्रतिपदा आदि तिथि म मुनि अन्य स्थान में चले

जाते हैं। इसलिए एक सौ बीस दिनों में बीस दिन कम किये गये हैं। यह वर्षाकाल में निवास करने का हीन काल है। इस सबको दशवा स्थिति कल्प कहते हैं।

जो आचार्य इन उपयुक्त दश प्रकार के आचरणों में सदा तत्पर रहते हैं जो सब पाप कृत्यों से भयभीत रहते हैं वे आचार्य आगमोक्त आचरण का साधुओं से पालन करवाते हैं—साधुओं के आचरण में दोष दिखा कर उनको शुद्धाचरणी बनाते हैं।

आचारवान् आचार्य से क्षपक को लाभ

प्रश्न—आपने आचार्य का आचारवत्व गुण वर्णन किया है। आचार्य के आचारवान् होने से क्षपक साधु को क्या लाभ होता है?

उत्तर—जो आचार्य दर्शनाचारादि पंचाचार में स्वयं तत्पर रहते हैं समस्त गमनादि क्रियाओं में सम्यक् प्रवृत्ति करते हैं वे क्षपक को भी पंचाचार में सम्यक् प्रवृत्त करवाते हैं।

प्रश्न—यदि आचार्य स्वयं आचारवान् न हो तो उससे क्या हानि होती है?

उत्तर—जो आचार्य दर्शनादि पंचाचार के पालन करने में शिथिल होता है जिसका आचरण भ्रष्ट होता है वह आचार्य क्षपक को उद्गमादि दोष युक्त आहार वसतिका और पिच्छिका पुस्तकादि उपकरण की योजना करेगा। अथवा क्षपक की परिचर्या में वैराग्य रहित मुनियों को नियुक्त करेगा। जो स्वयं सदोष होता है वह साधुओं के दोषों को दूर करने में सफल मनोरथ नहीं होता है। समाधिमरण के कार्य में उद्यमशील मुनि का हित संसार से भयभीत और वैराग्य भाव से भरे हुए साधुओं के संसर्ग से ही होता है। इसका ख्याल आचार हीन आचार्य को नहीं होता है। इसका परिणाम यह होता है कि क्षपक की शुश्रूषा करने की योग्य व्यवस्था न कर सकने के कारण क्षपक का समाधिमरण बिगड़ जाता है। उसका यह महान अनिष्ट आचार हीन आचार्य द्वारा होता है। वह आचार्य क्षपक की सन्यास विधि को लोक में प्रकट कर देगा संयम विरोधी गन्ध पुष्प मालादि क्षपक के लिए लाने के लिए साधुओं को अनुमति प्रदान करेगा क्षपक के परिणामों में विकार उत्पन्न करने वाली कथा करेगा क्षपक के हिताहित का विचार न कर मन चाहे जैसा बकने लगेगा। पतित आचरण वाला आचार्य रत्नत्रय में प्रवृत्त करने वाला उपदेश नहीं देगा रत्नत्रय से गिरते हुए मुनि को न रोकेगा जिन क्रियाओं में महान् आरम्भ होता है ऐसी पूजा रथयात्रादि करवाने की लोगों को प्रेरणा करेगा। तात्पर्य यह है कि शिथिलाचारी आचार्य के सहवास से क्षपक का अनिष्ट होता है। वह अपने उद्देश्य से गिर जाता है। इसलिए आचारहीन आचार्य के सहवास का आत्म–हित के इच्छुक क्षपक को त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

आचार गुण से भूषित आचार्य का आश्रय करने वाला क्षपक अपने समाधिमरण रूप उत्तम कार्य को भले प्रकार साधन कर सद्गति का पात्र बनता है अत आचार्य के आचारवत्व गुण का वर्णन किया गया है। अब आचार्य के दूसरे आधारवत्व गुण का विवेचन करते हैं।

आचार्य का आधारवत्वगुण

चाद्दस-दस-णव पुव्वी महामदी सायरोव्व गभीरो।
कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं णाम ॥ ४२८ ॥ (भग आ)

अर्थ—जो चौदहपूर्व या दशपूर्व अथवा नवपूर्व का वेत्ता होता है जो दूरदर्शी-समुद्र के समान गम्भीर हृदयवाला है प्रायश्चित शास्त्र का सम्यक् प्रकार ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुकूल प्रयोगों का अनुसरण करता है वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और रक्षा का आश्रय होता है। वह आधारवत्व गुण युक्त आचार्य नित्य प्रति साधुवर्ग को आगम का उपदेश देकर पापास्रव के कारण अशुभ परिणामों से हटाकर पुण्यास्रव के कारण शुभोपयोग में तथा संवर निर्जरा के कारण शुद्धोपयोग में प्रवृत्त करता है। अत आचार्य को आगम का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

प्रश्न—चारित्र की आराधना आत्म-कल्याण का साधन माना गया है। वह जिसमें पाया जावे वह आचार्य संघ के साधुओं का आर्यिकाओं का व उनके सम्पर्क में रहने वाले श्रावक श्राविकाओं का उद्धार करने में समर्थ हो सकता है? अर्थात् आगम का ज्ञान न होने से भी आचार्य स्व पर का हित करने में कुशल हो सकता है। अत आचारवत्व गुण चारित्र से सम्बन्ध रखता है न कि ज्ञान से। आपने आगम का ज्ञान होने पर ही आधारवत्व गुण का होना बताया है इसका क्या कारण है?

उत्तर – जिसको आगम का ज्ञान नहीं है वह आचार्य मोक्ष मार्ग के अङ्गभूत दर्शन ज्ञान चारित्र और तप के स्वरूप को तथा उसके भेद प्रभेदों को और उनमें उत्पन्न होने वाले दोषों को कैसे जान सकेगा? संघ में स्थित मुनिश्वरों को दर्शनादि के स्वरूप को समझा कर उनमें लगने वाले अतीचारों से कैसे निवृत्त कर सकेगा? व्रतादि में लगे हुए अतिचारों की निवृत्ति (शुद्धि) के लिए प्रायश्चित का विधान कैसे करेगा? समाधिमरण के लिए उद्यत हुए क्षपक को समय समय पर जीवादि तत्त्वों का यथार्थ उपदेश देकर आत्मा में वैराग्य भाव किस प्रकार उत्पन्न कर सकेगा? संसार में भ्रमण कराने वाले मिथ्यात्व असंयम दुर्ध्यानादि का स्वरूप दिखा कर सम्यक्त्व संयम व धर्म्यध्यान शुक्लध्यान की महत्ता समझाकर उनका पालन करवाने में कैसे सफल होगा?

सयम की सफलता

अनन्त दु ख रूप जल से परिपूर्ण इस ससार सागर मे चक्कर लगाते हुए म जीव ने अनन्त काल बिताया है। भयानक शारीरिक मानसिक क्लेशों को भोगते हुए इस जीव ने बडी कठिनाइ स मनुष्य जन्म को प्राप्त किया है। जैसे साधु पुरुष के मुख स कठोर वचन क समान सूय मण्डल में अन्धकार के समान अत्यन्त क्रोधी मनुष्य क मन मे दया भाव के समान अति लोभी मनुष्य के मुख में सत्य वचन क समान महाभिमानी के मुख स परगुण की प्रशसा के समान स्त्री वग मे सरल चित्तता के समान दुष्ट मनुष्य में कृतज्ञता के समान आप्ताभास द्वारा निरूपित मत में तत्त्वज्ञान के समान इस पचपरावत्तन रूप ससार म मनुष्य जन्म की प्राप्ति अति दुलभ है। आगम में अति दुलभता के विषय में उक्त दश दृष्टान्त मिलते हैं। उनम भी मनुष्य जन्म पाना अति दुलभ है। महान् पुण्य के उदय से किसी तरह मनुष्य जन्म पा लिया तो तपस्या के योग्य उत्तम धम-प्रधान देश का मिलना अति दुलभ है। उत्तम देश का योग होने पर उत्तम कुल व उत्तम जाति का मिलना अति दुष्प्राप्य है। माता के वश को जाति और पिता के वश को कुल कहते हैं। उसके पश्चात उत्तम शरीर की आकृति (इन्द्रियों की परिपूणता) व शरीर म उत्तम सहनन का प्राप्त होना अति दुलभ है। शरीर क नीरोगता दीर्घायु उत्तम बुद्धि हितोपदेश का श्रवण सद्गुरु कथित तत्त्व का ज्ञान तथा उसमे श्रद्धा की उत्पत्ति उत्तरोत्तर अति दुलभ है। तथा उत्तम सयम का प्राप्त करना है। समस्त दुलभ पदार्थों म दुलभतम सयम है उसकी सफलता समाधिमरण क आराधन स होता है।

क्षपक को सिद्धान्त क वेत्ता आचाय की आवश्यकता

उस अत्यन्त दुलभ समाधिमरण के साधन के लिए क्षपक ने रागद्वेष को जीतने की यद्यपि प्रतिज्ञा की है तथापि शरीर की सल्लेखना करने वाले उस क्षपक के क्षुधादि परीषह क प्राप्त होने पर अल्प पराक्रम के कारण रागद्वेष की उत्पत्ति व क्रोधादि कषाय का प्रादुर्भाव हो सकता है उसकी निवृत्ति अथात कषाय का उपशम रागद्वेष की अनुत्पत्ति चारित्र की सम्यक् आराधना अल्पज्ञ-सिद्धान्त के अज्ञाता-आचाय के ससग स नहीं हो सक्ती है। क्योंकि कम-पकलेश हुआ यह प्राणी अन्न के आश्रय स अपना जीवन यापन कर रहा है। उस अन्न का त्याग करने से यह अन्नाश्रित जीव तिलमिला जाता है। उसकी आखो के सामने अधेरा छा जाता है। सिर चक्कर खाने लगता है। तात्पय यह है कि अन्न बिना यह प्राणी आत्त रौद्रध्यान स आकुलित हो जाता है। उस समय उसके दशन ज्ञान चारित्र व तप की आराधना कसे हो सकती है यदि उसम स्थिर करने के लिए सिद्धान्त वेत्ता आचाय न हो ? यही कहा है —

"अयमन्नमयोजीवस्त्याज्यमानोऽधसा कदा
अतिरौद्राकुली भूतश्चतुरगे प्रवर्त्तत ॥"

अर्थात्—यह जीव अन्नमय है। भोजन के आधार इसकी सब शारीरिक मानसिक प्रवृत्ति होती है। अन्न के अभाव में आर्त्त व रौद्रध्यान से आकुलित हुए इस जीव का दर्शन ज्ञान चारित्र व तप रूप चतुरंग में प्रवृत्ति करना अति कठिन हो जाता है।

ऐसे अवसर में बहु श्रुत पारगामी आचार्य अनेक आगम निरूपित उपदेश को सुनाकर मृदु मनोहर व अनेक शिक्षा पूर्ण वचनों का उच्चारण कर संसार के भयानक स्वरूप का वर्णन कर तथा शरीर की अनित्यता को समझाकर क्षपक के संवेग और वैराग्य की वृद्धि करता है और क्षुधा तृषा से उत्पन्न हुई भोजन पान की कामना को शान्तकर आत्मध्यान में व धर्म्यध्यान में तत्पर करता है।

आगम ज्ञान से शून्य आचार्य क्षुधा तृषादि की पीडा से व्याकुल-चित्त क्षपक को आत्म-अनात्म का जड़-चेतन का भेद विज्ञान करवाकर आगम के अनुकूल हित शिक्षा नहीं दे सकता है संसार से भय और शरीर से विरक्तता उत्पन्न नहीं कर सकता है। अतः क्षुधा और तृषा की पीडा से क्षपक की भोजन पान की अभिलाषा बढ़कर आर्त्त व रौद्रध्यान की वृद्धि करती है। उससे क्षपक का समाधिमरण बिगड़ जाता है। क्षुधा और पिपासा से पीड़ित मनुष्य के हृदय से विवेक बुद्धि निकल जाती है।

जिस क्षपक ने अपने शरीर को अत्यन्त कृश कर दिया है शक्ति हीन कर दिया है उसको जिस समय क्षुधादि की बाधा सताती है और वह बाधा इतनी बढ़ जाती है कि वह असह्य हो जाती है उस समय विवेकहीन हुआ जीव करुणाजनक आक्रन्दन करने लगता है। भोजन की याचना करता है और दीनता प्रदर्शित करता है। तथा बैठकर अयोग्य काल में अपने हाथों से भोजन पान करने लगता है। अर्थात् क्षुधा तृषा से पीड़ित होकर आगम विरुद्ध आहार पान ग्रहण करता है।

क्षुधादि के कष्ट को सहन न करके वह क्षपक धर्म से विमुख होता है। मिथ्यात्व भाव को प्राप्त होकर असमाधि युक्त मरण को प्राप्त होता है।

क्षुधादि से पीड़ित साधु के रोदन को सुनकर यदि आगमहीन आचार्य उसकी निंदा करने लगेगा तो वह संघ का परित्याग कर भाग जावेगा। इससे धर्म का अपवाद होगा। अथवा उसको योग्य उपदेश न मिलने पर उसका आर्त्तनाद बढ़कर जन साधारण के चित्त में करुणा और क्षोभ उत्पन्न कर देगा। समाधिमरण के स्वरूप को न समझने वाले मनुष्य साधुओं को करुणा हीन व आत्मघाती कहने लगेंगे। यह सब दोष ज्ञान हीन आचार्य के योग से होते हैं।

क्षपक को परीषहों की बाधा से कैसे दूर किया जाय ?

प्रश्न—भूख व प्यास से पीड़ित क्षपक की बाधा को आगम के ज्ञाता आचार्य किस प्रकार दूर करते हैं ?

उत्तर—आगम के ज्ञाता आचार्य क्षपक का समाधिमरण के समय के अनुकूल आगमोक्त क्रियाओं का आचरण करवाते हैं। यथावसर उस हितकर प्रिय मधुर वचनों से शिक्षा देकर उसके परिणामों को उज्ज्वल करते रहते हैं। धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान में लगाये रखने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। शुभ व शुद्ध ध्यान रूपी अग्नि को सदुपदेश रूपी आहुतियों द्वारा निरंतर वृद्धिंगत करते रहते हैं। जिस समय क्षपक को क्षुधादि पीड़ा असह्य होने लगती है तब गीतार्थ आचार्य उसकी इच्छा के अनुकूल ऐसे मजुल और विश्राम जनक वचनों का उच्चारण करते हैं जिनको सुनकर उसको भोजन व पान करने में जैसी तृप्ति होती है वैसी तृप्ति व सन्तोष उत्पन्न हो जाता है। प्राचीन मुनीश्वरों के उपसर्ग परीषह विजय की कथाओं को सुनाकर उसके अन्तःकरण में धैर्य व साहस को उत्पन्न करते हैं। तिर्यंच गति व नरक गति में इस जीव ने कैसी २ क्षुधा और तृषा की पीड़ा को सहन किया है। इस समय की पीड़ा तो उसके सामने कुछ भी नहीं है। वह बाधा तुमको परवश होकर सहन करनी पड़ी थी और यह तुम अपने आत्म हित के लिए सहन कर रहे हो। यदि तुम अपने चित्त में सक्लेश भाव उत्पन्न करोगे तो तुम्हें पुनः पुनः वे तिर्यंच व नरक गति के घोर दुःख सहन करने पड़ेंगे। फिर ऐसा क्लेश निवारण करने का सन्त के लिए उन दारुण दुःखों से पीड़ा छुड़ाने का अवसर न मिलेगा। इसलिए हे सद्बुद्ध क्षपक! तुमको इस पीड़ा से दुःखित न होना चाहिए। इत्यादि उपदेश द्वारा गीतार्थ आचार्य क्षपक को धर्म भावना द्वारा धर्मध्यान में तल्लीन करते हैं।

क्षपक की क्रोधमय प्रकृति से ऊब कर परिचारक मुनि क्षपक को छोड़कर अलग हो जाते हैं। वे क्षपक के निकट जाना भी पसन्द नहीं करते हैं। उस समय आचार्य अपने बुद्धि कौशल से क्षपक की क्रोधमय प्रकृति को शिक्षा पूर्ण वाक्यों द्वारा शान्त करते हैं। उसको सब प्रकार का आश्वासन देते हैं। उसके साहस हीन व अधीर स्वभाव को दूर कर उसको आत्मा में अपूर्व साहस और धैर्य का सचार करते हैं। वैयावृत्य करने से विमुख हुए परिचारक साधुओं को वैयावृत्य के स्वरूप और महत्त्व को समझाकर उनको पुनः वैयावृत्य के कार्य में संलग्न करते हैं।

हे मुनियो! यह क्षपक महापुरुष है। क्षुधादि की पीड़ा से व्याकुल होकर यदि इसने तुमको कदाचित् अयुक्त वचन कह दिये हों तो तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम इसे मृदु वचनों से शान्त करो। वैयावृत्य (सेवा धर्म) का यथोचित पालन करने वाले के तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। सच्चे वैयावृत्य करने वाले को कटु वचन अमृतमय और शस्त्रप्रहार पुष्पमाला समान भासते हैं। वैयावृत्य करने का सौभाग्य महापुण्यवान् को ही मिलता है। क्योंकि वैयावृत्य करने वाला अपने और जिसकी वैयावृत्य करता है उसके रत्नत्रय की रक्षा और वृद्धि करता है। इसलिए हे साधुओ! तुम्हें इस उत्तम कर्त्तव्य से विमुख न होकर तन और मन से इस सुकृत्य में तत्पर रहना चाहिए। देखो शरीर और आहार ये दो पदार्थ संसार में दुस्त्याज्य हैं। इनका त्याग साधारण मनुष्य नहीं कर सकता। इनका इसने त्याग किया है। इसलिए यह महात्मा सेवा करने योग्य है। ऐसा कहकर साधुओं को क्षपक की सेवा करने में उत्साहित करते हैं।

हे क्षपक ! तुम विचार तो करो। तुमने किस महान् सुकृत्य का प्रारंभ किया है। तुमने कषाय और काय को कृश करने की इस प्रतिज्ञा ली है। और उसका पालन करने के लिए तुमने आगे कदम बढ़ाया है। क्या इस समय तुमको कषाय करना उचित है। क्या तुम्हें इस कार्य में सहायता देने वाले महात्माओं को कटु कठोर वचन उच्चारण करना चाहिए। तुमको तो उनका कृतज्ञ होना चाहिए। क्योंकि वे तुम्हारे निज धन रत्नत्रय की रक्षा करने का उद्योग कर रहे हैं। तुमको किसी प्रकार की चिन्ता न कर शान्ति धारण करना उचित है। हम तुम्हारी सेवा में सदा तत्पर हैं। तुम अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ रहो और तुम्हारा वैयावृत्त्य करने वाले साधुओं का उपकार मानकर उनका विनय करो। इस प्रकार शिक्षा-वचनों द्वारा क्षपक को कर्त्तव्य मार्ग पर दृढ़ करते हैं।

आगम वेत्ता आचार्य साधु के लिए उपादेय प्रासुक वस्तु कौनसी है ? इसका ध्यान रखते हैं।

क्षुधादि की दारुण वेदना से व्यथित मुनि को आगम के उपदेश रूप पेय पदार्थ और शिक्षा वचन रूपी आहार देकर उसकी बुभुक्षा और पिपासा को शान्त करते हैं। इस उपदेश और शिक्षा रूपी भोज्य और पान का आस्वादन कर क्षपक संतुष्ट हुआ आत्मध्यान में दत्तचित्त हो जाता है।

गीतार्थ आचार्य अवसर पाकर क्षपक को संसार अर्थात् पंच परावर्त्तन का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं। द्रव्यपरिवर्त्तन क्षेत्र परिवर्त्तन कालपरिवर्त्तन भवपरिवर्त्तन और भावपरिवर्त्तन का विशद विवेचन कर उसको संसार से भयभीत करते हैं। इसका विशद विवेचन पहले किया जा चुका है।

हे क्षपक ! यह शरीर आत्मा का बन्दीगृह है। आयु नामा कार्माण कर्म ने इस आत्मा को शरीर में कैद कर रखा है। आत्मा का असली निवास स्थान मोक्ष है उससे वंचित रखने वाला यह शरीर रूपी कारागृह है। यह शरीर अपवित्र अशुचि पदार्थों का निधान है। इसके मुख नासिका आदि अवयव अशुचि दुर्गंधमय पदार्थों से ही निर्मित हैं। इसमें एक भी पदार्थ सारयुक्त नहीं है। यह अनेक क्लेश और आपत्तियों का निवास स्थान है। यह रोगरूपी धान्य की उत्पत्ति का क्षेत्र (खेत) है। अथवा रोग रूपी शत्रुओं का निवास स्थान है। वृद्धावस्था रूपी पिशाचिनी का यह श्मशान गृह है। जगद्वंद्य कुल में उत्पन्न हुआ धवल व विशाल कीर्त्तिवाला अनेक महनीय गुणों से भूषित मनुष्य भी दारिद्र्य से पीड़ित होकर इस शरीर का पोषण करने के लिए अत्यन्त नीचकर्म का आचरण करता है। धनवानों की अपमान दायक सेवा करता है। अपने मान-अपमान को भूलकर नहीं करने योग्य कृत्यों को करता है। इस शरीर की रक्षा के लिए उच्छिष्ट भोजन को खाकर अपने धर्म कर्म से विमुख होता है। आचार्यों ने कहा है—

"नान्तगतोऽथनवहिर्न च तस्य मध्ये, सारोस्ति येन मनसा परिगम्यमान ।
तस्मिन्नसारजनकल्पित-कामसारे कोऽन्य करिष्यति मन प्रतिबद्धमार ॥"

अर्थ—इस नश्वर शरीर के भीतर बाहर और मध्य में ऐसा कोई सारभूत पदार्थ नहीं है जिसे अन्तरात्मा स्वीकार करसके। इसलिए सार तत्त्व के ज्ञाता विवेकी जन तुच्छ अविवेकी जनों के द्वारा कामपूर्ति के निमित्त अङ्गीकार किये गये इस तुच्छ शरीर पर प्रेम नहीं करते हैं।

"वायु प्रकोप जनितै कफपित्तजैश्च रोगै सदा दुरितजै प्रविभज्यमान ।
देहोऽयमेवमनिदु खनिमित्तभूतो नाश प्रयाति बहुधाति कुरुष्व धर्मम् ॥"

अर्थ—असाता वेदनीय कर्म का उदय होने पर किसी समय वायु के प्रकोप से कोई वातजन्य रोग उत्पन्न होता है तो कभी कफ की वृद्धि से और कभी पित्त के प्रकोप से किसी रोग का आविर्भाव होता है। उनसे यह शरीर पीड़ित होता रहता है। यह शरीर दुखों का कारण है। इसलिए हे क्षपक तू इस नश्वर और दुख जनक शरीर से धर्म का आचरण कर।

"संघातज प्रशिथिलास्थितरुप्रगाढ स्नायुप्रबद्धमशुभ प्रगत शिराभि ।
लिप्त च मांसरुधिरोत्कककर्दमेन रोगाहित स्पृशति देहविशीर्णगेहम् ॥"

अर्थ—हे क्षपक! जिस घर में निवास कर रहा है वह शरीर-गृह रज व वीर्य के संयोग से बना है। हड्डी रूपी खम्भों से इसकी रचना हुई है। चारों तरफ से छोटी और बड़ी नसों से जकड़ा हुआ है। मांस और रुधिर के कीचड़ से लीपा पोता गया है। और सभी रोगों ने अपना आश्रय बना रखा है। ऐसे अशुभि अपवित्र व दुःखद शरीर को अज्ञानी मोही आत्मा के सिवा अन्य कौन स्पर्श करना चाहेगा? हे क्षपक! तुम से विवेकी पुरुषों को इस शरीर पर क्या अनुराग करना उचित है? इत्यादि अनेक वैराग्य जनक उपदेश द्वारा निर्यापक आचार्य क्षपक को शरीर से विरक्ति उत्पन्न कर क्षुधादि वेदना जन्य कष्ट का निवारण करते हैं और आत्म-भावना में प्रवृत्त करते हैं।

आगम के ज्ञाता आचार्य के पादमूल में निवास करने वाले क्षपक के चित्त में उक्त उपदेश द्वारा संक्लेश परिणामों की निवृत्ति होती है और रत्नत्रय के आराधन में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती है। इसलिए उक्त आधार गुण विशिष्ट अर्थात् आगमज्ञ आचार्य का शरण प्राप्त करना ही क्षपक के लिए कल्याणकारी है।

आचार्य का व्यवहारज्ञत्व गुण

प्रश्न—व्यवहारज्ञता नामक आचाय के तीसरे गुण का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—जो पाच प्रकार के व्यवहार (प्रायश्चित) का स्वरूप विस्तार पूर्वक भले प्रकार जानते हैं जिन्होंने प्रायश्चित देते हुए आचार्यों को देखा है और स्वय अन्य साधुओं को प्रायश्चित दिया है ऐसे प्रायश्चित शास्त्र के वेत्ता अनुभवी आचाय को व्यवहारवत्त्व गुण वाला कहते हैं।

व्यवहार के भेद

प्रश्न—पाच प्रकार के व्यवहार (प्रायश्चित) कौन से हैं ?

उत्तर—व्यवहार (प्रायश्चित) के आगम श्रुत आज्ञा जीत और धारणा ये पांच भेद हैं। यथा —

यवहारास्ते मता जीदश्रुताज्ञागम धारणा।
एतषा सूत्रनिर्दिष्टा ज्ञेया विस्तारवर्णना ॥ ४६१ ॥

अथ—१ आगम २ श्रुत ३ आज्ञा ४ जीत और ५ धारणा य पाच प्रकार का व्यवहार (प्रायश्चित) माना गया है। इसका विस्तार सहित वर्णन सूत्रों मे किया गया है। इसलिए वहा स जान लेना चाहिए।

भावार्थ—ग्यारह अगों में प्रतिपादन किये गये प्रायश्चित को आगम व्यवहार कहते हैं। चौदह पूर्व ग्रन्थों में कथित प्रायश्चित को श्रुत व्यवहार कहते हैं। अन्यत्र विचरने वाले आचाय द्वारा अपने महान् दोष की आलोचना करके अपने ज्येष्ठ शिष्य के हाथ अन्य आचाय के पास भेजे हुए प्रायश्चित को आज्ञा प्रायश्चित कहते हैं। एकाकी (एकल विहारी) साधु चलकर आचाय के निकट जाने की शक्ति न होने स वहीं ही अपने स्थान पर रहता हुआ पूर्व धारणा के अनुसार अपने दोषों का प्रायश्चित लेता है उसे धारणा व्यवहार कहते हैं। बहत्तर प्रकार के पुरुषों के स्वरूप को जानकर उनकी अपेक्षा से आधुनिक आचार्यों ने जो शास्त्रों मे प्रायश्चित का वर्णन किया है उसे जीत व्यवहार कहते हैं। इनका विशेष विवेचन शास्त्रान्तर मे किया है। उस विवेचन करने व सुनने का अधिकार सब साधारण को नहीं बताया है। इसलिए यहा उनका विशेष वर्णन नहीं किया जाता है।

प्रश्न—प्रायश्चित का विवेचन सर्व साधारण के सम्मुख नहीं करना चाहिए। इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—अनुभवी आगम वेत्ता आचाय द्र॰य क्षेत्र प्रकृति और ॰ोष के स्वरूप को तथा अ य सब परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त दिया करते हैं। या॰ वह प्रायश्चित सब साधारण को प्रकट कर ॰िया जावे तो सयमो दोषों का आचरण करने से भयभीत न हाग। अमुक प्रायश्चित लेकर दाष स निवृत्त होजावेंगे ऐसा विचार करके वे उच्छ खल होकर दोषों का आचरण करलेंगे। इसलिए प्रायश्चित विधान का श्रवण करना सब साधारण के लिए निषिद्ध है। यथा —

"सव्वेण वि जिणवयण सोद॰व सढिदेण पुरिसेण।
छेदसुदस्स हु अत्थो ण होदि सव्वेण सा दव्वो ॥ १ ॥"

अ॰—सब श्रद्धालु पुरुष जिन ॰ ॰चन का श्रवण कर सकते हैं किन्तु प्रायश्चित शास्त्र का अथ सब लोगों को सुनने का अ॰ है।

प्रश्न—॰यव ॰रवान (प्रायश्चित शास्त्र वत्ता) आचाय प्र प्रकाशित दो॰ का प्रायश्चित्त ॰न २ बातों पर लक्ष्य रखकर देते हैं ॰न अपराध होने पर सबको एकसा पार्याश्चत देते हैं अथवा उसमें कुछ अन्तर भी रहता है?

उत्तर—द्र॰य क्षेत्र काल भाव तथा सयमी के उत्साह शारीरिक शक्ति, दीक्षा काल आगमज्ञान वैराग्यादि का विचार करके ॰त देते हैं। यथा —

द॰व खत्त काल भाव करणपरिणाममुच्छाह।
सघदण परियायआगमपुरिस च विएणाय ॥ ४५० ॥
मोत्त॰ण रागदोसे ववहार पट्ठवेइ सो तस्स।
ववहारकरण कुसलो जिणवयणविसारदो धीरा ॥ ४५१ ॥ (भग आ)

अथ—जिनागम में निपुण पार्याश्चत देने म कुशल धैयवान् आचाय द्र॰य क्षेत्र काल भाव, प्रायश्चित आचरण करने का परिणाम (नतीजा) प्रायश्चित लेने वाले का उत्साह उसका शरीर बल दीक्षा की अवधि आगम का परिज्ञान इतनी बातों को लक्ष्य में रखकर रागद्वेष का परित्याग कर प्रायश्चित देता है।

भावाथ—आचाय प्रथम सयमी के द्वारा कि॰ये गये अपराध के निदान (कारण) का अन्वेषण करते हैं। यह अपराध यदि

द्रव्य की प्रतिसे ना से उत्पन्न हुआ है तो वह पृथिवीकाय अपकाय तेजकाय वायुकाय प्रत्येक वनस्पतिकाय अनन्तकाय तथा त्रसकाय रूप सचित्त द्रव्य की प्रतिसेवना से हुआ है अथवा तृण फलक (काष्ठ के पट्टे) चटाई आ द उचित द्रव्य की प्रतिसेवना से हुआ है या जीव युक्त काष्ठ फलक तृणादि की प्र तसेवना से उ न्न हुआ है उसका विचार करते हैं।

यदि क्षेत्र क निमित्त से यह अपराध हुआ हो तो उसपर निम्न प्रकार विचार करते हैं। मुनि वर्षाकाल में आधाकोश कोश या दो कोश पय त गमन कर सकते हैं। यदि वे उससे अधिक क्षेत्र म गमन कर तो क्षेत्र प्रतिसेवना होती है। उक्त प्रतिसेवना करने वाला प्र य श्चित क योग्य होता है। जहा पर गमन करना निषिद्ध है एसे क्षेत्र मे गमन करने से राज्यविरुद्ध क्षेत्र (स्थान) म गमन करने से उन्म ग द्वारा गमन करने से जहा पर मार्ग टूट गया है उस र । मैं गमन करने से अन्त पुर में प्रवेश करने से जहाँ जाने की अनुमति नहीं है या मना है वहा जाने से क्षेत्रप्रतिसेवना होती है।

अ श्यक ना जो काल नियत है उसका उल्लघन करके स मायिक प्रतिक्रमण आदि आवश्यक का आचरण करने से वर्षायोग काल का उल्लघन करने से तथा सी प्रकार उचित काल म की ने वाली क्रियाओ का कालातिक्रम करने से काल प्रतिसेवना होती है।

दर्प प्रमाद (असावधानता) उन्माद मन्सा य दुष्पाद परिणामों म प्रवृत्ति करने स भाव प्रतिसेवना होती है अर्थात् भाव क निमित्त स अपराध उ न्न होता है।

इस प्रकार द्रव्य क्षेत्रादि के द्वारा उ य अप । । को भला भाति जानकर प्रायश्चित क रहस्य के ज्ञाता आचार्य प्रायश्चित दिया करते हैं।

प्रायश्चित देने वाले आचार्य को आहार द्र य का ज्ञान होना आवश्यक है। कोई आहार द्रव्य रस प्रचुर होता है कोई धान्य प्रचुर या शा क बहुल होता है। तथा किसी म लड्डू त ा शाक की मुख्यता होती है। कोई पदार्थ पेय (पीने योग्य पतला) होता है। इत्यादि आहार क पदार्थों के स्वरूप और प्रकृति का ज्ञान प्रायश्चित दाता को होना आवश्यक है।

प्रायश्चित ले ाले और देने वाले को क्षेत्र (देश) का भी ज्ञान रखना चाहिए। यह देश अनूप (जल बहुल प्रदेश) है या जागल (अल्प जलवाल) है अथवा साधारण है।

प्र यश्चित देते समय आचार्य को वर्षाकाल ग्रीष्मकाल और शीतकाल का ध्यान रखकर प्रायश्चित देना चाहिए। तथा प्रायश्चित ग्रहण करने वाले क क्षमा मार्दव, आर्जव, सन्तोषादि भावों का तथा प्रायश्चित देने क परिणाम का भी विचार कर लेना चाहिए।

प्रायश्चित आचार करन में तत्पर हुआ यह साधु क्या सङ्घ में सहवास करन के उद्देश से अथवा यश के लोभ से अथवा कर्मों की निर्जरा करने के लिए प्रवृत्ति करता है इसका ध्यान भी आचाय को रखना आवश्यक है।

आचाय को प्रायश्चित का निणय करते समय प्रायश्चित लेने वाले के उत्साह और शारीरिक बल की ओर भी दृष्टि रखना परमावश्यक है। जिस प्रायश्चित म अपराध शुद्धि के साथ उत्साह की वृद्धि होती रहे तथा उसका शरीर उस प्रायश्चित का सहन करले वैसा ही योग्य प्रायश्चित विद्वान् आचाय दिया करते हैं।

जो चिरकाल का दीक्षित है तथा जो नवीन दीक्षित है उनके समान अपराध होने पर भी प्रायश्चित में अन्तर होता है। चिरकाल के दीक्षित की सहिष्णुता और नवीन दीक्षित की सहन शीलता एकसा नहीं होती है अत आचाय उनके प्रायश्चित में भी अन्तर रखते हैं।

आगम के ज्ञाता व आगमज्ञान हीन के प्रायश्चित मे भी विशेषता होती है। कोई भय से प्रायश्चित का ग्रहण करता है और कोई आन्तर बुद्धि स अपना कर्तव्य समझ कर प्रायश्चित का ग्रहण करता है। इत्या सब बातों को लक्ष्य म रखकर गम्भीरता व दूरदर्शिता स विचार कर आचाय प्रायश्चित देते हैं और मुनिवर्ग को शुद्ध करते हैं।

प्रश्न—प्रायश्चित शास्त्रो क ज्ञान स शून्य जो आचाय अपन सङ्घ स्थित साधुवग को तथा श्रावक आर्यिका आदि को शुद्ध करने के हेतु प्रायश्चित देते हैं उसस क्या हानि होती है ?

उत्तर—जिसको प्रायश्चित शास्त्र का ज्ञान नहीं है तथा जिसने आचार्यों के प्रायश्चित देने के क्रम को नहीं जाना है वह आचाय पद के योग्य नहीं है। क्योंकि आचाय के गुणो मं व्यवहारवत्त्र नाम का तीसरा गुण माना गया है। वह गुण उसमें अवश्य होना चाहिए उसके बिना कोई आचाय नहीं बन सकता है। जो साधु आचाय योग्य गुण क न होने पर भी आचाय बन बैठता है वह अनन्त ससार का भोगी होता है यथा —

ववहारमयाणतो ववहरणिज्ज च ववहरतो खु।
उस्सीयदि भवपके अयस कम्म च आदि यदि ॥ ४५२ ॥ (भग आ)
व्यवहारापरिच्छेदी व्यवहार ददाति य ।
अवाप्यैषोऽयशो घोर ससारमवगाहते ॥ ४६४ ॥ (स भग आ)

अर्थ—जिसको प्रायश्चित का निरूपण करने वाले ग्रन्थों का उनके अर्थ का तथा प्रायश्चित कर्म का ज्ञान नहीं है और जो आलोचनादि नव प्रकार के प्रायश्चित का आचरण अपनी मन कल्पना से करवाता है वह तुण्डाचार्य (मन कल्पित मुख से प्रायश्चित देने वाला) दूसरे को शुद्ध नहीं करता है। स्वयं संसार रूपी गहन पंक में फंसता है। संसार से भयभीत यतीश्वरों को व्यर्थ क्लेश देता है। कारण कि किस अपराध का कौनसा प्रायश्चित होता है ऐसा ज्ञान उसको नहीं होता है और साधु वर्ग को अनुचित दण्ड देकर वृथा सताता है। आगमविपरीत उन्मार्ग का उपदेश व सन्मार्ग का विनाश करने के कारण वह आचार्य दर्शन मोहनीय कर्म का बंध करके अनन्त संसार की वृद्धि करता है। उसका लोक में घोर अयश होता है। इसलिए संसार से डरने वाले को प्रायश्चित शास्त्रों का ज्ञान न होने पर अपने को झूठे आचार्य पद से कलंकित न करना चाहिए। हम आचार्य हैं हमने जिस प्रायश्चित का आचरण करने का आदेश दिया है उसे तुमको पालन करना होगा ऐसा स्वेच्छा से कभी न बोलना चाहिए।

हे क्षपक! जो मूर्ख व नवीन शिष्य मण्डली को बनाकर अज्ञ मनुष्यों से आदर पाकर अहंकार को प्राप्त होगया है। उसके निकट आत्म शुद्धि की आशा से मत जाओ। उसका वाक् जाल व ऊपर के दिखावे में आकर अपनी आत्मा का विनाश न करो। जो वैद्य रोग का स्वरूप नहीं समझता है वह अज्ञ वैद्य रोग की चिकित्सा करने में समर्थ नहीं हो सकता है। वैसे ही जो आचार्य प्रायश्चित शास्त्रों के ज्ञान से शून्य है वह रत्नत्रय को निर्मल करने की अभिलाषा रखते हुए भी उसको निर्मल करने में कृतकार्य नहीं होता है। इसलिए हे क्षपक! तुम्हें प्रायश्चित शास्त्रों के रहस्य के ज्ञाता आचार्य के पादमूल में ही निवास करना उचित है। उनके सम्पर्क में रहने से ही तुम्हारे दर्शन की विशुद्धि ज्ञान की प्राप्ति व वृद्धि और चारित्र की उन्नति हो सकती है। धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान की सिद्धि और आत्मा की विशुद्धि भी उनकी शरण लेने से ही हो सकती है।

आचार्य का प्रकारत्व गुण

जब क्षपक साधु बसतिका में प्रवेश करता है, उस समय आचार्य उसे उचित स्थान देता है। जब बाहर जाना चाहता है तब उसके अनुकूल परिस्थिति की योजना करता है। शय्या संस्तर और उपकरण की आवश्यकता की पूर्ति करता है, तथा बसतिका शय्या उपकरणादि के शोधन करने में तथा रुग्णावस्था में अथवा उठने बैठने की सामर्थ्य न रहने पर साधु को हस्तावलंबन देकर या अन्य साधुओं को वैयावृत्त्य के लिए नियत करके अशक्त साधु को उठाने बैठाने शय्या पर सुलाने, पाद चम्पन, शरीर के मलमूत्रादि की शुद्धि करने में अनुग्रह करता है। तथा आहार पानादि की अनुकूलता सम्पादन करके समस्त संघ का उपकार करता है। ऐसे उचित और आवश्यक साधनों द्वारा क्षपक का उपकार करने वाले आचार्य को प्रकारक (प्रकुर्वी) कहते हैं।

प्रकारत्व गुण के धारक आचार्य अवसर आने पर छोटे से छोटे और बड़े से बड़े विद्वान् या अल्पज्ञ समस्त साधुओं की सब प्रकार की सेवा करने में स्वयं तत्पर रहते हैं सेवा शुश्रूषा करने में अत्यधिक परिश्रम होने पर खिन्न चित्त नहीं होते हैं सदा प्रसन्नचित्त होकर सेवा में संलग्न रहते हैं। वह आचार्य उक्त गुण से अलंकृत होते हैं। इसलिए क्षपक को प्रकारक गुरु की छत्रछाया में ही निवास करना चाहिए।

आचार्य का आयोपायदर्शित्व गुण

जो क्षपक (समाधिमरण का इच्छुक साधु) आत्म-विशुद्धि करने में प्रयत्नशील हो रहा है आहार का त्याग करके काय को कृश कर रहा है सद्भावना और सुध्यान का आश्रय लेकर कषाय को भी मन्द करने में तत्पर है जो मोक्ष प्राप्ति के निकट पहुंच रहा है अथवा मनुष्य पर्याय के अन्त के सन्निकट प्राप्त हो गया है उस क्षपक के भी क्षुधादि की असह्य वेदना के उपस्थित होने पर रागद्वेष उत्पन्न होने की संभावना रहती है। क्योंकि जब वह क्षुधा तृषा की दारुण वेदना से पीड़ित हो जाता है उस समय मोहनीय कर्म के उदय से उसकी परिणति मलीन हो जाती है। तथा समाधिमरण का कार्य प्रारम्भ करते समय उसने प्रतिज्ञा की थी कि मुनि दीक्षा ग्रहण करने के काल से लेकर अब तक रत्नत्रय में जो अतिचार उत्पन्न हुए हैं उन सबको गुरु महाराज के निकट प्रकट करूंगा। किन्तु पश्चात् उसके लज्जा तथा मान का उदय होने पर वह दोषों की स्पष्ट आलोचना करने में हिचकिचाने लगता है। वह अभिमान वश सोचता है कि यदि मेरे अपराध आचार्य को विदित हो जावेंगे तो वे मेरी अवहेलना करेंगे। या अन्य मुनि जो मेरी वन्दना करते हैं आदर सत्कार करते हैं मेरे दोष प्रकट हो जाने पर ये मेरी वन्दना व आदर सत्कार न करेंगे। मुझे घृणा की दृष्टि से देखने लगेंगे इत्यादि कल्पना करके अपने को निर्दोष सिद्ध करने के अभिप्राय से गुरुदेव के समीप अपने दोषों की आलोचना करने के लिए पीछे हटता है। उसे यह भय लगा रहता है कि यदि मैं अपने सब अपराध कह दूंगा तो कदाचित् आचार्य मुझे संघ से बहिष्कृत कर देंगे। इत्यादि अनेक आशंकाएं उस क्षपक के अन्तःकरण में घर बनाये रहती हैं। इसलिए वह उन्नत विचार वाला पवित्रात्मा शरीर का उत्सर्ग करने के लिए उद्यत हुआ भी क्षपक अपने दोष गुरु से निवेदन नहीं करता है। उसको आयोपायदर्शन गुण के धारक आचार्य दोषों की आलोचना करने से होने वाले लाभ को और आलोचना न करने से उत्पन्न होने वाली हानि को भलीभांति दिखाते हैं। क्षपक को मधुर और हितकर शब्दों में समझाते हैं।

हे महात्मन ! यदि तुम अपने अपराधों को प्रकाशित न करोगे तो तुम्हारा यह दुर्लभ रत्नत्रय नष्ट हो जायगा। जैसे किसी के गुह्य अङ्ग में विपाक (जहरीला) फोड़ा हो जावे और वह चिकित्सक से लज्जादि के वश न कहे तो वह विनाश का कारण होता है। उसी प्रकार जो क्षपक अपने रत्नत्रय को मलीन करने वाले अतिचारों (अपराधों) का रत्नत्रय के विशोधक आचार्य के समीप नहीं कहता है तो वह रत्नत्रय रूप अपने दुर्लभ जीवन का हत्या करता है। और जो निष्कपट भाव से अपने दोषों का ज्यों का त्यों वर्णन कर देता है, वह

रत्नत्रय जीवन को विशुद्ध और अमर बनाता है। इसलिए हे पवित्र-हृन्य महापुरुष! तुमको अपने कल्याण के निमित्त रत्नत्रय रूप चिन्तामणि रत्न को उज्ज्वल बनाने के लिए लज्जा मान व भय का परित्याग कर दीक्षा काल से लेकर आज तक के सब अपराधों का यथार्थ प्रकाशन करो।

हे साधो! तुमने अपार और अनन्त संसार का उच्छेद करने के लिए संयम का आराधन किया है। अनन्त काल से यह जीव चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण कर रहा है। संसार में भ्रमण करते हुए जीवों में विरले ही भाग्यशाली जीव हैं जिनको यह दुर्लभ संयमरत्न मिलता है। दैवयोग से तुमको यह संयमरत्न प्राप्त होगया है। कौन ऐसा मूर्ख मनुष्य होगा जो शल्य सहित मरण कर इसे प्राप्त हुए संयमरत्न को नष्ट करेगा। क्योंकि जिस आत्मा में शल्य का निवास होता है उसमें रत्नत्रय नहीं रहता है। जैसे जहां अन्धकार का साम्राज्य है वहां प्रकाश नहीं रहता है। वैसे ही जिसकी आत्मा में शल्य रहता है उसमें रत्नत्रय नहीं रहता है। इसलिए रत्नत्रय के शत्रु मायाशल्य का सर्वथा परित्याग कर देना ही तुम्हारे लिए हितावह है।

हे क्षपक! कांटा बाण आदि द्रव्य शल्य जैसे शरीर के पाद आदि में प्रवेश करके प्रथम छिद्र करता है मांस और नाड़ी में घुस कर पीड़ा देता है पश्चात् शरीर के अवयव को सड़ा कर उसे निकम्मा बना देता है। उसी प्रकार मायादि भावशल्य भी आत्मा को दुःखित करता है। तथा व्रत शीलादि गुणों का विनाश करता है। लज्जा भय और अभिमान उत्पन्न होने पर माया शल्य उत्पन्न होता है। और मायाशल्य के उत्पन्न होने पर साधु अपराध छिपाने का प्रयत्न करता है।

हे महात्मन्! यदि तुमने मायाशल्य धारण कर दुर्लभ बोधि रत्न को गुमा दिया तो याद रखो जन्ममरण रूपी भंवर से अति गम्भीर महा भयानक चौरासी लाख योनि से आकुल इस अनन्त संसार में भ्रमण करते हुए कुयोनियों में पचते हुए तुमको अनगिनत काल तक हृदय विदारक दुःख व संताप भोगने पड़ेंगे।

इस प्रकार आचार्य क्षपक को अपराध प्रकट करने से उत्पन्न होने वाले गुण को और छिपाने से अनन्त संसार (अर्धपुद्गल परावर्तन काल तक) भ्रमण रूप महान् दुःख को अनेक युक्तियों से समझाते हैं जिससे क्षपक मायाशल्य का त्याग कर अपने दोषों की आलोचना द्वारा रत्नत्रय की विशुद्धि करता हुआ भव भ्रमण के दुःख से मुक्त होता है। इसलिए जिसमें आयोपायदर्शकता नामक गुण पाया जावे उस आचार्य के पादमूल का आश्रय लेकर रत्नत्रय की आराधना को परिपूर्ण करना चाहिए।

आचार्य में अवपीडकत्व गुण

प्रश्न—यदि कोई क्षपक आलोचना के गुण व दोष का भली भांति निरूपण करने एवं अनेक शिक्षा देने पर भी आचार्य के समीप मान लज्जा भय तथा क्लेश सहन करने की सामर्थ्य का अभाव इत्यादि कारणों से अपने दोषों को व्यक्त करने में प्रवृत्त न हो तो निर्यापक आचाय क्या करें ?

उत्तर—आचाय में अवपीडकत्व नाम का गुण होता है। उसके बल से आचाय साधु के हृदय में छिपे हुए गुप्त अपराधों को प्रकट करवा लेते हैं। जैसे सिंह के सामने शृगाल (सियार) उदरस्थित मास को वमन कर देता है उसी प्रकार आचाय की तेजस्विता और प्रभाव स प्रभावित हुआ साधु अपने सब अपराधों को यक्त कर देता है।

प्रश्न—आचाय क्षपक क अपराध यक्त करवान के लिए प्रथम ही इस प्रभाव जनक अवपीडकत्व गुण का उपयोग क्यों नहीं करते ?

उत्तर—राजा की नीति के समान आचाय की नोति होती है। राजा अपनी प्रजा के सुख व शान्ति के लिए जैसे अनेक प्रकार की नीति का अवलबन करता है वैसे ही सङ्घ के कल्याण के लिए आचाय को भी विविध साधना का प्रयोग करना पड़ता है। आवश्यकता अनुसार ही उनक अवपीडकत्व गुण का प्रयोग होता है।

प्रश्न—आचाय प्रथमत क्षपक को अपराध प्रकट करने के लिए किस प्रकार सान्त्वना देकर उत्साहित करते हैं ?

उत्तर—जब आचाय क्षपक को अपराध के अभि यक्त करने से लाभ और अभि यक्त न करने से हानि दिखाकर अपने को सफल मनोरथ न ी पाते हैं अर्थात् हानि लाभ दिखान पर भो क्षपक जब लज्जा भय मानादि का छोड कर अपने अपराधों की आलोचना नहीं करता है तब निर्यापक आचाय क्षपक क प्रति स्नेहपूण आ मीयता प्रकट करने वाले कण मधुर हृदयस्पर्शी मनोज्ञ भाषण करते हैं।

क्षपक क अन्त करण को सुखी बनाने वाला उपदेश आचाय जिस प्रकार देते हैं उसका दिग्दर्शन निम्न प्रकार किया जाता है।

हे आयुष्मन् ! तुमने सन्मार्ग को अङ्गीकार किया है। और तुम अन्त करण स रत्नत्रय को निमल करने के लिए सदा दत्तचित्त रहते हो ! इसलिए हे महामन ! तुम लज्जा भय और गौरव को तिलाजलि देकर अपने दोषो का यों का त्यो प्रकाशन करो। गुरुजन तो माता पिता के तुल्य होत हैं। उनक सामने अपराध प्रकट करन में लज्जा कौनसी ! गुरुजन सदा शिष्य की उन्नति और गौरव की कामना करते ह। वे शिष्य क अपराध को अपना समझते हैं। वे किस तरह तुम्हारे दोषों को दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं। जैसे पुत्र अपने

भयङ्कर अपराध को माता पिता के समक्ष करन में नहीं हिचकता वह समझता है कि माता पिता मेरे हितचिन्तक हैं तथा मेरे कल्याण करने में प्रयत्नशील रहते हैं। इसलिए वह लज्जा को ताक मे रखकर गुप्त अपराध निवेदन कर देता है। वैसे ही उत्तम शिष्य अपने गुरु को ससार में सबस अधिक हितकर्त्ता समझता है। क्योंकि वे सर्वदा अपन आत्म कल्याण के काय की उपेक्षा कर शिष्यों के कल्याण की साधना में अहर्निश लगे रहते हैं। माता पिता तो स्वाथवश पुत्र के रक्षण शिक्षणादि काय में प्रवृत्ति करते हैं। किन्तु गुरुदेव शिष्य के परलोक सम्बन्धी सुख की प्राप्ति के लिए निस्वाथ हितचिन्तन में उद्यत रहते हैं। उनके समक्ष लज्जा करना उचित नहीं है।

लज्जा भी सब जगह श्लाघनीय नहीं मानी गई है यथा —

"धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासग्रहणेषु च।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्ज सुखी भवेत्॥"

अथ—धन और धान्य का उचित प्रयोग करन में विद्या का ग्रहण (अध्ययन) करने में तथा आहार और व्यवहार में जो लज्जा नहीं करता है वह सुखी होता है।

हे क्षपक! तुम्हें कदाचित् यह भय हो कि मेरे द्वारा आलोचना किया गया दोष ये (आचाय) प्रकाशित कर देंगे तो ऐसा भय मुझसे तुम्हें न करना चाहिए। क्योंकि धर्माचाय मर्म र में धम के प्रवर्त्तक होते हैं। वे सच्चे मुनियों की और मुनि धम की निन्दा व अपमान को दूर करन में कटिबद्ध रहते हैं। वे समाधि की सिद्धि के लिए उपस्थित हुए आप सरीखे महात्माओं द्वारा निवेदन किये गये दोषों को किस प्रकार प्रकट करेंगे? सहधर्मी बन्धु का दोष प्रकाशित करना सम्यग्दर्शन का दूषण माना गया है और परनिन्दा करने से नीच गोत्र का बन्ध होता है। तथा परनिन्दा करने वाला जगत में निन्दनीय होता है और वह दूसरे के चित्त मे असह्य सताप उत्पन्न करने के कारण दारुणदुःख का जनक असातावेदनीय कम का बन्ध करता है। सघ के साधु तथा अन्य साधु जन ऐसे आचाय की अवहेलना करते हैं। क्या मैं अपने धम रूपी उज्ज्वलरत्न को इस प्रकार पापपङ्क से मलीन करूंगा? क्या पूर्णिमा के चन्द्र के समान धवलयश पर अपयश रूपी कज्जल की कालिमा पोतूंगा? कौन सुबुद्धि इस महान् अनथ के मूल परदोष प्रकाशन को करके अपने उन्नत मस्तक पर कालिमा का टीका लगावेगा। इसलिए हे मुमुक्षु! दैवयोग से अथवा प्रमाद या अज्ञान से जो सम्यक्त्वादि में अतिचार हो गये हों वे छिपाने योग्य नहीं है। निर्मल हुआ रत्नत्रय महा महिमा को प्राप्त होता है। और वह शाश्वत लोकोत्तर (मोक्ष) पद देता है। इसलिए अपने सब दोषों को निर्भय होकर मुझपर प्रकट करो। पूर्ण विश्वास रखो वे दोष किसी के सामने कभी प्रकट न किये जावेंगे।

इस प्रकार आचार्य के विश्वसनीय सुमधुर भाषण की भी अवहेलना करके जब क्षपक अपने कृत अपराधों को सम्यक् प्रकार प्रकट नहीं करता है तब आचार्य क्षपक की कल्याण कामना से प्रेरित हुए अवपीडक गुण द्वारा उसके अन्तःस्थल में छिपे हुए दोषों को अपनी तेजस्विता के बल से बाहर निकाल लेते हैं। जैसे सिंह शृगाल के उदरस्थित मांस को बाहर वमन करवा लेता है। वे क्षपक को इस प्रकार कहते हैं।

हे मायावी! अपराध शरीर के मल के समान या सड़े हुए फोड़े के समान हैं। उनको बाहर निकाल फेंकने से ही हित साधन होता है। भीतर छिपा रहने से दुर्गन्धि फैलती है और उससे अनेक हानियां होती हैं। तुम उनको छिपा रहे हो इसलिए हमारे यहां से हट जाओ। वनों में वैद्य के निकट वही रोगी जाता है जिसे अपना रोग मिटाने की इच्छा होती है। तथा निर्मल जलाशय के समीप वही गमन करता है जिसको जल की आवश्यकता होती। इस ही रत्नत्रय में लगे हुए दोषों का निराकरण करने के लिए गुरुओं का आश्रय लिया जाता है। और तुम रत्नत्रय की शुद्धि करने में लापरवाह हो तो फिर तुमने इस समाधिमरण का आडम्बर क्यों रचा है? सल्लेखना (समाधिमरण) की सिद्धि चतुर्विध आहार का त्याग करने मात्र से नहीं होती है। किन्तु उसकी सिद्धि के लिए कषायों का त्याग करना भी परमावश्यक है। कषाय का त्याग करने वाले के संवर और निर्जरा होती है। कषायों से नवीन कर्मों का आस्रव और स्थिति बन्ध होता है। अतः मुमुक्षु उनका निग्रह करते हैं। क्रोधादि कषायों में माया कषाय अति निन्दनीय है। क्योंकि माया से तिर्यंच योनि का बन्ध होता है। उस माया को छोड़ने में तुम असमर्थ हो। तुमने तो तिर्यंच योनि में प्रवेश करने का साधन जुटा रखा है। संसार से निवृत्त होने का तुम्हारा यह प्रयत्न साधक होगा? संसार रूप महापङ्क से उद्धार होना अति दुष्कर है। वस्त्र फेंक देने मात्र से निर्ग्रन्थपने का अभिमान करना न्याय संगत नहीं है। यदि नग्न होने से ही निर्ग्रन्थता प्राप्त हो जाती है ऐसा मान लिया जावे तो तिर्यंच भी निर्ग्रन्थ माने जावेंगे। परम भट्टारक तीर्थंकर देवने इस प्रकार के बाह्य और चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह की गांठ को उतार फेंकने पर मुनिपना बताया है। और वही मोक्ष का अमोघ उपाय है। यद्यपि क्षेत्र वस्तु आदि दश प्रकार परिग्रह का त्याग किये बिना भाव मुनिपना नहीं होता है तथापि भाव मुनित्व की सिद्धि के लिए बाह्य परिग्रह के त्याग के साथ कषायादि का भी त्याग करना आवश्यक है।

हे मुमुक्षो! जो कर्मों का बन्ध होता है वह जीव और पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध मात्र से नहीं होता है किन्तु जीव के कषायादि परिणाम से होता है। वह कषाय भाव (माया कषाय) तुम्हारी आत्मा में जाज्वल्यमान हो रहा है अतः कर्म बन्ध से निवृत्त होने का तुम्हारा प्रयास विडम्बना मात्र है।

हे रत्नत्रय के पालक! अतिचार से दूषित सम्यक्त्वादि मुक्ति के कारण नहीं हो सकते हैं। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः यह आगम वचन तुम्हारे कर्णगोचर नहीं हुआ है? उसमें निरतिचार दर्शनादि को ही मुक्ति का मार्ग (उपाय) बताया है।

अतिचार सहित दर्शनादि को सम्यग्दर्शनादि नहीं बताया है। और वह सम्यग्दर्शनादि की निरतिचारता गुरु द्वारा बताये गये प्रायश्चित का आचरण करने से ही प्राप्त होती है। गुरु उसी को प्रायश्चित देते हैं जो उनके समक्ष अपने अपराधों की आलोचना करता है। तुमतो अपराधों की आलोचना नहीं कर रहे हो इसलिए तुम दूरभव्य या अभव्य प्रतीत होते हो। अन्यथा ऐसी महान् मायाशल्य को हृदय में स्थान कैसे देते और मुनियों के वन्दना के पात्र भी कैसे होते? अर्थात् मायाचार से दूषित होने के कारण मुनि द्वारा अवन्दनीय होकर भी तुमने मुनियों से वन्दना करवाई है अतः तुम दूरभव्य या अभव्य ज्ञात होते हो।

'समणं वंदिज्ज मेधावी सजद सुसमाहिदं।'

अर्थात्—विचारवान् साधु को उचित है कि वह उसी साधु की वन्दना करे जो समचित्तता का धारक हो।

जो साधु जीवन और मरण में प्रशंसा और निन्दा में लाभ और अलाभ में समान बुद्धि रखता है उसे समचित कहते हैं। मैं अतिचार की आलोचना करूंगा तो मेरी सब मुनि निन्दा करेंगे प्रशंसा न करेंगे—ऐसा तुम मन में विचार कर रहे हो तुम सम-बुद्धि नहीं हो अतः वंदना योग्य कैसे हो सकते हो? तुम शायद यह समझकर आलोचना नहीं कर रहे हो कि मेरे दोषों को संसार में कोई नहीं जानता है। यह तुम्हारी भूल है। तुम्हारे अपराधों को मैं जानता हूँ और अन्य मुनीश्वर भी जानते हैं। इस प्रकार युक्ति सङ्गत ओजस्वी भाषण द्वारा उसके अन्तःकरण में अपना वर्चस्व स्थापित करके उसके अन्तःकरण के पच्छन्न अपराधों को प्रकाशित करवा लेते हैं जैसे सिंह के समक्ष शृगाल अपने उदरस्थित मांसादि को बाहर निकाल देता है। ऐसे गुण के धारक आचार्य को अवपीडक गुण विशिष्ट कहते हैं।

अवपीडक आचार्य का लक्षण

उज्जस्सी तेजस्सी वचस्सी पहिदकित्तियायरिओ।
सीहाणुओ य भणियो जिणेहिं उप्पीलगो णाम ॥ ४८७ ॥
कठीरव इवौर्जस्वी तेजस्वी भानुमानिव।
चक्रवर्तीव वर्चस्वी सूरिरुत्पीडकोऽकथि ॥ ४६२ ॥ (भग आ)

अर्थ—उत्पीडक गुण के धारक आचार्य सिंह के समान ओजस्वी (प्रभावशाली बलवान्) होते हैं। सूर्य के समान तेजस्वी (प्रतापी) होते हैं। जिनके आगे सब कांपते हैं और जो किसी के प्रभाव (रोब) में नहीं आते हैं उन्हें तेजस्वी कहते हैं। अर्थात् सब यतीश्वरों

र उनका प्रभाव होता है। जो चक्रवर्ती के समान अप्रतिहत शासन होते हैं स्वकीय सङ्घ के और अन्य सङ्घ के मुनि जिनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं उन्हें वचस्वी कहते हैं। वे प्रश्न का उत्तर देने में निपुण होते हैं। उनका धवल यश संसार में विस्तृत होता है। और वे सिंह के समान अधृष्य (क्षोभरहित) होते हैं।

अवपीडक गुण के आधार आचार्य हितचाहने वाली उस माता के समान होते हैं जो रोते हुए बालक के मुंह को बलात्कार से खोलकर उसे दूध पिलाती है। आचार्य भी माया शल्य सहित अपने दोषों की आलोचना न करने वाले साधु को बलात्कार से दोषों की आलोचना करने के लिए बाध्य करते हैं। यद्यपि कडुवी औषधि रोगी को बुरी लगती है तथापि परिणाम में सुखप्रद होती है। वैसे ही दोषों का प्रकाशन क्षपक को बुरा लगता है किन्तु भविष्य में कल्याण का कर्त्ता होता है। अर्थात् दोषों की आलोचना करने पर गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त का आचरण कर क्षपक भविष्य में संसार परिभ्रमण के दुःख से मुक्त होता है।

जो गुरु शिष्यों के प्रति मृदु भाषणादि सद्व्यवहार तो रखते हैं लेकिन उनके दोषों का निराकरण नहीं करते हैं उनकी अपेक्षा वे गुरु दुर्लभ हैं जो शिष्यों की हितकामना से वाक्प्रहार करके भी उनके दोषों का निवारण करते हैं। कारण कि इस लोक में अपने हितकर कार्य में तत्पर रहने वाले तथा परहित कार्य में उपेक्षा करने वाले ही मनुष्य बहुत पाये जाते हैं। अपने हित के समान परहित का चिन्तन करने वाले बहुत कम दिखाई देते हैं। अर्थात् जो आत्महित करते हुए परहित में निरत रहते हैं वे ही नरपुंगव कटुकठोर अप्रियवचन बोलकर भी शिष्य का कल्याण करते हैं। ऐसे नरपुंगव सुगुरु इस लोक में अतिशय दुर्लभ हैं।

शङ्का—यदि कोई शिष्य अपने पूर्व दोषों की आलोचना न करे तो वह भविष्य में निर्दोष संयम का पालन करने में कटिबद्ध रह सकता है या नहीं ?

समाधान—जो साधु अपने दोषों से निवृत्त नहीं होता है वह भविष्य में निर्दोष आचरण करने में समर्थ नहीं हो सकता है। जैसे किसी मनुष्य का व्रण (घाव) सड़ गया है उस सड़े भाग का आपरेशन या इंजेक्शन आदि के प्रयोग से जब तक शोधन नहीं किया जाता है तब तक उसकी प्रवृत्ति (चेष्टा) सुखमय नहीं होती है। उसी प्रकार जब तक पूर्व अपराधों (दोषों) का शोधन नहीं किया जाता है, तब तक उसके अन्तःकरण में दोषों की वासना बनी रहने के कारण गुणों में अप्रतिहत प्रवृत्ति नहीं होती है।

जब तक आत्मा में दोषों का सद्भाव रहता है तब तक रत्नत्रय की शुद्धि नहीं होती है और रत्नत्रय की शुद्धि के बिना संसार चक्र से निकलकर मोक्ष के निकट पहुंचना असंभव है इसलिए अवपीड़क गुण के धारक आचार्य जैसे बने वैसे क्षपक (समाधि के आराधक) के हृदय से दोषों का वमन करवाकर उसका कल्याण करते हैं।

आचार्य की विशिष्टता

प्रश्न—साधु को अपने दोष गुरु महाराज के निकट मायारहित होकर स्पष्ट निवेदन करना आवश्यक है। तथा उसके निवेदनन करने पर आचाय प्रथम मधुर स्नेह युक्त वचन से और पश्चात कटु कठोर प्रभावशाली वचन से क्षपक को अपने दोष प्रकट करने के लिए बाध्य करते हैं। लेकिन आचाय साधु के गुप्त दोषों को यदि प्रकरण पाकर या द्वेषवश मुनि समाज में प्रकट करदें तो क्षपक की महती हानि होने की संभावना रहती है। अतएव आचाय का उस समय क्या कर्तव्य-धर्म होना चाहिए ?

उत्तर—आचाय वही हो सकता है जिसका हृदय गंभीर होता है। जैसे अग्नि से तपा हुआ लोहे का गोला पानी का शोषण करता है शोषण किया हुआ पानी उससे कभी बाहर नहीं निकलता है वैसे ही आचाय के अन्त करण में रखा हुआ साधु का दोष जीवन पर्यन्त कभी बाहर प्रकट नहीं होता है। उसकी हवा भी किसी निकटवर्ती मुनि को नहीं मिलती है। आचाय के मुख से तो क्या उनके इंगिताकार से (चेष्टा से) भी कोई इंगितज्ञ पता नहीं चला सकता है। ऐसे गंभीर हृदय वाले आचाय को अपरिस्रावी गुण का धारक कहा है। जिसमें यह गुण नहीं है वह आचाय पद के योग्य नहीं होता है। आचार्य पर विश्वास करके साधु अपने भयानक दोषों को भी स्पष्ट प्रकट कर देता है। यदि वह साधु के दोषों को प्रकट करदे तो उसे आगम में धर्म से पतित माना है वही कहा है।

आयरियाण वीसत्थदाए भिक्खू कहेदि सगदोसे।
कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसिं कहेदि ते दोसे ॥ ४८८ ॥

अर्थ—साधु आचाय पर विश्वास कर अपने दोषों का प्रकाशन करते हैं और यदि वह आचाय उन दोषों को अन्य साधुओं पर प्रकट करदे तो वह आचार्य जिनोक्त धर्म से बहिर्मुख हुआ समझा जाता है। अर्थात् जिनागम में आचाय के लिए साधु के आलोचना किये गये दोषों को किसी भी प्रकार से प्रकट नहीं करने की आज्ञा है। यदि वह इसके विपरीत आचरण करता है तो वह जिनाज्ञा का उल्लघन करनेवाला धर्म-भ्रष्ट माना गया है तथा विश्वासघात के महापाप से दूषित कहा गया है।

प्रश्न—कोई आचाय यदि साधु का अपराध अन्य के समक्ष व्यक्त करदे तो उससे साधु की क्या हानि होती है ?

उत्तर—जिस साधु के दोष आचाय ने अन्य साधु आदि पर प्रकट किये हैं वह लज्जा या मान के वश क्रुद्ध होकर आचार्य का ही नहीं कभी २ रत्नत्रय का भी त्याग कर देता है। और यदि वह साधु यशस्वी और जगमान्य हो तो कभी २ आत्महत्या तक कर बैठता है वह कलंकित जीवन से मृत्यु को श्रेष्ठ समझकर क्रोध से अन्धा हुआ महापाप जनक आत्मघात करने में भी प्रवृत्त हो जाता है।

साधु के आलोचित दोष प्रकट करने वाले आचाय का वह साधु तथा अन्य सङ्घ के साधु परित्याग कर उसके शासन की उपेक्षा करने लगते हैं। सङ्घ में खलबली मच जाती है। जिस साधु का आलोचित दोष आचाय ने प्रकट किया है वह मुनि सब साधुओं को आज इसन मेरे दोष सबके सम्मुख प्रकट किये हैं कल तुम्हारे भी करेगा ऐसा कहकर आचाय के प्रति विरुद्ध और श्रद्धाहीन कर देता है। आचाय के प्रति विपरीत हुए साधु उस आचाय से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं।

इतना ही नहीं मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका यह चतुर्विध सङ्घ भी उस आचाय का परित्याग करता है।

परदोष का प्रकाशक आचार्य अपना और साधुओं का तथा सङ्घ का ही अनिष्ट नहीं करता बल्कि पवित्र जैन धम का और साधु धम का अपवाद करने वाला होता है। लोग कहने लगते हैं कि—

आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विडम्बनाम् ।
धिक् धिक् निधर्मा साधूनिति वक्ति जनोखिल ॥ ५ ६ ॥
विश्वासघातका एव दुष्टा सन्ति दिगम्बरा ।
ईदृशीं कुर्वते निन्दा मिथ्यात्वाकुलिता जना ॥ ५१ ॥ (स भग आ)

अथात—जिस सम्प्रदाय में आचाय शिष्य की विडम्बना करते हैं शिष्य का दूषण प्रकट करते हैं उस सम्प्रदाय के साधुओं को सम्पूर्ण जनता धिक्कार देती है। दिगम्बर साधु विश्वास घातक और दुष्ट होते हैं ऐसी निन्दा मिथ्यात्व दूषित मनुष्य करने लगते हैं।

अपरिस्रावी गुण के धारक आचाय दोष प्रकट करने से उत्पन्न होने वाले इस प्रकार के सब दूषणों को भली भांति जानते हैं। बिना पूछे वे दोष का प्रकाशन कैसे कर सकते हैं! किसी के पूछने पर भी अपने मुख से कभी दोष प्रकाशित नहीं करते हैं। इसलिए हे क्षपक साधुओ! दोष का निगूहन करने वाले रहस्य का भेदन न करने वाले आचाय का आश्रय करो।

आचार्य का सुखकारी गुण

प्रश्न—आचाय में एक सुखकारी गुण माना गया है उसका स्वरूप क्या है। क्षपक के लिए आचाय किस प्रकार के सुखों का साधन करते हैं?

उत्तर—क्षपक के योग्य भोजन पान की योग्यता को मिलाकर आचाय उसे शान्ति पहुँचाते हैं। उचित परिचारकों को वैयावृत्त्य में नियुक्त करके तृण के संस्तर आसनादि की अनुकूल व्यवस्था करके उसे आराम देते हैं। क्षपक के चित्त में क्षुधाग्नि के कारण क्षोभ उत्पन्न होने पर या परिचारकों के प्रमाद से अथवा शीतादि की परीषह से या रोग की तीव्र वेदना से अति सक्लेश उत्पन्न होजाने पर उसके चित्त में मर्यादा भङ्ग करने की परिणति होने लगती है। ऐसे समय शान्तचित्त क्षमाशील धैय धारण कर निर्यापकाचाय क्षोभ रहित होकर स्नेह युक्त मधुर चित्त प्रसन्न करने वाली कर्ण-प्रिय कथाओं को कहकर क्षपक के चित्त में शान्ति और सुख का सञ्चार करते हैं। और उसको संयम में दृढ करते हैं। यथा —

सुखकारी दधात्येन मज्जन्त दुस्तरे भवे।
पूतरत्नभृत पात कर्णधार इवार्णवे ॥ ५१९ ॥
शीलसयमरत्नाढय यतिनाव भवार्णवे।
निम्मज्जन्तीं महाप्राज्ञो बिभर्ति सूरिनाविक ॥ ५२ ॥ (स भग आ)

अथ—जैसे समुद्र की गहराई उतराई का ज्ञाता कुशल कर्णधार रत्नों से भरे हुए जहाज को समुद्र के भीतर भँवर चट्टान आदि से बचाकर सायात्रिकों (जहाजी व्यापारियों) को मधुर और प्रिय वचनों से धैय बंधाता हुआ अभीष्ट स्थान पर सुख से ले जाता है वसे ही सघ का नायक आचाय ससार समुद्र में डूबती हुई शील सयमादि गुण रत्नों से परिपूर्ण यति नौका को अपनी बुद्धि की पटुता से मोक्ष नगर के निकट पहुचाता है।

भावाथ—रत्नादि बहु मूल्य से भरे हुए जहाज का खेवटिया वही हो सकता है, जिसने अथाह समुद्र में ऊची उछलती हुई तरंगों में जहाज को निरन्तराय पार करने का पूर्ण अभ्यास किया हो तथा जिसको प्राप्त होने वाली विघ्न बाधाओं का तथा उनके निवारण करने के उपायों का पूर्ण अनुभव ज्ञान प्राप्त हो। उसी प्रकार निर्यापकाचाय भी वे ही हो सकते हैं जिन्होंने जिनागम के रहस्य का पूर्ण अनुभव किया है। सयम से परिपूर्ण यति पोत (मुनि रूप जहाज) क्षुधा पिपासाग्नि तरङ्गों के आघात से जब उछलने लगता है संसार समुद्र में डूबने के उन्मुख हो जाता है ऐसे समय में वह आचार्य बुद्धि कौशल से हृदयग्राही मधुर वचन से उसको बचाकर लक्ष्य स्थान पर ले जाते हैं। उनकी वाणी में ओज होता है। धैय और साहस उसमें उत्पन्न करने की शक्ति होती है। दुःखित हृदय में आनन्द का स्रोत बहाती है। नीरस जीवन में सरसता उत्पन्न करती है। उसकी मधुरता कर्ण और अन्तःकरण में मधुरिमा की वृष्टि कर देती है। शरीर से परम वैराग्य उत्पन्न कर मुक्ति अङ्गना के अनुपम और अविनश्वर सहजानन्द की झलक का अनुभव कराती है। ऐसी वाणी के धारक आत्मानुभव रस के

आस्वादन करने वाले ज्ञानामृत के अवगाहक चारित्र नन्दनवन में रमण करने वाले महात्मा ही आचार्य पद को सुशोभित कर शरणागत शिष्य जनों को उक्त गुणों का अपने आचरण और मधुर भाषण से आस्वादन कराकर उन्हें दुःखी से सुखी बनाते हैं।

उक्त आचारवान् से लेकर सुखकारी पर्यन्त आठ गुणों का सद्भाव जिसमें पाया जाता है उस आचार्य का अन्वेषण कर शरण लेने से ही साधु के उद्देश्य की पूर्ति होगी और वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा।

सगुण आचार्य की प्राप्ति कैसे हो

प्रश्न—मुमुक्षु साधु को उक्त गुण रत्नों से अलंकृत आचार्य की शरण प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए।

उत्तर—परहित-निरत आगमामृत भोक्ता चारित्र पीयूष पान से सतृप्त आचार्य की प्राप्ति गुरुकुल (मुनि संघ) को आत्म समर्पण करने से अर्थात् आचार्य के शासन को शिरोधार्य कर उनके पाद मूल में निवास करने से होती है।

गुरुकुल (मुनि संघ) को आत्म-समर्पण करने का समाचार-क्रम निम्न प्रकार है—

क्षपक गुरुकुल का आत्म समर्पण कैसे करे ?

जब साधु आचार्य के चरणों की शरण में जावे तब प्रथमतः मन वचन और काय से सामायिकादि छह आवश्यक को पूर्ण करके दोनों हाथ जोड़ कर मस्तक नवाकर वन्दना करे।

सामायिक प्रतिक्रमण चतुर्विंशति स्तव वन्दना प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—इन छह आवश्यक क्रियाओं को मन वचन और काय से करना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक आवश्यक मनोयोग वचनयोग और काययोग के भेद से तीन तीन प्रकार का हो जाता है। मन द्वारा सर्व सावद्य योगों का त्याग करना मनोयोग सामायिक में सम्पूर्ण सावद्य योगों का त्याग करता हूँ ऐसा वचन उच्चारण करना वचन योग सामायिक काय से सर्व सावद्य योग क्रिया का त्याग करना काय योग सामायिक इस प्रकार सामायिक के तीन भेद होते हैं। इसी प्रकार प्रतिक्रमणादि के भी तीन भेद होते हैं। पूर्वकृत अतिचारों का मन से त्याग करना हाय हाय मैंने अमुक२ पाप कार्य किया है ऐसा चिन्तन कर मन में पश्चात्ताप करना मन प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण के सूत्रों का उच्चारण करना वचन प्रतिक्रमण और काय द्वारा उन अतिचारों का आचरण न करना काय प्रतिक्रमण है।

मनसे चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का स्मरण करना वचन से लोगस्सोज्जोयगरे इत्यादि पाठ पढकर तीर्थंकरों की स्तुति करना, मस्तक पर हाथ जोड कर जिनेन्द्र देव को नमस्कार करना ये चतुर्विंशति सस्तव के तीन भेद हैं।

वन्दना करने योग्य गुरुओ के गुणों का स्मरण करना मनो वन्दना वचन द्वारा उनके गुणो की महिमा वर्णन करना वचन वन्दना और प्रदक्षिणा देना मस्तक झुका कर नमस्कार करना यह काय वन्दना है।

भविष्य में मैं मनमे अतिचार न करूगा ऐसा चिन्तन करना यह मन प्रत्याख्यान है वचन से'मैं भविष्य में अतिचार न करूगा' यह वचन प्रत्याख्यान और काय से भविष्य काल में अतिचार का आचरण करना काय प्रत्याख्यान है।

यह शरीर मेरा नहीं है ऐसा मन में विचार कर मन से शरीर प्रेम को दूर करना मन कायोत्सर्ग मैं शरीर से प्रेम का त्याग करता हूँ ऐसा वचनोच्चारण करना वचन कायोत्सर्ग तथा हाथों को नीचे लटकाकर दोनों पैरों मे चार अगुल का अन्तर रखकर नासाग्रदृष्टि किये हुए शरीर स्थिर रखना अनेक उपसर्गादि द्वारा विघ्न बाधा उपस्थित होने पर भी निश्चल खडे रहना काय द्वारा कायोत्सर्ग है।

प्रसन्न चित्त गुरु जब एकान्त मे विराजमान हों उस समय शनै शनै (विनय पूर्वक) आकर शरीर और भूमि का प्रतिलेखन कर (पिच्छी द्वारा प्रमार्जन कर) आचार्य के न तो अधिक निकट और न बहुत दूर बैठकर हाथ जोड़ कर हे भगवन् मैं कृतिकर्म वन्दना करना चाहता हूं ऐसी आलोचना करे। गुरु से आज्ञा मे अनुज्ञा प्राप्त होने पर धीरे से उठकर मस्तक पर हाथ जोड कर न तो अधिक शीघ्र और न बहुत धीरे मध्यम वृत्ति से सामायिक पाठ का उच्चारण करे।

सूत्र के अनुसार निश्चल विकार रहित खडा हो कायोत्सर्ग करे। पश्चात् चतुर्विंशति स्तव (चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति) पढकर आचार्य पर अनुराग धारण करता हुआ गुरु की स्तुति पढे। इसे कृतिकर्म वन्दना कहते हैं। वन्दना करने के बाद आचार्यवर्य से हाथ जोड कर निवेदन करे।

तु झेत्थ वारसंगसुदपारया सवणसंघणिज्जवया।
तुज्झ खु पादमूले सामण्णं उज्जवेज्जाम ॥ ५१ ॥
पव्वज्जादी सव्व कादूणालोयणं सुपरिसुद्ध।
दसणणाणचरित्ते णिसल्लो विहरदु इच्छे ॥ ५११ ॥ (भग आ)

अथ—हे गुरुदेव ! आप द्वादशाग श्रुतज्ञानरूपी सागर के पारगामी हैं। तपस्वी मुनिश्वरों को सुख पूर्वक समाधिमरण कराने में कुशल हैं। मैं आपके पादपद्म का शरण प्राप्त कर अपने मुनि धर्म को उज्ज्वल करना चाहता हूं। दीक्षा धारण करने से लेकर आज तक जो अपराध हुए हैं उनकी आकम्पित अनुमानितादि दश दोष रहित आलोचना करके दर्शन ज्ञान और चारित्र में नि शल्य प्रवृत्ति करना चाहता हूँ।

इस प्रकार क्षपक जब अपना अभिप्राय आचार्य के निकट प्रकट करता है तब आचार्य कहते हैं—हे मुमुक्षो ! तुमने बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग किया है अतएव अब तुम निर्विघ्न उत्तम प्रयोजन रत्नत्रय को सिद्ध करो।

हे महाभाग ! तुम जगत् मे धन्य हो जो नारकादि चतुर्गति में भ्रमण कराने वाले दुष्कर्मों का तथा ससार में उत्पन्न होने वाले जन्म जरा मरण आधि व्याधि जन्य असह्य दुःखों का सहार करने वाली रत्नत्रय की साधना रूप समाधिमरण—आराधना के ग्रहण करने का निश्चय किया है। इससे कर्मों का क्षय होता है। और कर्मों के क्षय होने पर उससे उत्पन्न होने वाले दुःखों का निवारण होता है।

हे महात्मन् ! तुम निशङ्क होकर हमारे सघ मे निवास करो। अपने मन से सम्पूर्ण व्याकुलता को दूर करो। हम तुम्हारे प्रयोजन के विषय में परिचारकों के साथ विमर्श करके निश्चय करेंगे।

इस प्रकार आचार्य आगन्तुक समाधिमरण के अभिलाषी मुनि को कहकर उसे गुरुकुल मे निवास करने की अनुमति देते हैं। तत्पश्चात् आचार्य क्षपक के समाधिमरण की निर्विघ्न साधना के लिए राज्य क्षेत्र देश ग्राम नगर तथा उसके अधिपति सघ और स्वय अपनी योग्यता की परीक्षा (जाच) करते हैं। क्योंकि इनके अनुकूल होने पर सम्यक्त्वादि की वृद्धि होती है। और प्रतिकूल होने पर प्रयोजन की सिद्धि नही होती है। तथा कभी २ विपरीत परिणाम भी हो जाता है।

सबसे प्रथम आचार्य आगन्तुक क्षपक की परीक्षा करते हैं-उसकी आहार में लम्पटता है या नहीं ? इसकी जाच करते हैं। यदि क्षपक आहार का लम्पटी हुआ तो वह अहर्निश आहार का चिन्तन करता रहेगा वह आराधना को सफल कैसे बना सकेगा ? उसकी क्षुधा तृषादि के सहन करने का सामर्थ्य की भी परीक्षा करते हैं। यदि उसमे सहन शक्ति न हुई तो क्षुधादि से पीडित होकर चिल्लाने लगेगा और धर्म को दूषित करेगा ? क्षपक की आराधना में विघ्न उपस्थित होगा या न नहीं होगा ? आचार्य इसका विचार किये बिना यदि क्षपक को ग्रहण कर लेगा तो विघ्न उपस्थित होने पर बीच में ही उसे त्याग करना पडेगा इससे क्षपक का भी प्रयोजन सिद्ध न होगा और आचार्य की भी लोक में निन्दा होगी।

इसका विचार करने के अनन्तर आचार्य राज्य क्षेत्र देश नगर गाव आदि की परीक्षा करके निर्णय करते हैं कि यह राज्यादि

इस क्षपक के कार्य के साधक नहीं हैं तो अन्यत्र राज्य क्षेत्र देशादि का आश्रय लेते हैं। वहां पर क्षपक की कार्यसिद्धि गण (संघ) की शांति (उपद्रवादि का अभाव) तथा स्वयं अपने सब कार्यों मे सुलभता पाते हैं तब क्षपक के समाधिमरण कार्य का प्रारम्भ करते हैं। जो आचार्य इन सब साधन सामग्री का परीक्षण न करके कार्य प्रारम्भ करते हैं वह क्षपक का उपकार करने में तथा अपने हित साधन में विफल होकर क्लेश के भाजन होते हैं।

क्षपक के लिए संघस्थ परिचारक साधुओं की सम्मति

प्रश्न—राज्य देश नगरादि के शुभ अशुभ की परीक्षा करलेने के बाद आचार्य क्या करते हैं ?

उत्तर—आचार्य क्षपक की प्रकृति तथा क्षपक के उत्तम प्रयोजन के अनुकूल देशादि की परीक्षा (जांच) करलेने के अनन्तर परिचारक साधुओं से पूछताछ करते हैं। उनकी इस कार्य में क्या सम्मति है ? और वे इसमें उत्साह पूर्वक सहयोग दे सकेंगे या नहीं ? यह सब जानने के लिए उनसे पूछते हैं—

हे वैयावृत्त्य परायण महात्माओ ! यह आगन्तुक साधु समाधिमरण का आराधन करने के लिए हमारी सहायता चाहता है। साधु समाधि और वैयावृत्त्य करना तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण है इसका आपको भली भांति निश्चय है। इसलिए आप सोच विचार कर उत्तर दें ? क्या इस साधु पर अनुग्रह किया जाय या नहीं ? लोक व्यवहारी मनुष्य भी प्रायः परहित साधन में कटिबद्ध रहते हैं तो यति महात्माओं के लिए क्या कहना है ? वे तो समस्त निकट भव्य जनों का संसार समुद्र से उद्धार करने में उद्यत रहते हैं। 'आदहिदकादव्वं जइसक्कइ परहिदं च कादव्वं' ऐसा आचार्यों का वचन है। इसलिए हमको इस शरणागत साधु पर अवश्य अनुग्रह करना चाहिए। इस प्रकार परिचारक साधुओं को पूछने पर उनकी स्वीकारता मिलने पर आचार्य आगन्तुक साधु को अङ्गीकार करते हैं। परिचारकों से पूछे बिना यदि आचार्य आगन्तुक साधु का कार्य प्रारम्भ करदें तो आचार्य क्षपक तथा समस्त संघ को संक्लेश उत्पन्न होने की संभावना रहती है। मैंने इस क्षपक का कार्य प्रारम्भ कर दिया है और ये साधु परिचर्या द्वारा सहायता नहीं करते हैं, इस प्रकार आचार्य को संक्लेश उत्पन्न हो सकता है। हम लोगों से आचार्य ने इस कार्य में सम्मति नहीं ली है ऐसा विचार कर क्षपक की परिचर्या (वैयावृत्त्य) में तत्परता न रखने के कारण क्षपक के मन में मेरी ये साधु उचित परिचर्या व भक्ति नहीं करते हैं ऐसा संक्लेश भाव उत्पन्न होता है। इस कार्य में बहुत जनों की आवश्यकता होती है अकेला कोई इसे नहीं कर सकता है गुरु महाराज ने इसमें हमारी अनुमति नहीं ली न हमारे बल अबल की परीक्षा की और इस कार्य को प्रारम्भ कर दिया इस प्रकार परिचारकों के अन्तःकरण में संक्लेशभाव उत्पन्न हो सकता है।

इसलिए स्व परहित में निपुण आचार्य क्षपक का कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व परिचारक साधुओं की सम्मति प्राप्त कर लेते हैं। उसके पश्चात् समाधिमरण के कार्य का प्रारम्भ करते हैं।

एक आचार्य के पास कितने क्षपक समाधिकरण करते हैं ?

प्रश्न—एक आचार्य के संरक्षण में कितने क्षपक समाधिमरण कार्य का प्रारम्भ कर सकते हैं ?

उत्तर—जिनेन्द्र देव के उपदेशानुसार एक निर्यापकाचार्य की शरण में एक क्षपक संस्तर पर आरूढ़ हुआ तपरूपी अग्नि में अपने शरीर का हवन करता है और एक साधु उग्र अनशनादि तप द्वारा अपने शरीर का शोषण करता है।

अर्थात्—संघ की अनुमति मिलने पर भी आचार्य एक साधु को ही समाधिमरण कार्य के लिए दो साधुओं पर अनुग्रह कर सकता है। उनमें से एक तो संस्तर पर आरूढ़ हुआ जिनेन्द्र देव के आदेशानुसार तपश्चरणाग्नि में अपने शरीर की आहुति देता है और दूसरा उग्र उग्र अनशनादि तपश्चरण का आचरण कर अपने शरीर को कृश करता है। इन दो साधुओं के अतिरिक्त एक आचार्य के रक्षण में तीसरे साधु को समाधिमरण कार्य प्रारम्भ करने की जिन शासन में आज्ञा नहीं है। क्योंकि दो या तीन साधु समाधिमरण के लिए संस्तर पर आरूढ़ हो जावें तो उनके अन्त करण को धर्म में स्थिर रखने के लिए विनय वैयावृत्त्यादि कार्य यथायोग्य नहीं हो सकने के कारण उनके चित्त में सक्लेश होना अवश्यंभावी है इसलिए एक क्षपक संस्तरारूढ़ हो सकता है और एक उग्र तपस्या कर सकता है।

इस प्रकार आचार्य संघ की सम्मति से उक्त प्रकार क्षपक साधु को स्वीकार कर संघ के मध्य उसको उपदेश देते हैं।

आचार्य का क्षपक के प्रति उपदेश

प्रश्न—क्षपक को एकान्त में उपदेश न देकर आचार्य समस्त संघ के मध्य उपदेश क्यों देते हैं ? इसमें क्या रहस्य है ?

उत्तर—सम्पूर्ण संघ के बीच क्षपक को उपदेश देने का कारण यह है कि संघ को भी समाधि का स्वरूप विदित हो जावे, तथा आगन्तुक क्षपक का भी सबको परिचय हो जावे और इस उत्तम कार्य में सबकी साक्षी भी हो जावे।

प्रश्न—आचार्य क्षपक को क्या उपदेश देते हैं उसका अभिप्राय प्रकट करने की कृपा करें।

उत्तर—निर्यापकाचार्य समाधिमरण का कार्य प्रारम्भ करने वाले साधु को इस प्रकार शिक्षा देते हैं—हे क्षपक! तुम सुखिया

स्वभाव का परित्याग कर चारित्र का पालन करो। सुख स्वभाव स चारित्र में शिथिलता आती है। सुखिया प्रकृति का मुनि आहार उपकरण और वसतिका की शुद्धि के विषय में उदासीन रहता है। क्योंकि मनोज्ञ आहार का लम्पटी भिक्षा शुद्धि की ओर ध्यान नहीं देता है। जिह्वा की लोलुपता उस उद्दिष्टादि दूषित आहार का ग्रहण करने मे भी प्रेरित करती है। सुन्दर उपकरण का अभिलाषी उद्गमादि दोषों का निवारण नहीं करता है और कष्टासहिष्णु जिस किसी की सजी सजाई वसति में ठहर जाता है। इसलिए सुखिया स्वभाव का परित्याग करो अर धैर्य व साहस का आश्रय लेकर सम्पूर्ण परीषह सेना पर विजय प्राप्त कर चारित्र का संरक्षण करो।

हे क्षपक ! यह अज्ञानी जीव मोह के वश इन्द्रियों के अधीन हुआ स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द इन विषयों में प्रेम उत्पन्न करता है। तुमने ज्ञान और वैराग्य प्राप्त किया है इसलिए ज्ञान और वैराग्य के बल से इन पर विजय प्राप्त करो। तथा क्षमा मार्दव आर्जव और शौच भावना के बल स क्रोध मान माया और लोभ का निग्रह करो।

हे इन्द्रिय विजयी साधो ! जो जिसके वश में नहीं होता है वह उसका विजेता कहलाता है। जैसे जो स्त्री पुरुष के वश में नहीं रहती है वह पुरुष विजयिनी कही जाती है ऐसा लोक में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार जो शब्दादि विषयों के तथा क्रोधादि कषायों के अधीन नहीं होता है वह शब्दादि का तथा कषायों का विजेता कहा जाता है। अतएव हे साधो ! तुम इन्द्रियों के तथा कषाय के अधीन न होकर इन्द्रिय विजेता और क्षमादि धर्म के आराधक बनोगे।

प्रश्न—गुरु का उपदेश सुनकर क्षपक प्रश्न करता है हे भगवन् इन्द्रिय विजय और कषाय निग्रह करने के अनन्तर मेरा क्या कर्त्तव्य है ?

उत्तर—हे क्षपक ! इन्द्रिय पर विजय और कषाय का निग्रह करके तुम ऋद्धिगारव, रसगारव और सातगारव को जीतो। उसके पश्चात् राग द्वेष का मर्दन कर आलोचना शुद्धि करो। राग द्वेष असत्य वचन के जनक हैं इसलिए उनका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। तथा राग भाव स मनुष्य के दोष दृष्टि गोचर नहीं होते हैं। और द्वेष वश वह सद्गुणों का ग्रहण नहीं करता है। जिसको अपने अपराधों (दोषों) का त्याग और सद्गुणों का ग्रहण करने की अभिलाषा है जो अपने आत्मा स कषाय मल धोना चाहता है, उसे राग द्वेष को तिलाञ्जलि देकर अपना कार्य स पन्न करना चाहिए।

प्रश्न—यहां क्षपक गुरु महाराज के प्रति कहता है कि हे गुरुदेव ! मेरे व्रतों मे अतिचार उत्पन्न नहीं हुए अत में अपने अपराधों की आलोचना कैसे करू ?

उत्तर—हे क्षपक ! प्रायश्चित शास्त्रों के वेत्ता छत्तीस गुणक धारक आचार्य जो भी आत्म शुद्धि के लिए अन्य आचार्यों के निकट

अपराधों की आलोचना करनी पड़ती है। बिना आलोचना के रत्नत्रय में लगे दोष शुद्ध नहीं होते हैं।

प्रश्न—आचार्यों के छत्तीस गुण कौन २ से हैं?

उत्तर—आचार्य के छत्तीस गुण के विषय में भगवती आराधना में संस्कृत विजयोदया टीका आठ ज्ञानाचार आठ दर्शनाचार बारह प्रकार के तप पांच समिति और तीन गुप्ति इस प्रकार छत्तीस गुण वर्णन करती है। तथा प्राकृत टीका में साधु के अठाईस मूल गुण और आचारवान् आधारवान् आदि आठ गुण इस प्रकार छत्तीस गुण प्रतिपादन किये गये हैं। दूसरी जगह दश आलोचना गुण दश प्रायश्चित गुण दश स्थिति कल्प और छह जीत गुण इस प्रकार छत्तीस गुण बताये हैं।

आचार्य के छत्तीस गुणों का निरूपण करने वाली भगवती आराधना में एक गाथा जो है वह निम्न प्रकार है—

आयारवमादीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो।
बारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुणेयव्वा ॥ ५२६ ॥ भग आ

अर्थ—आचारवान् आदि आठ गुण दश प्रकार का स्थित कल्प बारह प्रकार का तपश्चरण और छह आवश्यक ये आचार्य के छत्तीस गुण हैं।

इस गाथा को श्री पंडित प्रवर आशाधरजी ने प्रक्षिप्त बताया है।

समस्त तीर्थंकर अनन्त केवली तथा सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायों पर विजय पाने वाले आचार्य उपाध्याय और सब साधुओं की आज्ञा भी यही है कि आचार्य के समीप अपने अपराधों का निवेदन कर उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित से शुद्धि होती है। इसलिए छद्मस्थ मुनियों को आचार्य के निकट आलोचना कर प्रायश्चित का आचरण करना उचित है।

प्रायश्चित्तादि का ज्ञाता अपराधों को दूसरों को क्यों कहे?

प्रश्न—जो साधु अतिचारों के निवारण का क्रम नहीं जानता है उस तो दूसरों को अपने अतिचार निवेदन करना चाहिए किन्तु जो अपराधों के प्रायश्चित का स्वयं ज्ञाता है, वह अपने अपराध दूसरों को क्यों कहे और उनके द्वारा दिये हुए प्रायश्चित का आचरण क्यों करे?

उत्तर—जैसे उत्तम वैद्य या चिकित्सक भी अपने रोग या व्याधि की उत्पत्ति के कारण चिह्न व चिकित्सा तथा पुनरुत्पत्ति के निरोध करने में प्रवीण होने पर भी उसकी चिकित्सादि दूसरों से ही करवाता है उसको अपने रोग या व्याधि का हाल कहकर उससे चिकित्सा करने की प्रार्थना करता है वैसे ही प्रायश्चित के ज्ञाता मुनीश्वर को भी अपनी उत्तम विशुद्धि करने के लिए आत्मसाक्षी और पर साक्षी से प्रायश्चित लेना चाहिए। इसी को उत्कृष्ट विशुद्धि माना है।

"प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्त तस्य मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमितीरितम् ॥"

अर्थ—प्राय शब्द का अर्थ लोक (लोग) है और उसके मनको चित्त कहा है। लोगों के चित्त को निर्मल करने वाले कर्म को प्रायश्चित कहते हैं। अर्थात् परसाक्षी से अपराध का दण्ड लेने पर लोग समझते हैं कि इसने आत्म-विशुद्धि की है। अर्थात् आचार्यादि विज्ञ मुनीश्वरों के द्वारा दिये गये दण्ड रूप प्रायश्चित से ही आत्म-शुद्धि होती है।

यदि प्रायश्चित शास्त्रों के रहस्य वेत्ता किसी मुनिश्रेष्ठ या आचार्य को अपने आप प्रायश्चित लेते हुए देखेंगे तो दूसरे मुनि भी अपने आप प्रायश्चित लेने लगेंगे क्योंकि प्रायः लोग गतानुगतिक होते हैं। इस प्रकार प्रवृत्ति होजाने पर मार्ग मलीन हो जायगा आत्म-विशुद्धि का मार्ग लुप्त हो जायगा। इसलिए परसाक्षी से प्रायश्चित करने का आगमानुमोदित (जिनोक्त) मार्ग है। कहा है—

तम्हा पव्वज्जादी दंसणणाणचरणादिचारो जो।
तं सव्वं आलोचेहिं णिरवसेसं पणिहिदप्पा ॥ ५३ ॥ भग० आ०

अर्थ—हे क्षपक! आत्म-विशुद्धि परसाक्षी से प्रायश्चित का आचरण करने से ही होती है इसलिए सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र में दीक्षा काल से लेकर आज तक जो अपराध हुए हों उन सब दोषों की एकाग्रचित्त होकर गुरु के निकट परिपूर्ण आलोचना करो।

आलोचना का स्वरूप और भेद

प्रश्न—परिपूर्ण आलोचना किसे कहते हैं?

उत्तर—मन से, वचन से और काय से अमुक देश में अमुक काल में अमुक भाव से जो दोष जिस प्रकार हुए हों उनका गुरु के

निकट सरल चित्त होकर ज्यों के त्यों निवेदन करने को परिपूर्ण आलोचना कहते हैं।

आलोचना दो प्रकार की होती है। एक सामान्यालोचना और दूसरी विशेषालोचना।

सामान्य आलोचना—जिसको मूल प्रायश्चित आता है। अर्थात् व्रतभंगादि महा अपराध करने पर दीक्षा का छेदन कर जिसको नवीन मुनि दीक्षा दी जाती है वह मुनि दोषों की सामान्य आलोचना करता है। हे भगवन्! मुझसे अमुक व्रत का भंग या मिथ्यात्व का सेवन हुआ है। इस प्रकार सामान्य रूप से अपराध का निवेदन करता है। यथा —

ओघेन भाषतेऽनल्पदोषो वा सर्वघातक।
इत प्रभृति वांछामि त्वत्तोऽहं सयम गुरो ॥ ५५४ ॥ (भग आ सं)

अर्थ—हे गुरुदेव! मुनि धर्म का घातक व्रत भंग या मिथ्यात्व सेवन रूप महान् अपराध मुझ से होगया है। हे स्वामिन्! मैं आपसे नवीन दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ। इसलिए आज मुझे नव दीक्षित कीजिए।

प्रश्न—विशेष आलोचना किसे कहते हैं?

उत्तर—जिस काल में जिस देश मे जिस परिणाम से जिस प्रकार अपराध हुआ हो उसका उसी प्रकार निःशल्य रूप से निवेदन करना विशेष आलोचना है।

तात्पर्य यह है कि मन वचन काय से जिस समय जिस जगह जाने अनजाने स्ववश या परवश होकर जो अपराध हुआ हो उसको शल्य निकालकर निवेदन करने से ही आलोचना शुद्ध मानी गई है। शल्य रखकर जो आलोचना की जाती है वह आत्म-शुद्धि का कारण नहीं होती है। जैसे जिसके हस्तपाद आदि में कांटा लगा है वह दुःख से पीडित रहता है उसके सम्पूर्ण शरीर में वेदना होती है। वैसे ही जिसके अन्तःकरण में मायाशल्य है वह सम्यक्त्वादि मे लगे हुए दोषों का प्रकाशन भली भांति न करने के कारण छिपाये हुए दोष से मलीन चित्त रहता है। वह दोष रूपी दुःख उसकी आत्मा को सदा दुःखी रखता है। जब वह अपने दोष को साफ साफ गुरु के निकट निवेदन कर देता है उसका चित्त निर्दोष हो जाने से आनन्द का अनुभव करने लगता है।

शल्य के भेद

प्रश्न—शल्य के कितने भेद हैं? इसका भी निरूपण यदि स्पष्ट कर दिया जावे तो ठीक हो।

उत्तर—शल्य के दो भेद हैं-भावशल्य और द्रव्यशल्य।

प्रश्न—भावशल्य किस कहते हैं ?

उत्तर—आत्मा को दु ख देने वाले भाव को भावशल्य कहते हैं।

प्रश्न—भावशल्य कितने हैं ?

उत्तर—भावशल्य तीन हैं १ मायाशल्य २ मिथ्यात्वशल्य और ३ निदानशल्य। तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्र और तप को मलिन करने वाले भावों को भावशल्य कहते हैं।

दर्शनशल्य—शङ्काकाक्षादि सम्यग्दर्शन के दोषों को दर्शन शल्य कहते हैं।

ज्ञानशल्य—अकाल में सूत्रों का अध्ययन व अविनयादि को ज्ञानशल्य कहते हैं।

चारित्रशल्य—समिति और गुप्ति के आचरण में अनादर करने को चारित्रशल्य कहते हैं।

तप शल्य—अनशनादि तप में अतिचार लगाने को तप शल्य कहते हैं। तप का चारित्र में अन्तर्भाव होता है; इसलिए दर्शन-शल्य ज्ञानशल्य और चारित्रशल्य इस प्रकार शल्य के तीन भेद ही होते हैं।

प्रश्न—द्रव्यशल्य कितने प्रकार का है ?

उत्तर—द्रव्यशल्य भी तीन प्रकार का है। १ सचित्त द्रव्यशल्य २ अचित्त द्रव्यशल्य और ३ मिश्र द्रव्यशल्य।

सचित्तद्रव्यशल्य—दासादि सचित्त द्रव्य शल्य हैं।

अचित्तद्रव्यशल्य—सुवर्ण रजतादि पदार्थ अचित्त द्रव्यशल्य हैं।

मिश्रद्रव्यशल्य—ग्रामादि मिश्रद्रव्यशल्य हैं।

ये सब द्रव्यशल्य चारित्राचार सम्बन्धी भाव शल्य के कारण हैं। क्योंकि इनके निमित्त से चारित्र में दोष उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न—भावशल्य का उद्धार न करने से अर्थात् भावशल्य का त्याग न करने से क्या हानि होती है?

उत्तर—जैसे कांटा बाण की नोक आदि द्रव्यशल्य शरीर के भीतर जब तक रहते हैं तब तक सुख की सामग्री के उपस्थित रहते हुए भी प्राणी को सुख नहीं होता है वैसे ही भय, लज्जा व प्रमाद का जनक भावशल्य (माया मिथ्या निदान) आत्मा से जब तक पृथक् नहीं होता है तब तक उसे मलीन करता रहता है और सम्यग्दर्शनादि की आराधना में बाधक होता है द्रव्यशल्य एक जन्म में ही दुःख देता है परन्तु भावशल्य जन्म-जन्मान्तर में दारुण दुःख का जनक होता है।

इसलिए आचार्यों ने आराधना की सिद्धि के लिए अतिचारों का तत्काल शोधन करने का उपदेश दिया है। आज अपराध उत्पन्न हुआ है उसका शोधन करने के लिए उसी क्षण गुरु के निकट निवेदन करना चाहिए। कल परसों या परले दिन गुरु के चरणों में जाकर निवेदन करूंगा ऐसा विचार करना उचित नहीं है। आयुष्य कितना शेष रहा है इसको किसको ज्ञान है? न जाने आयु का अन्तिम क्षण अति निकट आ लगा हो और दोषों की आलोचना किये बिना यदि मरण हो गया और शल्य सहित अवस्था में आयु का बन्ध हुआ तो मायाशल्य के कारण तिर्यञ्च आयु का बन्ध होगा। अतः दोष के होते ही उसको गुरु के निकट आलोचना कर गुरु प्रदत्त प्रायश्चित्त का आचरण कर शुद्ध हो जाना चाहिए। क्योंकि रोग शत्रु और दोषों की उपेक्षा करने से वे बद्धमूल हो जाते हैं। जब उनकी जड़ जम जाती है तब उनका उच्छेद करना जड़ से उखाड़ फेंकना अति कठिन हो जाता है। अथवा बहुत दिन बीत जाने पर अतिचार का विस्मरण हो जाता है। तथा उसके काल (सन्ध्या रात्रि या दिनादि) का ठीक स्मरण नहीं रहता है। वैसे ही क्षेत्र भाव और अतिचार के कारण का भी यथार्थ ज्ञान नहीं रहता है। अर्थात् बहुत समय बीत जाने पर आचार्य के पूछने पर शिष्य अतिचार का द्रव्य क्षेत्र काल भाव और कारण यथार्थ निवेदन नहीं कर सकते हैं। इसलिए अतिचार के होते ही अवसर पाकर गुरु के निकट दोषों की आलोचना कर लेना चाहिए। काल बीतने पर मायाशल्य अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर आत्मा को उसकी आलोचना से विमुख कर देती है।

प्रश्न—अतिचार का शोधन किये बिना मरजाने से क्या हानि है।

उत्तर—जो क्षपक राग या द्वेष के वश होकर दोषों की आलोचना किये बिना मरण करते हैं। वे दुःख रूपी शल्यों से परिपूर्ण इस संसार कान्तार (वन) में परिभ्रमण करते हैं। कहा है —

रागद्वेषादिभिर्भग्ना ये म्रियन्ते सशल्यका ।
दु खशल्याकुले भीमे भवारण्ये भ्रमन्ति ते ॥ ५६४ ॥ (स भग आ)

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र सम्बन्धी दोष दु ख के उत्पन्न करने वाले हैं। इसलिए ऋद्धि गौरव रस गौरव और सात गौरव स रहित होकर सम्यग्दर्शनादि का निरतिचार पालन करना ही दु खों के विनाश का कारण है।

जह बालो जपन्तो कज्जमकज्जं व उज्जुअं भणइ।
तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूण ॥ ५४७ ॥ भग आ

अर्थ—जिस प्रकार भय मान असत्य और माया रहित हुआ बालक सरल हृदय से अपने पिता के सामने अपने भले बुरे कार्य का स्पष्ट रूप स निवेदन करता है उसी प्रकार साधु को भी भय-मान-लज्जा और असत्य का परित्याग कर सरल स्वभाव होकर अपने कृत्यों अकृत्यों की स्पष्ट आलोचना गुरु क समीप ज्यों की त्यों करनी चाहिए।

इस प्रकार आलोचना सम्बन्धी उपदेश को सुनकर समाधिमरण का अभिलाषी भिक्षु हर्षातिरेक से रोमाचित हो जाता है।

क्षपक कायोत्सर्ग कैसे करे ?

पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुत्तो व कुणदि एगंते।
आलोयणपत्तीय काउस्सग्गं अणाबाधे ॥ ५५० ॥ भग आ

अर्थ—क्षपक आलोचना की निर्विघ्न प्राप्ति के लिए पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके अथवा जिन प्रतिमा के सम्मुख खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है। कायोत्सर्ग में अपने पूर्व उत्पन्न हुए दोषों को याद करता है। यह कायोत्सर्ग बाधारहित एकान्त में तथा मार्ग छोड़ कर करता है। क्योंकि जन समूह में तथा अपने आने के मार्ग में कायोत्सर्ग करने स चित्त एकाग्र न होने के कारण दोषों का स्मरण करने मे बाधा उपस्थित होती है। प्राकृत टीका में कायोत्सर्ग का सामायिक दंडक स्तुति पूर्वक बृहत् सिद्ध भक्ति करके बैठकर सिद्ध-भक्ति करना ऐसा अर्थ किया है। गुरु आम्नाय भेद से समाचार विधि में कहीं २ भेद हो जाता है।

आलोचना के लिए कालवादि का विधान

प्रश्न—कायोत्सर्ग कर दोषों का स्मरण करने के पश्चात् क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—उक्त प्रकार सरल स्वभाव को प्राप्त हुआ क्षपक तीन बार दोषों का स्मरण कर विशुद्ध लेश्या धारण करता हुआ अतिचारों का उद्धार करने के निमित्त आचार्य महाराज के निकट गमन करता है।

उज्ज्वल परिणाम वाले उस क्षपक की आलोचना प्रतिक्रमणादि क्रियाएं दिन में और शुद्ध स्थान में होती हैं। दिन के पूर्वभाग (प्रथम पहर) में या अपराह्न (दिन के तीसरे पहर) में सौम्य तिथि सौम्य नक्षत्र और शुभ काल में होती है। आशय यह है कि आलोचना के लिए परिणामों की शुद्धि के साथ क्षेत्र (स्थान) कालादि की शुद्धि का भी ध्यान रखा जाता है।

प्रश्न—आलोचना के लिए प्रशस्त स्थान होना आवश्यक माना गया है तो कौन स्थान प्रशस्त है और कौन अप्रशस्त है ? इनका विवेचन करना चाहिए। प्रथम अप्रशस्त स्थानों का विवेचन कीजिए ?

उत्तर—जो स्थान पत्रयुक्त वृक्षों से हीन हो कटकाकीर्ण हो बिजली गिरने से जो फट गया हो जहां सूखे वृक्ष हों जो कटु रस फल तथा जला हुआ हो शून्य घर या रुद्र का मन्दिर हो जहां पत्थरों या पाषाणों के ढेर हों। जिसमें तृण सूखे पत्ते और काठ के पुंज हों जहां राख हो हो अपवित्र वस्तुओं से युक्त भूमि तथा श्मशान भूमि हो जहां पर टूटे फूटे वर्तन तथा गिरे पड़े मकान हों चण्डिका भवानी आदि क्षुद्र देवताओं के स्थान हों ये सब वर्जनीय माने गये हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे ही अन्य अशुभ स्थान आलोचना के अयोग्य अप्रशस्त कहे गये हैं। क्योंकि ये स्थान आलोचना करने वाले साधु और सुनने वाले आचार्य के असमाधान के कारण हैं। इन स्थानों में आलोचना करने में क्षपक के कार्य की सिद्धि नहीं होती है। इसलिए आचार्य ऐसे स्थानों में क्षपक की आलोचना नहीं सुनते हैं।

प्रश्न—आलोचना के लिए कौन से स्थान प्रशस्त माने गये हैं जहां पर आचार्य क्षपक की आलोचना सुनते हैं।

उत्तर—अरहंत और सिद्ध चैत्यालय समुद्र तथा तालाब आदि जलाशय के समीपवर्ती स्थान जहां वट वृक्ष अशोकादि के वृक्ष तथा पुष्पों या फलों से भरे हुए वृक्ष हों ऐसे स्थान उद्यान व अन्य सुखकर स्थान क्षपक की आलोचना सुनने के योग्य प्रशस्त माने गये हैं।

प्रश्न—आचार्य किस प्रकार बैठकर क्षपक की आलोचना सुनते हैं ?

उत्तर—पूर्व दिशा तथा उत्तर दिशा की ओर मुख करके तथा चैत्य (जिन प्रतिमा) अथवा जिनालय के सम्मुख एकान्त में बैठकर आचार्य एक क्षपक की आलोचना सुनते हैं।

प्रश्न—अन्धकार को दूर कर जगत् में प्रकाश करने वाले सूर्य का उदय पूर्व दिशा में होता है, अतः वह दिशा उदय दिशा कही जाती है। कार्य की उन्नति का अभिलाषी मनुष्य पूर्व दिशा की ओर मुख करके कार्य करता है। स्वयंप्रभादि तीर्थंकर विदेह क्षेत्र में विराजमान हैं ऐसा चित्त मे विचार करके उनकी तरफ मुख करने से मेरे कार्य की सिद्धि होगी इस अभिप्राय से उत्तराभिमुख होकर कार्य प्रारम्भ करता है तथा जिन प्रतिमा के सामने मुख करके स्थित होने से परिणामों में निर्मलता आती है और वह निर्मलता पुण्य की वृद्धि करके प्रारब्ध कार्य की सिद्धि में कारण होता है। किन्तु आचार्य को कौनसा कार्य सिद्ध करना है जो पूर्व दिशा उत्तर दिशा या जिन प्रतिमा की तरफ मुख करके बैठते हैं ?

उत्तर—आचार्य क्षपक की आलोचना सुनकर भविष्य में दिये जाने वाले प्रायश्चित्त रूप कार्य की निर्विघ्न समाप्ति हो ऐसी क्षपक के लिए शुभ कामना धारण कर उत्तर या पूर्व दिशा के सम्मुख अथवा जिन प्रतिमा के सामने मुख करके बैठते हैं।

प्रश्न—जब आचार्य आलोचना सुनने के लिए निर्व्याकुल चित हो कर बैठते हैं उस समय गुरु या पूज्य पुरुष रहें तो क्या हानि होती है ?

उत्तर—अन्य व्यक्तियों के उस समय वहां उपस्थित रहने से आचार्य का चित्त एकाग्र नहीं रहने से क्षपक के प्रति अनादर भाव प्रकट होता है। दूसरी बात यह है कि अनेक पुरुष सुनने वाले होंगे तो क्षपक के अन्तःकरण में लज्जा उत्पन्न होगी जिससे वह अपने दोषों को स्पष्ट निवेदन करने का इच्छुक होता हुआ भी मन में खेदखिन्न होगा और सब अपराध को स्पष्ट न कह सकेगा। इसलिए आलोचना के समय एकाकी आचार्य ही श्रोता होना चाहिए। आगम में भी यही बताया है कि आलोचना सुनने के लिए आचार्य के सिवा अन्य न रहें। आलोचना को गुप्त रखने की आज्ञा है। यदि अनेक सुनने वाले होंगे तो वह गुप्त नहीं रह सकती। कहा है—

षट्कर्णोभिद्यते मन्त्रः छह कर्णों में गई हुई गुप्त बात अवश्य प्रकट हुए बिना नहीं रहती है। इसलिए आगम में एकाकी आचार्य को एकान्त मे एक क्षपक की आलोचना सुनने के लिए कहा है।

प्रश्न—क्षपक जब गुरु के निकट आलोचना करने के लिए उपस्थित हो उस समय उसको क्या करना चाहिए। वह किस विधि से आलोचना प्रारम्भ करे ? उस विधि पर प्रकाश डालने की कृपा करें ?

उत्तर—आलोचना करने वाला क्षपक प्रथम गुरु आचार्य की वन्दना करे। वह वन्दना सिद्ध भक्ति और योग भक्ति पढ़कर करे ऐसा वृद्धाचार्यों का मत है। श्री चन्द्राचार्य तो सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़कर वन्दना करना कहते हैं। वन्दना कर चुकने के बाद दक्षिण पार्श्व (दाहिनी बगल) में पिच्छी लेकर भाल प्रदेश में दोनों हाथ जोड़ कर मन वचन और काय से शुद्ध हुआ आगमोक्त दोषों से रहित आलोचना करे।

आलोचना के दस दोष

प्रश्न—आलोचना के दश दोष कौन से हैं ?

उत्तर—आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च। छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सवी ॥ ५ २ ॥ [ग आ]

१ आकम्पित २ अनुमानित ३ दृष्ट ४ बादर ५ सूक्ष्म ६ छन्न ७ शब्दाकुलित ८ बहुजन ९ अव्यक्त और १० तत्सवी ये आलोचना के दश दोष हैं। इनका संक्षिप्त सा वर्णन तो पहले कर आये हैं फिर भी थोड़ा सा खुलासा कर दिया जाता है।

(१) आकम्पित दोष—शिक्षा प्राप्त होने के कारण स्वयं प्रवर्तक बनकर आचार्य महाराज की उद्गमादि समस्त दोष रहित आहार जल से वैयावृत्य करके तथा उनको निर्दोष पिच्छी कमण्डलु पुस्तकादि उपकरण देकर विशेष विनयादि पूर्वक वन्दनादि कृतिकर्म करके गुरु के अन्तःकरण में अपने विषय में करुणा उत्पन्न करने के पश्चात् अपने दोषों का आलोचना करना यह आकम्पित दोष है।

आलोचक शिष्य का गुरु के चित्त में अनुकम्पा उत्पन्न करने का अभिप्राय यह है कि गुरु आहारादि द्वारा उचित वैयावृत्य से सन्तुष्ट होकर मुझे गुरुतर प्रायश्चित्त न देंगे लघु प्रायश्चित्त देंगे इसलिए मैं सूक्ष्म और स्थूल सब अपराधों का निवेदन कर सकूंगा। मेरी सम्पूर्ण दोषों की आलोचना भी हो जावेगी और महान प्रायश्चित्त से बच जाऊंगा। इस प्रकार शिष्य गुरु को आहारादि लोभ का असद्दोषारोपण कर मानसिक अविनय का आचरण करता है। तथा अपने अन्तःकरण में मायाचार की उत्पत्ति करता है। अतः यह सदोष आलोचना मानी गई है।

(२) अनुमानित दोष—शिथिलाचार का पालक सुखिया साधु गुरु से प्रार्थना करता है —हे भगवन्! धीर पुरुषों से आचरण किये गये सब प्रकार के तप जो मुनि करते हैं वे भाग्यवान हैं धन्य हैं और महात्मा हैं। इस प्रकार अपनी धार्मिकता प्रकट करता हुआ कहता है —हे दयालो! मुझ में जितना शारीरिक बल है वह आप से छिपा नहीं है। मेरी जठराग्नि अति दुर्बल है। मैं सदा किसी न किसी रोग से ग्रस्त रहता हूँ इसलिए मैं उत्कृष्ट तप का आचरण करने में असमर्थ हूँ यदि आप मुझ पर अनुग्रह कर अल्प प्रायश्चित्त देंगे तो मैं अपने समस्त

अपराधों को निवेदन करूंगा और आपकी महती कृपा से सब दोषों से रहित होकर शुद्ध हो जाऊंगा।

ऐसा कहकर और गुरु मुझे अल्प प्रायश्चित देंगे ऐसा अनुमान ज्ञान से जानकर पश्चात् जो मुनि अपने अपराधों की आलोचना करता है उसके अनुमानित दोष होता है।

यह आलोचना परिणाम में उस प्रकार दुःख देने वाली है जैसे सुखाभिलाषी दुःख देने वाले अपथ्य आहार का सेवन कर उसे सुख देने वाला समझता है किन्तु वह परिणाम में दुःख प्रद होता है। अर्थात् उक्त आलोचना से रत्नत्रय की शुद्धि कदापि नहीं होती है। जैसे अपथ्य आहार से सुख की प्राप्ति नहीं होती।

(३) दृष्ट दोष—किसी ने देखे हों या न देखे हों सम्पूर्ण दोषों को निष्कपट भाव से गुरु के समीप निवेदन करना चाहिए। किन्तु ऐसा न कर जो मुनि उन्हीं दोषों को गुरु के निकट प्रकाशित करता है, जिनको दूसरों ने देख लिया है उसे दृष्ट दोष कहते हैं।

जैसे—बालु रेत के मैदान में किसी मनुष्य ने खड्डा खोदने का प्रयास किया। किन्तु वह खड्डा खोदते खोदते ही बालु रेत से भर गया। खोदने वाले का परिश्रम व्यर्थ हुआ। उसी प्रकार जो पुरुष प्रथम मायाशल्य से रहित होकर आलोचना करने के लिए उद्यत हुआ और पश्चात् माया का आश्रय लेकर अदृष्ट दोषों को छिपा कर केवल दृष्ट दोषों का प्रकाशन करने लगा उसके अन्तःकरण में मायाशल्य ज्यों का त्यों बना रहने के कारण वह रत्नत्रय की शुद्धि से वंचित रहता है।

(४) बादर दोष—जो साधु स्थूल (बड़े) दोषों का तो गुरु के निकट प्रकाशन करता है और सूक्ष्म दोषों को छिपाता है वह जिनेन्द्र भगवान् के वचनों की अवहेलना करता है इसलिए वह दोषी होता है। क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश स्थूल और सूक्ष्म दोषों को गुरु के पादपद्म में निवेदन करने का है। उसका पालन न कर केवल बादर दोषों का प्रकाश करने वाला बादर दोष नामक दोष से दूषित माना गया है।

जैसे कांस का कलश ऊपर से स्वच्छ होने पर भी भीतर से नीला होने से मलीन होता है वैसे ही इस आलोचना करने वाले के अन्तरङ्ग में माया दोष विद्यमान होने से उसकी आलोचना सदोष होती है।

(५) सूक्ष्म दोष—जो साधु भय गर्व और माया से सूक्ष्म दोषों को छिपा कर स्थूल दोषों का निवेदन करता है वह आलोचना के सूक्ष्म नामक दोष से दूषित माना गया है।

प्रश्न—सूक्ष्म दोष कौन से हैं ?

उत्तर—उठने बैठने सोने सम्तर बिछाने गमनादि से उत्पन्न हुए दोष सूक्ष्म दोष हैं। इन दोषों को गुरु के निकट प्रकट करते समय शिष्य कहता है। हे भगवन्! जिस भूमि में ओस आदि बहुत थी उस भूमि पर ईर्या समिति में चित्त सावधान करके न चला सका था। पिच्छिका से भूमि का मार्जन(शोधन) किये बिना बैठ गया था सोया था करवट बदली थी और खड़ा हो गया था। उचित काल में मैंने सामायिकादि आवश्यक का पालन नहीं किया था। जल से शरीरादि का स्पर्श किया था। मैं सचित्त रज पर बैठा था खड़ा हुआ था सो गया था। धूलि से भरे हुए पावों से जल में प्रवेश किया था। जल से गीले पावों से मैंने धूलि में प्रवेश किया था। आठ या नव मास की गर्भिणी स्त्री से मैंने आहार लिया था। रोते हुए या स्तन पान करते हुए बालक को छोड़ कर आई हुई स्त्री ने मुझे आहार दिया था। इत्यादि सूक्ष्म दोषों का निवेदन करता है।

इस प्रकार छोटे २ दोषों को प्रकट कर स्थूल (बड़े २) दोषों को छिपाता है। बड़े दोष यदि प्रकट कर दूंगा तो आचार्य मुझे महान् प्रायश्चित्त देंगे इस भय से अथवा मेरा परित्याग कर बैठेंगे इस भय से स्थूल दोषों को प्रकट नहीं करता है। सूक्ष्म दोषों को प्रकाशित करने और स्थूल दोषों को छिपाने के कारण उसका कपट स्वभाव स्पष्ट होता है। मैं सङ्घ के सब मुनियों से निर्दोष चारित्र का पालन करने वाला हूँ इस अभिमान से स्थूल दोषों को व्यक्त नहीं करता है वह सूक्ष्म दोष का भागी माना गया है

(६) प्रच्छन्न दोष—मुझे अमुक अतिचार या अनाचारजन्य अपराध हुआ है ऐसा स्पष्ट न कहकर आचार्य से पूछता है। अहो गुरु महाराज! यदि किसी मुनि के अठाईस मूलगुणों में या अनशनादि तप उत्तर गुणों में एवं अहिंसादि महाव्रत में अतिचार लग जावे तो उसको कौनसा प्रायश्चित दिया जाता है ? वह किस उपाय से शुद्ध हो सकता है ? इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से पूछता है। गुरु महाराज से गुप्त रूप से पूछकर अपनी शुद्धि कर लेना चाहता है। यह प्रच्छन्न नामक आलोचना का छठा दोष है।

शङ्का—अपराध की शुद्धि उचित प्रायश्चित के आचरण से होती है। किसी प्रकार गुरु महाराज से अपने दोष की शुद्धि करने वाले प्रायश्चित को जानकर यदि वह उस प्रायश्चित को ठीक तरह आचरण करता है तो उसकी शुद्धि कैसे नहीं मानी जा सकती है ?

समाधान—दोष की शुद्धि करने के लिए निष्कपट भाव से गुरु महाराज के सामने अपने दोषों की यथार्थ आलोचना करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रच्छन्न रूप से मायाचार द्वारा गुरु महाराज से अपराध का प्रायश्चित पूछकर उसका आचरण किया है। उसके हृदय से माया भाव नहीं निकला है। अतः उसकी शुद्धि होना असंभव है अतः इसे दोष ही माना गया है।

(७) शब्दाकुल दोष—सम्पूर्ण मुनि मिलकर पाक्षिक चातुर्मासिक मात्र सरिक या वार्षिक दोषों की आलोचना कर रहे हों उस समय महान् कोलाहल होता है। ऐसे अवसर को पाकर अपनी इच्छानुसार दोषों की आलोचना करना वह शब्दाकुल दोष है।

क्योंकि कोलाहल में जब गुरु उसके अपराध को स्पष्ट नहीं सुन पाते हैं उस समय अपराध कह सुनाने से गुरु उसको यथार्थ प्रायश्चित देने में समर्थ नहीं हो सकते हैं इसलिए यह शब्दाकुल नामक दोष माना गया है।

(८) बहुजन दोष—निमन प्रत्याख्यान नामक नवमे अङ्ग का अध्ययन किया है तथा अङ्ग बाह्य में कल्प नामक प्रकरण है उसका और शेष अङ्गों में तथा प्रकरणों में जहां जहां प्रायश्चित का निरूपण आया है उन सबका मनन किया है, उस आचार्य के द्वारा अर्थात् उपलक्ष्य सब प्रायश्चित ग्रन्थों के ज्ञाता आचार्य के द्वारा दिये गये प्रायश्चित पर विश्वास न करके यदि कोई मुनि अन्य आचार्यों से उस प्रायश्चित के औचित्य या अनौचित्य के विषय में पूछे तो वह बहुजन दोष माना गया है।

(९) अव्यक्त दोष—जो मुनि आगमज्ञान से शून्य है वह आगम बाल है तथा जो चारित्र से हीन है वह चारित्र बाल है। उस ज्ञान चारित्र हीन मुनि के सम्मुख अपने अपराधों की आलोचना करने वाले को आलोचना का अव्यक्त नामक दोष होता है। यद्यपि आलोचक ने मन वचन काय से कृत कारित और अनुमोदना जन्य सब अपराधों का आलोचना की है तथापि उसकी आलोचना निष्फल है क्योंकि आगम बाल या चारित्र बाल आचार्य से उचित प्रायश्चित द्वारा अपराधों की शुद्धि नहीं हो सकती है। अतः इसे अव्यक्त दोष कहा है।

(१०) तत्सवी दोष—यह पार्श्वस्थ (भ्रष्ट मुनि) मेरे सुखिया स्वभाव को तथा मेरे सब दोषों को जानता है। यह भी मेरे समान दोषी है इसलिए मुझे यह महान् प्रायश्चित न देगा ऐसा विचार कर जो पार्श्वस्थ (भ्रष्ट मुनि) के निकट जाकर अपने सब अपराधों की आलोचना करता है उसको तत्सवी नाम का दोष होता है।

जैसे—रुधिर से भीगी वस्त्र रुधिर में धोने पर शुद्ध नहीं होता है वैसे ही दोष सहित पतित मुनि के पास आलोचना करके कोई मुनि अपने अपराध से मुक्त नहीं होता है। क्योंकि रुधिर वस्त्र स्वच्छ जल से धोने पर ही शुद्ध होता है। वैसे ही दोषों का निवारण निर्मल चारित्र के धारक आचार्य के पाद मूल में आलोचना करके उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित का आचरण करने से ही हो सकता है। अन्यथा नहीं होता। इसलिए हे क्षपक ! जो मुनि जिनप्रणीत आगम के वचनों का लोप करते हैं और दुष्कर पाप का आचरण करते हैं उनका मोक्ष अनन्त काल में भी जैसे नहीं होता है वैसे ही जो मुनि अन्तःकरण में मायाशल्य रखकर अपने दोषों की आलोचना करते हैं, उनको भी मोक्ष की प्राप्ति अत्यन्त दूर है।

अतएव मुनियों का कर्तव्य है कि भय माया मृषा मान और लज्जा का परित्याग कर उक्त दश दोषों से रहित आलोचना करे। क्योंकि दूषित आलोचना आत्मा को निर्दोष बनाने में समर्थ नहीं होती है।

साधु किन २ दोषों की कैसे आलोचना करें?

प्रश्न—साधु किन २ दोषों की किस प्रकार आलोचना करे?

उत्तर—पृथ्वीकाय जलकाय अग्निकाय वायुकाय वनस्पतिकाय द्वीन्द्रिय तीनइन्द्रिय चौइन्द्रिय और पचेन्द्रिय इन जीवों में से जिसकी विराधना हुई हो उनकी आलोचना करे।

पृथ्वी काय जीव अनेक प्रकार के हैं—जैसे मिट्टी पाषाण शर्करा (कंकर) बालुरेत नमक अभ्रक आदि अनेक भेद हैं। उनको खोदने हलादि से विदारण करने जलाने फोड़ने मोड़ने पटकने फेंकने आदि में से मैंने अमुक पाप किया है।

जल कायिक जीवों के भी पानी बर्फ ओस ओले आदि अनेक भेद हैं। उनका पान करने उसमें स्नान करने कूदने तैरने हाथ पैरों से या शरीर से मर्दन करने वगैरह से मैंने उनका अमुक प्रकार से घात किया है।

अग्नि कायिक जीवों के ज्वाला दीपक जलती हुई लकड़ी आदि कई भेद हैं। उनके ऊपर मैंने पत्थर मिट्टी जल डालकर उनका विनाश किया है। अथवा पाषाण या लकड़ी आदि से पीटा है मर्दन किया है। इनके अतिरिक्त भी अनेक तरह के आरम्भ में से मैंने अमुक प्रकार से अग्नि कायिक जीवों को बाधा पहुंचाई है।

वायु कायिक जीवों के झंझावात मंडलिक आंधी आदि भेद हैं। जल वृष्टि सहित जो वायु बहती है उसे झंझावात कहते हैं। जो वायु गोलाकार भ्रमण करती हुई बहती है उसे मंडलिक वायु कहते हैं। तेज वायु को आंधी कहते हैं। इत्यादि प्रकार से बहने वाली वायु को मैंने पंखे से वस्त्र से सूप से प्रतिघात किया है वायु को किवाड़ छत्रादि से रोका है। इसी आदि से उसे सताया है बाधा पहुंचाई है। वायु के सम्मुख गमन किया है। इत्यादि प्रकारों में से जिस प्रकार से वायुकाय के जीवों को बाधा पहुंचाई हो उसका निवेदन करे।

वनस्पति कायिक जीव—साधारण (अनन्त कायिक नीलन फूलन काय आदि वनस्पति प्रत्येक वनस्पति वृक्षादि बीज वल्ली लता छोटे पौधे के समूह पुष्प फल तृणादि वनस्पति कायिक जीवों के अनेक भेद हैं। उनमें से अमुक को मैंने जलाया है या तोड़ा है। या उनका छेदन भेदन किया है? अथवा मर्दन मोटन (मरोड़ना) बंधन रौंदन आदि अनेक क्रियाओं में से अमुक द्वारा उनका घात किया

है। उनको बाधा पहुचाई है।

द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवों में से अमुक का अज्ञान व प्रमाद स जान या बिना जाने विघात किया है। या उनका छेदन भेदन ताड़न बन्धन किया है। उनको गति का निरोध कर सताया है। या गमनागमन करके उन्हें पीड़ा या बाधा पहुचाई है।

आहार उपकरण वसतिका का अङ्गीकार करते समय मुझ स उद्गम उत्पादन एषणा आदि अमुक २ दोष हुए हैं।

गृहस्थियों के कुंभ कलश सकोरा आदि भाजनों में से किसी भाजन में कोई वस्तु रखी या उन भाजनों में से किसी से कोई वस्तु ग्रहण की हो तो ये सब चारित्रातिचार हैं। क्योंकि इन पात्रों के भीतर स प्रतिलेखन (माजन) करना अत्यन्त कठिन है।

छोटी चौकी वेत्रासन खाट पलग इन पर बैठने स अपराध हुआ हो। क्योंकि इनमें अनेक छिद्र होते हैं। उनमें जो प्राणी निवास करते हैं वे नत्रों से दिखाई नहीं देते। यदि वे दिखाई दे तो उन्हें निकालना अशक्य होता है। इसलिए ऐसे छोटे चौकी वगैरह आसनों पर बैठने स अहिंसा व्रत में अतिचार उत्पन्न होता है। अथवा आहार के लिए श्रावक के घर जाकर वहा पर बैठना भी निषिद्ध है। क्योकि श्रावक के घर बैठने स ब्रह्मचय व्रत का विनाश हो सकता है। भोजनार्थी मनुष्यों के भोजन में विघ्न उपस्थित होता है। वे लोग मुनियों के समक्ष भोजन करने में सङ्कोच करते हैं। क्षुधादि स पीड़ित होने के कारण उनके मनमें संक्लेश उत्पन्न होता है। लोग कहने लगते हैं कि ये मुनि महिलाओं के बीच किस लिए बैठे हैं? आहार सम्पन्न हो जाने के अनन्तर यहां बैठे रहने की क्या आवश्यकता है? इनको यहा से अब तो चला जाना चाहिए? इत्यादि उनके अन्तःकरण में कोपावेश से दुर्विचार उत्पन्न होने लगते हैं।

स्नान करना उबटन लगाना मस्तकादि शरीर के अवयवों का प्रक्षालन करना इन क्रियाओं को बाकुस कहते हैं। ठंडे जल से या गर्म जल से स्नान करने पर आखों में अजन शरीर पर उबटन करने से शरीर पर स्थित प्राणी नष्ट होते हैं। तथा बिलों में रहने वाले प्राणी और भूमि के छोटे २ छेदों में निवास करने वाले कीड़े मकोड़े आदि जन्तु मृत्यु के मुख में प्रविष्ट होते हैं। इसलिए आगम में मुनियों के लिए स्नान का निषेध है। मुनियो को आजीवन यह घोर व्रत पालन करना परमावश्यक होता है। लोध्र आदि सुगंधित पदार्थों का उबटन भी मुनियों के लिए वर्जित है।

बिना दिये हुए पदार्थ का तथा रात्रि भोजन का त्याग मुनियों को रहता ही है। बिना आज्ञा के किसी वस्तु का ग्रहण करना क्या है मानो उस वस्तु के स्वामी के प्राणों का हरण करना है। क्योंकि धन प्राणियों का बाह्य प्राण है। जो दूसरों की वस्तु का हरण करता है उसको राजा दण्ड देते हैं।

रात्रि भोजन अनेक असयम का मूल कारण है । रात्रि में भोजन करने से त्रस और स्थावर जीवों का वध होता है । तथा जिसका त्याग किया उसका और अयोग्य वस्तु का भक्षण हो जाता है । रात्रि में दाता की परीक्षा नहीं हो सकती है । अपने हाथ में रखे हुए भोजन को हाथ से उच्छिष्ट भोजन जिस जगह गिरता है उस भूमि प्रदेश की तथा दाता के गमनागमन मार्ग की दाता के खड़े रहने तथा अपने खड़े रहने के प्रदेश की भली भांति देख भाल (यह जीव रहित है या जीव सहित है ऐसी जांच) नहीं कर सकते हैं । ऐसे अनेक दोष रात्रि भोजन करने से उत्पन्न होते हैं । इसलिए रात्रि में आहार ग्रहण करना सवथा निषिद्ध है । मैथुन सेवन परिग्रह धारण और असत्य भाषण आदि महा पापों के तो मुनि सवथा त्यागी होते ही हैं ।

सम्यग्दशन ज्ञान चारित्र तप और वीर्याचार में मन वचन काय द्वारा कृत कारित अनुमोदना से जो अतिचार उत्पन्न हुए हों उनकी मैं आलोचना करता हूँ ।

शङ्का काङ्क्षा आदि दोष सम्यग्दशन के अतीचार हैं । सम्यग्ज्ञान की क्या आवश्यकता है । तपश्चरण और चारित्र ही फल देने वाला है इसलिए उन्हीं का आचरण करना चाहिए। इस प्रकार मन से सम्यग्ज्ञान की अवज्ञा करना अथवा सम्यग्ज्ञान को मिथ्याज्ञान समझना व वचन से प्रकट करना मन से वचन से व काय से सम्यग्ज्ञान में अरुचि प्रकट करना मुह बिगाड़ कर मुह मोड़ कर अथवा सिर हिला कर यह सम्यग्ज्ञान नहीं है ऐसा प्रकाशित करना । आदि ज्ञान के अतिचार हैं ।

तपस्या करते समय असयम में प्रवृत्ति करना तप का अतिचार है । अपनी शक्ति को छिपाना वीर्याचार का अतिचार है । ये सब अतिचार कृत कारित और अनुमोदना के भेद से तीन २ प्रकार के होते हैं । स्वय करना स्वय कराना और करते हुए को स्वय अनुमोदना करना । दूसरे को प्रेरित करना प्रेरित कराना और प्रेरित करते हुए की अनुमोदना करना । इस तरह प्रत्येक अतिचार के तीन २ भेद होते हैं ।

दूसरे देश के राजा का आक्रमण होने पर जब देश के सम्पूर्ण गमनागमन के माग रुक जाते हैं उस समय वहा से निकलना कठिन हो जाता है । ऐसे अवसर पर भिक्षा दुलभ होने से अन्त करण में सक्लेश होता है । कदाचित उस काल में अयोग्य पदाथ का सेवन कर लिया हो तो क्षपक को आलोचना करते समय ऐसे सब दोषों का खुलासा करना चाहिए । अमुक अतिचार रात्रि के समय या अमुक अतिचार दिन के समय हुआ है उन सब का स्पष्ट निवेदन करना आवश्यक है ।

जिस समय सघ हैजा प्लेग आदि भयानक रोगों से या अन्य दारुण विपत्तियों से आक्रान्त हो गया हो, उस समय उनका प्रतिकार करने के लिए विद्या मन्त्रादि का उपयोग करना पड़ा हो उसमें जो अतिचार हुआ हो उसकी भी स्पष्ट आलोचना करनी चाहिए ।

अति दुर्भिक्ष के समय अवमौदय तप में जो दोष लगे हों या अयोग्य पदार्थ का सेवन हुआ हो अथवा अन्य मुनियों ने अनुचित भिक्षा ग्रहण जिस प्रकार की हो उन सबका निवेदन करना चाहिए। अभिमान या प्रमाद आदि से जो जो दोष लगे हों उन सबको गुरु के निकट प्रकट कर देना मुनि का कर्तव्य है।

दर्पादि बीस अतिचार

दर्पादि के निमित्त से बीस अतिचार होते हैं। आगम के अनुसार उनका नीचे स्पष्टीकरण करते हैं।

(१) दर्प (गर्व) अनेक प्रकार का है—जैसे क्रीड़ा में स्पर्द्धा करना व्यायाम करना छल-कपट करना, रसायन सेवन हास्य करना गीत में शृंगार के वचन बोलना उछलना कूदना, ये दर्प के प्रकार हैं।

(२) प्रमाद के पांच भेद हैं—विकथा कषाय इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति निद्रा और प्रेम। अथवा संक्लिष्ट हस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति बाह्यशास्त्र काव्य रचना करना और समिति में उपयोग न रखना इस प्रकार भी प्रमाद के पांच भेद होते हैं।

छेदन करना भेदन करना पीसना, टकराना चुभाना खोदना बांधना फाड़ना धोना रंगना लपेटना गूँथना भरना, राशि करना (इकट्ठा करना) लेपन करना फेंकना चित्र बनाना, इत्यादि काम करने को संक्लिष्ट हस्तकर्म कहते हैं।

ज्योतिःशास्त्र छन्दःशास्त्र, अर्थशास्त्र, वैद्यकशास्त्र लौकिकशास्त्र और मन्त्रशास्त्र इत्यादि शास्त्रों को बाह्यशास्त्र कहते हैं।

(३) अनाभोगकृत—उपयोग रखने पर भी जिन अतिचारों का ज्ञान नहीं होता है उन्हें अथवा चित्त की प्रवृत्ति दूसरी ओर होने पर जो अतिचार होते हैं अनाभोगकृत अतिचार कहते हैं।

(४) आपात कृत—नदी का पूर आने पर अग्नि काण्ड के उपस्थित होने पर भयानक आंधी का तूफान आने पर, वृष्टि के होने पर शत्रु की सेना से घिर जाने पर तथा ऐसे ही और कारणों के प्राप्त होने पर जो अतिचार होते हैं उन्हें आपात अतिचार कहते हैं।

(५) आततकृत—रोग जन्य पीड़ा शोक जन्य क्लेश, और वेदना व व्यथा से होने वाले अतिचारों को आततकृत अतिचार कहते हैं।

(६) तितिणदाकृत रसों में आसक्ति होने से तथा अधिक बकवाद करने से जो अतिचार होते हैं। उन्हें तितिणदाकृत

अतिचार कहते हैं।

(७) शंकित—पिच्छिका आदि उपयोगी द्रव्यों में सचित्त या अचित्त का सन्देह रहते हुए भी उनको मोड़ना पटकना तोड़ना, फोड़ना छीलना एवं आहार उपकरण और वसतिका में 'उद्गमादि दोष हैं या नहीं' ऐसा सन्देह होने पर भी उनका सेवन करना ये शंकित अतिचार हैं।

(८) सहसातिचार—अशुभ मानसिक विचारों में अथवा अशुभ वचनों में बिना विचारे शीघ्र प्रवृत्त होना उसको सहसा अतिचार कहते हैं।

(९) भयातिचार—एकान्त प्रदेश में वसतिका होने पर इसमें चोर सर्प दुष्ट-हिंसक-पशु व्याघ्र सिंहादि अन्दर घुस आवेंगे इस भय से वसतिका के द्वार बन्द करने से होने वाले अतिचार को भयातिचार कहते हैं।

(१०) प्रदोष—तीव्र संज्वलन कषाय के उदय से होने वाले जल के ऊपर की रेखा के समान क्रोधादि चार कषाय के निमित्त से होने वाले अतिचारों को प्रदोष जन्य अतिचार कहते हैं।

(११) मीमांसा—अपने और दूसरे के बल के तरतम भाव की परीक्षा करने से उत्पन्न होने वाले अतिचार को मीमांसा अतिचार कहते हैं।

अथवा सीधे हाथ को मोड़ना मुड़े हुए हाथ को सीधा करना धनुष आदि को चढ़ाना वजन दार पत्थर को ऊपर उठाना उसे दूर फेंकना दौड़ लगाना काटे की बाड़ आदि को लांघना पशु सर्पादि को मंत्रों की परीक्षा करने के लिए पकड़ना औषधियों के सामर्थ्य की परीक्षा करने के लिए अंजन और चूर्ण का प्रयोग करना अनेक द्रव्यों को मिलाकर त्रस और एकेन्द्रिय प्राणियों की उत्पत्ति होती है या नहीं उसकी परीक्षा करना ऐसे कृत्य करने को परीक्षा कहते हैं। इन कामों से व्रतों में दोष उत्पन्न होते हैं।

(१२) अज्ञानातिचार—अज्ञानी मनुष्यों का आचरण देखकर उसमें दोष न समझ कर स्वयं भी वैसा ही आचरण करने अथवा अज्ञानी से प्राप्त हुए उद्गमादि दोष वाले उपकरणादि का सेवन करने से जो अतिचार उत्पन्न होते हैं उन्हें अज्ञानातिचार कहते हैं।

(१३) स्नेहातिचार—शरीर उपकरण वसतिका कुल ग्राम,नगर देश बन्धु तथा पार्श्वस्थमुनि आदि में ममत्व भाव रखने से जो अतिचार होते हैं उन्हें स्नेहातिचार कहते हैं। यह मेरा शरीर है ऐसा ममत्व रखने से यह शीत पवन मेरे शरीर को बाधा देती है ऐसा विचार कर शरीर को चटाई से ढकता है अग्नि का सेवन करता है, ग्रीष्मकाल की लू आदि से बचने के लिए वस्त्र ग्रहण करता है, शरीर पर

उबटन लगाता है उसे स्वच्छ करता है तैलादि मर्दन करता है, यह सब ठीक नहीं है। इससे अतिचार होते हैं।

मेरा उपकरण विनष्ट हो जायगा, इस भय से पिच्छिका द्वारा प्रमाजन न करना तैलादि से कमण्डलु का संस्कार कर स्वच्छ रखना, इसे उपकरणातिचार कहते हैं।

वसतिका के तृणादि का भक्षण करते हुए पशु आदि का निवारण करना वसतिका का भङ्ग होता हो तो उसका निवारण करना बहुत से यति मेरी वसति में निवास नहीं कर सकेंगे ऐसा कहना आजाने पर उन पर क्रोध करना बहुत साधुओं को वसतिका मत दो-ऐसा निषेध करना अपने कुल के मुनियों की ही सेवा वैयावृत्त्य करना, निमित्त ज्ञानादि का उपदेश देना ममत्व भाव से ग्राम नगर या देश में रहने का निषेध न करना अपने से सम्बन्ध रखने वाले मुनियों के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होना पार्श्वस्थादि मुनियों की वन्दना करना उनको उपकरणादि का प्रदान करना उनके वचनादि का उल्लंघन करने की सामर्थ्य न रखना इत्यादि कार्यों से जो अतिचार होते हैं उन सब की आलोचना करना चाहिए।

(१४) गारव अतिचार—ऋद्धि रस और साता में आसक्ति रखना। ऋद्धि में आसक्ति रखने से परिवार में आदर भाव होता है। प्रिय भाषण करके उपकरण देकर दूसरे की वस्तु अपने अधीन करता है। रस में आसक्ति के कारण प्रिय रस का त्याग नहीं करता है और अप्रिय रस में अनादर भाव होता है। साता गारव से प्रिय मधुर सुहावने भोजन करता है और शरीर को सुख देने वाले शयनासनादि में प्रवृति करता है। इससे जो अतिचार होते हैं उन्हें गारव अतिचार कहते हैं।

(१५) परतन्त्रता जन्य अतिचार—उन्माद से पित्त के प्रकोप से भूत पिशाच के शरीर में प्रवेश करने से परतन्त्रता होती है। ज्ञाति के लोगों के परवश होकर इत्र गन्ध पुष्प माला आदि का सेवन करना रात्रि भोजन करना छोड़े हुए पदार्थों का सेवन करना स्त्रियों के या नपुसकों के साथ बलात्कार से मैथुन सेवन में प्रवृत्ति करना भी परतन्त्रता के कार्य हैं। इनसे जो अतिचार होते हैं वे परतन्त्रता-जन्य अतिचार कहलाते हैं।

(१६) आलस्य-अतिचार—आलस्य के वश वाचना पृच्छनादि स्वाध्याय में प्रवृत्ति न करना आवश्यक कृत्यों में उत्साह नहीं रखना इससे जो अतिचार होते हैं उन्हें आलस्य-जन्य अतिचार कहते हैं।

(१७) उपधि-अतिचार—मायाचार को उपधि कहते हैं। छिपकर अनाचार में प्रवृत्ति करना दाता के घर का पता चलाकर अन्य मुनियों के पहुंचने के पहले वहां आहार के लिए प्रवेश करना। अथवा किसी कार्य के बहाने से दाता के घर में इस प्रकार प्रवेश करना

जिसे दूसरे न जान सकें। सुन्दर स्वादिष्ट भोजन करने के पश्चात् विरस भोजन किया ऐसा कहना रोग ग्रस्त मुनि की या आचार्य की वैयावृत्य के निमित्त श्रावकों से कुछ चीज मांग कर स्वयं उसका सेवन करना आदि से अतिचार लगते हैं ये सब उपधि (माया) जन्य अतिचार कहे जाते हैं।

(१८) स्वप्नातिचार—निद्रा में सोये हुए के स्वप्न में अयोग्य पदार्थ का सेवन करने से जो दोष होता है उसे स्वप्नातिचार कहते हैं।

(१९) पलिकुंचन—द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रय से जो अतिचार होते हैं उनका अन्यथा वर्णन करने को पलिकुंचन अतिचार कहते हैं। जैसे—सचित्त पदार्थ का सेवन करके अचित्त पदार्थ का सेवन प्रकट करना। स्वकीय आवास के स्थान में जो दोष हुआ हो उसे मार्ग में हुआ कहना दिन में जो दोष किया है उसे रात्रि में किया हुआ निवेदन करना तीव्र क्रोधादि भावों से किये गये अपराध को मन्द क्रोधादि किया गया कहना। ऐसे विपरीत वर्णन करने को पलिकुंचन कहते हैं।

(२०) स्वयं शुद्धि—आचार्य के समीप यथार्थ आलोचना करने पर आचार्य के प्रायश्चित्त देने से पहले ही स्वयं ही यह प्रायश्चित मैंने लिया है ऐसा कहकर जो स्वयं प्रायश्चित लेता है उसे स्वयं शोधक कहते हैं। मन स्वयं ऐसी शुद्धि की है ऐसा स्वयं कहना। इस प्रकार दर्प आदि के निमित्त से जो २ अतिचार होते हैं उनका स्पष्टता पूर्वक निवेदन करना चाहिए। अतिचार के क्रम का उल्लंघन करना कदापि ठीक नहीं है।

आचार्य का कर्तव्य

प्रश्न—जब मुनि आलोचना कर चुके तब आचार्य महाराज को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—क्षपक द्वारा की गई सम्पूर्ण आलोचना को सुनकर आचार्य क्षपक से तीन बार पूछते हैं कि हे क्षपक ! तुमने क्या २ अपराध किये हैं वे भली भांति ध्यान में नहीं आये हैं उन्हें फिर से कहो क्षपक के वचन से और व्यवहार से जब गुरु देव को उसकी सरलता–निष्कपटता–प्रतीत होती है तब तो वे (आचार्य) क्षपक को प्रायश्चित देते हैं और जब उसके अन्त करण में कपट मालूम होता है तब उसे प्रायश्चित नहीं देते हैं। क्योंकि भाव शुद्धि के विना पाप का निवारण नहीं होता है और न रत्नत्रय की शुद्धि होती है।

प्रश्न—निष्कपट आलोचना कौनसी है ? जिसको सुनकर आचार्य प्रायश्चित देते हैं और सकपट आलोचना कौनसी है ? आचार्य जिसका प्रायश्चित नहीं देते हैं।

उत्तर—वैद्य रोगी को तीन बार पूछा करते हैं—तुमने क्या भोजन किया? क्या आचरण किया तुम्हारे रोग का क्या हाल है? शरीर कांटा फांस आदि लग जाने पर भी तुम्हारे कांटा या फांस आदि कहां लगा कैसे लगा? अब घाव अच्छा हुआ या नहीं—ऐसे तीन बार पूछते हैं। तीन बार पूछने पर यदि तीनों बार एकसी आलोचना करता है तब उसकी वह निष्कपट आलोचना मानी जाती है और जो भिन्न भिन्न प्रकार से आलोचना की गई हो उसे वक्र (कपटयुक्त) आलोचना कहते हैं। उस आलोचना में मायाचार रहता है।

द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रित उत्पन्न हुए दोषों को प्रति सेवना कहते हैं। अर्थात् सेवना के द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के विकल्प से चार भेद होते हैं। द्रव्य सेवना के तीन भेद हैं—सचित्त द्रव्य सेवना अचित्त द्रव्य सेवना और मिश्र द्रव्य सेवना। जिस पुद्गल शरीर में जीव रहता है उस शरीर को सचित्त द्रव्य कहते हैं। जीव रहित पुद्गल को अचित्त द्रव्य कहते हैं। तथा सचित्त और अचित्त पुद्गल के समुदाय को मिश्र द्रव्य कहते हैं। जीव से ग्रहण किये हुए पृथ्वी जल अग्नि वायु और वनस्पति को सचित्त कहते हैं। जिस पुद्गल को जीव ने छोड़ दिया है, उस पुद्गल को अचित्त कहते हैं।

क्षेत्रादि के आश्रित होने वाले स्थूल व सूक्ष्म दोषों का यदि क्षपक ज्यों का त्यों वर्णन नहीं करता है तो प्रायश्चित शास्त्र के ज्ञाता आचार्य उसे प्रायश्चित नहीं देते हैं। आगम में भी यही कहा है—

> पडिसेवणादि चारे जदि आजंपदि जहाकम सव्वे।
>
> कुव्वंति तहा सोधिं आगमववहारिणो तस्स ॥ ६ १ ॥ (भग आ)

अर्थ—जब क्षपक द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रय से उत्पन्न हुए दोषों का प्रतिपादन यथाक्रम से करता है, तब उसको प्रायश्चित देने में कुशल आचार्य प्रायश्चित देकर शुद्ध करते हैं।

प्रश्न—जब मुनिराज निर्दोष आलोचना करते हैं तब आचार्य का क्या कर्तव्य होता है?

उत्तर—जब आचार्य को निश्चय हो जाता है कि इस क्षपक की आलोचना निर्दोष है तब प्रायश्चित्त आगम के वेत्ता आचार्य आगम से अपराधों की परीक्षा करते हैं। अर्थात् इस प्रायश्चित का विधान करने वाला यह सूत्र है और उसका यह अर्थ है। इस अपराध का यह प्रायश्चित बतलाया है इत्यादि रूप से आचार्य प्रथम प्रायश्चित्त का विचार करते हैं।

प्रश्न—दोष के अनुरूप प्रायश्चित का विचार करने वाले आचार्य को अतिचार सेवन करने के पश्चात् क्षपक के भावों का परि

शमन कैसा है, उस पर भी ध्यान देना चाहिए या नहीं ?

उत्तर – प्रतिसेवना के आचरण से क्षपक के भावी परिणामों में हानि या वृद्धि कैसी हुई है ? अर्थात् प्रति सवना (विरुद्धा चरण) करने से जो इसके पाप हुआ है उसके बाद इस क्षपक के संक्लेश भाव हुए हैं या सवेग भाव उत्पन्न हुए हैं। यदि उसके सक्लेश परिणाम हुए हैं तब तो इसका पूर्वोत्पन्न पापकर्म की वृद्धि हुई है और यदि उसके संवग पूर्ण भाव हुए हैं तब उसके पूर्व दुष्कम की हानि हुई है। तथा जो पाप कम को हानि या वृद्धि हुई है वह भी मंद हुई या तीव्र हुई है ? इसका भी आचाय विचार करते हैं।

जैसे—किसी क्षपक ने पहले असयम का आचरण किया पश्चात् उसका अन्तःकरण 'हाय यह मैंने बहुत बुरा किया' इत्यादि पश्चाताप से दग्ध हुआ। और बाद में संयमाचरण में प्रवृत्त हुआ। इस पश्चाताप पूर्वक संयमाचरण के प्रभाव से नवीन और सचित कम का एक देश निजरा अथवा सम्पूर्ण निजरा होती है। अर्थात् मध्यम या मंद परिणाम से एक देश निजरा होती है और तीव्र परिणाम से सम्पूर्ण कम की निजरा होता है।

इन सब बातों का विचार करके प्रायश्चित शास्त्र के ज्ञाता आचाय क्षपक के परिणामों को जानकर जितने प्रायश्चित से वह शुद्ध हो सकता है उसे उतनाही प्रायश्चित देते हैं। जैसे स्वर्णकार अग्नि की शक्ति की न्यूनाधिकता को जान कर उसके अनुसार ही अग्नि को धमता है वैसे ही प्रायश्चित का जिसे पूर्ण अनुभव है ऐसा आचाय भी यह अपराध अल्प है यह महान् है इसके क्रोधादि परिणाम तीव्र थे या मन्द थे-इत्यादि का विचार करके उसके अनुरूप ही प्रायश्चित देते हैं।

प्रश्न—दूसरे के परिणामों का ज्ञान आचार्य कैसे करते हैं ?

उत्तर—साधु के साथ रहने स उसके नित्य के कार्यों को देखकर आचाय उसके परिणामों का पता चला लेते हैं अथवा आचाय साधु से पूछ लेते हैं कि जब तुमने प्रतिसेवना की थी उस समय तुम्हारे परिणाम कैसे थे ? इत्यादि उपायों से साधुके परिणामों का ज्ञान आचाय करते हैं।

आचाय आयुर्वेद विशारद वैद्य के समान होते हैं। जैसे विद्वान् वैद्य रोगों का भली भांति परीक्षा कर साध्य,कष्ट-साध्य अथात असाध्य व्याधि के अनुरूप औषध देकर उनकी चिकित्सा करता है वैसे ही आचाय भी अल्प प्रायश्चित मध्यम प्रायश्चित या महान् प्रायश्चित देकर साधु को दोष से मुक्त (विशुद्ध) करने का प्रयत्न करता है।

प्रश्न—आचार्य के आपने पहले आचारत्व आधारवत्वादि गुण बताये हैं उनके धारण करने वाले आचाय ही निर्यापकहो सकते

हैं। यदि कालादि दोष से उक्त गुण धारक आचार्य न मिलें तो अन्य मुनि भी क्षपक का समाधि मरण कर सकते हैं ? या नहीं ?

उत्तर—उक्त गुणों का धारक आचार्य अथवा उन गुणों से शोभित उपाध्याय भी न हो तो प्रवर्तक मुनि या स्थविर (वृद्ध) अनुभवी मुनीश्वर अथवा बालाचार्य यत्न पूर्वक व्रतों में प्रवृत्ति करते हुए क्षपक का समाधिमरण साधन करने के लिए निर्यापकाचार्य हो सकते हैं।

प्रश्न—प्रवर्त्तक किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो अल्पश्रुत का ज्ञाता होने पर भी संघ की सम्पूर्ण मर्यादा और चारित्र का ज्ञाता होता है वह प्रवर्त्तक होता है।

प्रश्न—स्थविर किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो चिरकाल के दीक्षित तथा मुनि-मार्ग के अनुभवी मुनिवर होते हैं वे स्थविर मुनि हैं।

प्रश्न—आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर लेने के पश्चात् और देहत्याग करने का उचित काल प्राप्त नहीं होने के पूर्व क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—जिसने अपने चरित्र को निर्दोष बना लिया है तथा शास्त्रोक्त विधि से गुरु के समीप रहकर अपने चरित्र को उत्तरोत्तर उज्ज्वल किया है वह क्षपक समाधिमरण के लिए धारण किये हुए विशेष चरित्र में उन्नति करने की कामना करता हुआ वर्षाकाल में नाना प्रकार के तपश्चरण कर हेमन्त में संस्तर का आश्रय लेता है। क्योंकि ग्रीष्मादि ऋतु की तरह हेमन्त ऋतु में अनशनादि तप करने पर भी शरीर को विशेष कष्ट का अनुभव नहीं होता है।

प्रश्न—जिसने समाधि के सब साधनों का अभ्यास कर लिया है। अर्थात् अनेक कष्ट-प्रद तप का आचरण कर कष्ट सहन करने का जिसने सामर्थ्य उत्पन्न कर लिया है उसके लिए वसतिका का कुछ नियम है या नहीं ? अर्थात् उसे विघ्न बाधा रहित वसतिका में ही रहना चाहिए या सबाध सविघ्न वसतिका में भी वह रह सकता है ? यदि विशेष नियम है तो उसके लिए कौनसी वसतिका तो अयोग्य मानी गई है और कौनसी योग्य ?

उत्तर—अनेक दुर्धर तपश्चरणों का पालन कर जिसने कष्ट सहिष्णुता प्राप्त करली है समाधि मरण के लिए संस्तर पर आरूढ़ हुए उस क्षपक के लिए भी निर्विघ्न और निर्बाध वसतिका ही योग्य मानी गई है। क्योंकि क्षुधा प्यास आदि के सताने पर यदि शान्ति को देने वाली वसतिका नहीं होगी तो उसके परिणामों में सक्लेश उत्पन्न हो सकता है ? अतः उसे योग्य वसतिका में ही ठहरना उचित है।

प्रश्न—इसके लिए अयोग्य वसतिका कौनसी होती है ?

उत्तर—संगीतशाला नृत्यशाला गजशाला अश्वशाला तेली का घर कुम्हार का घर धोबी का घर बाजे बजाने वालों का घर डोमका घर बास के ऊपर चढ़कर खेल करने वालों का घर रस्सी पर चढ़कर नाच करने वाले का घर इन सबके समीप की वसतिका मुनि के लिए योग्य नहीं होती है। तथा राज मार्ग (सड़क) के समीपवर्ती वसतिका भी मुनि के निवास के योग्य नहीं है।

लोहार सुनार (बढ़ई), चमार कोली छींपे ठठेरे कलाल भाड व बन्दीगण (स्तुतपाठक) सिलावट, तथा करोत से काठ को चीरने वाले जहां रहते हों उस के निकट तथा वाटिका और कूए बावड़ी आदि जलाशय के समीप एवं जूआरी व्यभिचारी लोग तथा ऐसे ही अन्य दुष्कर्म करने वाले शराबी धीवर आदि अधम पुरुष जहां रहते हैं ऐसे स्थानों के निकट की वसतिका में समाधि की इच्छा रखने वाले मुनीश्वरों को कदापि नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि उक्त स्थानों के समीप रहने वाले क्षपक के भावों में उद्विग्नता तथा शान्ति का भंग होने की पूर्ण संभावना बनी रहती है इसलिए रत्नत्रय की उज्ज्वलता बढ़ाने वाले क्षपक को उक्त अयोग्य वसतिका में कदापि नहीं ठहरना चाहिए।

प्रश्न—क्षपक साधु को कहां और किस प्रकार रहना चाहिए ?

उत्तर—क्षपक मुनि को ऐसे स्थान में ठहरना चाहिए जहां उसकी पांचों इन्द्रियां शान्त रहें जहां पर इन्द्रियों के विषयों को उत्तेजित करने वाले साधन न हों जहां पर मन में उद्वेग और विकार भाव उत्पन्न न हों ऐसे शान्त वातावरण वाले ध्यान में एकाग्रता के साधक स्थान में त्रिगुप्ति के धारक मुनीश्वर रहते हैं।

प्रश्न—जहां पर मन में क्षोभ उत्पन्न करने वाले इन्द्रियों के विषयों का प्रचार नहीं है ऐसी प्रत्येक वसतिका मुनि के निवास करने योग्य मानी गई है या नहीं ?

उत्तर—ऐसी वसतिका मुनि के निवास के लिए योग्य मानी है जो उक्त गुणों से युक्त होता हुई उद्गम उत्पादन और एषणा दोषों से रहित है। तथा जिसमें मुनि के उद्देश्य से लीपना पोतना सफेदी करना या अन्य संस्कार किया नहीं हो गई है। जिसमें जन्तुओं का निवास नहीं है तथा बाहर से आकर प्राणी वास नहीं करते हैं ऐसी वसतिका में मुनि ठहरा करते हैं।

प्रश्न—क्षपकादि मुनियों को कैसी वसतिका में प्रवेश करना चाहिए ?

उत्तर—जिस वसतिका में बाल वृद्ध मुनि सुख पूर्वक प्रवेश कर सकते हैं और निकल सकते हैं जिसका द्वार बन्द होता है,

जिसमें प्रकाश भी विपुल हो ऐसी वसतिका होनी चाहिए। इसमें कम से कम दो शालाएं या कमरे होने चाहिए। उनमें से एक में तो क्षपक के लिये। और दूसरी अन्य मुनि तथा धर्म श्रवणार्थ आए हुए श्रावकों के लिए। यदि तीन कमरे हों तो एक में क्षपक मुनि का संस्तर दूसरे में अन्य मुनियों का वास और तीसरे में धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए आए हुए लोगों का ठहरना होता है।

वसतिका का द्वार यदि बन्द न होता है तो शीतवायु आदि का प्रवेश होने से जिस क्षपक के अस्थि व चर्म मात्र शेष रह गये हैं ऐसे क्षपक को अतिशय क्लेश उत्पन्न होगा। जिसका द्वार बन्द न होता हो अर्थात् खुला ही रहता हो ऐसी वसतिका में क्षपक शरीर के मल का त्याग कैसे कर सकेगे? इसलिए वसतिका बन्द होने वाले द्वार की ही होनी चाहिए।

यदि वसतिका में अन्धकार होगा तो वहां पर रहने से जीव जन्तु का अवलोकन न हो सकने के कारण असंयम होगा। जिस वसतिका में अन्दर घुसने या बाहर निकलने में कठिनाई होती हो उसमें सिर मस्तक या घुटने आदि में चोट लगने की सम्भावना रहती है तथा संयम की भी विराधना होती है।

प्रश्न—क्षपक का संस्तर कैसे स्थान में होना चाहिए?

उत्तर—क्षपक का संस्तर ऐसे स्थान में होना चाहिए जहां बालक वृद्ध तथा चार प्रकार का संघ सुगमता से आ जा सके। वसतिका के किवाड़ और दीवाल मजबूत होना चाहिए। उद्यान-गृह गुफा या शून्य-गृह भी संस्तर के योग्य माने गये हैं। ऐसे निर्बाध स्थान में क्षपक का संस्तर करना चाहिए। दूसरे ग्राम या नगर के आगत व्यापारियों के ठहरने के लिए जो निवास बनाये गये हों उनमें भी तथा ऐसे ही अन्य निर्दोष और निर्बाध स्थानों में क्षपक के संस्तर की योजना की जा सकती है।

प्रश्न—जहां उद्यान-गृह शून्य-गृह सराय धर्मशाला गुहा आदि क्षपक के संस्तर के योग्य स्थान (वसतिका) न मिले वहां क्या करना चाहिए?

उत्तर—जहां पर क्षपक के योग्य उक्त प्रकार की वसतिका न मिले वहां के श्रावकों का कर्तव्य होता है कि वे बांस के बने टट्टी आदि से क्षपक के तथा वैयावृत्त्य करने वाले साधु आदि के सुखद वास के लिए कुटिया बनावें तथा धर्म-श्रवण के लिए आगत चतुर्विध संघ के बैठने आदि के लिए मंजुल मण्डप की रचना करदे। परन्तु ध्यान रहे इस कार्य में बहुत अल्प आरम्भ होना चाहिए। कहा भी है—

आगंतुघरादीसु वि कडएहिं य चिलिमिलाहिं कायव्वो।
खवयस्सोच्छागारो धम्मसवणमंडवादी य ॥ ६६ ॥ (भग आ)

अथ—आगन्तुक अतिथियों के लिए बने हुए घर तथा शून्य-घर उद्यान-गृहादि में क्षपक का संस्तर करना योग्य है। यदि उक्त प्रकार के योग्य स्थान उपलब्ध न हों तो श्रावकों का कर्त्तव्य है कि वे क्षपक के ठहरने के योग्य बांस के टट्टे चटाई आदि से क्षपक व अन्य वैयावृत्त्य करने वाले साधुओं तथा आचार्य के वास के योग्य आवास तैयार करवा दे तथा धर्म श्रवण के लिए आने वाले चतुर्विध संघ के बैठने के लिए सुविधा जनक मण्डपादि भी करवाना उचित है।

प्रश्न—उक्त प्रकार की वसतिका में क्षपक का संस्तर कैसा होना चाहिए ?

उत्तर—समाधिमरण करने वाले क्षपक के संस्तर चार प्रकार माने गये हैं। १ पृथ्वी संस्तर २ शिला रूप संस्तर ३ काष्ठमय संस्तर और ४ तृणमय संस्तर। क्षपक की समाधि (सुख शान्ति) के लिए संस्तर का मस्तक पूर्व दिशा या उत्तर दिशा में रखना आवश्यक है। क्योंकि अभ्युदय के कार्यों में पूर्व दिशा प्रशस्त मानी गई है। तथा स्वयं प्रभादि उत्तर दिशा सम्बन्धी तीर्थंकरों की भक्ति के उद्देश्य से उत्तर दिशा भी शुभ कार्य में प्रशस्त मानी है। क्षपक के समाधिमरण की साधना रूप कार्य भी अत्यन्त शुभ है इसलिए उसकी सिद्धि के निमित्त पूर्व दिशा और उत्तर दिशा में ही संस्तर का मस्तक भाग रखने के लिए आगम में उपदेश दिया गया है।

(१) पृथ्वी-संस्तर—भूमि रूप संस्तर वही हो सकता है जिस पृथ्वी मे निम्नोक्त विशेषताएं पाई जावें —

"निर्जन्तुका घना गुप्ता समाऽमृद्वि सुनिर्मला।
अनार्द्रा स्वप्रमाणा च सोद्योता संस्तरोधरा ॥ १ ॥"

जिस भूमि में उद्देही आदि जन्तु न हों दृढ़ हो अप्रकट हो सम हो मृदु न हो निर्मल हो भीगी न हो क्षपक के शरीर के प्रमाण हो प्रकाश सहित हो ऐसी भूमि संस्तर के लिए उपयोगी होती है। भूमि में यदि उद्देही आदि जन्तुओं की उत्पत्ति की योग्यता होगी तो संन्यास के समय उद्देही आदि निकलने लगेंगी तथा क्षपक को काटेंगे तब उसको असमाधि उत्पन्न होगी सुख शान्ति का भंग होगा तथा उन जन्तुओं की विराधना होने से असंयम होगा अतः संस्तर के योग्य भूमि निर्जन्तुक होनी चाहिए। जो भूमि घन (दृढ़) न होगी वह शरीर के भार से दबेगी तब भूमि के भीतर के जीवों को बाधा होगी। तथा वह ऊंची नीची होजाने के कारण क्षपक के शरीर को कष्ट होगा। इसलिए भूमि घन (दृढ़) होना आवश्यक है। यदि भूमि गुप्त (अप्रकट) न होगी अर्थात् प्रकट होगी तो मिथ्यादृष्टि मनुष्यों का संसर्ग होता रहने से क्षपक के भावों में अविशुद्धि की सम्भावना रहेगी इसलिए क्षपक के संस्तर योग्य भूमि गुप्त (अप्रकट) होनी चाहिए। जो सम नहीं होगी ऊंची नीची होगी तो क्षपक के शरीर को बाधा पहुंचेगी। मृदु भूमि क्षपक के शरीर हाथ पांव आदि से बाधित होगी।

जो भूमि निमल न होगी अर्थात् छेद छिद्र और प्राणियों के बिलों सहित होगा तो छिद्रों में प्रविष्ट हुए तथा उनसे निकले हुए जीव जन्तुओं को बाधा पहुचने स प्राण सयम की विराधना होगी। भूमि यदि जल स भीगी होगी तो जल काय के जीवों को पीड़ा होगी, इसलिए भूमि सूखी होनी चाहिए। भूमि क्षपक के शरीर क बराबर होनी चाहिए। यदि शरीर प्रमाण स अधिक होगी तो प्रति लेखना का व्यासग अधिक करना पडगा। प्रमाण स न्यून हो गी तो शरीर को सुकोड़ना पडगा। प्रकाश रहित या अल्प प्रकाश वाली भूमि में जीव जन्तु दिखाई न देने पर प्राण सयम की रक्षा कैस हो सकगी। इसलिए उक्त गुण वाली भूमि ही क्षपक क सस्तर योग्य होती है।

(२) शिलामय सस्तर—जो पत्थर की शिला अग्नि से तप कर प्रासुक होगई हो या टाकी से चारों ओर स उकेरी गई हो अथवा घिसा गई हो वह प्रासुक शिला सस्तर के योग्य होती है। वह शिला टूटी फूटी न होनी चाहिए। निश्चल तथा चारों ओर से पाषाण मत्कुण (खटमल) आदि क सम्पक स रहित और समतल एव प्रकाश युक्त होनी चाहिए।

(३) काष्ठमय सस्तर—जो काष्ठ का फलक (तख्ता) अखड एक है आदमी के लेटने योग्य चौड़ा तथा हलका है—अर्थात् जिसको उठाने लाने रखने म अधिक परिश्रम न करना पडे ऐसा है भूमि पर चारों तरफ स लगा हुआ है अच्छा चिकना और छेद-दरारों स रहित है जिस पर शयन करने या बैठने पर चूचा आदि शब्द नहीं होता है—ऐसा पुरुष पमाण निर्जन्तुक स्वच्छ काठ का तख्ता साधु के सस्तर के योग्य माना गया है।

(४) तृण सस्तर—क्षपक के लिए तृण का सस्तर वही प्रशस्त होता है जो गाठ रहित तृण स बनाया गया हो अन्तर रहित एक स लम्बे तृणों से जिसकी रचना की गई है। जिन तृणों से सस्तर बनाया जावे वे पोले न हों किन्तु ठोस हों। मृदु स्पश सहित तथा निर्जन्तुक हों जिस पर सोन स क्षपक को सुख मिले और शरीर में खुजली आदि का क्लेश न हो। ऐस तृण का सस्तर क्षपक के लिए योग्य माना गया है।

उक्त चारों प्रकार के सस्तरों में निम्नोक्त गुण अवश्य होने चाहिए।

किसी भी प्रकार का सस्तर हो वह यथोचित प्रमाण वाला हो। न तो अधिक छोटा हो और न अधिक बड़ा हो। सूर्योदय के समय व सूर्यास्त के समय दोनों वेला में प्रति लेखन से शुद्ध किया जाता हो। अर्थात् देख शोध कर जिसका भली भाति प्रमार्जन किया जाता है। शास्त्र कथित विधि स जिसकी रचना की गई हो। ऐसा गुण विशिष्ट सस्तर क्षपक के योग्य होता है।

क्षपक अपना आत्मा निर्यापकाचार्य को सौंप कर—उसको शरण मानकर—उक्त प्रकार के शास्त्र सम्मत सस्तर पर आरोहण करता है और विधि पूर्वक सल्लेखना का आचरण करना प्रारम्भ करता है।

सल्लेखना दो प्रकार की होती है। बाह्य सल्लेखना और आभ्यन्तर सल्लेखना। अथवा द्रव्य सल्लेखना और भाव सल्लेखना।

बाह्य सल्लेखना अथवा द्रव्य सल्लेखना–आहार का विधि पूर्वक त्याग करके शरीर कृश करने को बाह्य या द्रव्य सल्लेखना कहते हैं।

आभ्यन्तर या भाव सल्लेखना—सम्यक्त्व तथा क्षमादि भावना से मिथ्यात्व तथा क्रोधादि कषायों के कृश करने को आभ्यन्तर या भाव सल्लेखना कहते हैं

इस प्रकार वसतिका और संस्तर का विवेचन पूर्ण हुआ।

वैयावृत्य–कुशल सहायक मुनि कैसे होने चाहिए ?

जिस समाधि के आराधक क्षपक ने समाधि के साधनों का भली भांति अभ्यास कर लिया है तथा जो आगमोक्त वसतिका में विधि पूर्वक संस्तर पर आरूढ़ हो गया है उसकी समाधि विधि को सफल बनाने के लिए निर्यापकाचार्य अड़तालीस सहायक (वैयावृत्य करने वाले) मुनियों की योजना करते हैं। वे वैयावृत्य कुशल सहायक मुनि कैसे होने चाहिए। उनका स्वरूप लिखते हैं—

पियधम्मा दढधम्मा संवेगावज्जभीरुणा धीरा।
छन्दण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ॥ ६४७ ॥
कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा।
गीदत्था भयवन्ता अडदालीसं तु णिज्जवया ॥ ६४८ ॥ भग. आ.

अर्थ—जिनके साथ क्षपक को अहर्निश घनिष्ठ सम्पर्क में रहना है क्षपक के जीवन का बनना व बिगड़ना जिनके आश्रित है वे साधु कैसे होने चाहिए–उनके विषय में बतलाते हैं कि वे धर्म–प्रिय होने चाहिए क्योंकि जिनको स्वयं चारित्र–धर्म प्यारा नहीं होगा वे क्षपक को अशक्त अवस्था में चारित्र में प्रवृत्ति करने के लिए उसका हित कैसे कर सकेंगे ? इसलिए आचार्य चारित्र प्रेमी साधुओं को क्षपक की सेवा के लिए चुनते हैं। सम्यग्दृष्टि होने के कारण साधु चारित्र प्रेमी तो हैं लेकिन चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जो स्थिर चारित्र वाले नहीं हैं वे क्षपक को चारित्र में सुस्थिर कैसे कर सकते हैं इसलिए आचार्य धर्म प्रेमी साधुओं में से भी दृढ़ चारित्र वाले मुनियों को क्षपक की सेवा में नियुक्त करते हैं। जो पाप से नहीं डरते हैं वे असंयम का त्याग नहीं कर सकते हैं इसलिए जिनके हृदय में चतुर्गति में भ्रमण करने का तथा पापाचरण का भय सदा विद्यमान रहता है वे ही चारित्र को दृढ़ता से धारण करने में दत्तचित्त रहते हैं। धैर्य धारक मुनि परिग्रह के

आने पर अपने धर्म से कभी विचलित न होते हैं। अत धीर मुनि सेवा के कार्य में निपुण होते हैं। वैयावृत्त्य करने वाले मुनि क्षपक के अभिप्राय को उसकी चेष्टाओं से जान सकने वाले होने चाहिए। जो शरीर की चेष्टाओं से क्षपक के अभिप्राय का ज्ञान करने में कुशल नहीं होते हैं वे उसका भला नहीं कर सकते। इसलिए अभिप्राय के ज्ञाता साधु सेवा कार्य में नियुक्त किये जाते हैं। तथा जिन्होंने पहले भी वैयावृत्य कार्य में निपुणता प्राप्त की है तथा जो साकार और निराकार प्रत्याख्यान के क्रम के ज्ञाता होते हैं वे परिचारक होते हैं। तथा जो अनुभवी साधु क्षपक के योग्य तथा अयोग्य आहार पान के ज्ञाता होते हैं वे ही क्षपक को उचित आहार पान मे प्रवृत्त कर सकते और अनुचित भोजन पान से निवृत्त कर सकते हैं। परिचारक प्रायश्चित्त शास्त्र के स्वामी आगम रहस्य के वेत्ता तथा स्व और पर का उद्धार करने में दक्ष होने चाहिए। उक्त गुणों से अलंकृत परिचारक साधु एक क्षपक की वैयावृत्य के लिए अड़तालीस होते हैं।

प्रश्न—परिचारक मुनि क्षपक की क्या २ सेवा करते हैं। किस २ परिचर्या के लिए कितने २ मुनि नियुक्त किये जाते हैं? इसका विवेचन कर स्पष्ट खुलासा करने की कृपा करें?

आमासणपरिमासणचंकमणसयण णिसीदणे ठाणे।
उव्वत्तणपरियत्तणपसारणा उंटणादीसु ॥ ६४९ ॥
सजदकमेण खवयस्स देहकिरियासु णिच्चमाउत्ता।
चदुरो समाधिकामा ओलग्गता पडिचरंति ॥ ६५० ॥ (भग आ)

अर्थ—शरीर के एक देश के स्पर्श करने को आमर्श कहते हैं। सम्पूर्ण शरीर के स्पर्श करने को परिमर्शन कहते हैं। क्षपक की सेवा के लिए इधर उधर गमन करने को चंक्रमण कहते हैं। क्षपक को संस्तर पर सुलाना आवश्यकता पड़ने पर उसे हस्तादि की सहायता देकर बैठाना उठाना एक करवट से दूसरी करवट लेटाना, उसके हाथ पांव सकोचना पसारना इत्यादि सेवा करते समय परिचारक मुनि मन वचन काय द्वारा सावधानी से मुनि मार्ग की रक्षा करते हुए क्षपक के शरीर और अन्तःकरण की समाधि (सुख शान्ति) का पूरा २ ध्यान रखते हैं।

भावार्थ—परिचारक मुनियों की मनोवृत्ति क्षपक के अन्तःकरण के समाधान में लगी रहती है। जब क्षपक के हस्त पादादि किसी अवयव में पीड़ा का अनुभव होता है, तत्काल उस अवयव का कोमल स्पर्श द्वारा उसको दबाने सुलसुलाने लगते हैं। जब सम्पूर्ण शरीर में वेदना होने लगती है तब यथायोग्य रीति से उसके दुःख का पूरा ध्यान रखते हुए शरीर का शनैः शनैः मर्दनादि करने में तत्पर

रहते हैं। जब क्षपक को बैठे रहने की इच्छा होती है, तब उसे सावधानी से उठाकर बैठाते हैं। उसके इंगित (इशारे) से सोने की अभिलाषा जानकर आराम से सुलाते हैं। खड़े होने का अभिप्राय जानकर शीघ्रता से खड़ा करते हैं। इधर उधर थोड़ा चलने की इच्छा होने पर उसे हस्तावलम्बन देकर घुमाते हैं। उसकी सेवा के लिए परिचारक साधुओं को इधर उधर जाना पड़ता है तो तत्काल निरलस होकर गमन करते हैं तात्पर्य यह है कि जिस समय (रात्रि में या दिन में) जिस परिचर्या की आवश्यकता प्रतीत होती है उसी समय परिचर्या करने में वे परिचारक साधु क्षण भर का भी विलम्ब नहीं करते हैं। अपने मन वचन और काय को क्षपक की परिचर्या में सावधानी से लगाये रहते हैं। सब परिचर्या को करते हुए क्षपक के और अपने संयम की रक्षा का पूर्ण ध्यान रखते हैं। इस प्रकार चार परिचारक मुनि क्षपक की शरीर सम्बन्धी परिचर्या में तन्मय रहते हैं।

चार मुनीश्वर विकथाओं का त्याग कर धर्म कथा कहकर क्षपक के अन्तःकरण को धर्म भावना में दत्तचित्त रखते हैं।

प्रश्न—क्षपक के सम्मुख कौन २ सी विकथाएं नहीं की जाती हैं?

उत्तर—जिन कथाओं को सुनकर क्षपक के चित्त में धर्म भावना नष्ट होकर आर्तरौद्रध्यान उत्पन्न होते हैं उनको विकथा कहते हैं। जैसे-चार प्रकार के आहार का वर्णन करना आहार कथा है। स्त्रियों के सौन्दर्यादि का निरूपण करने वाली कथा स्त्री कथा है। राजाओं के वैभवादि का वर्णन करना राज कथा है। नाना प्रकार के देशों का वर्णन करने वाली वार्ता को देश कथा कहते हैं। काम विकार से उन्मत्त होकर हास्य मिश्रित असभ्य भण्ड वचन उच्चारण करने को कन्दर्प कथा कहते हैं। बांस के ऊपर रस्सी के ऊपर चढ़कर खेल करने नृत्य करने वाले गान वादित्रादि शृंगार रसादि का विवेचन करनेवाली सब कुकथाएं हैं। वे सब आत्मा के स्वरूप चिन्तन में बाधा पहुंचाने वाली होती हैं। इसलिए इनका त्याग कर चार मुनीश्वर क्षपक को उचित समय पर सर्वदा धर्म कथाओं का उपदेश देते रहते हैं।

प्रश्न—धर्म कथाओं का श्रवण कराने वाले मुनीश्वर क्षपक को किस प्रकार धर्मोपदेश देते हैं?

उत्तर—जिस समय जैसे धर्मोपदेश की आवश्यकता प्रतीत करते हैं वे धर्मोपदेशक मुनिराज उस समय वैसा ही मधुर, स्निग्ध और हृदयंगम हितकारक धर्मोपदेश विचित्र २ कथाओं द्वारा देते हैं जिससे क्षपक का अन्तःकरण उस उपदेश को शीघ्र ग्रहण कर लेता है।

जिनमें वाक्पटुता होती है तथा जिनका वचनोच्चारण अत्यन्त स्पष्ट और गम्भीरता पूर्ण होता है ऐसे ही वाग्मी चार मुनि धर्म कथाओं द्वारा क्षपक को धर्मोपदेश देते हैं।

वे मुनि जब धर्मोपदेश देते हैं उस समय जिस अभिप्राय का विवेचन करना चाहते हैं उसी अभिप्राय को स्पष्ट करने वाले उनके शब्द निकलते हैं। उन शब्दों से कभी विपरीत अर्थ का भास नहीं होता है। एक ही शब्द का वे दो तीन बार उच्चारण नहीं करते हैं। उनके सब वचन असंदिग्ध और प्रत्यक्षादि प्रमाण से अविरुद्ध निकलते हैं। उनका भाषण न तो अतिमन्द स्वर में होता है और न अति उच्च स्वर में ही होता है, किन्तु वे मध्यम स्वर में ही भाषण करते हैं। वे अति शीघ्र नहीं बोलते और न रुक रुक कर ही उच्चारण करते हैं। अपितु मध्यम पद्धति से इस प्रकार शब्दों का शृंखलाबद्ध क्रम से उच्चारण करते हैं जिनको सुनकर श्रोताओं को अर्थ का स्पष्ट भास होता जाता है। उनका भाषण कर्ण-मधुर मिथ्यात्व से हीन (सम्यक्त्व का पोषक) तथा सार्थक होता है। उनके भाषण में पुनरुक्ति दोष नहीं होता है।

प्रश्न—संस्तरारूढ़ क्षपक को कौनसी कथा धर्मोपदेशक मुनि श्रवण कराते हैं। कौनसी कथा उसके लिए हितकारिणी हो सकती है?

उत्तर—जो कथा क्षपक के अन्तःकरण मे उत्पन्न हुए अशुभ परिणामों का निवारण कर संवेग और वैराग्य को दृढ़ करने वाली हो वही कथा क्षपक के लिए हितकारिणी हो सकती है। वही कहा है—

आक्खेवणी य संवेगणी य णिव्वेयणी य खवयस्स ।
पाओग्गा होंति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥ ६५५ ॥ [भग आ]

अर्थात्—कथाएँ चार प्रकार की होती हैं। १ आक्षेपणी २ विक्षेपणी ३ संवेजनी और ४ निर्वेजनी। उनमें से विक्षेपणी को छोड़कर शेष तीन कथाए क्षपक के योग्य होती हैं।

प्रश्न—आक्षेपणी कथा किसे कहते हैं? उसका स्वरूप सप्रमाण समझाने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—आक्षेपणी व विक्षेपणी कथा का स्वरूप निम्न प्रकार है—

आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ ।
ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥ ६५६ ॥ [भग आ]

अर्थ—जिसमें विद्या (सम्यग्ज्ञान) और चरण (सम्यक् चारित्र) का विवेचन किया जाता है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। तथा स्व सिद्धान्त और पर सिद्धान्त का निरूपण करने वाली कथा को विक्षेपणी कथा कहते हैं।

भावार्थ—मति श्रुत अवधि मन पर्यय और केवल ज्ञान के स्वरूप,लक्षण और भेदों का वर्णन जिस कथा में किया गया हो तथा सामायिक छेदोपस्थापना परिहार-विशुद्धि सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात इन पांच प्रकार के चारित्र का अथवा अहिंसादि पांच महाव्रत ईर्या भाषादि पांच समिति और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति इस प्रकार तेरह प्रकार के चारित्र का स्वरूप विवेचन जिसमें होता है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं।

जीवादि पदार्थ सर्वथा नित्य ही है या सर्वथा क्षणिक ही है। सन्मात्र तत्त्व है या विज्ञान मात्र तत्त्व है या सर्व शून्य ही तत्त्व है इत्यादि पर(अन्य मत के) सिद्धान्तों को पूर्व पक्ष में लेकर इन तत्त्वों में प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाण से विरोध दिखाकर कथंचित् नित्य कथंचित् अनित्य कथंचित् एक और कथंचिद् अनेक तत्त्व रूप अपने सिद्धान्तों का समर्थन जिसमें किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं।

प्रश्न—संवेजनी और निर्वेजनी कथा किसे कहते हैं? उनका स्वरूप दिखाने की कृपा करें।

उत्तर—उनका स्वरूप वर्णन करने के लिए निम्न गाथा उद्धृत करते हैं।

संवेयणी पुण कहा णाणचरित्ततववीरिय इद्धिगदा।
णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य ॥ ६५७ ॥ [भग आ]

अर्थ—ज्ञान का अभ्यास चारित्र का पालन और तपश्चरण का आराधन करने से आत्मा में जो जो दिव्य शक्तियां प्रकट होती हैं उनका स्पष्टता से विवेचन करने वाली कथा को संवेजनी कथा कहते हैं। शरीर भोग और जन्म परम्परा से वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेजनी कथा कहते हैं। यह शरीर अशुचि है क्योंकि यह रस रक्त मांस चर्बी हड्डी मज्जा और शुक्र इन सप्त धातुओं से पूरित है। यह शरीर और भोग सामग्री सर्वदा आत्मा को क्लेश का कारण होती है। देव पर्याय व मनुष्य पर्याय ये दोनों उत्तम मानी गई हैं। उन दोनों में भी मनुष्य जन्म अति दुर्लभ व श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि इसमें ही संयम और तप की आराधना हो सकती है। इस प्रकार का निरूपण जिस कथा में होता है उसे निर्वेजनी कथा कहते हैं।

प्रश्न—क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा का निषेध क्यों किया गया है? स्व मत का समर्थन और पर मत का निरसन (खंडन) सुनने से तो धर्म में श्रद्धा दृढ होती है और जिन-कथित चारित्र पालन करने में उत्साह की वृद्धि होती है। क्षपक के लिए उसका श्रवण क्यों मना किया गया है?

उत्तर—संस्तरारूढ़ क्षपक का जीवन किनारे आ लगा है। उस समय उसकी आत्मा में राग द्वेष का अभाव होना आवश्यक है। क्रोधादि का त्याग और क्षमादि धर्म में परिणाम तन्मय होना ही परम हितकर है। यदि ऐसे समय में उसके सामने स्वसिद्धान्त की सिद्धि और परमत में प्रत्यनादि विरोध दिखाकर खंडन मंडन का प्रसङ्ग छेड़ा गया और उसका चित्त उसमें तन्मय होगया और इतने में ही कदाचित् उसकी आयु का अन्त हो गया तो उसके अन्तःकरणमें क्रोधाग्नि कषाय का प्रादुर्भाव और रागद्वेष की जागृति हो जाने से उसका सामधिमरण बिगड़ जावेगा। और यह भी हो सकता है कि वह खंडन मंडन में व्यामुग्ध होकर पूर्व पक्ष को ही सत्य मान बैठे क्योंकि उस समय बुद्धि अस्थिर होती है।

शङ्का—मन्द बुद्धि क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा अनुपयोगिनी है किन्तु तीव्र बुद्धि बहुश्रुत क्षपक के लिए तो उपयोगिनी हो सकती है?

समाधान—विक्षेपणी कथा से आत्मा में राग द्वेष की उत्पत्ति होने से संस्तरारूढ़ क्षपक के लिए उसका (विक्षेपणी) आचार्यों ने सर्वथा निषेध किया है क्योंकि यह कथा समाधिमरण की बाधक होती है। इसलिए जो कथा समाधिमरण की साधक होती है उनका उपदेश क्षपक के रत्नत्रय आराधना का साधक होता है। शास्त्र में कहा है।

अब्भुज्जदम्मि मरणे संथारत्थस्स चरमवेलाए।
तिविहं पि कहंति कहं तिदंडपरिमोडया तम्हा ॥ ६६० ॥ [भग आ]

अर्थ—अशुभ मन वचन काय का निवारण करने में लगे हुए आचार्य क्षपक की मृत्यु के सन्निकट समय में आक्षेपणी संवेजनी और निर्वेजनी इन तीन कथाओं का ही उपदेश देते हैं। विक्षेपणी कथा का कथन ऐसे समय में अनुचित मानते हैं। अतएव धर्मोपदेश के कार्य में नियुक्त किये गये मुनीश्वर उक्त तीन कथाओं का मनोज्ञ एवं हृदयस्पर्शी इस प्रकार निरूपण करते हैं जिनको सुनकर क्षुधा रोगादि की पीड़ा को भूल कर क्षपक का चित्त रत्नत्रय की आराधना में तत्पर रहता है।

चार मुनीश्वर क्षपक की आहार विषयक योजना करने में नियुक्त किये जाते हैं। यथा —

चत्तारि जणा भत्तं उवकप्पेंति अगिलाए पाओग्गं।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥ ६६२ ॥ [भग आ]

अथ—लब्धि म न्न तथा मायाचार रहित और जिन्होंने ग्लानि पर विजय प्राप्त कर लिया है ऐसे चार मुनीश्वर क्षपक के योग्य उद्गमादि दोष रहित भोजन का उप कल्पना करते हैं।

भगवती आराधना का अपराजित सूरिकृत विजयोदया संस्कृत टीका तथा श्री प आशाधरजी कृत मूलाराधना संस्कृत टीका न दोनों में उवकप्पति गाथा निर्दिष्ट पद का अथ आनयन्ति किया है। इन दो टीकाओं के अतिरिक्त एक प्राचीन प्राकृत टीका और भी प्रतीत होती है। उक्त टीकाओं में कई जगह इस प्राकृत टीका का मत उद्धरणों सहित दिया गया है। वह टीका हमको उपलब्ध नहीं हुई है। उसम सका क्या अथ किया गया है यह अनिश्चय की गोद में है। किन्तु भगवती आराधना मूल में भी क्षपक के लिए भोजन लाने का कई गाथाओं में उल्लेख है। वह आगे दिया गया है।

भगवती आराधना के अतिरिक्त समाधिमरण का सविस्तर वर्णन करने वाला कोई संस्कृत या प्राकृत का प्राचीन ग्रन्थ हमको उपलब्ध न हुआ है। इसलिए इस विषय में अन्य आचार्यों का क्या अभिमत है इस विषय में लिखने के लिए हम असमर्थ हैं। आचार्य परम्परा का क्या सम्प्रदाय है ? यह सन्देहापन्न है।

दिगम्बर साधु संस्था की अयाचक-वृत्ति होती है। वे आहारादि वस्तु अपने या दूसरे के लिए कभी नहीं मांगते हैं। दूसरी बात यह है कि उनके पास पिच्छी कमण्डलु और ज्ञानोपकरण पुस्तकादि के अतिरिक्त कोई पात्रादि नहीं रहते हैं। वे मुनीश्वर क्षपक के लिए आहार पान के पदार्थ किस पात्र में लाते होंगे। यदि गृहस्थ के यहां से पात्र भी मांग कर लाते हैं तो तांबे पीतल आदि पात्र का ग्रहण करना उनके पद के अनुकूल नहीं है। इसमें सपरिग्रहता का दूषण आता है। पात्र में भोजन लाकर क्षपक को मुनि आहार कराते हैं। उस आहार का ग्रहण करने वाले क्षपक के उद्दिष्टादि दोष युक्त आहार होता है। मुनि का आहार गृहस्थ के घर नवधा भक्ति से युक्त दाता के द्वारा दिया हुआ होना चाहिए। यह सामान्य नियम सब मुनियों के लिए आवश्यक विधान है। उसका पालन नहीं होता है। परिचारक मुनीश्वरों के द्वारा लाया हुआ आहार आधाकर्मादि से दूषित है या उद्गम उत्पादना एषणादि दोषों से दूषित है इसका संस्तरारूढ़ क्षपक को क्या ज्ञान हो सकता है ? परिचारक मुनि उद्दिष्ट उद्गमादि दोष रहित आहार लेकर क्षपक के पास लेजावेंगे किन्तु क्षपक के लिए उद्दिष्ट उद्गमादि दोषों का निवारण कैसे हो सकेगा ? इत्यादि अनेक शंकाएं एक के बाद एक उठती रहती हैं। उनका समाधान करने वाला कोई ऋषि प्रणीत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिए हमने भगवती आराधना मूल और उसकी उपलब्ध दोनों संस्कृत टीकाओं का आधार लेकर इस विषय का प्रतिपादन किया है। इस विषय के विशेषज्ञ विद्वान त्रुटि का संशोधन कर पढ़ने की कृपा करें।

भगवती आराधना की टीकाओं का उद्धरण

विजयोदयाटीका—चत्तारि जणा चत्वारो यतय । भत्त अशन । पाउग्गं प्रायोग्य उद्गमादि दोषानुपहतं । उवकप्पेंति आनयन्ति । अगिलाए ग्लानिमन्तरेण कियन्त कालमानयाम इति सक्लेश विना । छन्दिय क्षपकेण इष्ट अशन पान वा क्षुत्पिपासापरीषहप्रशान्तिकरण समर्थमित्येतावता तेनेष्ट न तु लौ यात । अवगदोस वातपित्तश्लेष्मणामजनक । क आनयन्ति ? अमाइणो मायारहिता अयोग्यमिति ये नानयन्ति । लद्धिसपण्णा माहा तरायक्षयोपशमाद्विशालन्धिसमन्विता । अलब्धिमान्क्षपकं क्लेशयति । मायावी अयोग्य योग्यमिति कथयेत् ।

प आशाधरजी कृत मूलाराधना संस्कृत टीका—

चत्वारस्तदथ समुचितमशन उपनयन्तीत्यनुशास्ति—

उवकप्पति आनयन्ति । अगिलाए ग्लानिं विना कियन्त कालमानयामन्ति संक्लेश विना । छन्दियं भत्तपान क्षुत्पिपासादु खसमाधिकर निराकरोतीत्यतावतैव क्षपकेणेष्ट । अवगददोषं वातपित्तश्लेष्मणामजनक प्रशमक च उद्गमादि दोषरहित वा । अमाइणो अयोग्य योग्य मि मिति प्रतारणरहिता लाभान्तरायक्षयोपशमाद्विशालब्धिसमन्विता । तयैव क्षपकस्यासक्लेशनात् ॥

इनका अथ निम्न प्रकार है—

परिचया क लिए नियत किये गये चार मुनीश्वर कितने काल तक हम आहार लाया करेंगे इस प्रकार की ग्लानि (संक्लेश) से रहित होकर उद्गमादि दोष रहित भोजन क वे पदार्थ क्षपक के लिए लाते हैं जिनको क्षपक चाहता है । क्षपक भी आहार की लोलुपता नहीं रखता है । किन्तु वह भी उन्हीं पदार्थों की इच्छा करता है जो पदाथ उसकी भूख प्यास परिषह को शांत करने में समथ होते हैं । परिचारक मुनियो के अन्त करण मायाचार रहित होते हैं । वे अयोग्य को योग्य कहकर क्षपक के प्रति कभी छल कपट का व्यवहार नहीं करते हैं । वे जो पदाथ लाते हैं वे पदाथ क्षपक क वात पित्त और कफ की वृद्धि नहीं करते किन्तु उनको शान्ति करने वाले होते हैं। तथा वे उद्गमादि दोष से रहित होते हैं । आचाय उन्हीं मुनिराजों को आहार के लिए नियुक्त करते हैं जिनको मोहनीय कर्म और अन्तराय कम के क्षयोपशम विशेष रूप लब्धि प्राप्त होती है । क्योंकि जिनक उक्त भोजन लब्धि प्राप्त नहीं हुइ है उन परिचारकों से क्षपक को सक्लेश उत्पन्न होता है ।

आचाय अमितगति ने भगवती आराधना की प्रत्येक गाथा का अथ प्रतिपादन करने वाले संस्कृत पद्य तथा गद्य दिये हैं । उनने भी उक्त गाथा का अथ प्रतिपादन करने वाला निम्न लिखित श्लोक दिया है ।

तस्यानयति चत्वारो योग्यमाहारमश्रमा ।
निर्माना लब्धिसम्पन्नास्तदिष्ट गतदूषणम् ॥ ६८८ ॥ [स भग आ]

अथ—परिचारक चार मुनिराज क्षपक के योग्य आहार लाते हैं। वे आहार के लाने में श्रम की परवा नहीं करते हैं। वे निरभिमान और भोजन लब्धि से सम्पन्न होते हैं। आहार भी वही लाते हैं जो क्षपक को अभीष्ट होता है और सब दूषणों से रहित होता है।

चार मुनिराज पीने योग्य पदार्थ के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

चत्तारि जणा पाणयमुवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं ।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ६६३ ॥ [भग आ]

अथ—मायाचार रहित और भोजन पान लब्धि से सम्पन्न चार मुनिराज श्रम रहित होकर क्षपक के इष्ट उद्गमादि दोष रहित तथा क्षपक की प्रकृति के योग्य पीने योग्य पदार्थों की उपकल्पना करते हैं अर्थात् लाते हैं।

इसकी दोनों की संस्कृत टीकाएं नीचे उद्धृत करते हैं—

विजयोदया—चत्तारि जणा इति स्पष्टार्था गाथा—सूरिणा अनुज्ञातौ निवेदितात्मानौ द्वौ द्वौ पृथग्भक्तं पृथक् पानं चानयतः ॥
(अपराजित सूरिः)

मूलाराधना—चत्वारः क्षपकीयं पानमानयन्तीत्याह—

मूलाराधना—स्पष्टम् ।

टीकार्थ—आचार्य के आदेश से क्षपक के लिए पृथक् दो साधु भोजन और दो साधु पृथक् पीने योग्य पदार्थ लाते हैं।

चार मुनि लाये हुए भोजन पान के पदार्थों की रक्षा करते हैं

चत्तारि जणा रक्खंति दवियमुवकप्पियं तयं तेहिं ।
अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स समाधिमिच्छंति ॥ ६६४ ॥ [भग आ]

पान नयन्ति चत्वारो द्रव्य तदुपकल्पितम् ।
अप्रमत्ता समाधानमिच्छन्तस्तस्य विश्रमा ॥ ६८६ ॥ [अमितगति]

अर्थ—क्षपक के लिए लाये हुए भोजन पान के पदार्थों की चार मुनि प्रमाद रहित हुए रक्षा करते हैं। वे बड़ी सावधानी से इस का ध्यान रखते हैं कि उनमें ऊपर से त्रस जीव न गिर जावें तथा दूसरे उन पदार्थों को गिरा न सकें।

विजयोदया—तैरानीत भक्त पान वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमाद रहिता त्रसा यथा न प्रविशन्ति। यथा वापरे न पातयन्ति ॥

मूलाराधना—चत्वारस्तद्भक्तपान तरा रक्षन्तीत्याह। रक्खति यथा त्रसादयो न पतन्ति परे वा न पातयन्तीत्यर्थः। दविय द्रव्यं। उवकप्पिय आनीत। तय भक्तपान वा ॥

नका अर्थ स्पष्ट है। मूल अर्थ से विशेष अर्थ न होने से इनका भिन्न अर्थ नहीं लिखा गया है।

नोट—शास्त्रों में नियम दो प्रकार का बताया गया है। एक उत्सर्ग और दूसरा अपवाद। साधुओं के लिए आगम में उक्त दो प्रकार के नियम का वर्णन स्थान २ पर मिलता है। साधु के २८ मूल गुण का पालन करना साधु के लिए परमावश्यक माना गया है। यह उत्सर्ग मार्ग है। इन गुणों का अस्तित्व जिसमें नहीं पाया जाता है वह मुनि नहीं कहा जा सकता है। किन्तु २८ मूल गुणों के धारक तथा आगम के अनुकूल चारित्रादि के पालन करने वाले साधु को भी समाधिमरण करने वाले साधु का वैयावृत्य करने के लिए भगवती आराधना मूल तथा उसकी संस्कृत टीकाओं में क्षपक के लिए भोजन पानादि उचित पदार्थों के लाने के लिए जो विशेष विधान किया गया है वह अपवादमार्ग है। उत्सर्ग मार्ग का सर्वदा और सर्वत्र पालन करने की आज्ञा है। अपवाद मार्ग का अमुक अवसर पर अमुक प्रकार आचरण करने को कहा गया है। यहां समाधिमरण का प्रकरण है। इस प्रकरण में भगवती आराधना में जो साधुओं को क्षपक के लिए भोजन पान सामग्री लाने का तथा उसकी रक्षा करने का एवं क्षपक को बहुत समझाने बुझाने पर आहार दिखलाकर उसको संतोष प्राप्त कराने के अनेक उपाय करने पर भी जब उसके चित्त में व्याकुलता की शान्ति नहीं होती हुई देखते हैं तब आचार्य की आज्ञा से उसे चित्त शान्ति के लिए भोजन पान का सेवन भी करने का जो यह निरूपण शिव कोटि आचार्य ने किया है वह सब अपवादमार्ग है। साधु लोग वैयावृत्य के लिए गृहस्थ के यहां से उचित पदार्थ ला सकते हैं। भगवती आराधना में तो समाधिमरण प्रकरण में स्थान २ पर क्षपक के वैयावृत्य के लिए उचित वस्तु लाने के लिए स्पष्ट शब्दों में कहा है। यद्यपि गाथा नं ६६२ व ६६३ में उवकप्पेंति' शब्द दिया है। तथापि उसका अर्थ टीकाओं में भोजन पान का लाना ही किया है। उस प्रकरण में उक्त अर्थ ही संगत होता है। गाथा नं ६८८ में क्षपक को कुरले करवाने के लिए तैल

और कसायले पदार्थ गृहस्थ के यहा से चेतन्वां ग्रहण करने चाहिए अर्थात् लाने चाहिए—ऐसा स्पष्ट शब्द दिया है।

मूलाचार की टीका में भी वैयावृत्त्य के निमित्त आहारादि की योजना करने में निर्दोषता दिखाई है। इन सबका आशय यह है कि समाधिमरण के अवसर पर क्षपक की वैयावृत्त्य के लिए उचित भोजन पान व तलादि औषध साधु गृहस्थ के घर से लाते हैं। यह अपवाद मार्ग है। वैयावृत्त्य के समय अपवाद माग का आचरण करने के कारण परिचारक मुनियों को प्रायश्चित्त का आचरण करना पड़ता है।

चार मुनि क्षपक के मलमूत्रादि की प्रतिष्ठापना करते हैं तथा शय्यादि की प्रतिलेखना (प्रमाजन) करते हैं।

काइयमादी सव्व चत्तारि पडिट्ठवन्ति खवयस्स।
पडिलेहंति य उवधोकाले सेज्जुवधि सथार ॥ ६६५ ॥ [भग आ]

अर्थ—चार मुनीश्वर क्षपक की विष्ठा मूत्र कफ आदि का निर्जन्तु भूमि देखकर एकान्त म क्षेपण करते हैं। तथा प्रात काल और सायंकाल दोनो समय म क्षपक की शय्या पिच्छी कमण्डलु पुस्तकादि उपकरण का शोधन और प्रमाजन करते हैं।

चार मुनि द्वारपाल का काय करते हैं तथा चार मुनि धम श्रवण मडप के द्वार पर रहते हैं।

खवगस्स घरदुवार सारक्खति जणा चत्तारि।
चत्तारि समोसरणदुवार रक्खन्ति जदणाए ॥ ६६६ ॥ [भग आ]

अर्थ—चार मुनिराज क्षपक की वसतिका के द्वार की यत्न पूर्वक रक्षा करते हैं। अर्थात् क्षपक के समीप असयत मनुष्यों को जाने मे रोकते हैं। चार मुनि धर्मोपदेश देने के सभा मण्डप क द्वार का रक्षण सावधानी से करते हैं।

भावार्थ—क्षपक पवित्रात्मा है। उसके दर्शन के निमित्त कई ग्राम व नगरों से नरनारी जन आते रहते हैं। यदि उनको रोकने वाला न हो तो व क्षपक के समीप जाकर क्षपक के अन्त करण म क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं इसलिए द्वार पर चार मुनिराजों को निर्यापकाचार्य नियुक्त करते हैं। वे उनको मधुर और शान्त वचन बोल कर आगे जाने स रोकते हैं। तथा किसी प्रकार का क्षोभ जनक वातावरण उत्पन्न न होने देते हैं। सदा क्षपक की समाधि का ध्यान रखते हुए वसतिका के द्वार पर बैठे हुए अपने कर्तव्य का भली भांति पालन करते रहते हैं।

आचाय की आज्ञा बिना अतिरिक्त साधुओं के प्रवेश को भी रोकते हैं। न जाने वे अनुचित वार्तालाप करके या क्षपक के असुहाने वातावरण को उत्पन्न कर क्षपक के समाधान का भग कर बैठे इसलिए उन्हें भी भीतर जाने का निषेध करते हैं।

जो चार मुनिराज सभा मडप के द्वार का रक्षण करते हैं उनका कर्त्तव्य होता है कि वे आगन्तुक मनुष्यों के आकार वाणी वेषभूषादि से उनके स्वभाव को जानकर सभा मण्डप में प्रवेश करने दें। जिनसे सभा में क्षोभ उत्पन्न होने की सम्भावना होती प्रतीत होती है उनको वे वहीं रोक लेते हैं सभा में भीतर नहीं जाने देते। यह सब काय वे प्रिय व मधुर वचनों द्वारा करते हैं।

चार मुनिराज रात्रि मे जागते हैं और दशादि की वार्त्ता जानने के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

जिदणिद्दा तल्लिच्छा रादौ जग्गंति तह य चत्तारि ॥
चत्तारि गवेसंति खु खेत्ते देसप्पवत्तीओ ॥ ६६७ । [भग आ]

अर्थ—निद्रा पर विजय पाने की इच्छा रखने वाले क्षपक की सेवा में तत्पर चार मुनीश्वर क्षपक के निकट जागते रहते हैं। जहा क्षपक व सघ का वास है उस देश राज्यादि की क्षेम कुशलतादि (शुभाशुभ) वार्ता का निरीक्षण करने के लिए चार मुनीश्वर आचार्य द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

चार मुनिराज आगत श्रोताओं को उपदेश देते हैं—

वाहिं असद्दवडिय कहंति चउरा चदुव्विधकहाओ ।
ससमयपरसमयविदू परिसाए सा समोसदाए खु ॥ ६६८ ॥ [भग आ]

अर्थ—क्षपक के आवास स्थान से कुछ दूर पर जहा से शब्द क्षपक के कानों में न पड़ सके वहा पर बैठकर स्वमत व परमत के रहस्य के वेत्ता चार मुनिराज सभामण्डप में आये हुए श्रोताओं को आक्षेपणी विक्षेपणी संवेजनी और निर्वेजनी इन चार धर्मकथाओं का यथोचित व्याख्यान करते हैं।

भावार्थ—धर्म पिपासा से आगत धर्म प्रिय जनता को धर्म श्रवण कराने के लिए आचार्य चार ऐसे मुनिराजों को नियुक्त करते हैं जिन्होंने अपने सिद्धान्त ग्रन्थों का तथा अन्य धर्म ग्रन्थों का भली भाति अनुशीलन किया है और जो अपने सिद्धान्तों का पोषण युक्ति

और अनेक शास्त्रों के प्रमाणों से कर सकते हैं। ऐसे वाग्मी चार साधु एक के पश्चात् एक सुललित और ओजस्विनी भाषा में धर्म का रहस्य समझाते हैं। जिसे सुनकर प्राणियों के हृदय में धर्म भावना जाग उठती है और श्रद्धालुओं के अन्तःकरण धर्म पर अत्यन्त दृढ़ हो जाते हैं एवं अनेक उग्र भावनाओं से पूरित हुए सन्तुष्ट होकर घर लौटते हैं।

उनकी स्वमत और परमत की विवेचनात्मक धर्म कथा को सुनकर जैनेतर धर्मवासित अन्तःकरण वाले मनुष्यों के अन्य भी सुसंस्कारित होकर कुसंस्कारों का त्याग करते हैं।

प्रश्न—यदि कोई मिथ्या अभिमान से उन्मत्त होकर सभा में वाद विवाद करने के लिए उद्यत हो जावे तो वे धर्मोपदेशक मुनिराज अपना धर्मोपदेश रोक कर उनके साथ वाद विवाद करने में प्रवृत्त हो जाते हैं या धर्मोपदेश पूर्ण होने के पश्चात् उसको वाद विवाद करने का अवसर देते हैं?

उत्तर—धर्मोपदेश के समय वाद विवाद करने का अवसर नहीं देते हैं क्योंकि उस समय श्रोताओं के धर्म-श्रवण में बाधा होती है। धर्मोपदेश समाप्त होने के बाद उस वाद विवाद का अवसर दिया जाता है।

वाद विवाद के लिए चार वाग्मी मुनियों को आचार्य नियुक्त करते हैं उनका केवल प्रतिवादी से वाद करना ही मुख्य कार्य होता है।

वादी चत्तारि जणा सीहाणुग तह अणेयसत्थविदू।

धम्मकहयाण रक्खाहेदु विहरंति परिसाए ॥ ६६६ ॥ [भग आ]

अर्थ – सिंह के समान निर्भीक अनेक शास्त्रों के ममज्ञ चार वाग्मी मुनिराज धर्मोपदेशक मुनिराजों की धर्मकथा की रक्षा करने के लिए सभा स्थान में इधर उधर विचरण करते हैं।

उक्त प्रकार महाप्रभावशाली अड़तालीस निर्यापक मुनीश्वर जी तोड़ प्रयत्न करके समाधिमरण करने में तत्पर हुए क्षपक की समाधि (सुख शान्ति) के अर्थ सेवा करने में एकाग्रचित्त रहते हैं।

प्रश्न समाधिमरण कार्य का सम्पादन करने के लिए क्या समस्त काल में अड़तालीस परिचारक मुनियों का होना आवश्यक माना गया है। या भिन्न २ काल में परिस्थिति के अनुसार हीनाधिक परिचारक मुनिराजों के लिए भी आगम में विधान है?

उत्तर—परिचारक मुनियों की संख्या में काल के अनुसार हीनाधिकता हुआ करती है। भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल का परिवर्त्तन होता रहता है। और काल के प्रभाव से मनुष्यों के गुणों में भी जघन्यता मध्यमता और उत्कृष्टता होती है। जब उत्कृष्ट काल का वर्त्तन होता है उस समय में अड़तालीस नियापक मुनिराज क्षपक का समाधिमरण सम्पन्न कराने में सहायता करते हैं। क्योंकि उस समय परिचारक मुनि भद्र परिणाम वाले अधिक होते हैं वे हर्ष पूर्वक क्षपक की सेवा में संलग्न रहकर अपने को कृतार्थ समझते हैं। मध्यम काल के प्रारम्भ में चवालीस मुनिराज क्षपक की सेवा में नियुक्त रहते हैं। पश्चात् ज्यों ज्यों काल में हीनता आती है त्यों त्यों परिचारक मुनियों की संख्या अल्प होती जाती है। अर्थात् काल के अनुसार क्रम से चार चार मुनिराज कम किये जाते हैं। अन्त में संक्लेश परिणाम युक्त काल में चार मुनीश्वर के लिए भी क्षपक के समाधिमरण कार्य को सुसम्पन्न कराने की आज्ञा है। अतिशय संक्लेश परिणाम युक्त काल में दो मुनिराज भी क्षपक की समाधि मृत्यु का साधन कर सकते हैं। किन्तु एक नियापक साधु समाधिमरण कार्य की साधना नहीं कर सकता है। आगम में एक नियापक मुनि का कहीं पर उल्लेख नहीं मिलता है। वही कहा है—

जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु।
ते तारिसया तइया चोद्दालीसं पि णिज्जवया ॥ ६७१ ॥

एवं चदुरो चदुरो परिहावेदव्वगा य जदणाए।
कालम्मि संकिलिट्ठ म्मि जाव चत्तारि साधेंति ॥ ६७२ ॥

णिज्जावयाया दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥ ६७३ ॥ [भग आ]

अर्थ—भरत और ऐरावत क्षेत्र में जिस समय जैसा काल चक्र का वर्त्तन होता है उस समय काल के अनुरूप निर्यापक मुनिराज होते हैं। उत्कृष्ट अड़तालीस नियापक मुनियों की संख्या जो बताई गई है वह उत्कृष्ट है। उत्तम काल में नियापक मुनियों की जघन्य संख्या चवालीस तक होती है। संक्लेश भाव की वृद्धि के अनुक्रम से चार चार नियापक मुनियों की संख्या हीन होती जाती है। और वह अन्त में चार तक पहुंचती है। जब उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम सहित काल का वर्त्तन होता है उस समय दो नियापक मुनिराज भी क्षपक का समाधिमरण कार्य सिद्ध करते हैं। किन्तु किसी काल में एक नियापक मुनि का उल्लेख जैनागम में कहीं पर नहीं है।

प्रश्न—आगम जैसे जघन्य से दो नियापक मुनि की आज्ञा देता है वैसे ही एक निर्यापक मुनि के लिए आज्ञा क्यों नहीं देता ? उसमें क्या दोष दिखाई देता है ?

उत्तर—एक नियापक मुनि क्षपक का समाधिमरण करवाने में सर्वथा असमर्थ होता है। इसलिए आगम में एक नियापक का निषेध किया गया है। यदि अकेला नियापक मुनि साधु के समाधिमरण रूप अतिदुष्कर कार्य का भार ग्रहण करता है तो वह निर्यापक अपना और क्षपक दोनों का विनाश करता है।

जब नियापक मुनि आहारादि कार्य के निमित्त क्षपक को अकेला छोड़कर बाहर जावेगा उस समय क्षपक को क्षुधादि वेदना के कारण जो कष्ट होगा अथवा अन्य मिथ्यादृष्टियों या असंयमीजनों के सम्पर्क से जो रत्नत्रय में बाधा और चित्त में अशान्ति उत्पन्न होगी उसका प्रतीकार कौन करेगा ? यदि उस समय मरणकाल आ पहुंचे तो उसके अशुभ ध्यान के कारण रत्नत्रय का विनाश होकर वह असद् गति का भाजन होगा।

अथवा अकेला क्षपक तीव्र क्षुधादि वेदना से पीड़ित होकर अयोग्य सेवन करने लगेगा। अर्थात् पास में किसी मुनिराज के न होने से उठकर भोजन करने लगेगा मिथ्यादृष्टि लोगों के समीप जाकर याचना करने लगेगा मैं क्षुधा से मरा जाता हूँ प्यास के मारे मेरा दम घुट रहा है मुझे खाने को भोजन और पीने को पानी दो इत्यादि याचना करने लगेगा। इस तरह अनेक दोष ऐसे उत्पन्न होते हैं जिससे क्षपक के संयम का विनाश और दुर्ध्यान के प्रादुर्भाव से समाधिमरण का विनाश होता है जिससे क्षपक दुर्गति का पात्र होता है।

अकेला नियापक अपना भी विनाश करता है क्योंकि यदि सेवा को परम कर्त्तव्य समझकर क्षपक की परिचर्या में तल्लीन रहेगा तो उसको आहार ग्रहण करने का शयन करने का तथा शरीर मल का त्याग करने का अवसर न मिलने से स्वयं उसे असह्य क्लेश होगा। इससे उसका शरीर गिरने लगेगा। शरीर के क्षीण होने अथवा स्वयं रोगग्रस्त हो जाने पर वह क्षपक की परिचर्या भी न कर सकेगा और अपने धर्म का भी भलीभांति पालन न कर सकेगा—सामायिकादि छह आवश्यकों का पालन न कर सकेगा। क्षपक को अकेला छोड़कर यदि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है तो क्षपक की समाधि भंग होती है। और यदि क्षपक को अकेला न छोड़कर उसी के समाधान (सुख शान्ति) के लिए तत्पर रहता है तो अपने आवश्यक कर्त्तव्यों का आचरण न करने से कर्त्तव्य विमुख होता है।

इस प्रकार एकाकी नियापक आत्म विनाश क्षपक का विनाश और आगम का विघात करने वाला होता है। आगम में अकेले नियापक का निषेध किया गया है उसकी अवहेलना करने के कारण वह आगमाज्ञा का विघातक भी होता है।

प्रश्न—समाधिमरण (सल्लेखना) से प्राण त्याग करने वाला जीव ससार म अधिक म अधिक कितने भव धारण करता है ?

उत्तर—जो जीव एक बार विधि पूर्वक स लेखना (समाधिमरण) से शरीर का त्याग करता है वह जीव अधिक से अधिक सात या आठ भव ही धारण करता है। नवमा भव धारण नहीं करता है। आठवें भव में तो वह मोक्ष का पूर्ण अधिकारी हो जाता है। व हा कहा है—

एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभवे पमोत्तूण ॥ ६८२ ॥ [भग आ]

अर्थ—जो प्राणी एक भव में समाधिमरण से युक्त मरण करता है वह बहुत काल तक ससार में भ्रमण नहीं करता है। उसको सात आठ भवों में अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यह हम पूर्व विवेचन कर आये हैं कि समाधिमरण का प्रारम्भ स लेकर समाप्ति तक का उत्कृष्ट काल १२ वर्ष का है। उस काल के प्रारम्भ के चार वर्ष नाना प्रकार के उग्र काय क्लेशादि तप तीनों योगों द्वारा करता है। तत्पश्चात् मध्य के चार वर्षों में रसों का त्याग कर काय को तपश्चरण द्वारा कृश करता है। तदनन्तर आचाम्ल तप तथा नीरसाहार द्वारा दो वर्ष व्यतीत करता है। तथा एक वर्ष स्वल्प आहार द्वारा पूर्ण करता है और छह माह मध्यम तपश्चरण का आचरण करते हुए बिताता है। इस प्रकार साढ़े ग्यारह वर्ष स्वाध्याय ध्यान करते हुए आवश्यक काय के लिए चलते फिरते हुए एव तपश्चरण द्वारा काय कृश करते हुए समाप्त करता है।

जब भक्त प्रत्याख्यान की मर्यादा का काल छह महिने अवशिष्ट रह जाता है उस समय अनेक प्रकार के उग्रोग्र तपस्या करने के कारण क्षपक का शरीर अत्यन्त कृश हो जाता है। तब वह संस्तरारूढ होता है। अर्थात् शय्या की शरण ग्रहण करता है। तब वह गुरु के निकट आलोचना करता है। उसके पश्चात् नियापक आचार्य द्वारा अधिक स अधिक ४८ मुनि आ काल की अतिनिकृष्टता प्राप्त होने पर कम से कम दो मुनि परिचर्या म नियुक्त किये जाते हैं। इन सब बातों का स्पष्ट विवेचन पूर्व मे कर आये हैं। यहा सिंहावलोकन मात्र किया गया है।

क्षपक का शरीर और कषाय तपश्चरण द्वारा कृश हो जाते हैं। कृश शरीर को भी व अत्यन्त कृश करते हैं। उसकी विधि का उल्लेख आगे करते हैं।

क्षपक का कर्तव्य है कि शास्त्र के ज्ञाता अनेक आचार्यों के विद्यमान होते हुए भी सन्यास विधि प्रारम्भ करते समय जिस आचार्य के निकट प्रथम आलोचना की हो उसी आचार्य के चरणों के समीप प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कर्तव्यों का आचरण

करे। उन्हीं की आज्ञा का ग्रहण करे। उपदेश श्रवण अन्न के अतिरिक्त तीन प्रकार के आहार का त्याग तथा प्रायश्चित्त का ग्रहण और संदिग्ध विषयों का समाधान करने के लिए प्रश्न करना इत्यादि सब कार्यों में उसके लिए प्रथमाचार्य ही प्रमाण होते हैं। यदि प्रथमाचार्य उपदेश देने आदि कार्यों में सामर्थ्यहीन हों तो उनकी आज्ञा के अनुसार दूसरे आचार्य के निकट प्रतिक्रमणादि कर्त्तव्य कर्मों का आचरण कर सकता है।

श्रीमत् शिवकोटि आचार्य ने क्षपक की वचन सुनने की शक्ति का विकास और मुख तथा जिह्वा की मलीनता दूर करने के लिए तेल का प्रयोग और कषायले द्रव्यों से मिश्रित जल के कुरले करने को भी लिखा है। वह निम्न प्रकार है।

तेल्लकसायादीहिं य बहुसो गंडूसया दु घेत्तव्वा।
जिब्भाकण्णाण बलं होहिदि तुंडं च से विसदं ॥ ६८८ ॥ [भग आ]

अर्थ—क्षपक को तैल और कषायले द्रव्यों के बहुत बार कुरले करने चाहिए। क्योंकि कान में तैल डालने से कानों में शब्द श्रवण शक्ति बढ़ती है। तथा जीभ पर जब मैल जम जाता है मुख में मल का संचय बढ़ जाने से दुर्गंध आने लगती है। वचनोच्चारण में क्षीणता बढ़ने लगती है। उन दोषों का निवारण करने के लिए कषायले द्रव्यों के कुरले कराये जाते हैं।

इसी का समर्थन अमितगति आचार्य ने भी निम्न प्रकार किया है।

तेन तैलादिना कार्या गण्डूषा सन्त्यनेकशः।
जिह्वावदनकर्णादिनैर्मल्यं जायते ततः ॥ ७१५ ॥ [म भग आ]

उक्त गाथा का और इस श्लोक का अर्थ एकसा है। यह श्लोक ऊपर की गाथा का अनुवाद मात्र है।

तात्पर्य यह है कि क्षपक का यह अन्तिम व अतिप्रशस्त समय है। इस समय उसको योग्य उपदेश द्वारा समाधि में स्थिर करना उसके अन्तःकरण में उत्पन्न हुए उद्गारों को जानकर उनके अनुकूल व्यवस्था करके उसको सन्तोष उत्पन्न करना निर्यापकाचार्य तथा निर्यापक मुनियों का परम कर्तव्य होता है। वह तभी हो सकता है कि क्षपक के कर्णों में उपदेश सुनने की शक्ति तथा मन के उद्गारों को प्रकट करने के लिए क्षपक की वचन शक्ति बनी रहे इसीलिए इस कार्य की सफलता के लिए क्षपक को तैलादि के कुरले करवाये जाते हैं।

क्षपक के विचारों पर बुरा प्रभाव न पड़े इसलिए आगम के मर्मज्ञ मुनियों को भी क्षपक के समक्ष भोजनादि कथाओं का

वर्णन कदापि नहीं करना चाहिए। वही कहा है—

भत्तादीरा भत्ती गीदत्थेहिं वि ख तत्थ कायव्वा।
आलोयखा वि हु पसत्थमेव कादव्विया तत्थ ॥ ६८७ ॥ भग आ

अर्थ—गीतार्थ (विशेषज्ञ) मुनियों को भी क्षपक के निकट भोजनादि की कथाओं को नहीं करना चाहिए। क्षपक के निकट वर्ती आचार्य के समीप अप्रशस्त आलोचना भी किसी मुनीश्वर को करना उचित नहीं है।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि क्षपक के लिए उस समय उच्च आदर्श की आवश्यकता है। उस समय छोटा सा प्रतिकूल वातावरण उसके हृदय में क्षोभ उत्पन्न कर सकता है। जैसे स्वच्छ व निष्कम्प जल में स्वल्प वायु भी कम्पन और थोड़ा मैल मलीनता उत्पन्न कर देती है वैसे ही क्षपक के स्वच्छ व निष्कम्प हृदय को विपरीत सयोग विकृत व उथल पुथल कर सकता है। इसलिए निर्यापक मुनियों को उसकी समाधि बनाये रखने के लिए प्रतिकूल संयोगों का निवारण और अनुकूल साधनों की योजना करने में सावधान रहना पड़ता है।

प्रश्न—भक्त प्रत्याख्यान मर्यादा के छह महीने शेष रहने पर क्षपक को तीन प्रकार के आहार का त्याग करवाते हैं। तो क्या प्रत्येक क्षपक के लिए एकसा विधान है या क्षपक की प्रकृति की जाच करके उचित क्रम से भोजन का त्याग करवाते हैं? शास्त्रोक्त रीति से निरूपण करने की कृपा करें।

उत्तर—जब आचार्य क्षपक को जल के सिवा तीन प्रकार के आहार का त्याग करवाने के लिए प्रवृत्त होते हैं तो उसके पहले आचार्य क्षपक को सब प्रकार के आहार को दिखाते हैं। आहार दिखाने पर उसकी भोजन की लालसा का परिचय प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात त्याग करवाते हैं।

इस विषय में शिवकोटि आचार्य ने भगवती आराधना में निम्न प्रकार वर्णन किया है।

दव्वपयासमकिञ्चा जइ कीरइ तस्स तिविहवोसरखं।
कम्हिवि भत्तविसेसम्मि उस्सुगो होज्ज सो खवओ ॥ ६८८ ॥
तम्हा तिविहं वोसरिहिदित्ति उक्कस्सयाखि दव्वाखि।
सोसित्ता सविरलिय चरिमाहार पयासेज्ज ॥ ६९ ॥

पासित्तु कोइ तादी तीर पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो सवेगपरायणो होदि ॥ ६_१ ॥ [भग आ]

अर्थ—यद्यपि क्षपक तीन प्रकार के आहार का त्याग करने के लिए उत्सुक हो रहा है तथापि उसकी किसी प्रकार के आहार में अभिलाषा बनी न रहे इसलिए क्षपक को विचित्र विचित्र आहार दिखलाते हैं। यदि क्षपक को आहार दिखाये बिना ही उसम तीन प्रकार के आहार का त्याग करवा दिया जावे तो उसके चित्त में कभी आहार विशेष की अभिलाषा बनी रही तो वह उसके अन्त करण को व्याकुल करती रहेगी। इसलिए उसका त्याग करवान के पूव तीनों प्रकार के उत्तम उत्तम आहार के पदार्थ बतन में पृथक् पृथक् रखकर क्षपक के समीप लाकर आचार्य दिखाते हैं। उन उत्तमोत्तम भोजन के पदार्थों को देखकर कोई क्षपक मुनिराज अपने अन्त करण में विचार करते हैं कि मैंने अनन्त काल तक इनम भी उत्तम पदार्थों का भोजन किया किन्तु मुझे इनस कुछ भी तृप्ति नहीं हुई। अबतो इस भव के अन्तिम किनारे पर आ लगा हूँ। अब इनसे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? ऐसा सोचकर इनस विरक्त होकर ससार स भयभीत हुए आहार का त्याग करन में दृढ सकल्प होते हैं।

आसादित्ता कोई तीर पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुपत्तो सवेगपरायणो होदि ॥ ६६२ ॥
देस भोच्चा हा हा तीर पत्तस्समेहिं किं मेच्चि ।
वेरग्गमणुपत्तो सवेगपरायणो होदि ॥ ६६३ ॥
सव्व भोच्चा विद्धि पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्ता सवेगपरायणा होदि ॥ ६६४ ॥ [भग आ]

अर्थ—कोई क्षपक सम्मुख स्थित पदार्थों में स थोड़ा चखकर विचार करते हैं कि इस भोड में क्षण मात्र के जिह्वा के सुख से क्या सुख मात्रा प्राप्त होगी। मैं जीवन की अन्तिम सीमा पर पहुच चुका हूँ। मेरा भला इनका ग्रहण करने स नहीं बल्कि त्याग करने से ही सिद्ध होगा ऐसा विचार कर उनस चित्त को हटाता है और ससार स भयभीत हुआ आहार के त्याग करन म ही कटिबद्ध होता है।

कोई क्षपक उन नेत्र और मन को तृप्त करने वाले पदार्थों का कुछ भाग ग्रहण करके उनस सहसा विरक्त होता है। विषय के स्वरूप का चिन्तन कर उद्विग्न होकर विषयों को धिक्कार देता है और सोचता है कि मेरी बुद्धि को धिक्कार है जो इनकी ओर आकर्षित होती

स प्र (आगे पृष्ठ न० ६२३ पढिए) पू कि ५

है। इस अन्तिम जीवन को सफल करने के लिए इनका त्याग ही श्रेयस्कर है-ऐसा सोचकर संसार भोग से विरक्त हुआ तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने में दत्त चित्त होता है।

कोई क्षपक मुनि चारित्र मोहनीय कर्म के उदय विशेष से उन मन लुभाने वाले उत्कृष्ट आहार के द्रव्यों को देखकर मोहित हुआ उन सब पदार्थों का भक्षण करता है। भक्षण करने के पश्चात् अन्तरङ्ग में विवेक बुद्धि का प्रकाश होते ही उसका अन्त करण उद्विग्न हो उठता है। वह सहसा चौंक पडता है और विचारने लगता है कि हे आत्मन्! तेरी इस विषय मुग्धता को धिक्कार है। वर्षों तक के विवेक ज्ञान का अभ्यासी तू जिह्वा इन्द्रिय के विषय में कैसे प्रवृत्त हो गया? इस कर्म की बलवत्ता को धिक्कार है। अब तेरा यही कर्तव्य है कि भुजङ्ग के भोग (शरीर) के समान इन भोगों से पृथक होकर अपना हित साधन कर। इस प्रकार संसार भोग से वैराग्य को प्राप्त हुआ वह क्षपक इन्द्रिय विषय भोग से विरक्त हुआ आहार का त्याग करने में उत्सुकता धारण कर शीघ्र तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने में तत्पर होता है।

उक्त अर्थ का विवेचन अमितिगति आचार्य ने भी निम्न प्रकार किया है—

अप्रकाश्य त्रिधाहार त्याज्यते क्षपको यदि।
तदोत्सुक स कुत्रापि विशिष्टे जायतेऽशने ॥ ७१७ ॥
तत कृत्वा मनोज्ञानामाहाराणा प्रकाशना।
सर्वथा कारयिष्यामि त्रिविधाहारमोचनम् ॥ ७१८ ॥
कश्चिद्दृष्ट्वा तदेतेन तीर प्राप्तस्य किं मम ॥
इति वैराग्यमापन्न सवेगमवगाहते ॥ ७१९ ॥
आस्वाद्य कश्चिदेतेन तीर प्राप्तस्य किं मम।
इति वैराग्यमापन्न सवेगमवगाहते ॥ ७२० ॥
अशित्वा कश्चिदंशेन तीर प्राप्तस्य किं मम।
इती वैराग्यमापन्न सवेगमवगाहते ॥ ७२१ ॥
भुक्त्वा सर्वमेतेन तीर प्राप्तस्य किं मम।
इति वैराग्यमापन्न सवेगमवगाहते ॥ ७२२ ॥ (सं भग आ)

इनका आशय ऊपर लिख चुके हैं। क्योंकि ये श्लोक भगवती आराधना की उक्त गाथाओं का अर्थानुवाद मात्र हैं। इनको यहां उद्धृत करने का अभिप्राय अमितगति आचार्य का मत भी शिवकोटि आचार्य के अनुकूल है-ऐसा दिखलाना मात्र है।

प्रश्न—आहार दिखलाने से आचार्य को चार प्रकार के अभिप्राय वाले क्षपक का ज्ञान हुआ। एक तो विचित्र प्रकार के आहार को देखकर उससे विरक्त होने वाला उत्कृष्ट वैराग्यवान क्षपक है। दूसरा दिखलाये गये आहार में से किंचित् मात्र चखकर आहार से विरक्त होने वाला मध्यम वैराग्यवान् क्षपक है। तीसरा दिखलाई भोजन सामग्री के एक अंश का भक्षण कर समस्त भोजन से विरक्त होकर त्याग में प्रवृत्त होने वाला जघन्य वैराग्यवान् क्षपक है। तथा चौथा जघन्यतर वैराग्यवान् वह क्षपक है जो सम्पूर्ण आहार का सेवन कर पश्चात् उससे विरक्त होकर तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने में उत्सुक हुआ है।

इनके अतिरिक्त एक ऐसे क्षपक की सम्भावना होती है जो चारित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के वशीभूत होकर दिखलाए गये आहार का सेवन कर उसके स्वाद में आसक्त हुआ भोजन का त्याग न करे तो उसके उद्धार के लिए आचार्य क्या करते हैं ?

उत्तर—आपने उक्त प्रश्न में प्रथम क्षपकों को जो चार भागों में विभक्त किया है वह विभाग आहार दिखलाने से लेकर जब तक वे आहार का त्याग करने में प्रवृत्त नहीं हुए हैं तब तक के लिए ही हो सकते हैं। क्षपक सब उत्कृष्ट वैराग्य परायण होते हैं। तभी तो वे संन्यास मरण विधि में तत्पर हुए हैं।

उक्त चार प्रकार के अतिरिक्त आहार में आसक्त हुए क्षपक के विषय में जो प्रश्न किया है। उसका खुलासा निम्न प्रकार है—

कोई तमादयित्ता मणुण्णरसवेदणाए संबिद्धो।
तं चेवणुबंधेज्ज हु सव्वं देसं च गिद्धीए ॥ ६६५ ॥ [भग आ]

अर्थ—यदि कोई क्षपक दिखलाए आहार का भक्षण कर मनोरम रस के स्वाद में मूर्छित हुआ उस भक्षण किये गये सम्पूर्ण आहार को बारम्बार सेवन करने की लालसा करने लगे। अथवा उस दर्शित आहार सामग्री में से किसी एक पदार्थ को पुनः पुनः सेवन करने की उत्कण्ठा करने लगे तो

तत्थ अवायोपायं दंसेदि विसेसदो उवदिसंतो।
उद्धरिदुं मणोसल्लं सुहुमं मणिणुव्वेमाणो ॥ ६६६ ॥ [भग आ]

अर्थ—तब आचार्य मनोज्ञ आहार के भक्षण करने की आसक्ति से होने वाली हानि और लाभ को समझाते हैं। हे क्षपक ! देखो ! तुम अपने मन को वश में न रखोगे तो तुम अनन्त काल में भी अति दुर्लभ इस इन्द्रिय संयम का विनाश करडालोगे और जिस मनुष्य ने इन्द्रियों पर अधिकार नहीं किया है। जो आत्मा इन्द्रियों का गुलाम हो जाता है उसकी आत्म शक्ति विलीन हो जाती है। वह अपने कार्य की सिद्धि कभी नहीं कर सकता है।

इस प्रकार गुरु के उपदेश को सुनकर घोर दुःख का संहार करने में समर्थ समाधि मरण को सफल बनाने के लिए वह विवेकी क्षपक तीन प्रकार के आहार का त्याग करने के लिए आतुर होता है।

यदि कोई क्षपक तीव्र मोहनीय कर्म के चक्र में फंसा हुआ आहार को छोडने में अपने को असमर्थ पाता है तब भी आचार्य उस क्षपक पर दया करते हैं। उसको मधुर और प्रिय वचनों से समझा बुझा कर अनेक प्रकार के आहार पदार्थों मे से एक एक पदार्थ को क्रम से घटाते हैं। इसके विषय निम्न प्रमाण है—

अणुपुव्वेण य ठविदो संवट्टदूण सव्वमाहारं।
पाणयपरिक्कमेण दु पच्छा भावेदि अप्पाणं ॥ ६९९ ॥ [भग आ]

अर्थात्—क्षपक का आयुष्य जब अल्प रह जाता है तब निर्यापकाचार्य उन उत्तमोत्तम विविध आहार बर्तन में धरकर क्षपक को आहार त्याग की पुष्टि करने के लिए उसे दिखाते हैं। उन चित्ताकर्षक विचित्र आहार को देखकर क्षपक उनमें अत्यंत आसक्त हो जाता है और उन आहार के पदार्थों का पुनः पुनः सेवन करने का अत्यंत लोलुपी हो जाता है। आचार्य के अनेक उपदेशामृत का पान कराने पर भी उसकी आहार सम्बन्धी आसक्ति कम नहीं होती है। तब आचार्य उन समस्त आहार के सुन्दर २ पदार्थों में से क्षपक को क्रम से एक एक आहार पदार्थ का त्याग कराते कराते सादे भोजन पर ले आते हैं। अर्थात् मिष्टान्नादि विशिष्ट आहार से विरक्त करके भात दाल आदि साधारण आहार पर नियत करते हैं। पश्चात् वह क्षपक साधारण भात दाल पूए आदि तीन प्रकार के आहार पदार्थों का क्रम क्रम से त्याग करता हुआ पानक आहार पर अपने को स्थिर करता है। अर्थात् जलादि पेय पदार्थ के अतिरिक्त सब प्रकार आहार का त्याग कर देता है। अपने शरीर को जलादि के आधार पर रखता है।

प्रश्न—पानक कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर—पानक पदार्थ आगम में छह प्रकार के माने गये हैं।

सच्छं वहल लेवडमलेवडं च ससित्थयमसित्थं ।
छव्विह पाणयमेयं पाणयपरिकम्मपाओग्गं ॥ ७ ॥ [भग आ]

अर्थ—१ स्वच्छ २ बहल ३ लेवड ४ अलेवड ५ ससिक्थ और ६ असिक्थ इस प्रकार पानक के छह भेद हैं।

(१) स्वच्छ पानक—गर्म जलादि को स्वच्छ पानक कहते हैं।

( ) बहल—कांजी द्राक्षारस इमली का पानी तथा ऐसे ही अन्य फलादि के रस को बहल पानक कहते हैं।

(३) लेवड—हाथ पर लिपट जाने वाले दही के घोल वगैरह गाढ़ पानक को लेवड कहते हैं।

(४) अलेवड—जो हाथ पर नहीं लिपटता है ऐसा चावल का माड तक्र आदि पतले पानक को अलेवड पानक कहते हैं।

(५) ससिक्थ पानक—जिसमें चावल आदि के सिक्थ पाये जावें ऐसे माड आदि पानक को ससिक्थ पानक कहते हैं।

(६) असिक्थ पानक—जिसमें भात आदि के सिक्थ (कण) न पाये जावें ऐसे पानक को असिक्थ पानक कहते हैं।

इस प्रकार पानक छह प्रकार का माना गया है।

इन छह प्रकार के पानकों मे भी आचार्य को क्षपक के स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। अनुभवी अनेक शास्त्रों के ज्ञाता निर्यापकाचार्य आसन्न मरण वाले क्षपक की शारीरिक स्थिति के अनुकूल आयुर्वेद के सिद्धान्त के अनुसार वात पित्त और कफ का शमन करने वाला उचित पानक क्षपक को देते हैं।

पानक पदार्थ का सेवन करवाने के पश्चात् उदर के मलकी शुद्धि करने के लिए क्षपक को माड के समान मधुर विरेचन पदार्थ देना चाहिए।

क्षपक के उदर स्थित मल का शोधन करने के लिए कांजी से भीगे हुए बिल्व पत्रादि से उदर का सेक करना चाहिए तथा सैंधा नमक आदि की बत्ती बनाकर गुदा में प्रवेश कर उदर का शोधन करना चाहिए।

प्रश्न—इतना महान् परिश्रम करके उदरस्थ मलका निवारण क्यों किया जाता है?

उत्तर—क्षपक के उदर में सचित हुआ मल यदि नहीं निकाला ज यगा तो वह महती वेदना उत्पन्न करेगा इसलिए उसे निकालने का प्रयास करते हैं।

प्रश्न—उक्त प्रकार उदर का शोधन करन के पश्चात् क्षपक के योग्य किस काय का आचाय सम्पादन करते हैं।

उत्तर—क्षपक की उदर शुद्धि होने के बाद आचाय को क्षपक अशन खाद्य और स्वाद्य इन तीन प्रकार के आहार का यावज्जीव त्याग करेगा इस प्रकार समस्त सघ से निवेदन करते हैं। तथा क्षपक तुम से क्षमायाचना करता है इस प्रकार करते हुए आचार्य ब्रह्मचारी आदि के हाथ में क्षपक की पिच्छी देकर उसे दिखाते हुए सम्पूण सघ के मुनियों की वसतिकाओं म घुमाते हैं।

प्रश्न—क्षपक की पिच्छी दिखलाकर आचाय क्षपक की ओर से सवासघ मुनियों म याचना करते हैं यह ठीक पर चलन फिरने की शक्ति स हीन क्षपक का अभिप्राय जानकर सम्पूण सघ का उस समय क्या कत्तव्य होता है ?

उत्तर—समस्त संघ क्षपक को क्षमा प्रदान करते हैं। तथा क्षपक की रत्नत्रय आराधना निर्विघ्न सिद्ध होवे इस हेतु से सम्पूण सघ कायोत्सग करता है।

प्रश्न—इसके अनन्तर क्षपक क प्रति नियापकाचाय का क्या कत्तव्य होता है ?

उत्तर—नियापकाचाय क्षपक को सकल सघ के मध्य चार प्रकार क आहार का अथवा तीन प्रकार का आहार का विकल्प सहित त्याग करवाते हैं। आचाय जब क्षपक को क्षुधादि परिषह के सहन करने म भली भांति समथ पाते हैं तब चारो प्रकार के आहार का कालादि के विकल्प पूवक त्याग करवाते हैं। यदि क्षपक को इतना सहनशील नहीं देखते हैं तो उस तीन प्रकार क आहार का ही त्याग करवाते हैं। और उस की चित्त शान्ति क लिए छह प्रकार के पानक आहारों का ही सेवन कराते हैं। इसके अनन्तर ज्यों ज्यों क्षपक की शक्ति का ह्रास होता जाता है त्यों त्यो पानक पदार्थों मे परिवतन करते २ अन्तमें सब का त्याग करवा देते हैं।

प्रश्न—इसके बाद क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—भक्त प्रत्याख्यान करने के बाद क्षपक के हृदय में आचाय उपाध्याय शिष्य साधर्मी मुनि कुल मुनि (दीक्षागुरुशिष्य परम्परा) गण मुनि (स्थविर मुनि शिष्य सन्तान) इन सब के विषय में जो क्रोध मान माया और लोभ होगा उन सब को निकाल फेंकता हैं। तथा मुमुक्षु का जो कत्तव्य होता है उस सब का मैंने आचरण किया है ऐसा विचार कर उसका चित्त आनन्द से उछलने लगता है।

प्रसन्नचित्त हुआ वह मस्तक पर दोनों हाथ जोड कर सकल सघ को नमस्कार करता है। सब से उचित शब्दों में बोलने की शक्ति न होने के कारण हाथ जोड कर 'आप सब मुझे क्षमा करो' इस प्रकार क्षमा मांगने का अभिप्राय प्रकट करता है।

क्षपक अपने अन्त करण में अव्यक्त भाषा में कहता है कि हे सघ के मुनिराजो आप मेरे माता पिता से अधिक पूज्य व हितकारक हो आप निष्कारण जगत के बन्धु हो सब के उद्धार करने में कटिबद्ध हो आप का मन वचन काय से कृत कारित और अनुमोदना द्वारा जो अपराध अज्ञात भाव से किया हो उन सब की मैं क्षमा चाहता हूं मैं भी सब को क्षमा करता हूँ।

इस प्रकार क्षपक और सम्पूर्ण सघ की परस्पर क्षमा क्षमापणा हो जाने के बाद आचार्य सस्तरारूढ क्षपक को श्रुत ज्ञान के अनुसार शिक्षा देते हैं और सवेग व वैराग्य का उत्पादक कर्णजाप देते हैं।

प्रश्न—वह कर्णजाप क्या है जिसे निर्यापकाचार्य क्षपक को देते हैं ?

उत्तर—सस्तरारूढ क्षपक को उस समय के योग्य जो क्षपक के कर्ण के समीप शिक्षा देते हैं उसे कर्णजाप कहते हैं। वह निम्न प्रकार है—

निस्सल्लो कदसुद्धी विज्जावच्चकर वसधिसथार।
उवधिं च सोधइत्ता सल्लेहण भो कुण इदाणिं ॥ ७२१ ॥ (भ ग आ)

अर्थ—हे क्षपक राज! इस समय तुम वैयावृत्य करने वालों की तथा निःशल्य होकर रत्नत्रय की शुद्धि करने में तत्पर रहो।

व्याधि (रोग) उपसर्ग परीषह असंयम मिथ्याज्ञान यह विपत्ति हैं। इस विपत्ति का प्रतीकार करने को वैयावृत्त्य कहते हैं। ऐसी वैयावृत्त्य करने वालों को वैयावृत्त्यकर अर्थात् परिचारक कहते हैं। वैयावृत्य करने वाले मुनि असयम के ज्ञाता हैं या नहीं इसका ध्यान रखो। यदि वे असयम के ज्ञाता नहीं प्रतीत हों तो उन्हें पृथक् कर दो। और मन वचन तथा काय से जो असयम का निवारण करते हों ऐसे मुनिराजों को परिचर्या करने की आज्ञा दो।

प्रात काल सायंकाल दोनों समय वसतिका सस्तर और उपकरणों की प्रतिदिन शुद्धि करो। अर्थात् तुम क्षीण शक्ति हो, इसलिए परिचारकों को वसतिका सस्तर और उपकरणों की मार्जना करने की प्रति दिन आज्ञा दो। आज्ञा देना ही तुम्हारा प्रतिलेखन (शुद्धि) करना सिद्ध होता है।

माया मिथ्या और निदान ये तीन आत्मा को अनादि स क्लेश देते आये हैं इसलिए तत्त्व श्रद्धान पर दृढ़ रहकर मिथ्यात्व का नाश करो। सरलता निष्कपट भाव धारण कर माया को हृ य स निकाल फेंको और भावी भोगों की निस्पृहता से निदान शल्य का नाश करो। इससे तुम्हारा रत्नत्रय शुद्धि को प्राप्त हो ा।

सम्यग्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करने को रत्नत्रय की प्राप्ति कहते हैं। हे क्षपकोत्तम! मिथ्यात्व का वमन करने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। मिथ्या‍व ससार का मूल कारण है। और यह सब कर्मों से प्रधान है। इसलिए हे क्षपक! तू मन वचन और काय से ‍स मिथ्या‍व शत्रु का ‍याग कर।

शका—मिथ्या‍व को सब कर्मों से प्रधान कैसे कहा है? ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि के अनुक्रम से आचार्यों ने इसे प्रधान नहीं कहा है? आत्मा के साथ अनादि काल स आठों कर्मों का सम्ब‍ध हो रहा है। इसलिए उत्पत्ति की अपेक्षा भी मिथ्यात्व मोहनीय दर्शना वरणादि में पहले पाछे का सद्भाव नहीं है। अत आपने मिथ्या व को प्रधान कैसे कहा है?

समाधान—मिथ्यात्व को सब कर्मों से प्रधान इसलिए कहा है कि य आत्मा के ज्ञानादि गुण को विपरीत करता है। अन्यकम तो ज्ञानादि गुणों की शक्ति का ह्रास मात्र करते हैं उनको विपरीत नहीं बनाते हैं। और मिथ्या‍व उन्हें सवथा उल्टा कर देता है। अर्थात् शुश्रूषा (सुनने की इच्छा) शास्त्र श्रवण करना श्रवण कर हृ‍य में धारण करना और धारण किया हुआ नहीं भूलना ये सब बुद्धि के गुण हैं। मिथ्यात्व ‍न को भी विपरीत करता है। तथा चारित्र तपश्चरण भावना आदि सब में विपरीतता उत्पन्न करता है, इसलिए मिथ्यात्व को सम्पूण कर्मों में प्र ान व महान् कम कहा गया है। अतएव हे क्षपक!

परिहर त मिच्छत्त सम्मा ाराहणाए दढचित्तो।
होदि णमोकारम्मि य णाणे वद मावणासु धिया ॥ ७२५ ॥
भयतण्हियाओ उदयंत्ति मया मण्णन्ति वह सतण्हयणा।
सब्भूदति असब्भूद तध मण्णति मोहेण ॥ ७२६ ॥ [भग आ]

अथ—तू इस मिथ्यात्व का परित्याग कर और सम्यक्त्व की आराधना में चित्तको स्थिर कर। तथा परम भक्ति से अरिहृत आदि परमेष्ठी के भाव नमस्कार में रत हो। हाथ जोड़कर मस्तक झुका कर पंच परमेष्ठी को नमस्कार हो ऐसा वचन उच्चारण करते हुए नमस्कार करने को द्र‍य नमस्कार कहते हैं। श्री अरहतादि पू‍य व्यक्तियों के गुणों में अनुराग करना भाव नमस्कार है। तू निरन्तर भाव

नमस्कार में तथा ज्ञान की आराधना और व्रतों की भावना में बुद्धि को लगा।

दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से यह जीव अविद्यमान वस्तु में विद्यमान और विद्यमान वस्तु में अविद्यमान प्रतीति करता है तथा अतत्त्व को तत्त्व समझता है जैसे जल से व्याकुल हुआ मृग मरुस्थल की बालु रेत मे पडी हुई सूर्य की किरणों को लहराता हुआ जल समझ कर पानी पीने की आशा से दौड़ता है। वैसे ही मिथ्यात्व से आकुलित बुद्धि मनुष्य विवेकज्ञान रहित हुआ पर पदार्थ को अपना समझ कर दुःखी होता है। धतूर का सेवन करने से उत्पन्न हुआ उन्मत्तपना (पागलपन) कुछ दिन तक जीव को मोहित (मूर्छित) रखता है वह एक भव में भी कुछ काल पर्यन्त ही रहता है। किन्तु मिथ्यात्वमोह का सेवन करने से आत्मा अपरिमित काल तक पागल बना रहता है और वह अनेक कुयोनियों में जन्म मरण परम्परा को उत्पन्न करता है। इसलिए मिथ्यादर्शन मोह सम्पूर्ण मोहों से अति निकृष्ट है। इसका त्याग करने से ही जीव सुखी होता है अतः हे क्षपक ! तुम इस अपरिमित असह्य घोर दुःख के कारण मिथ्यात्व का परित्याग करो।

शङ्का—क्षपक ने तो इस मिथ्यात्व का पहले से ही त्याग किया है। इस समय तो संयम की रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो रहा है। अतः संयम की दृढता का ही इस समय उपदेश देना चाहिए। मिथ्यात्व के त्याग करने का उसको उपदेश क्यों दिया गया है ?

समाधान—जीवो अणादिकाल पयत्तमिच्छत्तभाविदो संतो।

ण रमिज्ज हु सम्मत्ते एत्थ पयत्तं खु कादव्वं ॥ ७२८ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व के संस्कार से संस्कारित रहा है मिथ्यात्व के साथ जीव का अत्यन्त परिचय रहा है। अतः सम्यग्दर्शन में यह रमता नहीं है। किंचित्मात्र विपरीत निमित्त का संयोग मिलते ही इसका अन्तःकरण मिथ्यात्व की ओर झुक जाता है। इसलिए आचार्य क्षपक को सम्यक्त्व मे आसक्त रखने के लिए बारम्बार मिथ्यात्व के दुर्गुण बताकर उससे विमुख रखने के लिए उपदेश देते हैं। जिसका चिरकाल से जीव को अभ्यास हो रहा है उसका त्याग बडी ही कठिनाई से होता है। जैसे सर्प अपने चिर परिचित बिल में निवारण करने पर भी प्रवेश करता है उसे नहीं छोडता है वैसे ही इस जीव को मिथ्यात्व से अनन्त काल का परिचय हो रहा है इसलिए आचार्य बार बार मिथ्यात्व का परित्याग करने और सम्यक्त्व में दृढ़ रहने का उपदेश देते हैं। जैसे–प्रतीकार रहित विष से बुझे हुए बाण से बींधा गया मनुष्य बीहड जङ्गल में पडा हुआ भयानक वेदना को सहकर मृत्यु को प्राप्त होता है वैसे ही मिथ्यात्व शल्य से पीड़ित हुआ यह जीव भव भव में नरकादि योनि के असह्य दुःखों को अनन्त काल तक सहता है।

हे क्षपक ! सर्वश्री नाम के प्रधान मन्त्री के चक्षु महान् मिथ्यात्व के प्रभाव से नष्ट हुए। वह उसी भव में दुःख से मरकर दीर्घ

ससारी हुआ।

इस मिथ्यात्व के दोष से आत्मा के सुन्दर और सुखद ज्ञानादि गुण निकम्मे हो जाते हैं जैसे कडुवी तुम्बी में रखे हुए दुग्धादि मिष्ट पदार्थ भी कडुवे हो जाते हैं। कहा है —

कडुगम्मि अणि वलिदम्मि दुद्धिए कडुगमेव जह खीर।
होदि णिहिद तु णिव्वलियम्मि य मधुर सुगध च ॥ ७३३ ॥
तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाण चरणविरियाणि।
णासति वतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायति ॥ ७३४ ॥ (भग आ)

अथ—गूदे सहित कडुवी तुम्बी में भरा हुआ दूध जैसे कडुवा हो जाता है और शुद्ध तुम्बी में रखा हुआ दुग्ध मधुर और सुगंधित रहता है वैसे ही मिथ्यात्व से कटुता (विपरीतता) को प्राप्त हुए जीव के ज्ञान चारित्र तप और वीय नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् ज्ञान चारित्रादि मोक्ष के कारण नहीं होते हैं। तथा जब यह जीव मिथ्यात्व का वमन कर देता है तब वे ही ज्ञानादि गुण स्वर्गादि के सुख एवं मोक्ष के कारण होते हैं।

इसलिए हे क्षपक! मिथ्यात्व की आत्मा में छाया तक मत पड़ने दो और सम्यक्त्व के आराधन में सदा सावधान रहो।

हे साधु श्रेष्ठ! तुमने अनेक परीषह उपसर्गादि सहकर इतने काल तक जो ज्ञान चारित्र तप आदि की साधना की है उसकी सफलता इस सम्यग्दर्शन से ही हो सकती है, इसके बिना उनका कुछ भी महत्त्व नहीं है। वे सम्यक्त्व बिना केवल आत्मा के भारभूत हैं। आत्मानुशासन में कहा है —

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरव पुसाम्।
पूज्य महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसयुक्तम् ॥

अथ—क्रोधादि का उपशम ज्ञान चारित्र और तप का आचरण ये सब सम्यक्त्व के बिना आत्मा को पाषाण के समान भार भूत हैं। जब आत्मा में सम्यक्त्व गुण उत्पन्न हो जाता है तब वे ही महामणि के समान पूज्य (प्रशस्त) हो जाते हैं।

णागरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं ।
तह जाण सुसम्मत्तं णाणचरणवीरियतवाणं ॥ ७३६ ॥

अर्थ—जैसे नगर का दर्वाजा नगर में प्रवेश करने का उपाय है। वैसे ही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप और वीर्यादि गुणों के प्रवेश करने का उपाय है। क्योंकि सम्यक्त्व के बिना सातिशय अवधिज्ञान तथा उत्कृष्ट निर्जरा के कारण यथाख्यात चारित्र सातिशय तपश्चरण और विशेष वीर्य का प्रादुर्भाव नहीं होता है। नैन-चक्षु मुख की शोभा बढ़ाने वाली होती है। जैसे ज्ञानादि की शोभा सम्यक्त्व से होती है। बिना सम्यक्त्व के ज्ञानादि गुण मिथ्यापन से दूषित रहते हैं। सम्यक्त्व के उत्पन्न होते ही वे सब उक्त दूषण से रहित होकर पूज्यता को प्राप्त होते हैं। जैसे वृक्ष की स्थिति का कारण मूल (जड़) होती है। वैसे ज्ञानादि गुणों की स्थिति का कारण सम्यक्त्व होना है। अर्थात् बिना सम्यक्त्व के सम्यक ज्ञानादि गुण आत्मा से निकल जाते हैं और आत्मा में मिथ्या ज्ञानादि का निवास हो जाता है। अतएव हे क्षपक तू नित्य सम्यक्त्व की आराधना में रत रह क्योंकि—

दंसणभट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झन्ति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झन्ति ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वही भ्रष्ट समझा गया है। क्योंकि दर्शन भ्रष्ट जीव का निर्वाण नहीं होता है। चारित्र भ्रष्ट मोक्ष सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं किन्तु दर्शन भ्रष्ट मुक्ति से वंचित रहते हैं।

सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं ॥
जादो दु सेणिगो आगमेसिं अरुहो अविरदो वि ॥ ७४० ॥

श्रेणिको व्रतहीनोऽपि निर्मलीकृतदर्शनः ।
आर्हन्त्यपदमासाद्य सिद्धिसौधं गमिष्यति ॥ ७६६ ॥

अर्थ—शुद्ध सम्यक्त्व के प्रभाव से व्रत रहित जीव भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है। संयम हीन श्रेणिक महाराज सम्यग्दर्शन की निर्मलता के कारण भविष्य काल में त्रिलोक चूडामणि अर्हन्त पद पाकर सिद्धि सौध (महल) में गमन करेंगे।

कल्याण परंपरय लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्ता ।
सम्मद् सणरयणं णग्घदि ससुरासुरो लोओ ॥ ७४१ ॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शन को निर्मल करने से यह जीव देवेन्द्र पद चक्रवर्तीय पद अहमिन्द्र पद और तीर्थकर पद ऐसी उत्तरोत्तर कल्याण परम्परा को प्राप्त करता है। यह सम्यग्दर्शन इतना अमोघ अमूल्य रत्न है कि सुर और असुर सहित यह लोक भी इसके मोल की तुलना नहीं कर सकता है।

हे क्षपक! तुम समाधि मरण (रत्नत्रय पूर्वक मरण) के सम्पादन करने में प्रयत्नशील हो। इसलिए सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की आराधना में संलग्न रहो। इस आराधना की सिद्धि के लिए आराधन के नायक अर्हन्त सिद्ध परमेष्ठी तथा उनके चैत्य और प्रवचन में परम भक्ति धारण करो। यह भक्ति ही आराधना का मूल कारण है शास्त्र मे कहा है —

विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा णिप्पादयं हवदि वासं ।
तह अरहादिग भत्ती णाणचरणदंसण तवाणं ॥ ७५१ ॥

अर्थ—विधि पूर्वक बोये हुए धान्य का उत्पादक जैसे वृष्टि या जल सिंचन है वैसे ही दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की आराधना का निष्पादक कारण अर्हतादि की भक्ति है।

बीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएण विणा ।
आराधणमिच्छन्तो आराधनभत्तिमकरन्तो ॥ ७५ ॥

अर्थ—आराधना व आराधक की भक्ति न करता हुआ जो मनुष्य दर्शन ज्ञान चारित्र तप की आराधना चाहता है वह बीज के बिना धान्य और मेघ के बिना वृष्टि की इच्छा करता है।

तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य के हृदय में अर्हतादि में भक्ति नहीं है उस का हृदय ऊसर भूमि के समान है। उस में बोया हुआ आराधना रूप बीज दर्शन ज्ञान चारित्रादि रूप सस्य (धान्य) को कभी उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है।

जिस को चित्त भूमि में भक्ति का स्रोत बहता है उसको अनेक विद्याएँ सिद्ध होती हैं।

विज्जा वि भत्तिवतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य ।
किह पुण णिव्वुदिबीज सिज्झहिदि अभत्तिम तस्स ॥ ७४८ ॥

अर्थ—भक्ति परायण पुरुष के विद्या सिद्धि होती है। उसकी विद्या फलवती होती है। और तो क्या उसकी रत्नत्रय आराधना भी सफल होती है। जो भक्ति हीन है उस के मोक्ष के बीज भूत रत्नत्रय को क्या सिद्धि हो सकती है ? अर्थात् भक्ति शून्य हृदय में रत्नत्रय की आराधना कभी नहीं होस ती है ।

तात्पर्य यह है कि रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाले पुरुष को अर्हतादि की भक्तिमें तन्मय रहना चाहिए। भक्ति के बिना सम्यग्दर्शनादि की आराधना आकाश पुष्प के समान असम्भव है। इसलिए हे क्षपक ! तुम निरन्तर अर्हतादि परमेष्ठी की भक्ति में मल्लीन रहो।

जो पुरुष अर्हतादि की भक्ति में तत्पर रहता है उसकी प्रवृत्ति णमोकार (पचपरमेष्ठी के नमस्कार) में अवश्य होती है। णमोकार स भक्तिका पोषण होता है। सलिए —

आराधणा पुरस्सर मणण्णहिदओ विसुद्ध लेस्साओ ।
ससारस्स खयकर मा मोचीओ णमोक्कार ॥ ७५३ ॥

अर्थ—मुनिसत्तम ! विषय कषायादि सब विकार भाव को हृदय से निकाल कर एकाग्रचित्त होओ। तथा कषाय की मंदता कर लेश्या को उज्ज्वल बनाकर संसार का क्षय करने वाले आराधना के अग्रेसर णमोकार मन्त्र को मत छोड़ो। इसका निरन्तर चिन्तन करो।

मरण के अवसर में श्रवण गोचर हुआ णमोकार मंत्र सद्गति का कारण होता है। देखो मरणोन्मुख हुए कुत्ते ने जीवन्धर स्वामी द्वारा कान में सुनाये गये णमोकार मन्त्र को सुनकर देव गति प्राप्त की। और अन्तमुहूर्त मे पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त हो तत्काल आकर उसी जगह मृत कुत्ते के शव के समीप बैठे हुए श्री जीवन्धर स्वामी की पूजा की।

दृढ़ सूर्य नामक चोर मरण समय णमोकार मन्त्र का स्मरण कर महर्द्धिक देव हुआ यथा :—

दढसुप्पो सूलहदो पचणमोक्कारमेत्त सुदणाणे ।
उवजुत्तो कालगदो देवो जाओ महड्ढीओ ॥ ७७३ ॥

अर्थ—सूली पर लटकाया गया दृढ़शूर नाम का चोर पंच नमस्कार मात्र श्रुत ज्ञान में उपयोग रखता हुआ उस पंच नमस्कार मंत्र के प्रभाव से इस शरीर का त्याग कर महर्द्धिक देव हुआ। इसलिए हे साधो! पंच परमेष्ठी का नमस्कार स्वर्गादि की दिव्य सुख सामग्री देता है और परम्परा मोक्ष सुख को देने वाला है। इसलिए हे भाई! इस अपूर्व समाधिमरण के समय इसे किसी प्रकार मत भूलो। अन्य विषयों के स्मरण करने का यह समय नहीं है अतएव सावधान होकर अर्हंतादि के नाम का स्मरण और उनके स्वरूप का चिन्तन करो।

निर्यापकाचार्य उक्त रीति से अनेक प्रकार उपदेश देकर उसको सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र और तपश्चरण में सावधान करते हैं

सथारत्थो खवओ जइया खीणो हवेज्ज तो तइया।
वोसरिदव्वो पुव्वविधिणेव सो पाणगाहारो ॥ १४६२ ॥

अर्थ—संस्तर पर सोये हुए क्षपक का शरीर जब क्षीण हो जावे तब पहले वर्णन की गई जो तीन प्रकार के आहार करने की विधि उसके अनुसार पानक आहार का त्याग भी क्रम से करना चाहिए। अर्थात् पानक आहार द्रव्य के छह भेद पहले बताये गये हैं, क्षपक के बलाबल को देखकर आयुर्वेद के नियमों को ध्यान में रखते हुए क्रम से उनका त्याग करवाने में निर्यापकाचार्य को सावधान रहना योग्य है।

प्रश्न—वैयावृत्त्य करने वाले यति और निर्यापकाचार्य को क्षपक के शारीरिक पीड़ा उत्पन्न होने पर उसका प्रतिकार करने के लिए वैद्य की सम्मति लेकर औषधि की योजना करने का शास्त्रीय मत क्या है ?

उत्तर—वैद्य के आदेशानुसार क्षपक के रोग का प्रतीकार प्रासुक द्रव्यों से अवश्य करना चाहिए। इसके लिए भगवती आराधना में निम्नांक आज्ञा है।

तो तस्स तिगिंछा जाणएण खवयस्स सव्वसत्तीए।
विज्जादेसेण वसे पडिकम्म होइ कायव्वं ॥ १४६७ ॥
णाऊण विकारं वेदणाए तिस्से करेज्ज पडियारं।
फासुगदव्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडियारं ॥ १४६८ ॥

अर्थ—प्रतिचारक यति व निर्यापकाचार्य (जो रोग की चिकित्सा रोग का निदान व उसकी निवृत्ति का उपाय जानता है) को स्वयं अथवा वैद्य के उपदेश के अनुसार क्षपक के रोग का प्रतीकार प्रासुक औषध द्रव्यों के द्वारा अवश्य करना चाहिए। क्षपक के वात पित्त व

कफ का प्रतीकार साधु के योग्य निर्दोष द्रव्य से करना निर्यापकाचार्य व परिचारक मुनियों का परम कर्तव्य है।

प्रश्न—क्षपक के रोग का प्रतीकार करने के लिए निर्यापकाचार्य व परिचारक किन २ उपायों का आश्रय ले सकते हैं?

वत्थीहिं अवदवणतावणेहिं आलेवसीदकिरियाहिं।
अब्भंगणपरिमद्दण आदीहिं तिगिंछदे खवयं॥ १४६६ ॥

अर्थ—वस्ति कर्म (मल मूत्राशय में बत्ती करना—इनीमा करना) गर्म करने के लिए तपाना औषधि का लेप करना प्रासुक शीत जलादि का सेवन कराना अंग दबाना शरीर मर्दन करना इत्यादि वैयावृत्त्य प्रासुक द्रव्यों द्वारा निर्यापक मुनि व धर्म परायण श्रावक क्षपक की वेदना निवारण करने के लिए करते हैं।

भावार्थ—जितने भी उचित उपाय रोग अन्य पीड़ा शमन करने के आयुर्वेद में बताये गये हैं उन सब का प्रयोग कर क्षपक की शारीरिक वेदना का शमन करने में परिचारक प्रमाद नहीं करते हैं। किन्तु वे सब प्रासुक व मुनि के सेवनीय पदार्थों का ही सेवन कराते हैं अप्रासुक द्रव्यों का परित्याग और प्रासुक उचित द्रव्यों का ही उपयोग करते हैं।

प्रश्न—यथाशक्ति भरसक उपाय करने पर भी तीव्र वेदनीय कर्म के उदय में बाह्य उपचार कार्यकारी नहीं होते हैं। अर्थात् अनेक उपचार करने पर भी किसी के रोग की शान्ति नहीं होती है। और किसी के बाह्य उपायों से वेदना का प्रतीकार हो जाता है। इससे कर्मोदय की विचित्रता प्रकट सिद्ध होती है। कहा भी है —

कस्यचित् क्रियमाणेऽपि बहुधा परिकर्मणा।
पापकर्मोदये तीव्रे न प्रशाम्यति वेदना॥ १५६ ॥

उस समय में अथवा-भूख प्यास आदि परिषहों से पीड़ित होकर क्षपक व्याकुल चित्त या चेष्टाहीन (मूर्छित) हो जाता है। कभी कभी तीव्र वेदना से अति पीड़ित परीषहों से घबराकर आपे से बाहर हो जाता है। ऊटपटांग बकने लगता है। कभी रात्रि भोजन पानादि संयम विरुद्ध क्रिया करने के लिए भी उतारू हो जाता है उस समय निर्यापकाचार्य किस उपाय से उसको शान्त करते हैं?

उत्तर—उस समय आचार्य बाह्य उपायों की ओर से उपेक्षा दृष्टि न रखते हुए भी उनसे अपनी मनोवृत्ति को हटाकर अन्तरंग

औषध उपदेशामृत का पान कराते हैं। उसके स्वरूप का भान कराते हैं। उसके निज की महत्ता का स्मरण दिला कर उसके हृदय में आत्म सम्मान का भाव जाग्रत करते हैं। तथा उसको अनेक प्रकार से धैर्य बंधाते हैं।

कोसि तुम किं णामो कत्थ वससि को व मपही कालो।
किं कुणसि तुम कहवा अत्थसि किं णामगो वाह ॥ १५ ५ ॥

हे क्षपकोत्तम! हे आत्म कल्याण के इच्छुक! स्मरण करो। तुम कौन हो? तुम्हारा नाम क्या है? तुम कहां बसते हो? इस समय कौन सा काल है? अर्थात् अभी रात है या दिन? तुम क्या काम कर रहे हो? तुम क्या चाहते हो? मेरा नाम क्या है? इस प्रकार निर्यापकाचार्य क्षपक से बार बार पूछते हैं।

भावार्थ—दयालु आचार्य क्षपक की सावधानता या असावधानता की परीक्षा करने के लिए उससे अति प्रेम से भरे अनेक प्रश्न करते हैं। कोई क्षपक आचार्य महाराज के इस प्रकार पूछने पर सचेत हो जाता है और अपनी अवस्था पर विचार करता है कि मैंने सन्यास मरण प्रारम्भ किया है मेरा इस समय क्या कर्त्तव्य है। ये परम दयालु आचार्य महाराज मेरे हित के लिए कितना कष्ट सहन कर रहे हैं। धन्य है इन दयालु महापुरुषों को जो इतना काय क्लेश उठाकर मेरे कल्याण के अर्थ उद्योग कर रहे हैं। ऐसा चिन्तन कर शुभ ध्यान में लीन होता है। कोई एक आचार्य द्वारा अनेक बार सचेत करने पर चैतन्य को प्राप्त होकर तीव्र वेदना व क्षुधादि की दुस्सह परिषह उपसर्ग को सहन न कर सकने के कारण तीव्र अशुभ कर्म के वश पुनः अचेत (बेहोश) हो जाता है तथापि परोपकार में तत्पर आचार्य महाराज उदासीनता धारण नहीं करते हैं। उसको पुनः कोमल शब्दों से प्रेम पूर्ण वाक्यों से पुनः सावधान करने का पूर्ण उचित उपाय करते हैं। उस आराधना का स्मरण दिलाते हैं। तथा चार प्रकार के आहार का याद दिलाते हैं।

कोई सचेत हुआ भी होश में आया हुआ भी कर्म के उदय से परिपूर्ण क्लेश से संतप्त हुआ अयोग्य वचन बोलने लगता है। प्रतिज्ञा भंग करने पर उतारू हो जाता है रुदन करने लगता है। तथापि आचार्य उसका तिरस्कार नहीं करते हैं। उसके प्रति कटु वचन का प्रयोग नहीं करते हैं। उसके प्रति आचार्य के हृदय में पूर्ण सहानुभूति का वेग हो आता है और उसके कल्याण के लिए अधिक तत्परता दिखाते हैं।

विचक्षण बुद्धि शक्ति शाली धर्म धुरन्धर आचार्य महाराज क्षपक को प्रेम पूर्ण कर्ण प्रिय शिष्ट और मिष्ट आनंद बढ़ाने वाले वचन उच्चारण करते हैं। जिनका श्रवण करते ही क्षपक का सब दुःख निवारण हो जाता है। आचार्य धीरे समझाकर वचन बोलते हैं। शीघ्रता नहीं करते हैं।

हे चारित्र धारक मुने। सचेत होवो। ख्याल करो तुमने चार प्रकार के संघ के समक्ष महा प्रतिज्ञा धारण की है कि मैं मरण पर्यन्त आराधना का सेवन करूंगा रत्नत्रय का निर्दोष पालन करूंगा इस प्रतिज्ञा का स्मरण करो। अब क्या तुम भूल गये हो ?

हे धीर वीर ! मैं अवश्य शत्रु का पराजय करूंगा ऐसी जनता के समक्ष जिसने दृढ़ प्रतिज्ञा की है ऐसा कौन स्वाभिमानी वीर पुरुष शत्रु के निकट आने पर डर कर पलायमान होगा। कुलीन शूर वीर पुरुष सिंह शत्रु को पीठ दिखाने की अपेक्षा समरांगण में प्राणों का त्याग करना ही सब श्रेष्ठ समझता है। वैसे ही हे वीर मुने ! तुमने सम्पूर्ण संघ के समक्ष प्रतिज्ञा की है कि कठिन परीषह व घोर उपसर्ग के आने पर भी परित्यक्त आहारादि पदार्थों को अङ्गीकार नहीं करूंगा। मरणान्त विपत्ति आने पर भी प्रतिज्ञात व्रत नियमों का यथावत् पालन करूंगा। हे मुने ! क्या ऐसी प्रतिज्ञा लेकर स्वाभिमानी साधु कष्टों से घबराकर कायरता धारण करेगा। अपनी प्रतिज्ञा का भंग करेगा ? हे सर्वामन ! वह कदापि अपने स्वाभिमान व वचन का भंग न करेगा। वह मरण को तुच्छ समझ अपने यश का विनाश न होने देगा। लज्जास्पद जीवन को अधम मनुष्य ही अच्छा समझता है। गौरव शाली मानव पुंगव लज्जा युक्त जीवन से मृत्यु को ही उत्तम मानकर प्राणपण से अपना प्रतिज्ञा का पालन करता है।

हे मुने ! तुमतो महान् शूर वीर हो। क्या कायरता धारण करना शूर वीर पुरुषों को शोभा देता है ? शूर वीर पुरुषों के तो युद्धस्थल में शत्रु की ललकार सुनकर पाव उठते हैं। वे प्रसन्न चित्त होकर अपनी वीरता दिखाने के लिए बड़ी उत्सुकता से सम्मुख गमन करते हैं। तथा शरीर में जीवन ज्योति की किरण के प्रकाश मान न होते हुए कदापि रणांगण से पश्चात्पद नहीं होते हैं। हे शूर वीर मुने ! तुम तो महान वीर और धीर हो। तुमको इन आगत परीषह व उपसर्ग का वीरता के साथ सामना करना चाहिए। तुम अनन्त शक्ति के धारक त्रैलोक्य साम्राज्य के अधिपति चैतन्य हो। ये जड़ तुम्हारे सामने कैसे ठहर सकते हैं। ये तो तुम्हें अपने कर्त्तव्य से च्युत करने के लिए तुमको त्रिजगत्पति बनने के कृत्य में बाधा डालने के लिए शत्रुता कार्य कर रहे हैं। इसलिए यदि इस समय तुमने कायरपना धारण कर लिया तो तुम इन लुटेरों से लूट लिये जावोगे। ये तुम्हारे रत्नत्रय के भंडार को छीन लेंगे। और अपरिमित काल के लिए तुम्हें शक्ति हीन दरिद्री बना देंगे अतः यह तुम्हारे सावधान रहने का समय है।

हे मुने ! अपने कुल के अपने गण के, तथा संघ के यश को उज्ज्वल बनाने वाले का जीवन मनुष्य समाज में ही नहीं, देवों से भी पूज्य होता है। इसलिए तुम कुल गण और संघ की लज्जा का ख्याल रखो। उस को मलिन कर जीवन धारण करना क्या उचित प्रतीत होता है ? तुम्हारे सरीखे महात्मा क्या ऐसे निन्दनीय कार्य कर सकते हैं ? अतएव हे मुनिश्रेष्ठ अब सावधान होकर अपने प्रतिज्ञात कर्त्तव्य का स्मरण करो।

इतने ही महापुरुष समस्त परिग्रहों का परित्याग कर अपने आत्मा के स्वरूप में आपा धारण कर उपसर्गादि की परवाह न कर आपत्तियों को निमन्त्रण देने के लिए अनेक विपत्तियों का आह्वान करने के लिए सिंह-व्याघ्र सर्प-दुष्ट हिंस्र तिर्यच मनुष्य और देवकृत तथा अचेतन कृत उपसर्गों से व्याप्त भयानक कानन में पर्वत की गुफाओं में व शिखरों पर और श्मशानों में जाकर निवास करते हैं। वहां पर ध्यान धरते हैं। वहां पर एकाकी रहकर उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की आराधना में कटिबद्ध रहते हैं। वे मन्द मा अतिशीघ्र रत्नत्रय की पूर्णता कर परम सद्गति को प्राप्त करते हैं।

हे मुने! तुम्हारे समीप तो अनेक परिचारक मुनिराज वैयावृत्त्य करने में सदा तत्पर रहते हैं। तुम को क्या इस समय धैर्य धारण करना उचित नहीं है? अन्य मुनि अनेक घोर उपसर्ग सहकर जो वस्तु प्राप्त करते हैं वह वस्तु तुम्हें थोड़े से धैर्य धारण करने से आत्मा में सावधानी रखने से प्राप्त हो सकती है। इसलिए इस समय गाफिल मत रहो। पूर्ण सावधान होकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने में दत्तचित्त हो जाओ।

हे क्षपक मुने! जिन्होंने अलौकिक धैर्य धारण किया है जिनके चारित्र में लेशमात्र भी दूषण का सम्पर्क नहीं हुआ है तथा जिन्होंने आत्मज्ञान का अवलम्बन लिया है ऐसे महामुनीश्वर जंगली हिंस्र पशुओं की तीक्ष्ण दाढ़ में पहुंचकर भी उत्तमार्थ जो रत्नत्रय है उसकी सिद्धि कर लेते हैं। वे प्रातः स्मरणीय महात्मा निम्नोक्त प्रकार हैं—

उपसर्गों से विचलित न होने वाले महामुनियों के कुछ उदाहरण

मल्लखिए तिरत्त खज्जतो घोरवेदणट्टो वि।

आराधण पवण्णो ज्झाणेणावतिसुकुमालो ॥ १५३९ ॥ [भग आ]

भावार्थ—जिन अत्यन्त पुण्यशाली पुरुष पुंगव ने महलों में भी मखमली गलीचों को छोड़कर भूमिपर पांव नहीं रखा था दिव्य रत्नों के दीपकों की ज्योति के सिवा किसी दीपक के प्रकाश को नेत्रों से नहीं देखा था सदा शीतल छाया में ही अपना जीवन बिताया था कभी सूर्य तक का अवलोकन नहीं किया था रात भर कमल के मध्य में वासित उत्तम चावलों के अतिरिक्त कठोर पदार्थ का भोजन नहीं किया था सरसों के दाने जिनके कमल सम कोमल शरीर में शूल समान गड़ते थे वे अवन्ति सुकुमाल मुनिराज देवोपम सब सुखों पर लात मारकर सब ऐश्वर्य का परित्याग कर वन में कायोत्सर्ग कर आत्म-ध्यान में आरूढ़ थे। उनके शरीर को तीन रात लगातार नोच २ कर शृगाली भक्षण करती रही। उनके अंग प्रत्यंग में भयानक वेदना हो रही थी तथापि वे धीर वीर अवन्ति सुकुमाल महामुनि रत्नत्रय की

आराधना मे सलग्न रहे। शुभ ध्यान स रचमात्र विचलित नहीं हुए। अन्ततक अपने शुभ ध्यान में मग्न रहे और उन्होंने उत्तमार्थ की सिद्धि की।

मोग्गिलगिरिम्मि य सुकोसलो सिद्धत्थदइय भयवंतो ।
वग्घीश वि खज्जंतो पडिवण्णो उत्तम अट्ठ ॥ १५४० ॥ [भग आ]

अ —मुद्गलनाम क पवतपर ध्यानारूढ़ सिद्धार्थ नृपतिके पुत्र सुकोशल महामुनिराज को उनके पूवभव की माता के जीव व्याघ्री ने भक्षण किया तो भी उन महामुनीश्वर ने अपने शुभ यान का याग न कर उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की सिद्धि की। परम धैय के धारक मुनिपुग ने तिर्यञ्चकृत घोर उपसग पर विवेकज्ञान बल स विजय प्राप्तकर अपने स्वाथ की (आत्मकाय र त्नत्रय की) प्राप्ति करली ।

भूमीए मम कीलाकोट्टिददेहो वि अल्लचम्म व ।
भयव पि गएकुमारो पडिवण्णो उत्तम अट्ठ ॥ १५४१ ॥ [भग आ]

अथ—भगवान गजकुमार मुनिराज को भूमिपर गिराकर उनके शरीर में कीलें ठोककर गीले चम के समान भूमिपर बिछादिया था भूमि और शरीर को एक कर दिया था। ऐसे भयकर दुष्ट मनुष्यों स किये गये रोमाचकारी उपसग को शांति से सहकर उन धीर वीर आत्म ध्यानी मुनिराज ने उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की प्राप्ति की थी। वे शुक्ल ध्यानाग्नि से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर मुक्ति साम्राज्य के अधिकारी बने ।

हे मुन ! जो गृहस्थावस्था में चक्रवर्ती थे वे सनत्कुमार नामा महामुनि सौ वष पय त खाज र खासी, श्वासरोग भस्मक-व्याध नेत्ररोग उदरपीडा आदि उग्र रोग जनित तीव्र वेदना का सहन करते रहे। रचमात्र सक्लेश परिणाम न कर ध्यान में मग्न रहे। धर्यावलम्बन लेकर अपने उत्तमार्थ की सिद्धि में लगे रहे ।

हे साधो ! गङ्गा नदी क मध्य नाव में डूबते हुए एणिक पुत्र मुनिराज ने शरीर के मोह का परित्याग कर आत्तध्यान के अवसर में भी शुभ ध्यान धारण कर चार आराधनाओं को प्राप्त करते हुए मरण किया ।

घोर अवमौदय तपश्चरण करते हुए भद्रबाहु मुनिराज तीव्र क्षुधा की पीड़ा से पीड़ित होने पर भी लेशमात्र संक्लेश परिणाम के वशीभूत नहीं हुए। शान्तभाव से शुभ ध्यान में मग्न रहकर रत्नत्रय की प्राप्ति की।

कोसबीललियघडा वूरा गइपूरएण जलमज्झे ।
आराधण पवण्णा पावोवगदा अमूढमदी ॥ १५४५ ॥ [भग आ]

अथ —कौशाम्बी नगरी में ललितघट नाम स प्रसिद्ध इन्द्रदत्तादि बत्तीस महासम्पत्तिशाली श्रावक यमुना नदी के प्रवाह में डूब कर भी सक्लेश परिणाम रहित प्रायोपगमन संन्यास धारण कर उत्तमार्थ को प्राप्त हुए।

चम्पानगरी के बाहर गङ्गा के तट पर धम घोष नामा महामुनि एक मास के उपवास धारण कर भयानक तृषा की वेदना से पीड़ित होने पर भी सक्लेश भाव रहित होकर उत्तमाथ (आराधना सहित) मरण को प्राप्त हुए।

हे क्षपक ! श्री दत्त नामक मुनिराज के पूर्वभव के वैरी किसी देव ने विक्रिया द्वारा शीतल जल की वृष्टि व शीतल वायु उत्पन्न करके उन महामुनि को घोर क्लेश दिया। किन्तु वे महामुनि सक्लेश भाव रहित हुए उत्तमार्थ की साधना में ही रत रहे।

श्री वृषभसेन महामुनि ने अत्युष्ण वायु तथा अत्यन्त उष्ण शिलातल और सूर्य के प्रखर किरणु सताप से उत्पन्न हुई उष्ण परीषह का सहन कर सक्लेश परिणाम न करते हुए उत्तमार्थ की साधना की।

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कोंचेण अग्गिदइदो वि ।
त वेयणमधियासिय पडिवण्णा उत्तम अट्ठ ॥ १५४६ ॥ [भग आ]

अर्थ—रोहेडग नगर में क्रौंच नाम के राजा ने अग्निराजा के पुत्र कार्तिकेय मुनिराज को शक्ति नाम के शस्त्र विशेष से मारा था। उस समय मुनिराज ने लेश मात्र भी परिणामों में विकार भाव उत्पन्न नहीं किया। शान्त परिणाम से उस उपसर्ग को सहकर उत्तमार्थ का साधन किया।

हे मुने ! काकदी नाम की नगरी में चंडवेग नाम के एक दुष्ट राजपुत्र ने अभयघोष मुनिराज के समस्त अगों को काट डाला। तथापि उन महामुनि ने रंचमात्र रोष नहीं किया। किन्तु साम्य भावना से उस रोमांचकारी दुःख को सहन कर रत्नत्रय की आराधना में तन्मय रहे।

विद्युच्चर नामा चोर डांस और मच्छरों से भक्षण किया गया किन्तु वह उनकी तीव्र वेदना को सक्लेश भाव रहित साम्य भावना से सहकर उत्तमार्थ (आत्म कल्याण मार्ग) को प्राप्त हुआ।

हस्तिनापुर के स्वामी गुरुदत्त नाम के मुनिराज द्रोणमति पर्वत पर तपस्या कर रहे थे। किसी दुष्ट नरपिशाच ने सबलि स्थाली के समान उनके मस्तक पर अग्नि जलाई थी। मिट्टी के पात्र में हरे नाज की बालें भर कर उस पात्र के मुख पर आक के पत्ते भर देते हैं। पश्चात् उस पात्र को औंधा भूमि पर रख कर उसके चारों तरफ अग्नि जला कर बालें भुनते हैं। उसे सबलिस्थाली कहते हैं। इस प्रकार उन मुनिराज के मस्तक पर अग्नि जला कर घोर उपसर्ग किया गया था। किन्तु वे मुनिराज तीव्र वेदना से संक्लेश भाव को प्राप्त न होकर साम्य भावना भाते हुए आराधना के फल को प्राप्त हुए।

किसी पूर्वभव के बैरी ने चिलातपुत्र नामक मुनिराज पर शस्त्र प्रहार किया। जिससे उनके शरीर पर अनेक घाव हो गये। पश्चात् उनके शरीर को स्थूल मस्तक वाली काली चींटियों ने खाकर चलनी के समान छिद्रमय कर दिया था। किन्तु उन धीर वीर महामुनिराज ने मुनन मात्र से रोमांच उत्पन्न करने वाली घोर वेदना को शान्ति से सहा और आराधना के निर्वाह न साधन किया। अर्थात् रत्नत्रय की आराधना से रंचमात्र भी नहीं टले।

दण्डनाम के मुनिराज पर यमुनावक नाम के किसी पापी पुरुष ने बाणों की वृष्टि करके उनका सम्पूर्ण शरीर बाणों से बींध दिया तथापि उन मुनिराज ने रत्नत्रय की आराधना का अपने समाधि मरण को नहीं बिगाड़ा।

अभिणंदणादिया पंचसया णयरम्मि कुंभकारकडे।
आराधणं पवण्णा पालिज्जंता वि यंतेण ॥ १५५५ ॥ [भ० आ०]

अर्थ—कुंभकारकट नाम के नगर में अभिनन्दनादि पांच सौ मुनिराजों को घानी (कोल्हू) में डालकर पील दिया। लेकिन वे मुनिराज रत्नत्रय आराधना से विचलित न हुए।

गोठान (गायों के गृह) में चाणक्य मुनि ने प्रायोपगमन संन्यास धारण कर रखा था। सुबंधु नामा मंत्री उनका शत्रु था। वहां कण्डा की राशि थी। उसमें आग लगा कर उसमें चाणिक्य मुनि को डालकर जलाया। किन्तु वे मुनिराज अपने संन्यास मरण से चलायमान नहीं हुए। साम्यभाव धारण कर रत्नत्रय को निर्मल बनाये रखा।

इसी प्रकार कुणाल नामक नगर के बहिर्भाग में अनेक शिष्य वर्ग के साथ वृषभसेन नामा मुनिराज ठहरे हुए थे। रिष्ट नामक राजमंत्री ने आग लगाकर उनको दग्ध किया किन्तु उन सब मुनिराजों ने उस उपसर्ग का सहन किया। रत्नत्रय आराधना में बाधा न आने दी अर्थात् रत्नत्रय का त्याग नहीं किया।

जन्दिा एव एदे अणगारा तिव्वदरणट्टा वि ।
एयागीऽपडियम्मा पडिवरणा उत्तम अट्ठ ॥ १५५८ ॥ [भग आ]

अर्थ—आगम प्रसिद्ध जगद्विख्यात पूर्वोक्त मुनीश्वरों न अति घोर वेन्नाओं से पीड़ित होकर भी उनका प्रतीकार नहीं किया। उनका कोई सहायक नहीं था। उनका वैयावृत्त्य करन वाला एक भी मुनि पास में नहीं था। कोई वैद्य उनकी चिकित्सा रने वाला नहीं था। उनपर दुष्ट वैरियो ने रोमाचकारी उपसग किय। जिनको सुनकर आत्मा काप उठता है। उन्हें अग्नि से दग्ध किया शस्त्रों स छिन्न भिन्न किया कोल्हू में पीला कई पवतों से गिराये गये। दुष्ट तिर्यंचों ने उनके शरीर का शनै शनै नाच नोच कर भक्षण किया प्राण रहित किया तथापि उन्होंन साम्य भाव का त्याग नहीं किया। आराधना के पालने म वे शिथिल नहीं हुए। अपने आत्म-कल्याण के माग स तनिक भी नहीं हटे।

हे क्षपकात्तम ! तुम्हारे तो अनेक सहायक हैं। वैयावृत्त्य परायण परम दयालु धैय के धारक तुम्हारे कल्याण क अभिलाषी हितोपदेश व दान म उद्यमी समस्त आचार्यादि वैयावृत्त्य करने में औषध आदि का उपचार में तन मन म लगे हुए हैं। समस्त संघ सम्पूण उचित उपायों द्वारा तुम्हारे सुख व शान्ति की प्राप्ति मे लगा हुआ है। तुम्हारे ऊपर तो कोई तीव्र उपसगादि भी नहीं आया है। ऐस सर्वानुकूल सामग्री क रहते हुए सुवणसम अवसर म तुम आराधना ग्रहण करन म क्यो शिथिल हो रहे हो ? भो मुने ! अब तुम को सम्भलना चाहिए। इस अवसर के लिए तुमन कठिन मुनिव्रत धारण किया था। अनेक प्रकार क क्लेशों का सहा था। अब समय पर तुम क्यो कायरता धारण कर रहे हो ? यह कायरता का समय नहीं है। धैय धारण करने और थोडा सा साहस रखने स तुम अपने इष्ट कल्याण का प्राप्त कर सकते हो। अत अब सावधान होकर इस नश्वर शरीर के मोह का त्याग कर अपन आत्मा की सुध लो। आराधना देवी की भक्ति करो। इसम ही तुम्हारा कल्याण है।

जिणवयणममिदभूद महुर कण्णाहुदिं सुणतेण ।
सक्का हु सघमज्झे साहेदु उत्तम अट्ठ ॥ १५६० ॥ [भग आ]

अर्थ—हे मुने ! अमृत स्वरूप तथा मधुर कण को तृप्त करने वाले जिनेन्द्र देव के वचनों का श्रवण समस्त संघ के मध्य तुम्हें प्रतिदिन मिलता रहा है। अतएव इस सघ में तुम को उत्तमार्थ (रत्नत्रय का आराधन) की सिद्धि कोई कठिन नहीं है।

हे क्षपक ! यहा तुमको क्या दुःख है जो तुम इतने शिथिल हो रहे हो ?

नरकादि गतियों में भोगे हुए दुखों का दिग्दर्शन कराते हुये क्षपक का सम्बोधन

णिरयतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य सतेण
ज पत्त इह दुक्ख त अणुचिंतेहि तच्चित्तो ॥ १५६१ ॥ [भग आ]

अथ—हे साधो ! ससार में भ्रमण करते हुए तुमने नरकगति तिर्यंचगति मनुष्यगति और देवगति में जो दु ख भोगे हैं उनको चित्त लगाकर सुनो। एसा कोई दु ख बाकी नहीं रहा है जिसको तुमने पहले ससार में नहीं सहा है। निरतर जलने वाली वज्राग्नि में अनन्त बार दग्ध होकर तुम भस्म होते रहे। अनन्त बार जल में डूब डूब कर मरे। अनन्त बार पर्वत से गिर गिर कर तुम्हारे शरीर का चूर्ण हुआ। अनन्त बार कूपादि मे गिर गिर कर मृत्यु को प्राप्त हुए। तथा तालाब में समुद्र मे और अनन्त बार नदी के प्रवाह में बह बहकर मरे। अनन्त बार शस्त्रों स विदारण किये गये। अनन्त बार कोल्हू में पीले गये। अनन्त बार दुष्ट तियच पशुओं से खाये गये। अनन्त बार पक्षियों स नोच नोच कर भक्षण किये गय। अनन्त बार चक्की में पीस गये। सेके गये। भुने गये। राधे गये। कढाही में तले गय। इसी प्रकार तुम अनन्त बार भूख की तीव्र वेदना सहकर भूख के मारे बिलबिला कर मरे हो। अनन्त बार प्यास के मारे तड़फ २ कर मरे हो। अनन्त बार शीत की वेदना म सुकड कर मन प्राण गवाये हैं। अनन्त बार उष्ण (गर्मी) की वेदना से छटपटाकर बुरी तरह मृत्यु पाई है। अनन्त बार वर्षा की बाधा म सड सड कर मर हो। अनन्त बार पवन की पीड़ा से प्राणों का त्याग कर चुके हो। अनन्त बार विष भक्षण से शरीर और प्राणों का नाश हुआ है। अनन्त बार निरुपाय व्याधि की कठोर वेदना से मरे हो। अनन्त बार भय से व्याकुल होकर मरे हो। अनन्त बार शोक स झुर झुर कर मरे हो। अनन्त बार सिंह व्याघ्रादि तथा सर्पादि द्वारा मारे गये हो तथा दुष्ट जीवों स विदारण किये गये हो। अनन्त बार चोरों के द्वारा किये गये उपद्रव स अनन्त बार भीलादि जगली जाति के मनुष्यों से तथा कोतवालादि एव धर्म हीन दुष्ट राजाओं से म्लेच्छ मनुष्यो से तुम अनन्त बार मारे गये हो। यह शरीर आयु पूर्ण होने पर किसी न किसी निमित्त से अवश्य नष्ट होता रहा है और अब भी अवश्य नष्ट होगा। अब इस अवसर पर मरण के भय से या वेदना के भय से संक्लेश भाव धारण कर रत्नत्रय की विराधना करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। अति भयानक दु खों को सहते सहते तो अनन्त काल बिताया और अब ससार पार करने का अवसर मिला है उसमें किंचिमात्र वेदना के प्राप्त होने पर ससार सागर से उद्धार करने वाले परम धर्म का आश्रय छोड़ देना कहा की बुद्धिमानी है ?

जदि कोइ मेरुमेत्त लोहुण्ड पक्खविज्ज णिरयम्मि।
उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलेज्ज सो तत्थ ॥ १५६२ ॥ [भग आ]

अथ—हे क्षपक ! कोई देव या दानव उष्ण नरक में मेरु समान लोहे का पिण्ड ऊपर से गिरादे तो वह नरक भूमि पर गिरने के पूर्व ही नरक बिलों की उष्णता से क्षण मात्र में पिघल कर बह जाता है।

तह चेव य तह हो पज्जलिदो सीयणिरय पक्खित्तो।
सीदे भूमिमपत्तो खिमिसेण सडिज्ज लोहुण्ड ॥ १५६४ ॥ [भग आ]

अथ—यदि वही नरक की उष्णता से पिघला हुआ लोहे का पिंड कोई देव या दानव इकट्ठा करके शीत नरक में फेंक दे तो वह शीत नरक के बिलों की भूमि को प्राप्त करने के पहले ही मार्ग में बिलों के शीत से टुकड़े टुकड़े होकर बिखर जाता है।

हे क्षपकोत्तम ! वहां नरक भूमि में लोहे से निर्मित मण्डप में अतितप्त हुई अग्नि समान लाल वर्ण की लोहे की पुतलियां रहती हैं। तुमको उनके साथ बलात्कार से आलिंगन करवाया गया है। उस समय जो तुम्हें दु सह दु ख हुआ था उसका स्मरण करो। तथा तुमको अनेक बार अत्यन्त क्षाररसयुक्त अग्नि से तप्तायमान कडुवारस पिलाया गया था, उसका तो ध्यान करो।

हे साधो ! वहां पर तुमको यत्र द्वारा मुख फाड़कर बलात्कार से लोहे के जलते हुए अगारे खिलाये गये थे, तुमको कढ़ाही में पूरी कचोरी के समान तला था—उसका तो ख्याल करो।

नरक में सब नारकी एक दूसरे के शत्रु होते हैं। वे परस्पर दु ख देने में तत्पर रहते हैं। वे बाण चक्र तलवार, छुरी, करौंत, भाला शूली गदा आदि शस्त्र रूप बन जाते हैं। तथा कुत्ता बिल्ली भेड़िया सिंह व्याघ्र सर्पादि दुष्ट तिर्यंच बन जाते हैं। कोई नारकी पर्वत बनकर दूसरे नारकी पर गिर पड़ता है। कोई नारकी करौत बनता है और दो नारकी करौत उठाकर दूसरे नारकी के शरीर को काटते हैं। इसी प्रकार एक दूसरे को दु ख देने में सहायक होते हैं। वहां पर ऐसे क्लेश तुमने अनन्त बार सहे हैं।

हे साधो ! नरक में तुम्हारी आँखें निकाल ली गई थीं तथा तुम्हारी जीभ खींचकर बाहर निकाल ली गई थी। उस समय कितना घोर दु ख तुम्हें हुआ था उसको सोचो।

हे क्षपक ! नरक में तुम्हें अनेक प्रकार कुंभीपाक में पकाया गया था। तथा शूली में पिरोकर अग्नि में सेका था। भाड़ में डालकर तुम्हें चने के समान भुना था। तुमको भात के समान बटलोई में उबाला था। मांस के टुकड़े के समान तेरे टुकड़े २ किये गये थे। और आटे के समान तुम्हें चक्की में पीसा था।

हे मुने ! तुम नरक में चक्र से छिन्न भिन्न गये थे। करौत से कई बार चीरे गये थे। कुल्हाड़ा फरसे से फाड़े गये थे और मुद्गरों से तुम्हारा कचूमर निकाला था उनको तो याद करो।

नरक में तुझे पाश में बांधकर ऊपर से मस्तक पर पटके गये थे। और पश्चात् अति तीक्ष्ण क्षार के कीचड़ में तुझे औंधा गाड़ दिया था। वहां पर तुझे घसीटा था। तेरे शरीर को नखों से तोड़ दिया था। एक टांग को पांव से दबाकर दूसरी टांग ऊंची करके तुझे चीर डाला था। तेरी शरीर मर्दित किया गया था। लोहे के तीक्ष्ण कांटों पर तू लुढ़काया गया था। तेरे छिन्न भिन्न हुए शरीर पर खारे क्षार चूर्ण का जल सींच कर ऊपर से हवन करते थे। इसके अनन्तर शक्ति नामक शस्त्र से तथा जिनके अग्र भाग में लोहे के कांटे लगे हुए थे ऐसी लाठियों से लात पान किये और घुमाये गये थे। उस समय तेरे शरीर से रुधिर की धारा बह रही थी। शरीर का चमड़ा नीचे लटक रहा था। पेट फट गया था। अन्दर की आंतड़ियां बाहर निकल आई थीं। हृदय अत्यन्त संतप्त हो रहा था। आंखें फूट गई थीं। तेरे शरीर का चूर्ण हो गया था। ऐसे भयानक दुःख तू नरक में अनेक बार भोग आया है। उसका चिन्तन कर। उस दुःख के मारे तेरे शरीर का अवयव अवयव कांपता था। तू दुःख से थर थर कांप रहा था। उन दुःखों के सामने हे क्षपक ! यह दुःख कुछ भी नहीं है।

हे श्रमणोत्तम ! तुमने अपूर्व पुण्य के उदय से मनुष्य जन्म पाया और देव दुर्लभ सर्वलोक पूज्य मुनि धर्म भी अङ्गीकार किया उसमें भी उत्तम संयम का पालन किया और अन्त में महा श्रेष्ठ समाधिमरण को भी अङ्गीकार किया। इस परमोत्तम धर्म का पालन करते हुए तुम्हारे पूर्व संचित कर्म के उदय से किंचित वेदना आगई। जिससे तुम अपने परम पुनीत धर्म से चलायमान हो रहे हो। यह क्या तुम्हारे समान धैर्यशाली शूर वीर पुरुष पुङ्गवों को शोभा देने वाला कृत्य है ? यह लज्जा जनक क्रिया तुम्हारे यश को मलीन करने वाली है। इस धर्म का विनाशकारी कायरपन का त्याग कर सावधान होवो और स्वाभिमान की रक्षा करो तथा पतनोन्मुख होते हुए अपने आत्मा को सम्भालो।

देखो तुमने अनन्त काल तक संयम के अभाव से भ्रमण किया उसमें अनन्त बार तिर्यंच गति भी पाई। उनके दुःखों का किंचिन्मात्र वर्णन करते हैं उसे तुम सावधान होकर सुनो। उन दुःखों को तुम अपना आत्मा में प्रत्यक्ष देख रहे हो।

तिरियगदिं अणुपत्तो भीममहावेदणाउलमपारं ।
जम्मणमरणरहट्टं अणतखुत्तो परिगदो त ॥ १५८१ ॥ [भग आ]

अर्थ—भयानक तीव्र वेदनाओं से व्याकुल जिसका पार पाना अति कठिन है ऐसी तिर्यंच गति को प्राप्त हुआ तू अरहट की

घड़ियों के समान लगातार जन्म मरण को प्राप्त होता रहा। उसके दु खों का भी तू विचार कर, स्मरण कर चिन्तन कर। अपने दोषों का स्मरण करने से गुणों की वृद्धि व प्राप्ति होती है। इसलिए अपने दोषों का स्मरण कर। देखो तिर्यंचगति प्राप्त करके तूने पृथिवीकाय जलकाय अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय एव त्रसकाय मे जन्म धारण किया है।

हे क्षपक ! मनुष्य शीत की बाधा होने पर निर्वात स्थान का आश्रय लेते हैं। गर्मी से पीड़ित होने पर उसका निवारण करने के लिए शीत जल में स्नान करते हैं ठडा पानी पीते हैं। भय उपन्न होने पर भय रहित स्थान का सहारा लेते हैं। द्वीन्द्रियादि त्रस जीव भी उक्त बाधाओं स बचने का यथोचित उपाय करने में समथ होते हैं। परन्तु एकेन्द्रिय जीवों में ऐसा सामथ्य नहीं होता है।

जैसे वैराग्य परायण मुनीश्वर सब प्रकार के उपसग बाधाए स्वतत्र होकर सहते हैं वेस एकेन्द्रिय जीव परकृत व प्रकृति अन्य उपसग बाधाओं को परतन्त्र हुए सह लेते हैं।

द्वीन्द्रिय तीनइन्द्रिय चारइन्द्रिय जीव गाय बैल भेंस घोडे हाथी आदि पशुओं के पैर तले दब कर तथा गाडी रथ मोटर आदि वाहनों क नीचे कुचले जाकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

पचेन्द्रिय पशु पक्षी भी भूख प्यास शीत उष्ण का असह्य दु ख भोगते हैं। एक प्राणी का दूसरा प्राणी भक्षण कर लेता है। कई अधम मनुष्य प्राणी भी इनका घात करते हैं। इन दीन हीन प्राणियों का सहार कर कई अपने उदर-दानव की बलि चढ़ाते हैं। कई शरीर बल से तथा कइ अन्य राज्यादि के ऐश्वय में उन्मत्त होकर इन दीन अशरण निहत्ये जीवों के प्राणों से क्रीडा कर प्रसन्न होते हैं अपने निशाने के लक्ष्य बनाकर आनन्दित होते हैं। इन जीवों पर विपत्ति आने पर इनके माता पिता बान्धव मित्रादि सब दूर भाग जाते हैं। इनके शरीर में रोग व्याधि आदि उपन्न होने पर कोई उनके दु ख का प्रतीकार नहीं करता है। उनको एकाकी असहाय होकर सब क्लेश स्वय भोगना पडता है। उनको छेदन भेदन ताडन बन्धन मोचन शीत उष्ण वृष्टि पवनादि अन्य जो २ दु ख सहन करने पड़ते हैं वे वचनातीत हैं। उनको केवली भगवान के सिवा अन्य जानने में असमथ हैं।

हे क्षपक ! ऐसे दु खों को अनन्त काल तक तूने भोगे हैं। निगोद में तू अनन्त काल तक निवास कर चुका है। निगोद ही तेरा सदा का निवास है। त्रस पर्याय तो प्रवास के समान है। जैसे कोई मनुष्य किसी निमित्त से विदेश में प्रवास करता है और महीने दो महीने भ्रमण कर अपने घर पर वापिस लौट जाता है वेसे ही यह अपने निगोद निवास से निकलकर किसी पुण्य कम के योग से त्रस पर्याय में प्रवास करने के लिए आता है और कुछ (पूव कोटि पृथक्त्व) अधिक दो हजार सागर तक त्रस पर्याय में भ्रमण कर पुन

अपने निगो रूप घर में वापिस लौट जाता है। फिर वहा से अनन्त काल तक निकलना नहीं होता है। वहा पर वह एक श्वास म अठारह बार जन्म मरण करता रहता है। वहा जो दु ख होता है वह नरक के दु खों स अनन्त गुणा दु ख है। उस दु ख को स जीव ने अनन्त काल पर्यन्त सहा है। हे क्षपक ! वहा पर तुम्हारा कोई भी सहायक नहीं था। अब तुम इस अल्प कालान किंचि मात्र दु ख स तन अ रीर हो रहे हो। हे तत्त्वज्ञ मुने ! अब सावधान होकर थोड़ विचार करो और अपने कल्याण के माग से मत गिरो।

मनुष्य गति में प्राप्त दु ख

दीणत्तरोसचिंतासोगामरिसग्गिपउलिदमणा ज।
पत्तो घार दुक्ख माणुसजोणीए सतेण ॥ १५६१ ॥ (भग आ)

अर्थ—मनुष्य पर्याय मे अपन प्राणो स अधिक प्यारे पुत्रादि का धन वभव का वियोग जन्य दु ख भोगा है। जिसका स्मरण मात्र करने स हृदय के टुकड़ २ हो जात हैं ऐसा दु ख अनन्त बार भोगा है। जिनका नाम मात्र सुनने से मस्तक मे शूल क समान वेदना होने लगती है ऐस अप्रिय महान दुष्ट प्राणियों क सयोग स तुझे अनन्त बार घोर दु ख व सन्ताप हुआ है। अभीष्ट (वांछित) पदार्थ की प्राप्ति न हो सकन के कारण मनमें जो सताप होता था उसके दु ख का सहन भी तुमने किया है। सवकपन मे पराधीन होकर स्वाभिमान के नाशक अपमान जनक दुवचन सुनकर जो तुमको अ त करण में दु ख हुआ है उसका हे मुने ! तुम स्मरण करो। मनुष्य ज म पाकर कभी तुम दीन हुए तब दीनता व दरिद्रता का ममभदी दु ख तुमने पाया। कभी रोष उपन्न हुआ कभी चि ता ज्वाला म तुम जलते रह। कभी शोकाग्नि स झुलसते रहे। कभी असहनशीलता के कारण दु ख दावानल में दग्ध होते रहे। ऐस ही अनेक मान सक वेदना स तुम रात दिन य कुल होकर दु खो को सहन करते रहे हो उनका चिन्तन करो। अब हे मुने ! इस साधारण शारीरिक वेदना स क्या घबरा रहे हो ? यह साहस धारण करने का समय है। इसलिए सावधान होकर अपने धम व कत्तव्य को सम्भालो।

मनुष्य गति मे इस जीव ने चारित्र मोहनीय कम से प्रेरित होकर किसी प्रकार का अपराध किया तब राजा ने तथा राजमत्री ने या राज्याधिकारी कोतवाल आदि ने तीव्र दण्ड दिया। बेंतों से तथा चाबुकों से पीटा। इस जीवका मुण्डन कर अपमानित किया। अनेक प्रकार के लाछन लगा कर अपमानित किया। राजा ने सवस्व अपहरण किया। चोर डाकुओं ने धन का अपहरण किया। कोई आततायी दुष्ट मनुष्य भार्यादि का अपहरण करते हैं। अग्नि दाह स धनादि का विनाश हो जाता है। कभी प्रकृति के प्रकोप से भूकम्प, जल की अथाह वृष्टि आदि

से गृह धनादि का विध्वंस होता है तब जीव को जो मानसिक व्यथा उत्पन्न होती है उस दु ख का भी तुमने अनेक बार अनुभव किया है। जिसका श्रवण करने स रोमाच उत्पन्न हो जाते हैं उन दु खों के सामने तुम्हारा यह स्वल्प दु ख क्या चीज है। हे क्षपक! उनपर विचार तो करो।

मनुष्य गति में भी विरोधी मनुष्य लाठियों स मार मार कर शरीर का कचूमर निकाल देत हैं। तलवार से सिर काट देते हैं। छुरा भोंक कर आतड़िया निकाल लेते हैं। अग्नि में जला देते हैं। पानी मे डुबोत हैं। पवतादि स पटक कर शरीर के टुकडे २ कर देते हैं। मस्तक पर अग्नि जलाते हैं। अग्नि स तपे हुए लोहे के लाल सुर्ख गहन पहना कर दग्ध करते हैं। बदूक और तोपों से उड़ा देते हैं। बम गिराकर प्राणों का सहार करते हैं। धन सम्पत्ति गृह द्वारादि सब वस्तुओं का देखते देखते विनाश कर देते हैं। जो स्वग तुल्य दिव्य नगर था उस श्मशान तुल्य बना देते हैं। जो पूव क्षण में सुन्दर लहलहाता हुआ हरा भरा पुष्प फलों से परिपूण नन्दन वन सा उपवन था उसे दूसरे क्षण में भयानक जगल बना देते हैं। जो राजा था उसका सवस्व नाशकर भिखारी बना देते हैं। असहाय और पुत्रादि से पृथक् कर बन्दीगृह की नरक समान यातना भोगने के लिए विवश करते हैं। वहा पर वह भूख प्यास ताडन व ध बधनादि के असह्य दु खों को भोगते भोगते मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। हे मुने! ऐसे दु ख यह सदा भोगता रहा है। उनको ध्यान में लावो और सावधान होकर आत्मा का चिन्तन करो।

कण्णोट्ठसीसणासाछेदणदंताण भंजणं चेव।
अप्पाडणं च अच्छीण तहा जि भायणीहरणं ॥ १५६५ ॥ (भग आ)

अथ—हे क्षपक! इस मनुष्य गति में तुम्हारे कान काट लिये गये थे। होठों का छेदन किया गया था। छुरे से नाक उतारली गई थी। मस्तक तोड़ दिया गया था। दात तोडे गये थे। आख निकाल ली गई थीं फोडदी गई थीं। जीभ खींची गई थी। उनसे जो तुम्हें दु ख उत्पन्न हुआ था उसके सामने यह दु ख कितना सा है? हे क्षपक! तुम उनका चि तन करो।

हे मुने! तुम अनेक विष के प्रयोग से मरे हो। अग्नि काण्ड से जलकर मरण को प्राप्त हुए हो। अनेक शत्रु के द्वारा हनन किये गये हो। अनेक बार सप के द्वारा डस गये हो। अनन्त बार सिंह व्याघ्र स्याल रीछ आदि दुष्ट हिंसक जन्तुओं के द्वारा भक्षण किये गये हो और नाना प्रकार के शस्त्रों के अभिघात से तुम मारे गये हो। उन दु खों को तुमने कई बार सहा है। हे क्षपक! अब इस थोड़े से दु ख को सहन में कायरता क्यों दिखा रहे हो? तुम समान शूरवीर आत्मज्ञानी महापुरुषों को ऐसी कायरता दिखाना क्या योग्य है? अब धैय और साहस का आश्रय लो और सावधान होकर इस परम उत्कृष्ट समाधिमरण को सुधारो। तुमने पूवकाल में परवश होकर तो पूर्वोक्त भारी २ दु ख सहे हैं। उनसे तुम्हें सिवा क्लेश के और नवीन कर्म बध के कुछ हाथ नहीं लगा। इस समय तुम स्वतन्त्रता से इन आगत दु खों को

शान्ति से सह लोगे तो तुम्हें इस समय भी क्लेश न होगा और पूर्व सचित कर्मों की निजरा होगी त । नवीन कर्मों का सवर होगा। इसके फल स्वरूप तुम्हारा आत्मा सदा क लिए सुखी हो जावेगा। सम्पूर्ण कष्टों का सहार होगा और अनन्त काल तक शान्ति और नित्य आनन्द का अनुभव करोगे।

देवगति क दु खों का वर्णन

हे क्षपक ! देवगति मे तुमने शारीरिक दु खों की अपेक्षा आत्मा को दु खाग्नि में सतत जलाने वाले मानसिक सताप का बार बार अनुभव किया है।

सरीरादो दुक्खादो होइ देवेसु माणम तिव्व ।
दुक्ख दुस्सहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणस्स ॥ १५६८ ॥
देवो माणी मता पासिय देवे महड्ढिए अण्णे ।
ज दुक्ख सपत्तो घोर भग्गण माणेण ॥ १५६६ ॥ (भग आ)

अथ—जब अल्प पुण्य के धारक आभियोग्य जाति क देव का महर्धिक अधिक पुण्यशाली देव वाहन बनाता है—उसे अश्व हाथी बनाकर जब उसपर सवार होता है तब उस देव को जो मानसिक सताप होता है वह असह्य होता है। वह दु ख तथा अन्य मनुष्यगति के दु खो स—शारीरिक दु खों से—बहुत अधिक होता है। एक स्वाभिमानी देव के जब दूसरे देव को अधिक ऋद्धिशाली अनेक सुन्दर २ अप्सराओं के साथ नाना प्रक र के वैभव के साथ क्रीड़ा करते देखकर जो मानसिक पीड़ा होती है वह मरण के दु ख से भी अत्यधिक होती है। अणिमा गरिमादि अनेक ऋद्धियों और नाना प्रकार क विभूतिशाली देव के सम्मुख हीनशक्ति के धारक देव का गव जब चूर चूर हो जाता है उस समय उसके अन्त करण के भी टुकडे २ हो जाते हैं। देवगति म वह दु ख बड़ा सताप उत्पन्न करने वाला होता है।

देवगति में जब तुम्हारे गले में यमराज (मृत्यु) का पाश आ गिरता है तो छह महीने पहले माला मुर्झाने लगती है। स्वग के दिव्य कल्प वृक्षो से प्राप्त सुख सामग्री का परम सुन्दरी देवागनाओं क सयोग का जब त्याग करना पडा है उस समय तुमको जो हृदय विदारक दु ख हुआ है हे मुने ! उसका विचार करो।

उस देवगति में जब तुम्हारी आयुष्य समाप्त होने वाली थी उस समय वहा से चय कर जब तुम को गर्भ में जन्म लेने का आभास हुआ था तब तुमको कितना दु ख हुआ था ? उस समय तुमने सताप किया था कि मुझे महा दुर्गन्धमय गभ में निवास करना

पडेगा और गर्भावस्था म अति दु ा व युक्त पदाथ का आहार करना पडेगा। क्षुधा तृषादि की मुझे असह्य पीडा होगी। नवमास पय त माता के उदर में निरन्तर अग्नि की वाला में पचता रहूंगा। माता द्वारा व चरप । पदाथ भक्षण करेगी वह मेरे कोमल शरीर में भयानक वेदना उत्पन्न करग। हाय ! मैं देव पर्याय में अत्यन्त सुखी और पवित्र रहा हूं। अब मुझे अति दु खी और महा अपवित्र विष्टाघर के समान उदर में एक दो दिन नहीं नव मास पयन्त औंधे लटके रहना पडगा। हाय ! अब मैं क्या करू ? यह आगामी निकट समय मे आने वाली विपत्ति कैसे टल मकती है ? ऐसा ि चार करते समय जो तुम्हें दु ख प्राप्त हुआ उसक हे क्षपक ! तुम ि चार तो करो।

इस प्रकार हे मुन ! चतुर्गति के दु खों को तुमने म ा है उनका अनन्तवा भाग भी यह दु ख नहीं है। हे आत्म ज्ञानिन् ! इस समय तुम विवेक ज्ञान को जाग्रत करो। उसका उपयोग करो। य दु ख उ द खो क सामने कुछ नहीं मा है। इससे घबराकर अपने कल्याणकारी माग से च्युत होना तुम सरीखे समझदार महात्माओं को योग्य नहीं ह। विपरीत समय आ पर अपने आत्मा को स माग पर स्थित रखने वाला ही महापुरुष होता है। इस समय के लिए ही व्रतो का धारण भ मात का पालन औ गुप्ति का साधन और अनेक तपश्चरण क आचरण किया जाता है। यदि स समय तुम सावधान न रहे तो ुम्हार व्रत नियम तपश्चरणादि उत्तम कृत्य ि ष्फल हो जावेंगे। इसलिए हे महात्मन् ! अब सचेत हो जाओ और अपनी गति को सुधार । तुम वीरात्मा हो परम य के धारक हो स थोडे से कष्ट से क्या घबरा गये हो ?

हे मुने ! जब सख्यात काल तथा असख्यात काल पर्य त लगातार अति घोर द ख नर ादि गतियो में परत त्रता से तुमने सह लिये हैं। तो अब स्वाधीनता स यह अत्यल्प कष्ट थोडे समय क लिए भी तुम स सहन नहीं होत हैं क्या ? उन दु खों का तो निराकरण करने के लिए तुम्हारे पास कोइ साधन नहीं था। इस समय तो दु ख घ न का असली साध तुमको प्राप्त है। स साधन का उपयोग कर शान्ति का अनुभव करो।

प्रश्न—वह साधन कौनसा है। जिससे क्षुधा तृषादि का वेदना भी शान्त हो जाय ?

क्षुधादि वेदनाओं को शान्त करने के साधन

सुइपाणएण अणुसाट्ठिभोयणेण य सदोवगहिएणु।
ज्झाणोसहेण तिव्वा वि वदणा तीरदे साहदु ॥ १६०८ ॥ [भग आ]

अथ—सवेग निर्वेद उत्पन्न करने वाली आत्म अनात्म पदाथ का भेद विज्ञान कराने वाली धमकथा-श्रुतज्ञान रूप अमृत का पान करने से तथा नियापकाचाय की शिक्षा उपदेश रूप भोजन का भक्षण करने से हे क्षपक ! तुम्हारे आत्मा में बल का सचार होगा। शुभ

ध्यान रूप औषधि का सेवन करने से तुमपर इस वेदना का कुछ भी असर न होगा। और तुम उसका नाश करने में समर्थ हो सकोगे।

हे श्रमणोत्तम! जब वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होता है उस समय उसका प्रतीकार करने में देवादि कोई भी समर्थ नहीं होते हैं। उस समय जो वेदना होती है उसका प्रतीकार साहस और धैर्य है। साहसी और धैर्यवान् आत्मा ज्ञान रूपी शीतल जल से उस दुःख को शान्त करता है।

हे महात्मन्! जब वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होता है उस समय किसी का बल काम नहीं देता है। राजा महाराजाओं के पास सेवा शुश्रूषा करने वाले तथा विद्वान् अनुभवी बडे वैद्य डाक्टरों के रहते हुए असयम का आचरण करने पर भी वे दुःख से मुक्त नहीं हुए। तीव्र वेदनीय कर्म का उदय आने पर सब जीव दुःख दूर करने में असमर्थ होते हैं। इसलिए ऐसे समय श्रुतज्ञान मृत का पान करने से ही दुःख की निवृत्ति होती है। अतएव हे क्षपक! तुमको उसीका पान करने में सावधान होना चाहिए।

मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होदि वरं।

ण य वेदणाणिमित्तं अप्पासुगसेवणं कादुं ॥ १६१३ ॥ (भग आ)

अर्थ—हे मुने! मोक्ष के अभिलाषी संयमी जनों का मरण को प्राप्त होना तो श्रेष्ठ है, किन्तु वेदना का उपशम करने के लिए अप्रासुक द्रव्यों का सेवन करना सर्वथा अयोग्य है। संयम धन के रक्षक साधुओं को प्रासुक औषधादि मिल सके तो वे उनका सेवन करते हैं अन्यथा प्राण जाने पर भी संयम का त्याग नहीं करते। क्योंकि अप्रासुक औषधि का सेवन करने से संयम का नाश होता है। संयम का रक्षण भव भव में सुख का अंकुर उत्पन्न करता है। मृत्यु केवल उसी भव का घात करती है। और असंयम का आचरण अनेक भवों में सैंकड़ों व हजारों पर्यायों में दुःख के अंकुरों का उत्पादक होता है।

इस प्रकार परम दयालु निर्यापकाचार्य के शिक्षोपदेश को पाकर क्षपक अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर साहस व धैर्य का अवलम्बन लेकर अपने आत्मा के कल्याण के निमित्त शीघ्र सचेत होता है और पूर्ण शान्ति की पताका को फहराने लगता है। मैत्री प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओं के चिन्तन में तत्पर होता है। जब क्षपक का शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाता है तब वह संस्तर का भी त्याग कर देता है। किसी से वैयावृत्त्य नहीं करवाता है। अपने शरीर का भी त्याग कर देता है और आत्म-भावना में तल्लीन रहता है।

एवं सुभाविदप्पा झाणोवगओ पसत्थलेस्साओ।

आराधणापडायं हरइ अविग्घेण सो खवओ ॥ १६२४ ॥ (भग आ)

अर्थ—उक्त प्रकार जिसने आत्मा को शुभ ध्यान में लीन किया है जो शुक्ल ध्यान और शुक्ल लेश्या को प्राप्त हुआ है, वह क्षपक निर्विघ्न पूर्वक आराधना पताका को हस्त में ग्रहण करता है। अर्थात् वह चारों आराधनाओं के फल को प्राप्त करता है।

अह सावसेसकम्मा मलियकसाया पणट्ठमिच्छत्ता।
हासरइअरइभयसोगदुगुछावेयचियम्महणा ॥ १६३० ॥
पचममिदा तिगुत्ता सुसवुडा सव्वसगउम्मुक्का।
धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असमूढा ॥ १६३१ ॥
सव्वसमाधाणेण य चरित्तजोगे अधिट्ठिदा सम्म।
धम्मे वा उवजुत्ता ज्झाणे तह पढमसुक्के वा ॥ १६३२ ॥
इय मज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरय हिच्चा।
हु ति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य ॥ १६३३ ॥ (भग आ)

अर्थ—हे क्षपक! जिनके कर्म बाकी रह गये हैं जिन्होंने अनन्तानुबन्धी आदि कषायों का मथन कर दिया है तथा मिथ्यात्व का सहार किया है और हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा पुरुषवेद स्त्रीवेद एव नपुंसकवेद का उच्छेद किया है जिन्होंने पांच समिति का पालन और तीन गुप्ति का धारण किया है आगामी कर्मों का निरोधकर सवर किया है अर्थात् सवर का कारण जो तपश्चरण और ध्यान है उसका सेवन किया है जो मिथ्यात्व कषायादि चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह और क्षेत्रादि दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर भावनिर्ग्रन्थावस्था को प्राप्त हुए हैं जो अनेक कष्टों के आने पर धीरज धारण करते हैं, जिनके मन में दीनता का भाव लेशमात्र भी नहीं है जो सुख और दुःख में समबुद्धि रखते हैं जो शरीर में भी मोह नहीं रखते हैं जो मनोयोग वचन योग और काययोग मे आत्म स्वरूप में स्थिर रहते हैं अर्थात् जो निरन्तर चारित्राचरण में तत्पर रहते हैं तथा जो धर्म्यध्यान में तथा प्रथम शुक्ल ध्यान में और द्वितीय शुक्ल ध्यान में रत रहते हैं, इस प्रकार मध्यम आराधना का पालन करते हुए शरीर का त्याग करने वाले मुनिराज विशुद्ध लेश्या के स्वामी बनकर अनुत्तर विमान वासी देवों में उत्पन्न होते हैं।

हे क्षपक! कल्पवासी देवों में जन्म देनेवाले रत्नत्रय से उत्कृष्ट—रत्नत्रय का पालन करने में जो समर्थ होते हैं अर्थात् उत्तम

ध्यान और उत्कृष्ट तप का आचरण करने में जो संयमी सदा तत्पर रहते हैं जिनके भावों में विशेष निर्मलता रहती है कल्पातीत देवों में जन्म लेने वाले विशेष पुण्यास्रव की प्राप्ति जिन्होंने की है वे नवग्रैवेयक और नव अनुदिश विमानों में अहमिन्द्र होते हैं। जिस सुख का अनुभव सौधर्मादि कल्पवासी देव दिव्य देवांगनाओं के साथ भोग भोगकर नित्य नन्दन वनादि के सुन्दर ललित कुंजों में विहार व क्रीड़ा करके प्राप्त करते हैं उससे भी अनन्त गुणा सुख अहमिन्द्र देवों को प्रतिसमय निरन्तर प्राप्त होता है।

हे मुनिश्रेष्ठ! जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और यथाख्यात चारित्र में सदा तत्पर रहते हैं तथा तपश्चरण में उत्तरोत्तर जिनके परिणाम वृद्धिंगत होते रहते हैं तथा जिन की लेश्या सतत विशुद्धता धारण करती है ऐसे क्षपक इस औदारिक शरीर का त्याग कर अणिमादि गुणों से सब से बढे चढे देवेन्द्र के अन्तिम पद को पाते हैं।

हे श्रमणोत्तम! जिनका अन्तःकरण श्रुत की आराधना से अति निर्मल हुआ है जिन्होंने उग्रोग्रतप और उत्तमोत्तम नियम आतपनादियोग और ध्यान से अपनी आत्मा को विशेष निर्मल बनाया है व वैयगुण के धारक आराधक लौकान्तिक देव होते हैं।

तात्पर्य यह है कि इस जगत् में जितनी ऋद्धियाँ और अन्य यजन्य सुख और ऐश्वर्य सम्पदाएँ हैं वे सब निर्मल भाव के धारक क्षपक को स्वतः आकर प्राप्त होती हैं।

तेजोलेश्या के धारक क्षपक की आराधना को जघन्य आराधना कहते हैं। इस आराधना का सेवन करने वाले क्षपक सौधर्मादि स्वर्गों में जन्म लेते हैं। सौधर्मादि स्वर्गों के देवों से हीन देवों में वे कभी जन्म नहीं लेते हैं।

किं जपिएण बहुणा जो सारा केवलस्स लोगस्स।
तं अचिरेण लहंत फासित्ता आराहणं णिखिलं ॥ १९४१ ॥ (भग आ)

अर्थ—अधिक कहा तक कहा जावे। तीनों आराधनाओं में से किसी भी आराधना का सेवन करने वाला महात्मा सम्पूर्ण लोक के सार भूत पदार्थों को शीघ्र प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट आराधना का आराधक तो उसी भव में मोक्ष का अव्यय सुख का सदा के लिए भोग करता है। मध्यम आराधना का आराधक अहमिन्द्रादि महर्द्धिक देव होकर स्वर्ग के दिव्य इन्द्रिय जन्य सुखों का अनुभव कर दूसरे या तीसरे आदि भव में मुक्ति अंगना का पति होता है। जघन्य आराधना का आराधक भी कम से कम सौधर्मादि स्वर्गों में उत्तम देव होता है और वहां पर दिव्य

देवांगनाओं के साथ अनेक प्रकार ऐन्द्रियक (इंद्रियजन्य) सुख भोगकर अधिक से अधिक सात आठ भवों के अनन्तर अवश्य मुक्ति को प्राप्त होता है।

हे क्षपक ! जघन्य आराधना का सेवन करने वाले भी महा पुण्यशाली होते हैं। वे सौधर्मादि स्वर्गों में उत्तम देवों में जन्म लेते हैं। वहा से शुभध्यान पूर्वक चयकर मनुष्य जन्म धारण करते हैं। मनुष्य भव में भी उन्हें सम्पूर्ण विभूतियाँ व ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं। विश्व की सुख सामग्री सदा उनके चरणों में पड़ी रहती है। इस विश्व विभूति का भी त्याग कर मुनि धर्म का आचरण करते हैं और तपस्वाध्याय में मग्न रहते हैं। परिषह और उपसर्ग आने पर उनसे विचलित नहीं होते किन्तु उनका धैर्य के साथ हृदय से स्वागत करते हैं। वे कभी श्रद्धा संवेग और वैराग्य से नहीं डिगते हैं।

उनमें से कई क्षपक तो उसी मनुष्य भव में यथाख्यात चारित्र और शुक्लध्यान से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर चतुर्गति के भ्रमण जाल से निकलकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

कई क्षपक मनुष्य भव में अनेक दुर्धर तपश्चरण का आराधन कर स्वर्गलोक में महर्द्धिक देव होते हैं और वहा पर चित्त रंजन करने वाले दिव्य भोगों को भोगते हैं। मनोविनोद की अपूर्व सामग्री के अनुभव करने में तल्लीन रहते हैं। वहा से आयुष्य को सुख पूर्वक बिताकर शान्ति से देव पर्याय छोड़कर पुनः मनुष्य जन्म पाते हैं। वहा पर चक्रवर्ती उत्तम विभूति के धारक होते हैं। अनेक मनोवांछित सुखों का अनुभव कर उसको निःसार समझ मुनिदीक्षा ग्रहण करते है। तथा अनेक दुष्कर तप का आचरण कर शुक्ल ध्यानाग्नि से घाति व अघाति कर्मों का दग्ध कर शिवरमणी के रसिक होते हैं।

एवं संथारगदो विसोधइत्ता वि दंसणचरित्तं।
परिवडदि पुणो कोई झायंतो अट्टरुद्दाणि ॥ १६४६ ॥
उज्झायंतो अणगारा अट्ट रुद्द चरमकालम्म।
जो जहइ सयं देहं सो ण लहइ सुग्गदिं खवओ ॥ १६४७ ॥ (भग आ)

अर्थ—कई साधु संसार के सब विषयभोग का परित्याग कर निर्ग्रन्थावस्था धारण कर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का निर्विघ्न आराधन करने के लिए संस्तार का आश्रय लेते हैं और सम्यग्दर्शन व चारित्र की विशुद्धि करने पर भी पूर्व कर्म के भार से अन्त समय आर्तध्यान व रौद्रध्यान मे प्रवृत्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप से भ्रष्ट होते हैं।

हे क्षपक ! जो मरण काल में आर्त रौद्रध्यान में प्रवृत्ति करते हैं वे क्षपक आयुष्य के पूर्ण होने पर उत्तम गति नहीं पाते हैं।

हे मुने ! जिस साधु ने पहले अपने आत्मा को आराधना से सुसंस्कृत किया था वह भी संस्तर पर आरूढ होकर मरण समय में संक्लेश परिणामों के उत्पन्न होने से उत्तम मार्ग से गिर जाता है तो क्या जो पार्श्वस्थ कुशील ससक्त अवसन्न और स्वच्छ हैं वे पतित साधु सन्मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते हैं ? अवश्य होते हैं।

जो मूढ़बुद्धि पूर्वोक्त दोषों का वमन नहीं करते हैं दोषों को धारण किये हुए मृत्यु को प्राप्त हुए हैं वे मायाचार तथा असत्य वचन के कारण देव दुर्भगता को अर्थात् नीच देव पने को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—जो मुनि संघ सेवा नहीं करते हैं समय आने पर दूसरे मुनीश्वरों की वैयावृत्त्य नहीं करते हैं वे किस गति में जाते हैं ?

किं मज्झ णिरुच्छाहा हवंति जे सव्वसंघकज्जेसु।
ते देवसमिदिवज्झा कप्पंति हु ति सुरमेच्छा ॥ १८५८ ॥ [भग आ]

अर्थ—मेरा इसमें क्या प्रयोजन है ? क्या मैं ही हूं ? मुझसे तो अपना भी कार्य नहीं होता है ? मैं किस किस का काम करूं ? इस प्रकार विचार कर जो साधु सम्पूर्ण संघ का कार्य करने में उत्साह रहित होता है उसी रोगी वृद्ध तथा अशक्त मुनि की वैयावृत्त्य करने में उदासीनता दिखाता है वह स्वार्थी साधु देवसभा से बहिष्कृत होता है अर्थात् वह सभा के [illegible] य बैठने का अधिकारी नहीं होता है। सौधर्मादि स्वर्गों के अ[illegible] भाग में चाण्डालादि जाति का म्लेच्छ देव होता है।

हे मुने ! जो कन्दर्प भावना के वश होकर मरण करते हैं वे कन्दर्प जाति के नीच देव होते हैं। असत्य निन्द्य बोलने बुलवाने में तथा काम रति में लीन रहने को कन्दर्प भावना कहते हैं। जो तीर्थंकरों की आज्ञा से प्रतिकूल होकर संघ का चैत्य (प्रतिमा) का और जिनागम का अविनय अनादर करते हैं मायाचार करते हैं उनके किल्विष भावना होती है उस भावना में जो मरण करते हैं वे किल्विष जाति के देव होते हैं।

हे साधो ! जो मुनि तंत्र मंत्रादि तथा हंसी मजाक तथा व्यर्थ बकवाद एवं वाग्जालादि का उपयोग करते हैं उनके आभियोग्य भावना होती है। इस भावना से जो प्राण त्याग करते हैं वे आभियोग्य जाति के वाहन बनने वाले देव होते हैं।

हे क्षपक ! जो क्रोधी मानी और मायावी होते हैं तथा त श्चरण म और चारित्राचरण मे सक्लेश परिणाम रखते हैं एव दृढ़ बैर में जिनकी रुचि होती है उनके आसुरी भा ना होत है। उस भावना स युक्त होकर जो मरण करते हैं वे असुर जाति के देवों म जन्म ग्रहण करते हैं।

हे मुने ! जो उ मार्ग का उपदेश देकर स मार्ग का उच्छेद क त हैं तथा सच्चे वीतराग मार्ग को बिगाड़ कर राग वद्धक मार्ग की तथा नवीन मार्ग की स्थापना करते हैं मिथ्यात्व का उपदेश देकर संसार क जीवों को मोह उत्पन्न कर विपरीत मार्ग म प्रेरित करते हैं उनके सम्मोह भावना होती है। उस भावना स युक्त होकर जो मरण करते हैं वे सम्मोह जाति के देवो में ज म धारण करते हैं।

जे सम्मत्त खवया विराधयित्ता पुणो मरेजण्ह।
ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होंति ॥ १६६३ ॥ भग आ

अथ—हे मुने ! जो क्षपक सम्यक्त्व की विराधना करक मरण करते हैं वे भवनवासी व्यन्तर अथवा ज्योतिष देव होते हैं। वे इन भवनत्रिक देवों म ही ज म लेते हैं और वहा से आयुष्य पूण कर वहा स चय कर सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से हीन हुए दु ख वेदना की लहरें जिसम सतत उठा करती है ऐस ससार सागर में भ्रमण करते हैं।

हे क्षपक ! जो साधु मिथ्या व को प्राप्त होकर जिस लेश्या म मरण क ते हैं परभव में उसी लेश्या के धारक होते हैं।

प्रश्न—जो साधु समाधिमरण से प्राण छोडता है उसक शरीर की क्या व्यवस्था होती है।

एव कालगदस्स दु सरीर मतावहिज्ज बाहिं वा।
विज्जावच्चकरा त सय विकिंचात ज णाए ॥ १९६६ ॥ भग आ

अथ—जब क्षपक पूर्वोक्त स यास विधि से मरण करता है तब वैयावृत्त्य करने वाले साधु उसक शरीर को जो गाव में अथवा बाहर की वसतिका में पड़ा रहता है य न पूवक ले जाते हैं।

भावाथ—जो क्षपक गुरु के निकट आलोचना से लेकर निस्तरण पय त सम्यक् प्रकार सम्यक्त्वादि चार आराधनाओं का सेवन कर पवित्र हुआ है उसका शरीर नगर के भीतर किसी वसतिका में हो अथवा बाहर किसी जगह वसतिका मे पडा हो उस वैयावृ य करने

वाले मुनीश्वर आगे कही जाने वाली विधि से यत्न पूर्वक ले जाते हैं।

क्षपक की निषीधिका

जहां क्षपक का मृत शरीर स्थापना करते हैं उसको निषीधिका (निषद्या) कहते हैं।

प्रश्न—साधु की निषीधिका कैसी होती है? उसके लिए किन २ बातों पर अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिए उन सबको संक्षेप से समझाने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—जहां पर साधु के मृत शरीर को रखते हैं वह (निषीधिका) स्थान उद्दे ही (चींटी आदि) से रहित निश्छिद्रतादि गुणों सहित होना चाहिए। उसके लिए कहा है—

> अभिसुआ असुसिरा अघसा उज्जोवा बहुसमा य असिणिद्धा।
> णिज्जंतुगा अहरिदा अविला य तहा अणाबाधा ॥ १६६६ ॥
> जा अवर दक्खिणाए व दक्खिणाए व अध व अवराए।
> वसधीदो वणिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थत्ति ॥ १६७ ॥ भग आ

अर्थ—क्षपक की निषीधिका उद्दहियों से रहित होनी चाहिए। भूमि में नीचे छेद या बिल न होने चाहिए। घसी हुई न होनी चाहिए। प्रकाश सहित तथा समतल धरा पर होनी चाहिए। भीगी तथा जन्तु सहित न होनी चाहिए। हरितांकुर रहित तिरछे बिल रहित और बाधा रहित होनी चाहिए।

निषीधिका किस दिशा में होनी चाहिए

वह नैऋत्य दिशा में दक्षिण दिशा में या पश्चिम दिशा में प्रशस्त मानी गई है। पूर्वाचार्यों ने उक्त दिशाओं में ही क्षपक की निषीधिका योग्य बताई है।

प्रश्न—नैऋत्यादि दिशा में ही क्षपक की निषीधिका प्रशस्त और पूर्वादि दिशाओं में क्यों अप्रशस्त मानी गई है। उनका (प्रत्येक दिशा सम्बन्धी निषीधिका का) शुभाशुभ फल क्या है?

सव्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु भत्तग सुलभ ।
अवराए सुहविहारो होदि य उवधिम्स लाभो य ॥ १६७१ ॥
जदि तेसिं वाघादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ ।
अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचि पुव्वुत्तरा कमसो ॥ १६७२ ॥
एदासु फल कमसो जाणोज्ज तुमतुमा य कलहो य ।
भेदो य गिलाण पि य चरिमा पुण कड्ढदे अण्ण ॥ १६७३ ॥ भग आ

अथ—नैऋत्य दिशा की निषीधिका सम्पूर्ण संघ की समाधि (शान्ति) की सूचक होती है। दक्षिण दिशा की निषीधिका से सर्व सघ के लिए आहार की सुलभता का सूचन होता है। पश्चिम दिशा सम्बन्धी निषीधिका संघ का सुख पूर्वक विहार और पुस्तकादि उपकरणों की प्राप्ति को प्रकट करती है।

इन दिशाओं में निषद्या बनवाने में यदि कोई बाधा उपस्थित होती हो तो आग्नेय, वायव्य, ऐशान पूर्व व उत्तर इन पाच दिशाओं में से जिसमें भी सुविधा हो उसमें बनाना चाहिए।

परन्तु इन आग्नेयादि पाच दिशाओं में निषद्या करने का फल अच्छा नहीं है। आग्नेयदिशा की निषद्या से सघ में तू तू, मैं मैं होती है। अर्थात् तू ऐसा है मैं ऐसा हूं ऐसी स्पर्द्धा होती है। वायव्य दिशा की निषद्या से सघ में कलह उत्पन्न होता है। पूर्व दिशा की निषद्या से सघ में फूट पड़ती है। उत्तर दिशा की निषीधिका से व्याधि उत्पन्न होती है। और ऐशान दिशा की निषद्या से सघ में खेंचातानी होती है या किसी मुनि का मरण होता है। अर्थात् आग्नेयादि पाच दिशाओं का फल उत्तरोत्तर अधिक २ अशुभ है। इसलिए इन दिशाओं में जहा तक बन सके क्षपक की निषीधिका न करनी चाहिए। पूर्वोक्त नैऋत्य, दक्षिण या पश्चिम इन दिशाओं में ही करनी चाहिए।

क्षपक के मृत्यु समय की क्रियाएँ

प्रश्न—क्षपक के मरण समय में कोई विशेष कर्त्तव्य होता है क्या ?

उत्तर—हा, क्षपक का मरण होने पर निम्नप्रकार क्रिया की जाती है।

ज बेल कालगदो भिक्खू त बेलमेव णीहरणा ।
जग्गणबधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा ॥ १६७४ ॥ भग आ

जिस समय क्षपक का मरण हुआ हो उसी समय उसका शव लेजाना उचित है । यदि साधु का मरण रात्रि आदि अवेला (असमय) में हुआ तो उस समय जागरण बन्धन और छेदन ये तीन विधि करना चाहिए ।

प्रश्न—इन तीन विधियों को कौन करते हैं ?

उत्तर—जो धीर वीर मुनि सघ में होते हैं वे ही इन विधियों को करते हैं । कहा है—

बाले वड्ढ सीसे तवस्सिभीरुगिलाणय दुहिदे । भग आ
आयरिए य विकिंचिय धीरा जग्गति जिदणिद्दा ॥ १६७५ ॥

अर्थ—सघ में जो बालक मुनि वृद्ध मुनि शिष्य मुनि (शैक्ष) तपस्वी भीरु (भय युक्त) रोगी दु ख पीडित और आचार्य इनको छोड़ कर जो धैर्य धारक मुनि होते हैं और जिन्होंने निद्रा पर विजय पाया है वे मुनि ही जागरण करते हैं । अर्थात् रात्रि आदि असमय में क्षपक का मरण हो जावे तब धीरता के धारक तथा निद्रा को जीतने वाले आत्मबली मुनि ही शव के समीप रहकर जागरण करते हैं ।

प्रश्न—कौन मुनि किस अवयव का बन्धन व छेदन करते हैं ।

उत्तर—जिन मुनियों ने आगम के रहस्य को भलीभाति जान लिया है तथा अनेक बार क्षपक के कृत्यों (वैयावृत्य सम्बन्धी कार्यों) का निर्वाह किया है और जो शारीरिक बल आत्म बल एव धैर्य के धारक हैं ऐसे साधु श्रेष्ठ क्षपक के हाथ तथा पाव और अगूठे के कुछ भाग को बाधते हैं अथवा छेदन करते हैं ।

प्रश्न—यदि क्षपक के शव की उक्त बन्धनादि क्रिया नहीं की जावे तो क्या हानि होती है ?

जदि वा एस न कीरेज्ज विधी तो तत्थ देवदा कोई ।
आदाय त कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ॥ १६७७ ॥ भग आ

अर्थ—यदि क्षपक के शरीर की बंधनादि क्रिया न की जावे तो उस स्थान का तथा आसपास में निवास करने वाला कोई क्रीड़ाप्रिय भूत या पिशाच (व्यन्तर देव) उस शरीर मे प्रवेश कर जावे तथा उसको लेकर वह उठ खड़ा हो जावे, इधर उधर दौड़ धूप करने लगे एवं अनेक प्रकार की ऐसी ही क्रीड़ा करने लगे तो इसको देखकर बाल मुनि अथवा भय प्रकृति वाले अन्य मुनि भयभीत होजावगे या अति भयातुर होकर मृत्यु को भी प्राप्त होजावें। कई अधीर मुनियों के श्रद्धान व चारित्र में शिथिलता आजावे अनेक उपद्रव उत्पन्न होजावे। अत उक्त क्रिया करना अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। हाथ पाव आदि छेदन या बंधन कर देने पर उक्त दोष निवृत्त हो जाता है।

प्रश्न—मुनियों के पास चाकू आदि शस्त्र तो रहता नहीं और वस्त्र भी नहीं रहता है वे क्षपक के हस्त पाद या अगूठे के किसी भाग का किसस छेदन या बंधन करेंगे?

उत्तर—मुनि लोग सघ मे रहते हैं तब उनको चाहिए कि वे अपने दश अगुलियों के नखों में से एक अगुलि के नख को सदा बढ़ा हुआ रखे। काम पड़ने पर व उसस अगुलि का चमड़ा विदारण कर सकें। तथा तृण का जो सस्तर (सथारा) होता है उसमें से तृण लेकर उसस अगूठे आदि के भाग को बाध सकते हैं। इस उक्त कार्य के लिए एक नख रखने की सिद्धान्त मे आज्ञा है।

प्रश्न—जिन व्यन्तरदेवकृत उपद्रव का निवारण करने के लिए साधुओं को भी क्षपक के मृतक शरीर के निमित्त जागरण तथा बंधन छेदन करना पड़ता है उन क्रीड़ाप्रिय व्यन्तर देवों का विशेष स्वरूप और उनके भेदों का भी विवेचन कीजिए।

व्यन्तर देवों का वर्णन

उत्तर—व्यन्तर जाति के देव कौतुक प्रिय होते हैं। वे केवल क्रीड़ा के लिऐ सब कौतुक करते हैं। अन्य मत वाले भूत पिशाचादि देवों का मासभक्षी रुधिर पान करने वाले कहते हैं। वह सर्वथा मिथ्या है। सब देव मात्र अमृत भोजी होते हैं। उनके आहार की इच्छा होते ही कण्ठ मे अमृत झरता है। उसस उनकी तृप्ति होती है। मास भक्षण और रुधिर पान तो उत्तम जाति व कुल के मनुष्य भी नहीं करते हैं। तथा कई धर्म के ज्ञाता नीच जाति व कुल के लोग भी उन से दूर रहते हैं तो जिनके वैक्रियिक शरीर है जिस में रुधिर मासादि कोई भी धातु नहीं है ऐसे उत्तम शरीर के धारक देव इस घृणित दुर्गन्धमय मॉस रुधिर का सेवन कैसे कर सकते हैं।

हाँ कई नीचकुल जाति स आये हुए नीच जाति के देव अपने पूर्व जन्म के संस्कार वश क्रीड़ा के निमित्त अशुचि पदार्थों का स्पर्श कर लेते हैं। मृतक शरीर स क्रीडा करने के निमित्त उसमें प्रवेश कर लेते हैं। इधर उधर दौड़ने लगते हैं इत्यादि क्रियाएं करते हैं। उन

व्यन्तरों के मूल आठ भेद हैं—

व्यन्तरों के भेद प्रभेद

व्यन्तरा किन्नरकिं पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्ष राक्षस भूत पिशाचा (तत्त्वार्थ सूत्र)

१ किन्नर २ किम्पुरुष ३ महोरग, ४ गन्धर्व ५ यक्ष ६ राक्षस ७ भूत और ८ पिशाच ये व्यन्तरों के मूल आठ भेद हैं। इन के आवान्तर भेद निम्न प्रकार हैं —

१ किन्नरों के दश भेद हैं। वे सब हरित वर्णीय सुन्दर सौम्य दर्शनीय मुकुट हार आदि भूषणों के धारक और अशोक वृक्ष ध्वजा वाले होते हैं।

(१) किन्नर (२) किम्पुरुषा (३) किम्पुरुषोत्तम (४) किन्नरोत्तम (५) हृदयंगम (६) रूपशालिन (७) अतिनन्दित (८) मनोरम (९) रतिप्रिय और (१०) रतिश्रेष्ठ ये दश भेद होते हैं।

(२) किम्पुरुष—इनकी जंघा और भुजा अधिक शोभित होती है और मुख अति सुन्दर होता है। नाना प्रकार के अलकारों से तथा लेपनादि से भूषित होते हैं। और इनके चम्प वृक्ष की ध्वजा होती है। इन के भी दश भेद होते हैं। वे निम्नोक्त प्रकार हैं—

(१) पुरुष (२) स पुरुष (३) महापुरुष (४) पुरुषवृषभ (५) पुरुषोत्तम (६) अतिपुरुष (७) गुरुदेव (८) मरुत (९) मेरुप्रभ और (१०) यशस्वत।

(३) महोरगों के शरीर का वर्ण कृष्ण होता है। महावेगवान् सौम्यदर्शनीय स्थूलकाय मोटीगर्दन और स्थूलकन्धोंवाले होते हैं। नाना अलकारों के धारक और नागवृक्ष की ध्वजा वाले होते हैं। इनके दश भेद होते हैं। वे निम्नोक्त प्रकार हैं—

(१) भुजग (२) भोगशालिन (३) महाकाय (४) अतिकाय (५) स्कन्धशालिन, (६) मनोरम (७) महावेग, (८) महेष्वक्ष (९) मेरुकान्त और (१०) भास्वत्।

(४) गन्धर्व—इनके शरीर का वर्ण रक्त होता है। ये गंभीर प्रियदर्शनीय पुरुष, सुन्दर मुखाकृति सुस्वर व मालाधारी होते होते हैं। इनकी ध्वजा वाद्यों के आकार की होती है। इन के भेद बारह होते हैं। व निम्नप्रकार हैं—

(१) हाहा (२) हूहू (३) तुम्बुरव (४) नारद (५) ऋषिवादी (६) भूतवादी (७) कादम्ब (८) महाकादम्ब (९) रैवत (१०) विश्वावसु (११) गतिरति और (१२) गतियश।

(५) यक्ष—ये काले वर्ण वाले गम्भीर तोंदवाले प्रिय दर्शन प्रमाणयुक्त रक्त हस्तपादादि अवयव वाले चमकीले मुकुट तथा नाना भूषणों के धारक तथा वटवृक्ष की ध्वजावाले होते हैं। इनके तेरह भेद हैं। वे ये हैं—

(१) पूर्णभद्र (२) मणिभद्र (३) श्वेतभद्र (४) हरिभद्र (५) सुमनाभद्र (६) व्यतिपातिकभद्र (७) सुभद्र (८) सर्वतोभद्र (९) मनुष्ययक्ष (१०) वनाधिपति (११) वनाहार (१२) रूपयक्ष और (१३) यक्षोत्तम।

(६) राक्षस—भयकर दर्शन वाले भयानक मस्तक मुखादि अगों वाले अनेक आभूषणों के धारक तथा खटवा (खटिया) रूप ध्वजा के धारी होते हैं। इनकी ध्वजा वर्तुलाकार (गोल) होती है। इनके सात भेद हैं। वे ये हैं—

(१) भीम (२) महाभीम (३) विघ्न (४) विनायक (५) जलराक्षस (६) राक्षसराक्षस और (७) ब्रह्मराक्षस।

(७) भूत—ये कृष्ण वर्ण वाले सुन्दर रूपवान सौम्य दुबले नाना भक्ति युक्त और सुलस काले रङ्ग की ध्वजा के धारी होते हैं। इनके ९ नव भेद हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

(१) सुरूप (२) प्रतिरूप (३) अतिरूप (४) भूतोत्तम (५) स्कन्दिक (६) महास्कन्दिक (७) महावेग (८) प्रतिछिन्न और (९) आकाशग।

(८) पिशाच—ये सुरूप सौम्य दर्शनीय हाथों और गले में मणि आदि रत्नालकारों के धारक तथा कदम्बवृक्ष की ध्वजा वाले होते हैं। इनके १५ पन्द्रह भेद हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

(१) कुष्माण्ड (२) पटका (३) जोषा (४) आह्नका (५) काल (६) महाकाल (७) चोक्ष (८) अचोक्ष (९) तालपिशाच (१०) मुखर पिशाच (११) अधस्तारका (१२) विदेह (१३) महाविदेह (१४) तूष्णीक और (१५) वनपिशाच।

मुनि के शव का क्या करना चाहिए ?

प्रश्न—मुनि के मृतक शरीर का संघ के मुनि क्या करते हैं ?

उत्तर— नगर के समीप या मनुष्यों के गमनागमनादि के मार्ग मे किसी वसतिका में मुनि का मरण हो जावे तो मुनि उसे एकान्त जगल मे डालते हैं। मुनीश्वर शरीर के अनुरागी नहीं होते हैं। वे तो शरीर में जब तक आत्मा रहता है तब तक ही उसका वैयावृत्य करते हैं। शरीर से आत्मा निकल जाने पर शव के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। वे उसे स्वयं दग्ध नहीं करते और न किसी श्रावकादि को उसके दग्ध करने का उपदेश ही देते हैं। वे केवल उस शरीर को एकान्त वन में जहां मनुष्यो आदि को बाधा न हो वहां रख देते हैं। जहा पर वह स्वयं धूप आदि से सूख जाता है अथवा वन के पशु पक्षी उसका भक्षण कर लेते हैं।

साधु लोग वनविहारी होते हैं। यदि उनका मरण किसी वन में पर्वत की गुफा में पर्वत के शिखर या कन्दरा में पुलों में वृक्षों की कोटर में श्मशान में एव नदियों के तट इत्यादि जन शून्य एकान्त स्थान पर हो जावे तो वहां उसे कौन उठावे ? वह मुनि शव वहां ही पड़ा रहता है।

प्रश्न—किसी विख्यात स्थान पर किसी मुनि का मरण हो जावे तब गृहस्थो को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—मुनि का मरण ज्ञात होने पर उनका कर्त्तव्य होता है कि वे मुनि के शव का विधि पूर्वक दाह कर्म करें। शास्त्रों में कहा है —

जदि विक्खादो भत्तपइण्णा अज्जा व होज्ज कालगदा।
देउलसागारित्ति व सिविर्याकरणं पि तो होज्ज ॥ १६७६ ॥ [भग आ]

अर्थ—जब जन समुदाय में मुनि का भक्तप्रत्याख्यान नामक समाधिमरण प्रसिद्ध हो जावे तब वसतिका के स्वामी का एव सम्पूर्ण गृहस्थों का परम कर्त्तव्य होता है कि वे मुनीश्वर आर्यिका अथवा क्षुल्लकादि त्यागी के शव का दाह कर्म करें। शिविका (पालकी) बनाकर उसमें शव को स्थापित करके उसे दग्ध क्रिया करने के लिए प्रभावना सहित ले जावें।

प्रश्न—यदि आर्यिका समाधिमरण करे तब मुनीश्वरो की भांति ही करें या उनके लिए कोई विशेष विधान है ?

उत्तर—आर्यिकाओं की समाधिमरण विधि मुनीश्वरों के समान ही होती है। परन्तु उसमें थोड़ा सा अन्तर है। वह यह है कि आर्यिकादि स्त्रियों की वसतिका ग्राम के अति सन्निकट या ग्राम मे ही होनी चाहिए। तथा समाधिमरण करने वाली आर्यिकादि की वसतिका का प्रदेश अत्यन्त गूढ होना चाहिए। जहा पर पुरुषों का दृष्टि प्रवेश भी न हो सके। आर्यिकाओं के नग्न होने का निषेध है। यदि कोई परम विरक्त आर्यिका समाधिमरण के लिए नग्न वेश धारण करे तो उसको वसतिका के गूढ प्रदेश से बाहर निकलने का सर्वथा निषेध किया गया

है। उस दिगम्बर रूप को धारण कर उसी गुप्त स्थान में निवास करना चाहिए। वहा पर मनुष्यों का गमनागमन कभी भी न होना चाहिए। आर्यिका का समाधिमरण हो जाने पर कोई भी आर्यिका शव को लेजाने या दग्ध करने आदि के सम्बन्ध मे गृहस्थों को नहीं कह सकतीं। क्योंकि वे भी उपचार से महाव्रत की धारण करने वाली हैं। वे कभी मोह वश रुदनादि नहीं कर सकतीं। उक्त बातों के सिवा सब विधि मुनियों के समान ही होती है।

आर्यिकाएं तो सदा गृहस्थों के समीपवर्ती स्थान मे ही रहती हैं इसलिए उनके मुनि के समान शव को उठाकर एकान्तादि स्थान में रखने की आवश्यकता है।

प्रश्न—श्रावक लोग मुनीश्वर अथवा आर्यिकादि के शव को किस विधि से लेजावें ?

तेण पर सठाविय संथारगदं च तत्थ बंधित्ता।
उड्ढेंतरक्खणट्ठ गाम तत्तो सिर किच्चा ॥ १६८ ॥
कुसमुट्ठिं घेत्तूण य पुरदो एगेण होइ गंतव्व।
अट्ठिदअणियत्त तेण पिट्ठदो लोयण मुच्चा ॥ १६८२ ॥
तेण कुसमुट्ठिधाराए अव्वाच्छिण्णाए समणिपादाए।
संथारो कादव्वो सव्वत्थ समो सगिं तत्थ ॥ १६८३ ॥ [भग आ]

अर्थ—पहले गृहस्थ शिविका (पालकी) बनवे। उसके पश्चात् मुनि आदि के शव को शिविका में स्थापित करे और संस्तर सहित उसको रस्सी से बांधे। जिससे उठाने में वह सुरक्षित रहे। तथा बिना बांधे कभी २ मुर्दा शरीर ऐंठ कर उठ भी जाता है। बांधने से वह उठ नहीं सकता है। शव का सिर गाव की तरफ करे। एक मनुष्य कुश का पूला हाथ में लिए हुए आगे २ चले। मार्ग में बिना ठहरे शीघ्र २ चले जाना चाहिए। पीछे मुडकर नहीं देखना चाहिए।

पहले ही देखे हुए स्थान पर जाकर वह जानकार मनुष्य उस कुश (डाभ) के पूले को बराबर बिखेर कर सम संस्तर करे।

प्रश्न—जहा पर कुश (दर्भ) न मिले वहा क्या करे ?

जत्थ ण होज्ज तणाइं कुसणेहिं वि तत्थ कमरेहिं वा। [भग आ]
मथरिज्वा लेहा सव्वत्थ समा अवोच्छिएणा ॥ १६८४ ॥

अर्थ—जल पर भूमि सम करने के लिए कुश तृण न मिले तो प्रासुक चावल मसूर आदि के आटे से अथवा ईंटों के चूर्ण से अथवा प्रासुक कमलादि के केसर से या सूखे पत्तों आदि से मस्तक से लेकर पांव तक की भूमि को समान करे। उसमें ऊंचा नीचा प्रदेश न रखे।

संस्तर भूमि के सम न होने से निमित्त ज्ञान में हानि बतलाई गई है।

जो संस्तर ऊपर से विषम होगा तो उससे आचार्य का मरण एवं शरीर में व्याधि सूचित होती है। मध्य में विषम होने से संघ में प्रधान मुनि (एलाचार्य) की मृत्यु या शारीरिक विशेष व्याधि सूचित होती है और यदि पांव के समीप में नीचे का संस्तर विषम होगा तो संघ के अन्य मुनियों का मरण या उनमें भयानक रोग उत्पन्न होने का सूचना होती है। इसलिए संस्तर भूमि को सम बनाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। उसमें किसी स्थान में विषमता ऊंचा-नीचापन न रह इस विषय में पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

साधु के मृत शरीर को गाँव की ओर मस्तक करके उस सम किये हुए स्थान पर रखना चाहिए और शरीर के पास पिच्छिका रख देनी चाहिए। यहाँ मृत साधु के दाहिने हाथ में पिच्छी स्थापित करने के लिए कहते हैं।

प्रश्न—ग्राम की तरफ सिर करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—यदि व शव व्यन्तर देव के निमित्त से उठ खड़ा हो और उसका मुख ग्राम की तरफ हो तो वह ग्राम में प्रवेश करेगा इससे ग्राम के भीरु लोग भयभीत हो जाएंगे और जो अति भीरु होंगे वे प्राण भी छोड़ देंगे इत्यादि अनेक उपद्रव होंगे इसलिए शव का मस्तक ग्राम की तरफ करने से उक्त उपद्रवों का निवारण होता है।

प्रश्न—क्षपक के मरण का समय निमित्त ज्ञान से किन २ शुभाशुभ का सूचक होता है?

णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिव तु सव्वेसिं।
एक्को दु समे खेत्त दिवड्ढखेत्ते मरति दुवे ॥ १६८८ ॥ [भग आ]

अर्थ—यदि अल्प नक्षत्र में क्षपक का मरण हो तो समस्त संघ में सुख शान्ति रहती है। मध्यम नक्षत्र में मरण होने पर एक

आर साधु ना मरण सूचित होता है। और य न म्हान् नक्षत्र म मरण ो नावे तो न्ो अ य साधुओं के मरण को सूचना होता है।

भावाथ – शतभिषज भरणी आद्रा स्वाति आश्लेषा आर ज्येष्ठ ये छह पन्द्रह मुहूत्त वाले नक्षत्र जघन्य नक्षत्र कहलाते हैं। इनमें स किसी नक्षत्र म या नके अश मे क्षपक की मृत्यु हो ना न स क्षेम कुशल प्रतीत होता है। अश्विनी कृत्तिका मृगशि रा पुष्य मघा पूर्वा फाल्गुनी हस्त चित्रा अनुराधा मूल पूर्वाषाढा श्रवण धनिष्ठा पूर्वभाद्रपदा और रेवती इन नक्षत्रों को मध्यम नक्षत्र कहते हैं। नका काल तीस मुहूर्त्त प्रमाण होता है। इनमे स किसी नक्षत्र म या नक अश म यदि क्षपक का मरण हो जावे तो एक दूसरे मुनि की मत्यु होती है। तथा उत्तरा फाल्गुणी उत्तराषाढा उत्तरभद्रा पुनर्वसु रोहिणी और विशाखा य उत्कृष्ट नक्षत्र कहे जाते हैं। इनका काल पैंतालीस मुहूर्त प्रमाण है। इन नक्षत्रो म स किसी नक्षत्र म अथवा इनके अश मे ा सी क्षपक क मृत्यु हो जावे तो दो मुनि और मरण करते हैं। ऐसा निमित्त ज्ञान से सूचित होता है।

प्रश्न—क्षपक का मरण आयु कम के आधीन है। यदि मध्यम या उत्कृष्ट नक्षत्र में क्षपक का मरण हो जावे तो उक्त उत्पात का निवारण करने का कोई उपाय है या नहीं ?

उत्तर—हा उपाय है। और वह निम्न प्रकार है—

गणरक्खत्थ तम्हा तणमयपडिबिंबयं खु कादूण।
एक तु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते दुवे देज्ज ॥ १९९० ॥
तट्ठाणसावणं चिय तिक्खुत्तो ठविय मडयपासम्मि।
विदियवियप्पिय भिक्खू कुज्जा तह विदियतदियाणं ॥ १९९१ ॥ [भग आ]

अर्थ—सघ की रक्षा के निमित्त मध्यम नक्षत्र म मरे हुए क्षपक के शव के समीप एक तृणमय प्रतिबिम्ब की स्थापना करे। अर्थात् एक घास क पूले म प्रतिबिम्ब की कल्पना करके उस पूले की स्थापना करे और उस मुनि के स्थान में मैंने यह दूसरा (मुनि) स्थापित किया है यह चिरकाल तक यहा रहे और तपस्या करे ऐसा तीन बार उच्च स्वर से उच्चारण करे। उत्कृष्ट नक्षत्र में मृत्यु को प्राप्त हुए मुनि के निकट दो तृणमय प्रतिबिम्ब की स्थापना करे। अर्थात दो घास के पूलों में प्रतिबिम्ब की कल्पना करके उन्हें स्थापित करे। तथा दोनों पूलों को स्थापन करके उन दोनों (मुनियों) के स्थान में मैंने ये दो स्थापन किये हैं ये चिरकाल तक यहा रहें और तप करें ऐसा तीन बार उच्च स्वर स उच्चारण करे।

प्रश्न—यदि घास का पूला न मिले तो शान्ति के निमित्त क्या करना चाहिए।

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरच्छारिट्ठियादिचुण्णेहिं।
कादव्वोथ ककारो उवरिंहिट्ठा यकारो से ॥ १९९२ ॥ [भग आ]

अर्थ—तृण न मिलने पर चावल आदि के आटे से अथवा पुष्प की सूखी प्रासुक केसर या भस्म या ईंट अथवा पत्थर के चूर्ण से काय ऐसा लिखे।

अथवा क ऐसा लिखकर उसके ऊपर क्षपक के शव को स्थापन करे। तथा अर्ह पूजा आदि से शान्ति करना भी इष्ट है ऐसा मूलाराधना नामक टीका में कहा है—

महन्मध्यमनक्षत्रमृत शान्तिर्विधीयते ।
यत्नतो गणरक्षार्थ जिनार्चाकरणादिभि ॥

अर्थ—उत्कृष्ट और मध्यमनक्षत्र में क्षपक का मरण होने पर गण की रक्षा के अर्थ यत्नपूर्वक जिन पूजादि क्रियाओं से शान्ति की जाती है।

आशय यह है कि संघ में शान्ति बनी रखने का महान प्रयोजन है। वह जैसा साधुओं का कर्तव्य है वैसा श्रावकों का भी है। दोनों अपने२ पद के अनुसार अपना कर्तव्य करते हैं। साधुलोग तपश्चरण यानादि द्वारा आगत विघ्न की शान्ति का उपाय करते हैं और श्रावक जिन पूजा दानादि द्वारा शान्ति कर्म करते हैं। अत श्रावकों को जिन पूजादि कार्य करना उचित है और मुनियों को अनशनादि तपश्चरण व ध्यानादि का आचरण करना योग्य है। अथवा जिनेन्द्र देव की भाव पूजा मुनि भी कर सकते हैं किन्तु द्रव्य पूजा श्रावक ही करते हैं।

क्षपक के शव के साथ पिच्छी व कमण्डलु भी स्थापित कर दे। यदि शिबिका (पालकी) बनाई हो और उसमें उपकरण लगाये हों तो उनमें से जो उपकरण जिससे मांगकर लाये हों वे उनको वापिस दे दें और जो नहीं देने योग्य हों उनको वहीं स्थापित करदें।

प्रश्न—आराधक की वसतिका में जाकर समस्त संघ क्या करे ?

उत्तर—उसके पश्चात् हमको चारों आराधना की प्राप्ति हो इस हेतु से समस्त संघ को कायोत्सर्ग करना चाहिए। और क्षपक

की जहा आराधना हुई है उस वसतिका के अधिष्ठातृ देवता स सम्पूर्ण मुनि इच्छाकार करें अर्थात् हम सब सघ के मुनि यहा पर तुम्हारी अनुमति से रहना चाहते हैं-ऐसा कहना चाहिए।

अपने सघ के मुनि का मरण हो जावे तो उस दिन सम्पूर्ण सघ के मुनियों को उपवास करना चाहिए। यदि मुनियों की गोचरी हो जाने के बाद कोई मुनि मरण को प्राप्त हो जावे तो दूसरे दिन उपवास न करे। मरण के दिन स्वाध्याय करना वर्जित है। यदि दूसर सघ में मुनि का मरण हो जावे तो उपवास करे या न कर अपनी इच्छा पर निभर है। किन्तु उस दिन स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—साधु की मृत्यु होने के तीसरे दिन का क्या कृत्य है ?

उत्तर—सघ के सुख सहित विहार के लिए तथा क्षपक की गति जानने के लिए तीसरे दिन क्षपक के शरीर का अवलोकन करना चाहिए। जितने दिन तक क्षपक के शरीर को वृक (भेड़िया आदि पशु और गृध्रादि पक्षी स्पर्श न करगे उसका शरीर अक्षत रहेगा उतने वर्ष पर्यन्त उस राज्य भर मे क्षेम कुशल रहेगा। ऐसा सूचित होता है।

उस मृतक शरीर को या उसके अवयव को पशु पक्षी जिस दिशा में ले गये हों उस दिशा में यदि सघ विहार कर तो सघ में क्षेम कुशल तथा कल्याण होता है। ऐसा निमित्त शास्त्र में कहा गया है।

प्रश्न—मृत क्षपक की गति का ज्ञान कैसे होता है ?

जदि तस्स उत्तमग दिस्सदि दता च उवरिगिरिसिहरे।
कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं पत्तात्ति णायव्वा ॥ १९९९ ॥ [भग आ]

अर्थ—यदि मृत क्षपक शरीर का उत्तमाग (सिर) या दात पर्वत के शिखर पर पड़ हुए दिखाई दें तो समझना चाहिए कि वह क्षपक कर्म मल स रहित होकर सिद्धावस्था को प्राप्त हुआ है।

नयनदी के टिप्पण में कर्ममल का अर्थ मिथ्यात्वादि अ प कर्म और सिद्धि का अर्थ सर्वार्थसिद्धि किया गया है। अर्थात् जिसके दांत अथवा सिर गिरि के शिखर पर पड़ हुए दिखाई दे तो उस क्षपक साधु के मिथ्यात्वादि का क्षय होगया है और वह सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुआ है ऐसा प्रतीत होता है। तथा प्राकृत टीका मे एव विजयोदया टीका म कर्ममल स मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त हुआ है-ऐसा अर्थ किया गया है। उक्त दोनों मतों मे जयनन्दी का मत बुद्धिग्राह्य प्रतीत होता है किन्तु दूसरे मत को बुद्धि स्वीकार नहीं करती कारण कि यदि

अ नन्त केवली भी होन तो देवों द्वारा उनका मोक्ष कल्याणक होता है। लेकिन देवों का आगमन न होने के कारण अन्य साधुओं के मोक्ष का निश्चय नहीं हो सकता है।

यदि क्षपक के मृतक शरीर का मस्तक उच्च प्रदेश में दिखाई दे तो उसका जन्म वैमानिक देवों में हुआ प्रतीत होता है। यदि वह समभूमि में दीख पडे तो उसकी उत्पत्ति ज्योतिष देवों में एवं य तर्रा म निश्चित होती है। कोई कोई आचार्य समभूमि म मस्तक देखकर वानव्य तर जाति के व्यन्तर देवों मे ही जन्म मानते हैं और यदि गड्ढे मे मस्तक दिखाई दे तो भवनवासी देवों मे जन्म निर्धारित होता है।

क्षपक की गति के ज्ञान कराने वाले जो ऊपर निमित्त बताये हैं वे सूचना मात्र हैं। उनसे क्षपक की गति का यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता है। यह तो केवलीगम्य है या अवधीज्ञान के गोचर हैं। इसलिए हम इसका पूर्ण निश्चय नहीं कर सकते हैं।

ते सूरा भयवता आइच्छइदूण संघमज्झम्मि।
आराधणापडाय चउप्पयारा हिदा जहि ॥ २ १ ॥ [भग आ]

अर्थ—वे मुनिराज क्षपक शूरवीर और पूज्य हैं जिन्होंने संघ के मध्य प्रतिज्ञा लेकर आराधना ग्रहण की है।

भावार्थ—जिन महापुरुषों ने सांसारिक सुख से मुह मोड कर इन्द्रियों के विषय और स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निरोधकर खड्ग धार पर चलने के समान मुनिव्रत को अङ्गीकार किया है वे धन्य हैं जगत के पूज्य हैं। किन्तु जिन्होंने अपने शरीर को निःसार समझ रत्नत्रय की आराधना के लिए समाधिमरण सरीखे दिव्य कर्त्तव्य की प्रतिज्ञा लेकर अन्तरंग और बाह्य घोर तपश्चरण का आचरण कर शरीर और कषायों का शोषण करके समाधि पूर्वक मरण किया है अर्थात मरण पर्यन्त रत्नत्रय की आराधना का निर्वाह किया है वे जगत्पूज्य महामुनि धन्य हैं। वे महा भाग्यशाली व ज्ञानी हैं। जिन्होंने अभीष्ट फल (मोक्ष) देने वाली आराधना को प्राप्त किया है। उन्होंने किस दुर्लभ पदार्थ को प्राप्त नहीं किया है? अर्थात् उन्होंने तीनों लोक में जो दिव्य पदार्थ हैं उन सबकी प्राप्ति करली है। जो महाभाग एक बार जघन्य आराधना का सेवन कर चुके हैं वे सात आठ भवों के अनन्तर अवश्य मोक्ष के अधिकारी होते हैं। ऐसे भाग्यशाली महात्मा की महिमा का वर्णन कहां तक किया जावे? उनकी जितनी स्तुति की जावे वह थोड़ी है।

वे नियापक मुनि भी धन्य हैं वे अपूर्व भाग्यशाली हैं जिन्होंने जगत्पूज्य क्षपक की आराधना को सफल बनाने में पूर्ण यत्न पूर्वक सहायता की है। आदर भक्ति से अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर अनेक क्लेशों को सहकर रात दिन क्षपक का वैयावृत्य किया है। वे

परिचारक महाभागों का जन्म भी धन्य है। उन्ह ने क्षपक की आराधना को निर्विघ्न क्या किया है अपनी भविष्य में होने वाली आराधना को निर्विघ्न बनाया है। जो साधु दूसरे की आराधना को निर्विघ्न बनाते हैं वे निकट भविष्य में सुख पूर्वक अपनी आराधना की पूर्ति करते हैं। शास्त्र में कहा गया है।

ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तम्स खवयस्स।
सव्वादरसत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥ २ ४ ॥
जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स।
सपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ॥ २००५ ॥ [भग आ]

इनका आशय ऊपर आगया है।

जो धर्मात्मा क्षपक के दर्शन के लिए यात्रा करते हैं वे भी पुण्यशाली होत हैं।

ते वि कदत्था धण्णा य हु ति पावक ममलहरणे।
ण्हायंति खवयतित्थे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ॥ २ ६ ॥ [भग आ]

अर्थ—उन मनुष्यों का भी जन्म कृतार्थ है जो अनादिकाल स आत्मा के साथ चिपके हुए पापकममल को धोने के लिए क्षपक रूप तीर्थ में श्रद्धा व भक्ति सहित स्नान करने के लिए जाते हैं।

भावार्थ—भक्त प्रत्याख्यान करके संन्यास मरण करने वाला क्षपक महान् पवित्रात्मा है। ऐसे पवित्रात्माओं के स्पर्श से क्षेत्र भी तीर्थ बन जाते हैं। इन तीर्थों में जाकर लोग स्नान करके अपने को पवित्र हुआ मानते हैं। जिसके चरण स्पर्श मात्र से भूमि तीर्थ बनती है उसके दर्शन करने से पाप कम का क्षय हो तो इसमें आश्चय क्या है। इसलिए जिन भाग्यशाली पुरुषों को ऐसे क्षपक मुनीश्वर का दर्शन लाभ होता है वे धन्य है। ऐसा सुयोग पाकर प्रत्येक धार्मिक पुरुष को दर्शन स्पर्शन सेवादि सुकृत्य करके अपने जन्म को सफल बनाना चाहिए।

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवाधणेहिं जदि उसिदा।
तित्थं कध ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवओ ॥ २००७ ॥ [भग आ]

अर्थ—जहां पर तपोधनों ने निवास किया है वे पर्वत नदी वनादि क्षेत्र यदि तीर्थ हो जाते हैं तो फिर सतत उग्रोग्र तपस्या करने वाले गुणों के पुंज क्षपक के तीर्थ होने में क्या सन्देह हो सकता है ?

पुव्वरिसीण पडिमाओ वंदमाणस्स होइ यदि पुण्णं ।
खवयस्स वंदओ किह विपुण्णं विउलं ण पावेज्ज ॥ २००८ ॥ [भग आ]

अर्थ—प्राचीनकाल के ऋषि महर्षियों की प्रतिमाओं की वन्दना करने वालों को यदि पुण्य होता है तो साक्षात् क्षपक महर्षि की वन्दना करने वाला क्या विपुल पुण्य का अधिकारी न होगा ? अवश्य होगा। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

भावार्थ—आगम में पंच परमेष्ठी की प्रतिमाएं वन्दनीय और पूज्य मानी गई हैं। पंच परमेष्ठी में अठाईस मूल गुण के धारक मुनिराज भी एक परमेष्ठी हैं। कई क्षेत्रों में साधु परमेष्ठी की प्रतिमाएं इस समय भी नित्य प्रति पूजी जाती हैं। इतना अवश्य है कि जिनके भाव से मुनिपने का पूर्ण रूप से निश्चय हो जाता है उनकी ही प्रतिमाएं हो सकती हैं और ऐसे निश्चित भाव-मुनियों की ही प्राचीन प्रतिमाएँ देखी जाती हैं। जैसे मन्दिरों में सर्प के फण से हत पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा हैं वे सब मुनि अवस्था की प्रतिमाएं हैं। लता बेल आदि से वेष्ठित बाहुबलि की प्रतिमा भी मुनि अवस्था की ही है इत्यादि। उनके वन्दन पूजन करने से महान् पुण्य का बन्ध होता है। जब कि मुनि प्रतिमा के दर्शन वन्दन पूजनादि से पुण्य उत्पन्न होता है तो क्या परम तपस्वी अठाईस मूल गुण के धारक रत्नत्रय की निर्विघ्न आराधना करने के लिए शरीर का उत्सर्ग करने वाले कषायों का दमन कर उन्हें अत्यन्त कृश करने वाले वीतरागी क्षपक की वन्दना स्तुति करने वाला पुण्य का भागी न होगा ? अवश्य होगा। और तो क्या जो क्षपक की यथाशक्ति उपासना करता है जिसके अन्तःकरण में भक्ति का स्रोत बहता रहता है वह महापुरुष भी निकट भविष्य में सम्पूर्ण आराधना को प्राप्त करता है।

इस प्रकार यहां तक सविचार भक्त प्रत्याख्यान का वर्णन हुआ।

अविचार भक्त प्रत्याख्यान

तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढे ।
अपरक्कमस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥ २०११ ॥

अर्थ—अकस्मात् मृत्युकाल उपस्थित हो जाने पर हीन शक्ति के धारक मुनि के उपरोक्त सविचार भक्त प्रत्याख्यान नहीं होता है। उस समय अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। अर्थात् जिसमें अल्प शक्ति है और जिसकी आयु का काल अधिक नहीं बचा है, मरण शीघ्र होने वाला है ऐसे मुनि के अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है।

अविचार भक्त प्रत्याख्यान तीन प्रकार का है—(१) निरुद्ध (२) निरुद्धतर (३) और परमनिरुद्ध।

प्रश्न—निरुद्ध नामक अविचार भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं।

तस्स णिरुद्धं भणिदं रोगादंकेहिं जो समभिभूदो।
जंघाबलपरिहीणो परगणगमणम्मि ण समत्थो ॥ २०१३ ॥ [भग आ]

अर्थ—जो मुनि साधारण रोग अथवा भयानक रोग से निरंतर पीड़ित रहता है और जिसकी जांघों में गमन करने की शक्ति नहीं है अतएव जो दूसरे संघ में नहीं जा सकता है उस मुनि के निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसकी शेष सब विधि सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान होती है।

भावार्थ—जब तक मुनि के पावों में चलने फिरने की शक्ति रहती है तब तक वह अपने कार्यों को स्वयं करता है और जब शक्ति का अत्यन्त ह्रास हो जाता है तब संघ के मुनियों की सेवा स्वीकार करता है। अर्थात् सतत रोग से पीड़ित रहने के कारण अथवा अचानक भयानक बीमारी के आजाने पर जिसमें गमनागमन की शक्ति नहीं रहती है जो अन्य संघ में जाने के लिए असमर्थ हो जाता है ऐसे मुनि के मरण को निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। वह मुनि अपने संघ में ही आचार्य के निकट रहता है। सविचार भक्त प्रत्याख्यान वाला मुनि अनियत विहार कर अन्य आचार्य संघ में जाता है और यह अनियत विहार न करके अपने संघ में ही रहता है इसलिए इसको अविचार नाम से कहा है। यह अपने आचार्य के पादमूल में रहकर मुनि दीक्षा से लेकर अब तक के जितने दोष हुए हैं उनकी आलोचना करता है। उनकी निन्दा गर्हा करता है। गुरु महाराज से दिये हुए प्रायश्चित्त का आचरण कर दोषों से निवृत्त होकर आत्म शुद्धि करता है। तथा जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरों की सहायता के बिना रत्नत्रय की आराधना में तत्पर रहता है। और जब चलने फिरने में अशक्त हो जाता है तब अन्य मुनीश्वरों की सहायता लेकर रत्नत्रय की साधना करता है।

इसकी शेष सब विधि सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान ही जाननी चाहिए। यही मूलाराधना टीका में कहा है—

सन्निरुद्धमवीचार स्वगणस्थमितीरितम् ।
अपर प्रक्रम सर्व पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥

अर्थ—अपने गण (संघ) में ही रहकर समाधिमरण सम्पन्न करने वाले मुनि के अविचार निरुद्ध भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसके अतिरिक्त भक्त प्रत्याख्यान की सब प्रक्रिया पूर्वोक्त सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान होती है।

इस निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान के प्रकाश और अप्रकाश ये दो भेद होते हैं।

जो भक्त प्रत्याख्यान (समाधिमरण) प्रकट रूप में किया जाता है उस प्रकाश भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं और जो भक्त प्रत्याख्यान क्षपक के मनोबल (धय) की हीनता तथा क्षेत्र की अयोग्यता आदि से प्रकट नहीं किया जाता है उसे अप्रकाश भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं।

यदि क्षपक धैर्य का धारण करने वाला न हो और क्षुधादि परीषहों के प्राप्त हो जाने पर पीड़ित होने लगे अथवा वसतिका एकान्त स्थान में न हो या काल अतिदल हो या क्षपक के पुत्र मित्रादि बन्धुगण सन्यास (भोजनादि के त्याग) में विघ्न बाधा उपस्थित करने वाले हों तो क्षपक का भक्त प्रत्याख्यान मरण गुप्त रखना चाहिए क्योंकि प्रकाशित होने पर सन्यास कार्य में विघ्न बाधाओं की पूरी सभावना रहती है।

प्रश्न—निरुद्धतर भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर—अग्नि आदि अचेतन कृत तथा सर्प व्याघ्रादि चेतन कृत उपसर्गों के प्राप्त होने पर या हैजा प्लेग आदि मारक रोगों की अचानक उत्पत्ति होने पर आयु के शीघ्र क्षय होने का निश्चय हो जावे उस समय सब प्रकार के आहारादि का त्याग करके आचार्य के निकट दीक्षा से लेकर अब तक के सब अपराधों की आलोचना गर्हा निन्दा करके आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर शुद्ध हो रत्नत्रय की आराधना में जब तक सुध बुध रहे तब तक लगे रहने को निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं। शास्त्रों में कहा है—

वालग्गिवग्घमहिसगयरिच्छ पडिणीयतेणमेच्छेहिं ।
मुच्छा विसूचियादीहिं होज्ज सज्जो हु वावत्ती ॥ २०१८ ॥ [भग आ]
जाव ण वाया खिप्पदि बल च विरिय च जाव कायम्मि ।

तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्त ण विक्खत्त ॥ २ १६ ॥

णच्चा संवट्टिज्ज तमाउग सिग्घमेः तो भिक्खू ।

गणियादीण सणिणदिदाण आलोचए सम्म ॥ २०२० ॥ [भग आ]

अथ—सर्प, अग्नि सिंह व्याघ्र भैंसा हाथी, रीछ शत्रु चोर तथा म्लेच्छ और मूर्छा हैजा आदि प्राण घातक रोग के निमित्त से मृत्यु की कारण भूत वेदना या मरण के उपस्थित होने पर जब तक बोलने की शक्ति बनी रहे तथा जब तक शरीर में बल व वीर्य विद्यमान रहे तथा तीव्र वेदना से जब तक सावधानता का नाश न हो तब तक आयु को शीघ्र नष्ट होते हुए जानकर आचार्य के चरणों की शरण ग्रहण कर और उनके समीप अपने सम्पूर्ण दोषों की आलोचना करे एवं सम्यक् प्रकार रत्नत्रय की आराधना में तत्पर हुआ अपने शरीर का उपकरणों का तथा आहार संस्तर व वसतिका का और परिचारकों का त्याग करदे अर्थात् इनपर से ममत्व भाव को हटाले।

आशय यह है कि विपत्ति आने पर बल वीर्य का ह्रास हो जाने से अन्य संघ में जाने के लिए असमर्थ हुए साधु को निरुद्ध कहते हैं। और जब साधु उससे अधिक आकस्मिक विपत्ति आने पर अति असमर्थ होता है उस समय आचार्य का संयोग न मिले तो अन्य साधु के निकट आलोचना कर रत्नत्रय की आराधना में सावधान रहने को निरुद्धतर कहते हैं और उसके मरण को निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

प्रश्न—परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर—सर्प व्याघ्र अग्नि आदि के उपद्रव के कारण जिन मुनीश्वरों की बोलने की शक्ति भी नष्ट हो गई हो जब वे मुनीश्वर अपने मन ही मन में अरिहन्त सिद्ध आचार्यादि परमेष्ठी का स्मरण व ध्यान कर अपने दोषों की आलोचना कर अपने आत्म ध्यान में अर्थात् रत्नत्रय की आराधना में दत्तचित हो जावें तब उनके मरण को परम निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। जैसा कि कहा है—

वालादिएहिं जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ।

तइया परमणिरुद्ध भणिद मरण अविचार ॥ २०२२ ॥ [भग आ]

अथ—जब साधु के शरीर में सर्पादि के विष का संचार हो जावे या किसी अग्नि आदि के उपद्रव से अत्यन्त पीड़ित हो जावे और उसकी वचन प्रवृत्ति का भी भंग हो जावे बोलने की शक्ति भी नष्ट हो जावे उस समय परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण

होता है अर्थात् वचन उच्चारण करने की शक्ति न रहने पर परमनिरुद्ध मरण होता है। उस समय उस साधु को चाहिए कि अपने अन्तःकरण में अर्हन्त सिद्ध साधु को धारण कर शीघ्र आलोचना करले और शान्तचित्त से अपनी आत्मा के सिवा शरीरादि सब पदार्थों से ममता हटाकर आत्म ध्यान में लवलीन रहे। उस साधु के मरण को परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं।

जैसी आराधना की विधि पूर्व सविस्तर वर्णन की गई है वैसी ही शेष विधि इस अविचार भक्त प्रत्याख्यान में भी समझना चाहिए।

पूर्वोक्त विधि से चार प्रकार की आराधना का प्रारम्भ करके यदि पूर्वोक्त सर्प विष अग्नि आदि आयु की शीघ्र उदीरणा (क्षय) करने वाले कारणों के उपस्थित हो जाने पर कोई आराधक शीघ्र प्राण त्याग करने का अवसर प्राप्त हो जावे तो कोई साधु इस पंडित मरण से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं और कोई २ मुनीश्वर उक्त आराधना के फल स्वरूप वैमानिक देवों में उत्पन्न होते हैं। तथा अपने २ भावों के अनुसार उत्तम मध्यमादि देवों में जन्म धारण करते हैं।

शङ्का—इतने अल्पकाल में मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी ?

समाधान—बहुत लम्बे काल तक आराधना का सेवन करके ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है ऐसा नहीं समझना चाहिए। कोई २ लघुकर्मा मुनिराज अन्तर्मुहूर्त्त काल में ही रत्नत्रय की आराधना करके संसार समुद्र को पार कर लेते हैं।

वर्धन नाम नृपति अनादि मिथ्यादृष्टि था। वह श्री देवाधिदेव ऋषभ तीर्थंकर के पादमूल में आत्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर स्वपर का भेद विज्ञानी होकर क्षणमात्र में निर्वाण पद का अधिकारी हुआ। जैसा कि कहा है —

सिद्धो विवर्धनो राजा चिरं मिथ्यात्व भावितः।
वृषभस्वामिनो मूले क्षणेन धुतकल्मषः ॥ २१०० ॥

इसका अर्थ ऊपर आगया है।

सोलसतित्थयराणं तित्थुप्पण्णस्स पढमदिवसम्मि।
सामण्णणाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण संपण्णा ॥ २०२८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—श्री ऋषभ नाथ तीर्थंकर से लेकर शांतिनाथ तीर्थंकर पर्यन्त सोलह तीर्थंकरों के जिस दिन दिव्य ध्वनि की उत्पत्ति हुई थी उसी दिन कई महापुरुषों के मुनिदीक्षा केवलज्ञान और निर्वाण ये तीनों कार्य अन्तर्मुहूर्त्त काल में निष्पन्न हुए।

इगिणी मरण

पव्वज्जाए सुद्धो उवसपज्जितु लिंग कप्प च।
पवयणमोगाहित्ता विणयसमाधीए विहरित्ता ॥ २०३१ ॥ [भग आ]

अथ—जो महानुभाव निग्रन्थलिंग धारण करने योग्य है अर्थात् दिगम्बर भेष धारण करने के लिए जो अयोग्यता पहले बता आये हैं उससे रहित है वह मुनिदीक्षा धारण कर आगम का अवगाहन करता है। आचारांगादि चारित्र धम के निरूपण करने वाले तथा अन्य आगम ग्रन्थों का मनन करता है। विनय और समाधि में परिणमन करता है।

भावार्थ—पण्डितम ण का द्वितीय कल्प इंगिणी मरण है। इगिणी मरण करने वाला साधु अपना वैयावृत्य आप खुद करता है। दूसरे से अपना वैयावृत्य नहीं करवाता है। जिसने आगम में वणन किये हुए मुनि पद धारण करने की योग्यता होने पर जिन लिंग (दिगम्बर भेष) को धारण किया है तथा आचारांगादि आगम अथवा आचार के प्रतिपादक अन्य शास्त्रों में भले प्रकार अवगाहन किया है उनके रहस्य को सम्यक प्रकार से जान लिया है अपने आत्मा को विनय और समाधि में प्रवृत्त किया है ऐसा साधु इगिणी मरण के लिए उद्यत होता है। यदि आचाय स पडित मरण में प्रवृत्ति करना चाहे तो उसे उचित है कि वह अपने सघ को इंगिणी मरण की विधि के साधन करने योग्य बनावे, पश्चात् वह एलाचाय की स्थापना करके उसे संघ संचालन करने के योग्य उ चत उपदेश (जैसा भक्त प्रत्याख्यान मरण में कह आये हैं वैसा उपदेश) देकर सम्पूण संघ से अपना सम्बन्ध छोड़कर उससे पृथक हो जावे और संघ के वृद्ध बाल आदि सब मुनियों से क्षमा याचना करे। रत्नत्रय के पालन में जो अतिचार लगे हों उनकी आलोचना करे। सघ में आचाय की स्थापना करने के अनन्तर सम्पूण सघ को भी पूव की भांति उपदेश देवे। मैं जीवन पयन्त तुम से पृथक होता हूँ ऐसा कहकर अपने को कृतार्थ मानता हुआ आनन्द से प्रफुल्लचित्त होकर वहां से प्रयाण करे।

प्रश्न—अपने सघ से निकलकर आचाय अथवा अन्य मुनि क्या करे ?

एव च णिक्कमित्ता अतो बाहिं च थडिले जोगे।
पुढवी सिलामए वा अप्पाण णिज्जवे एक्को ॥ २०३५ ॥ [भग आ]

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थडिलम्मि पुव्वुत्त ।
जदणाए संथरित्ता उत्तरसिर मधव पुव्वसिर ॥ २ ३६ ॥ [भग आ]

अर्थ—निज संघ मे निकलकर योग्यमुनि वा आचाय ऐसे स्थण्डिल प्रदेश (कठिन भूमि प्रदेश) का आश्रय ले जो समतल हो और ऊचा हो जिसम छिद्र व बिल न हो तथा जीव जन्तु रहित हो। अथवा पाषाण शिला हो उसपर सस्तर की रचना करे। सस्तर बनाने के लिए बिना सधि (जोड़) वाले छेद रहित निजन्तुक व कोमल तृण पास के गाव या नगर में जाकर गृहस्थों स याचना कर ले आवे। तृण उतने ही लावे जिनपर उसका शरीर स्थिरता को प्राप्त हो सके और उनकी प्रतिलेखना भी अच्छी तरह कर सके। उन लाये हुए तृणों (घास) को स्थडिल भूमि या शिला पर बड़े यत्न स बिछावे अर्थात् तृणों को पृथक २ कर देख शोधकर तथा सस्तर भूमि को पिच्छी से प्रमाजन करके सस्तर की रचना करे। अलग २ बिखेर कर शय्या रूप बिछावे। उत्तर दिशा में या पूव दिशा में सस्तर का शिर करे अर्थात् पूव या उत्तर दिशा में मस्तक रखन योग्य तृण का उपधान (तकिया) बनावे। संस्तर की रचना करने के पश्चात् अपने मस्तक हाथ पाव आदि समस्त शरीर के अवयवों का पिच्छी से प्रमाजन करे। तत्पश्चात् इगिणी मरण करने में प्रवृत्त हुआ वह साधु उस सस्तर पर पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुख करके खड़ा हो जाता है और मस्तक व हाथ जोडकर अन्त करण मे परिणामों को उज्ज्वल करता है। अरिहत सिद्धादि को हृदय में विराजमान कर उनके समीप अपने पूव कृत अपराधों की आलोचना करता है। निन्दा गर्हा करता है। उससे आत्मा को निमल करता हुआ रत्नत्रय को पवित्र बनाता है। अपनी लेश्या को विशुद्ध करता है। यावज्जीव चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है तथा समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग करता है अर्थात उपकरणों से तथा शरीर स भी ममत्व हटा लेता है। अत वह आगत परीषह और उपसर्गों का धैय स सहन करता है। अपने अन्त करण को निर्विकार रखता हुआ धमध्यान का आश्रय लेता है।

वह क्षपक महात्मा उक्त सस्तर पर कायोत्सग में खड़ा रहकर या पर्यंक (पालथी) आदि आसनों से बैठकर या एक पार्श्व (पसवाडे) बाजू से लेटकर धमध्यान में तत्पर रहता है। वह मुनिराज अपनी शरीर सम्बन्धी तथा प्रतिलेखनादि सब क्रियाए अपने आप करता है।

उपसग रहित अवस्था में प्रतिलेखन प्रतिष्ठापना समिति शौच क्रिया के पालन करने में वह सदा सावधान रहता है। किसी काय में वह दूसरों की सहायता नहीं लेता है।

यदि पूव के शत्रु किसी देव के द्वारा अथवा प्रतिपक्षी किसी मनुष्य के द्वारा अथवा दुष्ट तिर्यंच द्वारा किसी प्रकार का उपसग उपस्थित हो जावे तो वह धीर वीर महामना मुनीश्वर उसका प्रतीकार नहीं करता है। उनके धैय रूपी दृढ़ कवच को घोर उपसग रूपी तीक्ष्ण

शस्त्र भेदन नहीं कर सकते हैं। उसके अन्त करण में लेशमात्र भी क्षोभ नहीं होता है। क्योंकि उनमें पूर्ण कष्ट-सहिष्णुता होती है। इस इंगिणी मरण की आराधना करने वाले महामुनि होते हैं। इनक आदिम तीन उत्तम सहनन होते हैं। हीन सहनन का धारक इस पंडित मरण का अधिकारी नहीं हो सकता। उनका सस्थान (शरीर का आकार) भी उत्तम होता है। वे निद्रा विजयी होते हैं। उनका शारीरिक बल एवं आत्म-पराक्रम भी अपूव होता है।

वे आत्मध्यान में लवलीन रहते हैं। उनके तपश्चरण के प्रभाव स वैक्रियिक ऋद्धि, आहारक ऋद्धि चारण ऋद्धि आदि अनेक ऋद्धिया उत्पन्न हो जाती हैं फिर भी वे उनका उपयोग नहीं करते।

वे सदा मौनव्रत धारण करते हैं। रोगादि की तीव्र वेदना होने पर भी उसका इलाज नहीं करते हैं। तथा शीत उष्ण भूख प्यास आदि का प्रतीकार करने की इच्छा तक नहीं करते हैं।

बीभत्स और भयानक रूप धारण करने वाले भूत वेताल राक्षस शाकिनी पिशाचिनी आदि क्षोभ उत्पन्न करने के लिए आये हुए दुष्ट देवी देवताओं के अनेक प्रयत्न करने पर भी जिनको लेश मात्र भीति उत्पन्न नहीं होती है।

अनेक सुन्दर रूपवाली किन्नर किम्पुरुषादि की देवकन्याए उनको लुभाने का प्रयत्न करती हैं तो भी उनका मन-सुमेरु चलित नहीं होता है।

यदि सम्पूर्ण जगत् का पुद्गल समूह दु:ख जनक पर्याय धारण कर उन धैर्य धुर धर को पीड़ा देने के लिए उपस्थित हो जावे तो भी उनका चित्त ध्यान से च्युत नहीं होता है।

अथवा समस्त पुद्गल सुख जनक पर्यायों को धारण कर सम्मिलित हुआ उन परम ध्यानी को सुख देने के लिए चरणों में लौटा करे तो भी उन्हें विचलित करन के लिए समथ नहीं हो सकता है।

प्रश्न—व्याघ्र सिंहादि के द्वारा प्राणियों से व्याप्त भूमि पर गिरा देने पर वह साधु क्या करते हैं?

सचित्त साहरिदो तत्योवेक्खदि विपत्तसव्वगो।
उवसग्गे य पसते जदणाए थंडिलमुवेदि ॥ २०४६ ॥ (भग आ)

अथ—हरी घास या अन्य जीवों से व्याप्त भूमि में इगिणी मरण करने वाले साधु को यदि व्याघ्रादि लेजाकर फेंक दें तो भी वह मुनीश्वर उपसर्ग काल पर्यन्त शरीर से मोह ममत्व रहित हुए परम शान्ति का आश्रय लेकर वहा पर ही ध्यान में लीन रहते हैं और उपसर्ग दूर हो जाने पर स्वयंमेव यत्न से स्थंडिल भूमि की ओर चले आते हैं।

इस प्रकार वे मुनिराज उपसर्ग और कषायों को जीतते हैं। मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति द्वारा मन वचन काय की क्रियाओं को रोककर आत्म ध्यान में अपने को लगाते हैं। आध्यात्मिक तत्त्वों का चिन्तन करते हैं। इसके अतिरिक्त किसी विषय में उनका चित्त प्रवृत्ति नहीं ठहरती है। वचन का उच्चारण नहीं करते क्योंकि उन्होंन मौन व्रत धारण किया है। काय से भी तो यदि कोई क्रिया करनी पड़ती हो तो वही क्रिया करते हैं जो आत्मध्यान की साधक होती है।

इस लोक और परलोक के पदार्थों में जीवित रहने और मृत्यु की प्राप्ति में सासारिक सुख में और दुख में न राग करते हैं और न द्वेष करते हैं विपत्ति म धैर्य धारण कर दुख से कभी नहीं घबराते हैं। केवल आत्म स्मरण मनन चिन्तन और ध्यान मे लवलीन रहते हैं।

वे महामुनि वाचना प्रच्छना परिवतन (पाठ) और धर्मोपदेश इन चार प्रकार के स्वाध्याय को छोड़कर केवल अनुप्रेक्षा (चिन्तन) स्वाध्याय को ही करते हैं। दिन का पूर्व भाग मध्याह्न (दिन का मध्य भाग) दिन का अन्त भाग और अर्धरात्रि इन चार कालों में तीर्थंकरों की दिव्य ध्वनि होती है। ये स्वाध्याय के काल नहीं माने गये हैं। इनमें भी वे अनुप्रेक्षा (चिन्तन) रूप स्वाध्याय करते हैं।

तात्पर्य यह है कि रात्रि दिवस आठों पहर तत्त्व चिन्तन में रत रहते हैं। निद्रा नहीं लेते हैं। यदि लेना ही पड़े तो अल्प निद्रा लेकर प्रमाद रहित हो पुन तत्त्व चिन्तना करने लगते हैं।

प्रश्न—इगिणी मरण विधि का आचरण करने वाले मुनियों को स्वाध्याय काल का ध्यान (ख्याल) रखना पड़ता है उससे उनके चित्त में विक्षेप होता है तथा क्षेत्र अशुद्ध होने पर ध्यान में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है अतएव आपने उनके आठों पहर चौबीस घण्टे आत्मध्यान कैसे कहे ?

उत्तर—उन मुनिराज के स्वाध्याय के काल की गवेषणा और क्षेत्र की शुद्धि नहीं होती है। उनको तो श्मशान में भी ध्यान करने का निषेध नहीं किया गया है।

प्रश्न—क्या वे मुनि के छह आवश्यक (सामायिकादि) कर्म भी नहीं करते हैं ? तथा उपकरणादि का प्रतिलेखन भी नहीं

करते हैं ?

उत्तर—वे यथ समय छह आवश्यक कर्त्तव्य कर्मों का आचरण अवश्य करते हैं। उपकरणों का प्रतिलेखन भी प्रयत्न पूर्वक प्रात और सायं दोनों समय बराबर करते हैं। किन्तु यदि आवश्यक कर्म में स्खलन होजावे मिथ्या मया कृत मैंने मिथ्या किया ऐसा बोलते हैं और वन्दनादि क्रिया के लिए जाते समय आसिका शब्द और वहां से निकलते समय निषीधिका शब्द का उच्चारण करते हैं।

प्रश्न—उन महामुनीश्वरों के यदि पाव में कांटा लग जावे या नेत्र में कुछ गिर पड़े तो वे उन्हें (कंटकादि को) अपने हाथ से निकालते हैं या नहीं ?

उत्तर—उनके पादादि में कंटकादि लग जावे या आंखों में रज कूड़ा आदि गिर जावे तो उसको वे अपने हाथ से नहीं निकालते हैं। न किसी को निकालने के लिए कहते हैं। यदि स्वयं दूसरा कोई मनुष्य निकालने लगे तो वे मौन धारण करते हैं। रोगादि का प्रतीकार भी नहीं करते हैं। तपश्चरण के प्रभाव से उत्पन्न हुई विक्रिया चारण क्षीरस्रावित्व आदि ऋद्धियों का उपयोग भी नहीं करते हैं।

प्रश्न—इंगिणी मरण विधि का पालन करने वाले मौन व्रती मुनीश्वर किसी के प्रश्न करने पर उत्तर देते हैं या नहीं ?

उत्तर—देव या मनुष्य के धर्म विषयक प्रश्न करने पर थोड़ा धर्मोपदेश भी देते हैं ऐसा दूसरे आचार्यों का मत है।

इस प्रकार इंगिणी मरण विधि का साधन कर कई कर्म-क्लेश का नाश कर निर्वाण पद प्राप्त करते हैं और कई वैमानिक देव होते हैं।

इस प्रकार इंगिणी मरण का वर्णन समाप्त हुआ।

पंडितमरण का तृतीय भेद प्रायोपगमन

णवरिं तणसंथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो।
आदपरपओगेण य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं ॥ २०६४ ॥ (भग आ)

अर्थ—भक्त प्रत्याख्यान विधि का आचरण करने वाला मुनि अपना वैयावृत्त्य आप भी करता है तथा दूसरे से भी करवाता है। इंगिणी मरण विधि का पालक अपना वैयावृत्त्य दूसरे से नहीं करवाता वह अपना वैयावृत्त्य स्वयं करता है। किन्तु प्रायोपगमन नामक पंडित मरण का आचरण करने वाला महामुनीश्वर अपना वैयावृत्य आप भी नहीं करता है और दूसरों से भी नहीं करवाता है। उसके तृणों का संथारा

भी नहीं होता। उसके लिए सब प्रकार की शरीर-शुश्रूषा वर्जित है।

प्रश्न—रोगादि से पीड़ित होने पर औषधादि का सेवन तथा परीषह उपसर्ग का निवारण, कंटकादि का उद्धरण (निकालना) आदि क्रियाएँ वे स्वय नहीं करते हैं न दूसरे से करवाते हैं और कोई करना चाहे तो न करने देते हैं। किन्तु मलमूत्रादि का निराकरण तो वे अवश्य करते ही होंगे ?

उत्तर—वे महामुनीश्वर प्रयोग से अर्थात् स्व या परके प्रयत्न से मलमूत्रादि का निराकरण भी नहीं करते हैं। कहा है —

सो सल्लेहिद देहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि ।
उच्चारादिविकिंचणमवि णत्थि पओगदो तम्हा ॥ २ ६५ ॥ [भग आ]

अर्थ—प्रायोपगमन मरण विधि का प्रारम्भ करने वाला महामुनीश्वर पहले से अपने शरीर को सम्यक् प्रकार से इतना कृश कर लेता है कि उसके शरीर में केवल अस्थि और चम ही शेष रह जाता है। पश्चात् प्रायोपगमन संयास विधि का प्रारम्भ करता है। अतएव उसके मलमूत्र की किसी प्रकार की बाधा नहीं होती है। बाधा के अभाव में स्व तथा परके प्रयत्न से मलमूत्र का निराकरण करने की आवश्यकता ही नहीं होती है।

प्रश्न—प्रायोपगमन सन्यास विधि का सेवन करने वाले महामुनीश्वर को यदि व्याघ्रादि किसी दुष्ट तियच ने अथवा किसी पूर्व जन्म के वैरी मनुष्य या देव ने जीव जन्तुओं से सकुल भूमि भाग में लेजाकर फेंक दिया हो तो वे क्या करेंगे ? वहा ही रहेंगे या वहा से उठकर अ य जीव जन्तु रहित स्थान में चले आवगे ?

उत्तर—वे महामुनीश्वर परम धैय के धारक व एकाग्रचित्त होते हैं। वे वहा से नहीं उठते। उसी जगह आत्मध्यान में लीन रहते हैं। शास्त्र में कहा है —

पुढवीआऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो ।
वोसट्ठचत्तदेहो अधाउग पालए तत्थ ॥ २०६६ ॥ [भग आ]

अर्थ—प्रायोपगमन विधि का सेवन करने वाले परम तपोधन को यदि कोई विरोधी मनुष्य या देव सचित्त पृथ्वी पर नदी समुद्रादि जलाशय में, दहकती हुई अग्नि के पुंज में लहराती हुई सस्य आदि वनस्पति सहित बीहड़ बन में या जीव जन्तु से व्याप्त किसी

भयानक प्रदेश में लेजाकर पटक दे तो वे परम धीर वीर मुनीश्वर वहा स नहीं उठते हैं। आयु पर्यंत उसी स्थान में ज्यों के त्यों निश्चल रहकर आत्मध्यान में लीन रहते हैं।

मुनिमात्र जल स्नान के त्यागी होते हैं। यदि कोई अज्ञानी जीव भक्ति के वश उनका जलसे अभिषेक करने लगे या गंध पुष्पादि से पूजा करने लगे तो वे उस पर प्रेम नहीं करते हैं। तथा कोई विरोधी जीव उनपर शस्त्रादि का प्रहार करने लगे तो वे उस पर क्रोध नहीं करते हैं। कहीं भी वे उठा कर गिरा दिये जावें तो ज्यों के त्यों पड़े रहेंगे। एकाग्रचित्त हो आत्म-स्वरूप में मग्न रहना ही वे अपना कर्तव्य समझते हैं।

उपसर्ग से हरण किये हुए महामुनि का अन्य स्थान में मरण होजाने पर वह नीहार मरण कहलाता है और उपसर्ग के अभाव में मुनिराज का जो स्वकीय स्थान में मरण होता है वह अनीहार मरण कहलाता है। इस प्रकार प्रायोपगमन सन्यास का वर्णन हुआ।

प्रश्न—उक्त तीन पंडित मरण के भेदों के अतिरिक्त भी पंडित मरण होता है या नहीं ?

आगाढे उवसग्गे दुब्भिक्खे सव्वदो वि दुत्तारे।
कदजोगिसमाधियासिय कारणजादेहिं वि मरंति॥ २०७२ ॥ [भग आ]

अर्थ—बलवान् (प्राणघातक) उपसर्ग के प्राप्त होने तथा दुर्निवार दुष्काल पड़ जाने पर तथा अन्य आयु नाशक कारणों के उपस्थित होने पर परीषह उपसर्ग का सहन करने में समर्थ धीर वीर मुनीश्वर रत्नत्रय की साधना के लिए आत्मध्यान में लीन हुए प्राण त्याग करने में उत्साही होते हैं।

प्रश्न—इस प्रकार उपसर्गादि आने पर आत्म ध्यान में लीन होकर प्राणों का उत्सर्ग करने वाले परम ध्यानी मुनि कौन २ हुए हैं ? उनका उदाहरण दीजिए।

उत्तर—धर्मसिंह वृषभसेनादि अनेक पुरुषपुंगव हुए हैं। जिन्होंने भयानक उपसर्गों के आने पर रत्नत्रय की आराधना करते हु शान्ति से प्राणों का त्याग किया है।

कोसलय धम्मसीहो अट्ठं साधेदि गिद्धपुच्छेण।
णयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरिं विप्पजहिदूण॥ २०७३ ॥ [भग आ]

अथ –अयो या के राजा धर्मसिंह ने चन्द्रश्री नाम की अपनी पत्नी का त्यागकर कोल्लगिरि नामक पर्वत पर गृद्धपिच्छ से युक्त होकर अपने आत्मीय अर्थ (रत्नत्रय) की साधना की।

पाटलीपुत्र (पटना) नगर में अपनी सुता के निमित्त मामा का उपसर्ग सहकर वृषभसेन नाम के पुरुषोत्तम ने आत्मीय अर्थ (रत्नत्रय) का साधन करते हुए वैखानस मरण किया अर्थात् श्वास रोध कर आराधना की।

इस प्रकार अनेक उदाहरण आगम में विद्यमान हैं। जिन्होंने प्राण घातक संकट के आ जाने पर शान्ति से पण्डित मरण कर आत्मा के कल्याणकारी सम्यग्दर्शनादि की साधना में बाधा न आने दी।

साराश यह है कि यह शरीर किसी न किसी निमित्त को पाकर अवश्य नष्ट होने वाला है। इस मनुष्य शरीर को रत्नत्रय धर्म के आचरण में लगाने से ही इस की सफलता है। इस लिए प्राणों का घात करने वाले भयानक संकट के उपस्थित होने पर भी भेद विज्ञान रूपी सजीवनी औषधि का सेवन करते हुए सब पदार्थों से ममत्व हटाकर आत्म ध्यान में आत्मा के स्वरूप चिन्तन में-ही चित्त को एकाग्र करना उचित है।

अब पण्डित पण्डित मरण का निरूपण करते हुए प्रथम जीवन्मुक्ति की उत्पत्ति का क्रम दिखलाते है।

साहू जहुत्तचारी वट्टं तो अप्पमत्तकालम्मि।
झाणं उवेदि धम्मं पविट्ठिकामो खवगसेढिं ॥ २०८८ ॥ [भग आ]

अर्थ –आचार शास्त्रों (आचारांगादि) के अनुसार आचरण करने वाला अप्रमत्तगुण स्थान में वर्त्तमान साधु क्षपक श्रेणि में प्रवेश करने का इच्छुक हुआ उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त होकर धर्मध्यान का आश्रय लेता है।

धर्म ध्यान का अन्तरङ्ग कारण आत्म विशुद्धि है उसकी निरन्तर प्राप्ति होती रहे इसके लिए बाह्य निमित्त की आवश्यकता होती है। अत ध्यान के बाह्य निमित्त का निरूपण करते हैं—

सुचिए समे विचित्ते देसे णिज्जतुए अणुण्णाए।
उज्जुअआयददेहो अचलं बंधेत्तु पलिअंकं ॥ २०८८ ॥ (भग आ)

अथ जिस स्थान पर मुनि ध्यान करे वह उसके स्वामी की आज्ञा से प्राप्त हो अर्थात् क्षेत्र के स्वामी मनुष्य देवादि से आज्ञा लेली गई हो। तथा वह स्थान पवित्र हो समतल और जीव जन्तुओं से रहित हो। उस स्थान में ध्याता निश्चल चार अगुल अन्तर वाले दोनों पाँवों पर खड़ा रह कर अथवा पद्मासन वीरासन पर्यंकासनादि मे से जो आसन सुखकर प्रतीत हो उस आसन से बैठकर या उत्तानशयनादि से सोते हुए ध्यान कर सकते हैं। ध्यान की विधि पहले ध्यान के वर्णन में विशद रूप से कह आये हैं। उसको लक्ष्य में रखकर जिस प्रकार प्रमाद रहित हुआ चित्त की एकाग्रता कर सके वैसे ध्यान का परिकर ग्रहण करे। ध्याता को लेश्या अतिविशुद्ध होनी चाहिए और जिनागम में वर्णित जीवादि तत्वों की तरफ अपना उपयोग केन्द्रित करे और निरन्तर आत्म परिणामों की धारा को उत्तरोत्तर निर्मल करता हुआ धर्म ध्यान मय उपयोग करे।

धर्म ध्यान मे लीन हुआ वह मुनि सप्तम गुण स्थान में अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ इन चार प्रकृतियों का विसंयोजन (अप्रत्याख्यानादि उत्तर प्रकृति रूप) करता है तथा मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति का क्रम से क्षय करता है। इन सात प्रकृतियों का क्षयकर क्षायिक सम्यक् दृष्टि होकर क्षपक श्रेणि के सम्मुख होता है और सप्तम गुण स्थान के सातिशय भाग में अधःप्रवृत्तकरण को प्राप्त करता है।

सारांश यह है कि सम्यक्त्व की घातक उक्त सात प्रकृतियों का क्षय चौथे गुण स्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुण स्थानों में कहीं भी होता है। जिस मुनि ने पहले के चतुर्थादि तीन गुण स्थानो मे उक्त सात प्रकृतियों का क्षयकर क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त किया है वह सातवें गुण स्थान मे उनका क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणी का आरोहण करता है और वहां पर अधःप्रवृत्तकरण को प्राप्त करता है।

इसके पश्चात् वह क्षपक मुनि क्षपक श्रेणि की पहली सीढी जो अपूर्वकरण है उस पर आरूढ होता है। ये परिणाम कभी पहले प्राप्त नहीं हुए हैं इसलिए इनको अपूर्वकरण कहते हैं। क्योंकि अनादि काल से इस जीव ने धर्म्यध्यान का आराधन कर शुक्लध्यान का प्रथम भेद कभी प्राप्त नहीं किया है। अतः यह अपूर्व (पूर्व काल में अप्राप्त) करण (परिणाम) कहलाते हैं।

जब वह मुनि उक्त प्रकार अपूर्वकरण गुणस्थान में पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यान को प्राप्त कर लेते हैं तब उसके अनन्तर अनिवृत्ति करण नवमे गुणस्थान में प्रविष्ट होकर १ निद्रा निद्रा २ प्रचला प्रचला ३ स्त्यानगृद्धि इन तीन निद्राओं का क्षय करते हैं। तथा ४ नरकगति ५ नरकगत्यानुपूर्वी ६ स्थावर ७ सूक्ष्म ८ साधारण ९ आतप १० उद्योत ११ तिर्यंचगत्यानुपूर्वी १२ एकेन्द्रिय १३ द्वीन्द्रिय १४ त्रीन्द्रिय १५ चतुरिन्द्रिय १६ तिर्यंचगति इस प्रकार इन सोलह प्रकृतियों का क्षय अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रथम भाग में करते हैं।

तत्पश्चात् अप्रत्याख्यान १७ क्रोध १८ मान १६ माया २ लोभ त। प्रत्याख्यान २१ क्रोध २२ मान २३ माय २४ लोभ ये आठ मध्यम कषाय हैं इनका अनिवृत्ति करण के दूसरे भाग में क्षय करते हैं।

२५ नपुंसक वेद का अनिवृत्तिकरण के तीसरे भाग में क्षय करते हैं।

२६ स्त्री वेद का विनाश इसके चतुथ भाग में करते हैं।

२७ हास्य २८ रति २६ अरति ३ शोक ३१ भय और ३२ जुगुप्सा इन छह प्रकृतियो का घात सके पाँचवें भाग मे करते हैं।

छठे भाग में ३३ पुरुष वेद का निपातन करते हैं।

सातवें भाग में ३४ संज्वलन क्रोध का विघात करते हैं।

आठवें भाग में ३५ सञ्ज्वलन मान का विलय करते हैं।

नवमें भाग में ३६ सज्वलन माया का क्षय करते है। और वादर कृष्टि विभाग से लोभ को कृश करते हैं।

इस प्रकार उक्त छत्तीस प्रकृतियों का सहार वे क्षपक अनिवृत्तिकरण के नव भागों मे पृथक्त्व वितक वीचार शुक्लध्यान के द्वारा करके सूक्ष्मसाम्परायगुण स्थान में पहुचते हैं। वहा पर वे सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त होकर स ज्वलन सूक्ष्म लोभ का अनुभव करते हुए सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती होकर पृथक्त्व शुक्लध्यान के प्रकष से सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्त समय में सूक्ष्मसंज्वलन लोभ का भी क्षय करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण मोहनीय कम का क्षय होने पर क्षीणकषाय गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। वहा पर वे क्षपक एकत्व वितक अवीचार शुक्लध्यान का आराधन करते हैं। अर्थात क्षीणकषाय गुणस्थान के प्रथम समय में शुक्लध्यान के द्वितीय भेद एक त्ववितक अवीचार की प्राप्ति करते हैं।

इस शुक्लध्यान के द्वितीय भेद के प्रभाव से यथाख्यात चारित्र होता। इस चारित्र के बल से जीव ज्ञानादि गुणों को अन्यथा करने वाले ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिकर्मों का एक समय में नाश करते हैं।

जैसे तालवृक्ष की मस्तक सूची का छेदन होने पर सम्पूर्ण ताल का वृक्ष सूख जाता है उसमें नये पत्र पुष्प फलादि नहीं आसकते हैं। वैसे ही मोहनीय कम का नाश होने पर ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का भी विनाश हो जाता है।

मोहनीय कम की सहायता पाकर ही वे ज्ञानावरणादि कर्म में अज्ञान दि भावों को उत्पन्न करते थे। मोहनीयकम का विनाश

होने पर उनमें अज्ञानादि भाव उत्पन्न करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है।

क्षीणकषाय के द्विचरम समय (उपान्त समय) में निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का नाश होता है और उसके अन्त समय में चौदह प्रकृतियों (५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण ५ अन्तराय) का क्षय हो जाता है।

तत्तो णंतरसमए उप्पज्जदि सव्वपज्जयणिबंध।
केवलणाणं सुद्धं तध केवलदंसणं चेव ॥ २१०३ ॥ [भग आ]

अर्थ—उसके अनन्तर ही सम्पूर्ण द्रव्यों की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को युगपत् हस्तरेखा समान स्पष्ट प्रत्यक्ष जानने वाला सम्पूर्ण दोष रहित निर्मल केवलज्ञान व केवलदर्शन प्रादुर्भूत होता है। यह किसी पदार्थ में काल में व किसी क्षेत्र में रुकता नहीं है इसलिए अव्याघात है। यह निश्चयात्मक है इसलिए असंदिग्ध है। समस्त गुणों में उत्कृष्ट है इसलिए उत्तम है। मतिज्ञानादि की तरह संकुचित नहीं है इसलिए असंकुचित है। यह नाश से रहित है इसलिए अनिवृत्त है। यह अधूरा नहीं है इसलिए सकल है। इसमें इन्द्रिय और मन की सहायता नहीं है अतएव यह केवल कहलाता है। जैसे भूत भावी वर्तमान पदार्थों के अनेक चित्र जिसमें लिखे हुए हैं ऐसे चित्रपट को वर्तमान में हम स्पष्ट देख सकते हैं, वैसे ही त्रिकालवर्ती समस्त गुण पर्यायों सहित समस्त लोक अलोक को युगपत् एक समय में चित्रपट की तरह वे केवल ज्ञान के धारक भगवान् केवली क्षपक अवलोकन करते हैं।

वह क्षपक भुज्यमान आयुकर्म के शेष भाग पर्यन्त केवली अवस्था में विहार करते हैं। अर्थात् अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष हीन एक पूर्व कोटी वर्ष पर्यन्त सयोग केवलज्ञान अवस्था में अघाति कर्मों को भोगते हुए इस मनुष्य पर्याय में रहकर आर्य क्षेत्र में विहार करते हैं और यथाख्यात चारित्र को वृद्धिंगत करते हैं।

उसके अनन्तर वे केवली भगवान् अघाति कर्मों का नाश करने के लिए अवशिष्ट जो सात प्रकार का योग है उसका निरोध करते हैं। वह योग निरोध बिना इच्छा के ही होता है। अर्थात् सत्य वचन योग अनुभय वचन योग सत्यमनोयोग, अनुभयमनोयोग, औदारिक काययोग औदारिक मिश्रकाययोग और कार्मणयोग इन सातों योगों के व्यापार को रोकते हैं।

समुद्घात का वर्णन

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा।
वच्चंति समुग्घाद सेसा भज्जा समुग्घादे ॥ २१०६ ॥ [भग आ]

अर्थ—उत्कृष्ट रूप से आयु के छह मास बाकी रहने पर जिनको केवल ज्ञान उत्पन्न होता है वे अवश्य समुद्घात करते हैं। शेष केवलियों के लिए समुद्घात विकल्पनीय है।

भावार्थ—मूल शरीर को न छोड़कर आत्म-प्रदेशों का दण्ड कपाटादि रूप होकर शरीर के बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। जिनको उत्कृष्ट छह मास की आयु शेष रहने पर केवल ज्ञान उत्पन्न हो जावे वे तो नियम से समुद्घात करते हैं। जिनके नाम गोत्र और वेदनीय की स्थिति आयु कर्म के समान होती है वे केवली समुद्घात नहीं करते हैं। जिनके नाम गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति आयु कर्म से अधिक होती है वे केवली समुद्घात करते हैं।

प्रश्न—आयु का कितना काल शेष रहने पर केवली भगवान् समुद्घात करते हैं ?

उत्तर—भुज्यमान आयु का अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाता है उस समय उक्त तीनों कर्मों की स्थिति आयु कर्म के समान करने के लिए केवली भगवान् समुद्घात करते हैं।

प्रश्न—समुद्घात करने से नामादि कर्मों की अधिक स्थिति कम कैसे हो जाती है ?

उत्तर—जैसे सिमटा हुआ गीला वस्त्र अधिक काल में सूखता है पर वही कपड़ा फैला देने पर शीघ्र सूख जाता है वैसे ही समुद्घात के द्वारा कर्म की स्थिति का कारण जो स्नेह (चिकनाई) है वह सूख जाता है और वह शीघ्र निर्जरा के योग्य हो जाता है। अर्थात् कर्मों की स्थिति कम हो जाती है।

प्रश्न—केवली भगवान् नामादि कर्मों को समान करने के लिए किस तरह समुद्घात करते हैं ? और उसमें कितना काल लगता है ?

उत्तर – केवली भगवान आत्म-प्रदेशों को प्रथम समय में दण्डाकार निकालते हैं। दूसरे समय में वे कपाट रूप होते हैं। तीसरे समय में प्रतराकार होते हैं अर्थात् वातवलय को छोड़कर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं। चौथे समय में वातवलय सहित समस्त लोक में व्याप्त हो जाते हैं। पांचवें समय में उनको संकोच कर प्रतराकार करते हैं। छठे समय में कपाटाकार करते हैं। सातवें समय में दण्डाकार करते हैं और आठवें समय में वे आत्म शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। ये चार समय संकोच करने के हैं। इस प्रकार समुद्घात में आठ समय लगते हैं।

इस प्रकार समुद्घात के द्वारा तीनों कर्मों की स्थिती आयु कर्म के समान करके मुक्ति की प्राप्ति के लिए योग का निरोध करते हैं

योगनिरोध

प्रश्न—योगों का निरोध किस क्रम से करते हैं ?

उत्तर—वे केवली भगवान् वादर वचनयोग और वादर मनोयोग का वादर काययोग में स्थिर निरोध करते हैं। तथा वादर काययोग का सूक्ष्म काययोग में स्थिर होकर निरोध करते हैं। तथा सूक्ष्म वचनयोग सूक्ष्म मनोयोग को भी सूक्ष्म काययोग में स्थिर होकर रोकते हैं।

उत्कृष्ट लेश्या के धारक वे केवली भगवान् सूक्ष्म काययोग से सातावेदनीय कर्म बंध करते हैं। तब उनके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम का शुक्लध्यान होता है। उस ध्यान द्वारा वे सूक्ष्म काय योग का निरोध करते हैं। अब कोई योग नहीं रहता है इसलिए उनके आत्म प्रदेश निश्चल हो जाते हैं। अब उनके सातावेदनीय कर्म का भी बन्ध नहीं होता है। क्योंकि उनके बन्ध का कारण केवल योग था उसका भी नाश हो जाने पर उनके समस्त बंध का अभाव हो जाता है।

योगनिरोध के बाद कौनसी कर्म प्रकृतियां रहती हैं ?

उस समय उनके १ मनुष्यगति २ पंचेन्द्रिय जाति ३ पर्याप्ति ४ आदेय ५ सुभग ६ यशःकीर्ति ७ सातावेदनीय, या असातावेदनीय इन दोनों में से एक ८ त्रस ९ बादर १० उच्चगोत्र और ११ मनुष्यायु इन ग्यारह कर्मों का वे अनुभव करते हैं। जो तीर्थंकर केवली हैं, उनके एक तीर्थंकर प्रकृति अधिक होने से उनके १२ कर्मों का अनुभव होता है। जो मूक केवली हैं उनके उक्त ग्यारह कर्मों का ही उदय रहता है।

औदारिक शरीर तैजस शरीर तथा कार्मण शरीर इन तीन शरीर का बन्ध नष्ट करने के लिए वे अयोग केवली भगवान् समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाती (व्युपरतक्रियानिवर्ती) नामक शुक्ल ध्यान के अथ भव को ध्याते हैं।

अयोग केवली गुणस्थान का काल 'अ इ उ ऋ लृ' इन पांच ह्रस्वस्वर के उच्चारण काल के समान काल है। अर्थात् जितना समय इन पांच स्वरों के उच्चारण करने में लगता है उतने समय तक वह इस शरीर में रहते हैं।

इस गुणस्थान के उपान्त्य (द्विचरम) समय में उदय में नहीं आई हुई सब प्रकृतियों का क्षय करते हैं। अर्थात् तिहत्तर प्रकृतियों का क्षय करते हैं। और इसके अन्त समय में वह अयोग केवली भगवान् यदि तीर्थंकर हों तो बारह प्रकृतियों का और सामान्य केवली हों तो ग्यारह प्रकृतियों का क्षय करते हैं।

नाम कम के क्षय स तैजस बन्ध का नाश होता है और आयु कम के नाश स औदारिक बन्ध का क्षय होता है। इस प्रकार ब धन स मुक्त हुए वे केवली भगवान बन्धन मुक्त एरण्ड बीज के समान उत्कृष्ट वेग स ऊपर गति करके सिद्धालय में जाकर विराजमान होते हैं

शुद्ध जीव की गति कैसे होती है ?

जैसे मिट्टी आदि के लेप स युक्त तूम्बी जल में डूबी रहती है लेप रहित होते ही जल के ऊपर आजाती है वैसे ही जीव कम लेप स युक्त हुए ससार मे पड रहते हैं और कम लेप स रहित होकर प्रयोगवश से स्वभावत ऊर्ध्व गमन कर लोक के शिखर में जाकर विराजमान होते हैं। वे एक समय में सात राजू क्षेत्र को पार कर वातवलय के अन्त भाग म जाकर निश्चल हुए आत्म-स्वरूप में लीन रहते हैं।

जैसे वायु के झोंके के अभाव में अग्नि की लौ सदा ऊर्ध्व गमन करती है वैसे कर्मोदय के झोंके से रहित हुए मुक्त परमात्मा स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करते हैं। आगे गति में कारण भूत धम द्रव्य के न हाने स लोक के अन्तिम सिरे पर जाकर वे स्थिर हो जाते हैं। अलोक में उनका गमन इसलिए नहीं होता है कि वहा धम द्रव्य नहीं है। धम द्रव्य ही गति करते हुए जीव पुद्गलों का गमन कम में सहायक होता है। जैस रेल के गमन करने के लिए पटरी तथा मछली की गति के लिए जल सहायक हाता है वस ही जीव और पुद्गलों की गमन क्रिया म धम द्रव्य सहकारी होता है। वह आगे नहीं है अत मुक्त जीव लोक की अन्तिम सीमा पर जो सिद्धालय है वहा विराजमान हो जाते हैं। सो ही कहा है —

सिद्धशिला कहा है ?

ईसप्पब्भाराए उवरिं अच्छदि सो जोयणम्मि सीदाए।
धुवमचलमजरठाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥ २१३३ ॥ [भग आ]

अर्थ—ईषत्प्राग्भारा नाम का आठवीं पृथ्वी है। उसके ऊपर किंचित् ऊन (कुछ कम) एक योजन प्रमाण वातवलय का क्षेत्र है। उसके अन्त में जो लोक का शिखर है उसमें सिद्ध भगवान विराजमान हैं। वे शाश्वत और अचल हैं। तथा जरा जन्म मरणादि दोषों से रहित अनन्त चतुष्टय में मग्न हैं।

साराश यह है कि लोक के अग्रभाग में ईषत्प्राग्भार नाम की एक पृथ्वी है। जो मध्य में आठ योजन मोटी (जाडी) है और फिर क्रमश हीन (पतली) होती हुई अन्त में सिरे पर अगुल के असंख्यातवें भाग पतली हो गई है। उसका विस्तार (लम्बाई-चौडाई)

पतालीस लाख योजन प्रमाण है। वह उत्तानित श्वेत छत्र के समान आकार वाली है। उसकी परिधि (गोलाई) १४२३०२४६ एक करोड बियालीस लाख तीस हजार दोसौ उनचास योजन प्रमाण है। उसके ऊपर कुछ कम एक योजन प्रमाण वातवलय है। उसके अन्तिम भाग में अपनी अपनी अन्तिम शरीर प्रमाण अवगाहना से सिद्ध भगवान् विराजमान हैं। वे शाश्वत हैं अचल हैं और जरा मरणादि सब दूषणों से पृथक् हैं तथा अनन्त दर्शन-ज्ञान सुख और वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय से शोभित हैं।

सिद्ध भगवान की अवगाहना (आत्मप्रदेशों का आकार) जिस शरीर से योग निरोध कर मुक्त हुए हैं उस चरम शरीर से किंचित् न्यून होती है। अर्थात् नख केशादि जिन अवयवों में आत्म प्रदेश नहीं होता है उतनी कम अवगाहना के धारक होते हैं।

सिद्धावस्था का सुख

प्रश्न—सिद्ध भगवान् को किस प्रकार का सुख होता है ?

देविंदचक्कवट्टी इंदियसोक्खं च जं अणुहवंति।
सद्दरसरूवगंधप्फरिसप्पयमुत्तमं लोए ॥ २१४८॥
अव्वाबाधं च सुहं सिद्धा जं अणुहवंति लोगग्गे।
तस्स हु अणंतभागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज ॥ २१४९ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—लोक में उत्कृष्ट सुख का अनुभव करने वाले देवेन्द्र तथा चक्रवर्ती उत्तमोत्तम स्पर्श रस गन्ध रूप व शब्द इत्यादि का सेवन कर जो सुख भोगते हैं वह सुख इस लोक में सर्वोत्कृष्ट माना गया है। वह लोक का एकत्र किया हुआ सम्पूर्ण सुख सिद्ध भगवान् के सुख का अनन्तवाँ भाग है और यह कहना भी केवल समझाने के लिए है क्योंकि संसार सुख और मुक्ति सुख का जाति भिन्न है।

भावार्थ—सिद्धों का सुख अतीन्द्रिय व आत्मजन्य है। संसार के सुख पराधीन इन्द्रियजन्य होने से तुच्छ हैं। सिद्धों का सुख अव्याबाध (बाधा रहित) है और सांसारिक सुख बाधा सहित है। अतः आत्मजन्य और पुद्गलजन्य सुख में समानता किसी प्रकार नहीं हो सकती है। संसार का सुख सुख नहीं किन्तु दुःख की किंचित् निवृत्ति रूप कल्पना मात्र है। इसलिए वास्तव में सुख नहीं है और सिद्ध भगवान् के कर्मों का सर्वथा अभाव होने से लेश मात्र दुःख का अस्तित्व नहीं रहा है। वहाँ केवल निरन्तर अनुपम सुख का स्रोत बहता रहता है। अतः उनको अनन्त सुखी कहा जाता है। ऊपर दृष्टान्त द्वारा जो सिद्ध भगवान् के सुख की तुलना की गई है वह केवल मूढ बुद्धि संसारी

जीवों के समझने मात्र के लिए है उनका अनिन्द्रिय सुख का निम्न प्रकार वर्णन किया गया है।

अणुवममेयमक्खयममलमजरमरुजमभयमभवं च।
एयंतियमच्चंतियमव्वाबाधं सुहमजेयं ॥ २१५३ ॥ [भग आ]

अर्थ—हे भव्योत्तमों! इस जगत् में सिद्धों के सुख के समान या उससे अधिक सुख दूसरा कोई सुख नहीं है जिसकी उपमा सिद्ध सुख को दी जा सके। इसलिए सिद्धों का सुख अनुपम (उपमा रहित) है। छद्मस्थ जीव सिद्धों के सुख को जानने में तथा उसका परिमाण प्रतीत करने में असमर्थ हैं अतः वह अतुल (अमेय) है। इसमें प्रतिपक्षी दुःख का सर्वथा अभाव है इसलिए वह अक्षय है। इसमें राग द्वेषादि का संपर्क नहीं है अतः यह अमल है। जरा (वृद्धावस्था) से रहित होने से यह अजर है। इसमें रोग का संसर्ग तक नहीं है इसलिए यह अरुज है। भय रहित होने से यह अभय है। संसार भ्रमण से मुक्त है अतः यह अभव है। यह सिद्ध सुख आत्मा से ही उत्पन्न होता है इसलिए इसको एकान्तिक अमहाय कहते हैं। इस प्रकार यह अनिन्द्रिय सिद्धों का सुख सर्व बाधाओं से रहित होने के कारण अव्याबाध सुख है।

इस भगवती (समस्त ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाली) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और तपश्चरण की आराधना का आराधन (सेवन) करने से यह आत्मा तत्काल या सात आठ भव के भीतर परमानन्द पद को प्राप्त करलेती है। अतएव हे भव्य जीवो! इस भगवती का सेवन कर स्वयं भगवान बनो।

इस प्रकार श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य श्री सुधर्मसागरजी महाराज द्वारा विरचित
संयम प्रकाश नामक ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध की इंगिनीसमाधि अधिकार
नामक पञ्चम किरण समाप्त हुई।

सयम प्रकाश ग्रथ का प्रथम भाग

श्री रघुवीर सिह जैन (पिता) एव श्रीमती गौरा देवी जैन (माता)

की प्रेरणा से

श्रीपाल जैन-उर्मिला जैन एव धनपाल जैन-चन्दनबाला जैन (गोहाने वाले)

BN 23 & 24 वेस्ट शालिमार बाग दिल्ली 110 052 द्वारा

सूची दान दाता	राशि
श्री धर्मपाल सिह जैन सतीश कमार जैन गली न १२ कैलाश नगर	१५१ १/
स्वर्गीय छोटा देवी धर्मपत्नी स्वर्गीय लक्खी राम जैन द्वारा	
सुभाष चन्द जैन गली न २ कैलाश नगर	१५ १/
श्रीमती रेशम जैन धर्मपत्नी श्री धनपाल सिह जैन दरियागज	५१ १/
श्री जयपाल सिह सुनिल कमार जैन (अरिहत ट्रेड)	
गली न १ कैलाश नगर	५१ १/
श्रीमती कलावती जैन धर्मपत्नी स्वर्गीय श्री बी एल जैन	
गली न १ कैलाश नगर	५१ १/
ला आशाराम सोहनपाल जैन सर्राफ छपरौली	५१ १/
रिषभ जैन महिला मडल कैलाश नगर दूरभाष २२ १८२ २२४१४४७	५१ /
हिना ड्रेसिज ६६६४ जनता गली गाधी नगर	५१ /
गुप्त दान बड़ौत	५१ /
श्रीमती सुनीता जैन धर्मपत्नी श्री पवन कमार जैन (जोहडी वाले)	
कैलाश नगर	५ /
श्रीमती नीरा जैन धर्मपत्नी श्री बिपुल जैन भारत नगर	५ /
डा अनिल कमार जैन (रिषभ मेडिकल सेटर)	
गली न्र १२ कैलाश नगर	५ /
ला सुमत प्रसाद प्रदीप कमार जैन (जोहडी वाले) कैलाश नगर	४४ /

	राशि
स्वर्गीय सेठानी मैनावती धर्मपत्नी आशाराम जैन के सपुत्र	
सुरेशचन्द जैन बागपत	३१ /
स्व ला दीप चन्द जैन (अछाड) वाले स्मृति मे द्वारा श्रीमती दीपा जैन	
धर्मपत्नी श्री विनोद कमार जैन गली न १२ कैलाश नगर	३१००/
श्री चमन लाल जैन (रोबिट हौजरी) गली न २ कैलाश नगर	३१ /
श्रीमती सरोज जैन धर्मपत्नी श्री जे के जैन साउथ कैलाश नगर	३१००/
ला जगदीश प्रसाद जैन सर्राफ बडौत	३१ /
श्रीमती मगन माला जैन धर्मपत्नी सुरेन्द्र कमार जैन (पानीपत वाले)	
कैलाश नगर	२१११/
पदम सेन विजेन्द्र कमार जैन गली न १ कैलाश नगर	२१ १/
ला शिखर चन्द तरस चन्द जैन जैन नगर मेरठ कोल मर्चेंट	२१ १/
श्रीमती शान्ति जैन धर्मपत्नी ला० सुखवीर सिह जैन	
गली न १ कैलाश नगर	२१ /
श्री रमेश चन्द नीरज कमार जैन गली न ८ कैलाश नगर	२१ /
श्रीमती तिलका देवी जैन धर्मपत्नी स्व० ला काशीराम जैन	
गली न ८ कैलाश नगर	२१ /
श्री तरस चन्द दीपक जैन गली न १५ कैलाश नगर	२१००/
श्रीमती सलोचना देवी जैन धर्मपत्नी फेरूमल जैन गली न ८ कैलाश नगर	२१ /

श्रीमती र ना जैन धमप नी स्वर्गीय ला जुगमदर दास जैन कैलाश नगर	२ /
श्री सत्यपाल सिंह जैन प्रवीण कमार जैन गली न १ कैलाश नगर	२१ /
श्रीमती छिमावती देवी जैन धमप नी राशन लाल जैन (स धना)	२१ /
श्री धनपाल सिंह सजय कमार जैन अग्रवाल मडी (टीरी)	२ /
श्री मह द्र कमार विकास जैन ने इ र प्राइजिम शहादरा	४ /
एम आर टेडस	२ /
गुप्त दान	२१ /
गुप्त दान	१३ /
श्री सभाष चन्द जैन फग्ग वाल कैलाश गा	/
ला मुरारी लाल जयचन्द गार छपरौली	१ /
कशी राम गढ सस बिनौली	१ १/
श्रीमती सज्जकली जै धमप नी श्री सुमन प्रसाद जैन गठधन वाल	
कैलाश नगर	१ /
श्री बजभूषण जै गली २ कैलाश नगर	१ १/
ला पदम सैन कवर सै जैन गली कैलाश गार	११ १/
श्री निवास जैनगली न १ कैलाश नगर	११ १/
श्री प्रकाश चन्द म चन्द जै सलावे वाल कैलाश नगर	१ /
श्रीमती त्रिशला जै धमप नी नरेश च द जै	
गली ८ कैलाश नगर	११ /
श्री नर द ननील कमार जैन चन्द्र नगर	१ /
श्रीमती सीमा जैन धमप नी श्री राजबाबू जैन	
गली ३ कैलाश नगर	११ /
श्रीमती उषा देवी जैन धर्मप नी श्री विनाद कमार जैन	
गली न ६ कैलाश नगर	१ /
श्रीमती राजर नी जैन धमप नी देवन्द कमार जैन	
गली पाठशाला कैलाश नगर	१ /
ला रूपचन्द राजन्द्र कमार जै मीनन्नी वाल गली न २	११ /
श्री सरश चन्द जैन रामपुर वाल कैलाश नगर	१ /
ला मलक चन्द आदीश्वर कमार जैन गली न १२ कैलाश नगर	११ /

ला कान्ता प्रसाद अशोक कमार जैन (बावली वाले)	
गली न ३ कैलाश नगर	११ /
श्रीमती रेखा जैन धमप नी श्री अरूण कमार जैन	
गली न ८ कैलाश नगर	११ /
स्वर्गीय महेन्द्री रानी जैन धर्मप नी श्री मलूराम जैन कैलाश नगर	१ /
श्री हेमचन्द अजय कमार जैन गली न ११ कैलाश नगर	११ /
श्रीमती रहती देवी जैन धर्मपत्नी श्री पाला राम जैन कैलाश नगर	११ /
श्री जयचन्द रमेश चन्द जैन (बिनौली वाले) कैलाश नगर	११ /
ला सलक चन्द सुरश कमार जैन (टिकरी वाले) कैलाश नगर	११ /
ला शिखर चन्द मुकेश कमार जैन बावली	११ /
ला श्याम सुन्दर सुनील कमार जैन छपरौली (मास्टर वाले)	११ /
श्री रघुबर दयाल महेन्द्र कमार जैन (विनौली वाले)	११ /
श्रीमती विमला दवी जैन धर्मपत्नी प्रेम चन्द जैन कैलाश नगर	११ /
शशी बाला जैन चूड़ी वालान दिल्ली	११ /
श्रीमती सतोष जैन धर्मपत्नी श्री पवन कमार जैन	
गली न १ कैलाश नगर	११ /
प धनराज सिंह सुखवीर सिंह जैन अमी नगर सराय	१ १/
ला जुगल किशोर सत्यवीर सिंह जैन अमी नगर सराय	१ १/
श्रीमती निमला देवी जैन धर्मप नी रिषभ कमार जैन गाहाना	११ ०/
श्री वीर सैन मनोज कमार जैन गली न १२ कैलाश नगर	११ /
ला सुमत प्रसाद सुखमाल चन्द जैन छपरौली	५ १/
ला खेम चन्द विनाद कमार जैन छपरौली	५ १/
श्रीमती रूपकली धमप नी श्री प्रेम चन्द जैन छपरौली	५ १/
पदम चन्द जैन नारायण गढ अम्बाला	५ १/
नानूमल विनोद कमार जैन बडौत	५ १/
श्रीमती राजबाला धर्मप नी भोपाल सिंह जैन छपरौली	५ १/
गुप्तदान	५ १/
गुप्तदान	२५ /